ारतीय दर्शन का इतिहा

भाग–४

[भारतीय बहुत्ववाद]

लेखक

डॉ. सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त

अनुवादक

सुधीरकुमार

राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर–४

भारतीय दर्शन का इतिहा

भाग-४

[भारतीय बहुत्ववाद]

लेखक

डॉ. सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त

अनुवादक

सुधीरकुमार

राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर-४

शिक्षा तथा समाज-कल्याण मन्त्रालय, भारत सरकार की विश्वविद्यालय ग्रन्थ योजना के अन्तर्गत राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी द्वारा प्रकाशित ।

परिवीक्षक—डॉ. रसिकविहारी जोशी, जोधपुर विश्वविद्यालय ।

प्रथम संस्करण—१९७२ ।

मूल्य—१६.०० रु०

© राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी,
विद्यालय मार्ग, तिलकनगर,
जयपुर-४ ।

मुद्रक—शर्मा ब्रदर्स इलैक्ट्रोमैटिक प्रेस, अलवर ।

स्तावना

भारतीय भाषाओ को उच्च शिक्षा का माध्यम बनाने की राष्ट्रीय नीति को शीघ्र क्रियान्वित करने के लिए सन् १६६८ मे भारत सरकार ने एक बृहत् योजना का सूत्रपात किया था जिसके अतर्गत विभिन्न प्रदेशो मे ग्रन्थ अकादमियो की स्थापना कर उनके माध्यम से विश्वविद्यालय-शिक्षा-स्तर पर विभिन्न विषयो मे महत्त्वपूर्ण एव उपयोगी पुस्तको के मौलिक लेखन और अन्य भाषाओ से ग्रन्थानुवाद कराने का कार्यक्रम स्वीकृत हुआ था। भारत सरकार के शिक्षा एव युवक-सेवा मत्रालय ने चतुर्थ पचवर्षीय योजना के अन्तर्गत इसके लिए शत-प्रतिशत अनुदान स्वीकार किया। राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी की स्थापना भी इसी उद्देश्य की पूर्ति एव योजना को क्रियान्वित करने के लिए की गई थी। प्रस्तुत ग्रन्थ "भारतीय दर्शन का इतिहास" का प्रकाशन भी इसी योजना के अन्तर्गत हुआ है।

दासगुप्त की इस ऐतिहासिक कृति का महत्त्व सर्वविदित ही है। यह ग्रन्थ भारतीय दर्शन का एक व्यापक और विविध चित्र प्रस्तुत करता है। भारतीय दर्शन के इतिहास पर अनेक ग्रन्थ इसके पश्चात् प्रकाशित हुए है और उनमे कुछ बहुत महत्त्वपूर्ण है, किन्तु वे इस ग्रन्थ के महत्त्व को कम नही कर सके, क्योकि यह ग्रन्थ आलोचनात्मक नही होकर मुख्यत विवरणात्मक है और यह विवरण अत्यधिक विस्तार और तटस्थ भाव से प्रस्तुत करता है।

हमे आशा है कि इस ग्रन्थ का दार्शनिक जगत् मे समुचित आदर होगा।

नारायण सिंह मसूदा

और योग की वस्तुवादी एव द्वैतवादी विचारधारा ने पुराणों एव परवर्ती निसर्गों के हाथो मे अद्वैतवाद के साथ समझौता स्थापित कर लिया था, किन्तु प्रस्तुत ग्रन्थ के जिन पाठको का जय-तीर्थ और विशेषत व्यास-तीर्थ के दर्शन से परिचय करवाया जायगा उन्हे द्वैतवादी मत की शक्ति एव समझौता न करने वाली प्रभविष्णुता की प्रत्यक्ष अनुभूति हो जायगी। व्यास-तीर्थ द्वारा प्रदर्शित की गई तीक्ष्ण द्वन्द्वात्मक विचारणा की तार्किक कुशलता व गहराई भारतीय चिन्तन के समूचे क्षेत्र मे लगभग अद्वितीय है। व्यास-तीर्थ के 'तर्क-ताण्डव' मे निरूपित मध्व-न्याय-तन्त्र पर और भी अधिक लिखा जा सकता है। इस महान् कृति मे व्यासतीर्थ ने गगेश की 'तत्व-चिन्तामणि' मे दी गई लगभग प्रत्येक तार्किक परिभाषा को चुनौती दी है, जो नवीन न्याय-सम्प्रदाय की आधार-शिला है, किन्तु उसका उचित स्थान मध्व-न्याय के सबध मे एक पृथक् ग्रन्थ ही हो सकता था। शकर-सम्प्रदाय के अद्वैतवादियो और मध्व-सम्प्रदाय के द्वैतवादियो के मध्य विवाद मे अधिकाश लोग मध्व के पक्ष के प्रति अज्ञ होते हैं और अद्वैतवादी दृष्टिकोण से परिचित रहते हैं। आशा है कि प्रस्तुत ग्रन्थ मे मध्व एव उनके अनुयायियो का जो निरूपण किया गया है उससे भारतीय चिन्तन के अध्येताओ को नवीन प्रकाश मिलेगा, तथा वह द्वन्द्वात्मक तर्क के ऐसे अनेक नवीन पक्षो को प्रस्तुत करेगा जिनकी अबतक भारतीय अथवा यूरोपीय चिन्तन मे खोज नही हो पाई है।

'विशुद्धाद्वैत' नामक वल्लभ के दर्शन का निरूपण अद्वैतवाद के एक नवीन पक्ष को प्रस्तुत करता है, तथा हमे भक्ति के सवेग का एक दार्शनिक विश्लेषण भी प्रदान करता है। यद्यपि भारतीय दर्शन के पाठक वल्लभ के नाम से परिचित होंगे, तथापि ऐसे लोग विरले ही हैं जो उसके सम्प्रदाय के सदस्यो के महत्त्वपूर्ण योगदान से परिचित है।

मैंने 'भागवत पुराण' के दर्शन को अधिक स्थान नही दिया है। साख्य, योग और वेदान्त का निरूपण करते समय अधिकाश मे उसके दार्शनिक मत का पूर्वाभास पहले ही प्रस्तुत किया जा चुका है। जहाँ तक ईश्वर के स्थान तथा जगत् से उसके सबध का प्रश्न है, 'भागवत-पुराण' का दृष्टिकोण अस्पष्ट है। इसीलिए मध्वो, वल्लभो व गौढीय-सम्प्रदाय के विचारको द्वारा अपने-अपने समर्थन मे 'भागवत-पुराण' का उल्लेख किया गया है। गौढीय-सम्प्रदाय तो 'भागवत-पुराण' को अपनी प्रेरणा का मूल-स्रोत मानता हुआ प्रतीत होता है।

गौढीय विचार-सम्प्रदाय के प्रमुख प्रतिपादक चैतन्य है, परन्तु वे एक धर्म-प्राण भक्त थे, तथा उनके उपदेशो के प्रति बहुत कम जानकारी उपलब्ध है। उन्होने किसी साहित्यिक अथवा दार्शनिक कृति की रचना नही की, किन्तु उनके अनुयायियो तथा अनुवर्ती अनुयायियो मे कुछ उत्तम साहित्यकार और दार्शनिक थे। इस प्रकार वैष्णवो के गौढीय-सम्प्रदाय मे रूप गोस्वामी, जीव गोस्वामी और बलदेव विद्या-

भूषण के मत की एक सक्षिप्त व्याख्या का निरूपण है। डा० एस० के० डे० द्वारा जीव गोस्वामी की स्थिति पर अनेक महत्त्वपूर्ण लेख प्रकाशित किए गए हैं, परन्तु उनसे भी ऐसा प्रतीत नही होता कि वे दार्शनिक दृष्टिकोण पर बल देना चाहते हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ को लिखते समय मैंने सस्कृत मे प्रकाशित विशाल सामग्री तथा अपनी दक्षिण भारत की यात्रा के समय विभिन्न अवसरो पर एकत्रित अनेक विरल हस्तलेखो का उपयोग किया है।

मेरे पुराने मित्र डा० एफ० डब्ल्यू० थामस मेरे सर्वोत्तम धन्यवाद के पात्र हैं जिन्होने अपनी वृद्धावस्था एव अनेक महत्त्वपूर्ण पूर्वनियोजित कार्यो के होते हुए भी इतनी सावधानी और परिश्रम से पाण्डुलिपि के कुछ अशो के सशोधन तथा प्रूफ सशोधन एव अशुद्धि-निवारण का कष्ट उठाया है। उनकी सहायता के बिना प्रस्तुत ग्रन्थ की अपूर्णताए और भी अधिक होती।

डा० ई० जे० थामस का भी मैं आभारी हूँ जिन्होने प्रस्तुत ग्रन्थमाला के प्रारम्भिक काल से ही अनेक बार सामयिक सहायता प्रदान की है। मेरी पत्नी श्रीमती सुरमा दासगुप्त एम० ए०, पी०-एच० डी० (कलकत्ता व कैन्टब०) शास्त्री को भी ग्रन्थ-लेखन और उसके प्रकाशन से सबधित अन्य अनेक कार्यों मे प्राप्त निरन्तर सहायता के लिए मेरा सर्वोत्तम धन्यवाद है। मैं अपने पूर्व शिष्य डा० सतीशकुमार मुखर्जी एम० ए०, पी-एच० डी० की सहायता के प्रति भी कृतज्ञ हूँ जो कुछ वर्ष पूर्व पाण्डुलिपि को तैयार करते समय उनसे प्राप्त की थी।

ट्रिनीटी कॉलेज, केम्ब्रिज
अगस्त, १९४८

सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त

विषय-सूची

पृष्ठ

अध्याय–२४

भागवत पुराण

१ धर्म .. २
२ ब्रह्मन्, परमात्मन्, भगवत् और परमेश्वर ... १२
३. भागवत-पुराण में कपिल दर्शन ... २४
४ मरणोत्तर अवस्था-संबंधी सिद्धान्त ... ४६

अध्याय–२५

मध्व और उनका सम्प्रदाय

१ मध्व का जीवन .. ५२
२ मध्व गुरुओं की उत्तराधिकार-सूची .. ५७
३ मध्व की महत्त्वपूर्ण कृतियाँ ५७
४ मध्व-सम्प्रदाय के आचार्य और लेखक .. ८६
५ रामानुज और मध्व .. ९२

अध्याय–२६

मध्व द्वारा 'ब्रह्म-सूत्रों' की व्याख्या

१ ब्रह्म-सूत्र १-१-१ की व्याख्या . १००
२ ब्रह्म-सूत्र १, १, २ की व्याख्या . ११६
३ ब्रह्म-सूत्र १, १, ३-४ की व्याख्या . १२५
४ 'ब्रह्म-सूत्रों' के अन्य महत्त्वपूर्ण अधिकरणों की एक व्यापक समीक्षा १२७

अध्याय–२७

मध्व-दर्शन की एक व्यापक समीक्षा

१ तत्व-मीमांसा १५०
२ प्रमाण (सत्य ज्ञान के साधन) . १६१
३ स्वत -प्रामाण्य १६६
४ भ्रान्ति और संशय . १७५
५ 'भेद' की प्रतिरक्षा .. १८०

अध्याय–२८

मध्व का तर्कशास्त्र

१ प्रत्यक्ष .. १८३
२ अनुमान . १८६
३ तर्क १९०
४ व्याप्ति २००
५ अनुमान मे ज्ञानमीमासात्मक प्रक्रिया २०३
६ अनुमान के सबध मे विभिन्न विचार २०४
७ शब्द ... २०६

अध्याय–२९

द्वैतवादियों और अद्वैतवादियो के मध्य विवाद

१ जगत् के मिथ्यात्व पर व्यास-तीर्थ, मधुसूदन और रामाचार्य .. २०८
२ ज्ञान का स्वरूप २३४
३ माया के रूप मे जगत् २५०

अध्याय–३०

द्वैतवादियो और अद्वैतवादियो के मध्य विवाद (क्रमशः)

१ अविद्या की परिभाषा का खण्डन २६३
२ 'अज्ञान' का प्रत्यक्ष २६८
३ अज्ञान का अनुमान . २८०
४ अविद्या के सिद्धान्त का खण्डन २८३
५ अज्ञान और अहकार .. २९८
६ जगत्-प्रपच की अनिर्वचनीयता . ३०५
७ ब्रह्मन् का स्वरूप . ३०८
८ ब्रह्मन् का उपादान एव निमित्त कारण के रूप मे खण्डन ३११
९ मोक्ष ... ३१९

अध्याय–३१

वल्लभ का दर्शन

१ वल्लभ द्वारा 'ब्रह्म-सूत्र' की व्याख्या . ३२४
२ ब्रह्मन् का स्वरूप .. ३३१
३ तत्व ३३६
४ प्रमाण ३४०

५ भक्ति का प्रत्यय . ३५०

६ वल्लभ के अनुयायियो द्वारा वल्लभ वेदान्त के प्रकरणो की व्याख्या ३६३

७ विट्ठल द्वारा वल्लभ के विचारो की व्याख्या ... ३६८

८ वल्लभ का जीवन (१४८१-१५३३) .. ३७६

९. वल्लभ और उनके शिष्यो की कृतियाँ .. ३७८

१० विष्णुस्वामिन् .. ३८६

अध्याय—३२

चैतन्य और उनके अनुयायी

१ चैतन्य के जीवन-कथाकार ३८८

२. चैतन्य का जीवन .. ३८९

३ चैतन्य का भावावेशवाद ... ३९३

४. चैतन्य के दार्शनिक मत के विषय मे 'चैतन्य-चरितामृत' से सग्रह ... ३९४

५ चैतन्य के कुछ साथी . ३९७

अध्याय—३३

चैतन्य के अनुयायी जीव गोस्वामी व बलदेव विद्याभूषण का दर्शन

१ तत्त्व-मीमासा .. ४००

२ जगत् की स्थिति .. ४०९

३ परमेश्वर और उसकी शक्तियाँ ... ४१४

४ अपने भक्तो के साथ भगवान का सबध ... ४१५

५ भक्ति का स्वरूप . ४२०

६. चरम-सिद्धि . ४३४

७ भक्ति का आनद ... ४३९

८ बलदेव विद्याभूषण का दर्शन ४४५

—SS—

अध्याय २४

भागवत पुराण

भारतीय भक्ति-साहित्य मे "भगवद्गीता" की भाँति "भागवत-पुराण" का भी अद्वितीय स्थान है। किन्तु वह "भगवद्गीता" के समकक्ष पुरातनत्व का दावा नही कर सकता। इस पुस्तक के लेखक को दसवी शताब्दी से पूर्व उसके सबध मे कोई उल्लेख नही मिले है। स्वय रामानुज (जन्म तिथि सन् १०१७) ने भी "भागवत-पुराण" का न तो नाम से उल्लेख किया और न उसमे कोई उद्धरण दिये हैं। लेकिन मध्व के समय तक यह कृति प्रसिद्ध हो चुकी थी मध्व (ज० ति० तेरहवी सदी) की मुख्य कृतियो मे से एक का नाम "भागवत तात्पर्य" है, जिसमे उन्होने "भागवत-पुराण" के प्रमुख विचारो की व्याख्या की है और अपने मत की पुष्टि करने वाले विचारो पर बल दिया है। "भागवत-पुराण" के विचारो मे उच्च कोटि की काव्यात्मकता है लेकिन उसकी शैली अपेक्षाकृत दुरूह है। इस लेखक का मत है कि उसे किसी दक्षिण भारतीय ने लिखा होगा क्योकि उसमे आलवारो का उल्लेख मिलता है जिनके सबध मे कदाचित् किसी भी उत्तर भारत के लेखक ने कभी कोई उल्लेख नही किया। "भागवत-पुराण" की इतनी प्रशसा हुई कि तत्काल ही उस पर टीकाएँ लिखी गईं। उसकी निम्नलिखित टीकाएँ उल्लेखनीय है –

अमृत-रगणी, आत्मप्रिया, कृष्णपदी, चैतन्य-चद्रिका, जय-मगला, तत्वप्रदीपिका, तात्पर्य-चद्रिका, तात्पर्य-दीपिका, भगवल्लीला-चितामणि, रस-मजरी, शुकपक्षीय-प्रबोधिनी, जनार्दन भट्ट की टीका, नरहरि की टीका, श्री निवास का "प्रकाश," कल्याण राय की "तत्व-दीपिका," कृष्ण भट्ट की टीका, कौर साधु की टीका, गोपाल चक्रवर्ती की टीका, चूडामणि चक्रवर्ती की "अन्वय-बोधिनी," नरसिंहाचार्य की "भाव-प्रकाशिका," यदुपति की टीका, वल्लाभाचार्य की "सुबोधिनी," विजयध्वज तीर्थ की "पद-रत्नावली," विट्ठल दीक्षित की टीका, विश्वनाथ चक्रवर्ती की सारार्थदर्शिनी" विष्णुस्वामिन् की टीका, वीर राघव की "भागवत-चद्रिका" शिवराम की "भावार्थ-दीपिका," श्रीधर स्वामी की "भावार्थ-दीपिका," केशवदास की "स्नेह-पुराणी," श्री रासाचार्य की टीका, सत्याभिनव तीर्थ की टीका, सुदर्शन सूरि की टीका, व्रज-भूषण की टीका, "भागवत-पुराणार्क-प्रभा," जयराम और मधुसूदन सरस्वती की "भागवत-पुराण-प्रथम-श्लोक-टीका, वल्लभाचार्य की "पचम-स्कध-टीका," बालकृष्ण यति की "सुबोधिनी" सनातन गोस्वामी की "वैष्णव-तोषिणी," वासुदेव की "बुधरजिनी,"

"विट्ठल दीक्षित का "निबन्ध-प्रकाश," वल्लभाचार्य की "अनुक्रमणिका," ब्रह्मानद की "एकादश स्कन्ध तात्पर्य चद्रिका," बोपदेव की "अनुक्रमणिका।" "भागवत पुराण" के विभिन्न विषयो पर कई अन्य ग्रन्थ भी लिखे गए है तथा कुछ ग्रन्थो मे उसका साराश दिया गया है। इनमे से कुछ-ग्रन्थ--रामानद तीर्थ, प्रियदास, विश्वेश्वर, पुरुषोत्तम, श्रीनाथ वृ दावन गोस्वामी, विष्णु-पुरी और सनातन के द्वारा रचित हे।

धर्म

"धर्म" शब्द, जिसे साधारणतया अग्रेजी मे "रैलिजन" या "वर्चू" शब्दो द्वारा अनूदित किया जाता है--का प्रयोग भारतीय चिंतन की विभिन्न शाखाओ एव धर्म-परम्पराओ मे बहुत भिन्न-भिन्न अर्थों मे किया जाता है। "भागवत पुराण" मे व्याख्या किए गए "धर्म" के प्रत्यय का पाठक से परिचय कराने से पूर्व तत्सम्बन्धी कुछ अधिक महत्वपूर्ण धारणाओ का उल्लेख करना उपयोगी सिद्ध होगा। "मीमासा-सूत्र का आरम्भ "धर्म" के स्वरूप की जिज्ञासा से होता है, तथा उसकी परिभाषा के अनुसार धर्म वह निश्रेयस है जो केवल वैदिक आदेशो से निर्धारित किया जा सकता है।[1] शबर और कुमारिल की व्याख्या के अनुसार "धर्म" कहे जाने वाले श्रेय का अर्थ है स्वर्गादि शुभ फलो के प्रदाता वैदिक-यज्ञ। वैदिक यज्ञो द्वारा वाछनीय फलो की उत्पत्ति होती है। यह तथ्य न तो इन्द्रियो द्वारा प्रत्यक्ष किया जा सकता है और न उसका अन्य दत्त-सामग्री के बल पर अनुमान किया जा सकता है। उसे तो केवल वैदिक आदेशो एव निर्देशो के साक्ष्य द्वारा जाना जा सकना है। इसलिए धर्म का अर्थ है वैदिक यज्ञो द्वारा प्राप्त श्रेयस्कर फल एव स्वय वैदिक विधि-निषेध द्वारा ही निर्धारित किया जा सकता है। विवेकशील एव दूरदर्शितापूर्ण कार्यो द्वारा प्राप्त वाछनीय फलो को "धर्म" कहा जा-सकता है जो वैदिक विधि-निषेधो का यथावत् अनुसरण किये गये कार्यों से प्राप्त होते है। किन्तु वेदो मे कई प्रकार के यज्ञो का वर्णन किया गया है जिनके अनुष्ठान द्वारा कोई व्यक्ति अपने शत्रुओ का नाश करके अथवा उसको नाना प्रकार की गहरी चोटें पहुँचा कर उनसे प्रतिशोध ले सकता है। पर किसी मानव को चोट पहुँचाने वाला कार्य अवाछनीय है अत ऐसा कार्य "धर्म" नही कहा जा सकता। जैसा कि हम अब समझते हैं कि इस अर्थ मे "धर्म" का ईश्वर अथवा साधारण रूढ नीति, अथवा किसी प्रकार के रहस्यवादी या धार्मिक भावावेश से कोई सम्बन्ध नही है। उसका अर्थ है केवल वैदिक कर्म-काण्ड तथा उनके अनुष्ठान द्वारा उत्पन्न माने जाने वाले श्रेयस्कर फल, उसका कोई धार्मिक या

[1] "अथातो धर्म-जिज्ञासा" --मीमासा-सूत्र १, १, १।
चोदना-लक्षणोऽर्थो धर्म --वही १, १, २।

नैनिक विनियोग नही होता, और ऐसा "धर्म" केवल श्रुति के विधि-निषेध से ज्ञात किया जा सकता है।[१] उसमे अहिंसा की धारणा का थोडा-सा अश सन्निहित है, क्योकि दूसरो को क्षति पहुँचाने वाले कर्म-काण्डो के अनुष्ठान का उसके भावार्थ मे समावेश नही किया गया है।[१] "धर्म" मे सब प्रकार के सवेगो, रहस्यात्मक भावो तथा किसी भी रूप मे बुद्धि या विचार के पर्याय का कोई स्थान नही है, अपितु उसमे केवल वाह्य श्रुति-आदेशो के प्रति यथावत् निष्ठा का पूर्वग्रहण होता है, उसमे किसी आतरिक आध्यात्मिक नियम या बुद्धिपरक सकल्प, अथवा ईश्वर की इच्छा के प्रति निष्ठा का लेशमात्र भी नही मिलता। परन्तु श्रुति का आदेश कुछ स्थितियो मे तो निरुपाधिक आदेश होता है और अन्य स्थितियो मे सोपाधिक आदेश, जिसका अर्थ है कि वह व्यक्ति की कुछ शुभ वस्तुओ के प्रति कामना से प्रतिवधित होता है। कुमारिल इस प्रत्यय की व्याख्या करते हुए कहते है कि वैदिक आदेशो के अनुसार किसी द्रव्य, क्रिया या गुण का विशेष प्रकार के परिचालन द्वारा सुख की उत्पत्ति के लिये उपयोग करना ही "धर्म" कहलाता है।[२] यद्यपि यह द्रव्य, गुण आदि इन्द्रियो द्वारा प्रत्यक्ष

---

[१] य एव श्रेयस्कर, स एव धर्म शब्देन उच्यते, कथमवगम्यताम्, यो हि यागमनुतिष्ठति, त धार्मिक इति समाचक्षते, यश्च यस्य कर्ता स तेन व्यपदिश्यते, यथा पाठक, लावक इति। तेन य पुरुष नि श्रेयसेन सयुनक्ति, स धर्म शब्देन उच्यते
कोऽर्थ—यो नि श्रेयसाय ज्योतिष्टोमादि। कोऽनर्थ—य प्रत्यवायाय।
—"मीमासा सूत्र" पर "शवर-भाष्य," १, १, २।

लेकिन प्रभाकर इस नियम की भिन्न व्याख्या देते हैं, तथा सुझाव देते है कि इसका तात्पर्य यह है कि वेदो का प्रत्येक आदेश सदा वाध्यकारी होता है और "धर्म कहलाता है, भले ही उसके पालन करने से हम ऐसे कार्य कर बैठे जो अन्य लोगो को क्षति पहुँचाये।

तत सर्वस्य वेदार्थस्य कार्यत्व अर्थत्व च विधीयत इति श्येनादिनियोगानामपि अर्थत्व स्यात्।
—"शास्त्र-दीपिका" पृ० १७, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई १९१५।

कुमारिल इसकी आगे व्याख्या करते हुए कहते है कि वह कार्य (वैदिक आदेशो के अनुसार सपादित) जो सुख उत्पन्न करे तथा तत्काल या सुदूर भविष्य मे दुःख उत्पन्न न करे "धर्म" कहलाता है।

[२] फल तावद धर्मास्य श्येनादे सम्प्रधार्यते
यदा येनेष्ट सिद्धि स्यादनुष्ठानानुबधिनी
तस्य धर्मत्वमुक्तेन तत श्येनादि वर्जनम्
यदा तु चोदना गम्य कार्याकार्यानपेक्षया

किये जा सकते हैं, तथापि, यह तथ्य कि उनके एक विशेष कर्म-काडीय पद्धति के अनुसार परिचालन द्वारा अनुष्ठानकर्त्ता के सुख की उत्पत्ति होगी, वैदिक विधि-निषेध द्वारा ही ज्ञात किया जा सकता है और केवल इस ज्ञान के लिये ही "धर्म" वेदो पर निर्भर करता है।[1] अपने शत्रु की हिंसा करने से एक व्यक्ति को तात्कालिक सुख प्राप्त हो सकता है, लेकिन वैदिक आदेशो द्वारा वर्जित होने के कारण उससे भविष्य मे अनिवार्यत दु ख उत्पन्न होगा। (किन्तु यज्ञानुष्ठान मे पशु जीवन की हिंसा से अधर्म उत्पन्न नही होता, अत उसे "धर्म" के अन्तर्गत समाविष्ट मानना पडेगा)।

दूसरी ओर ऐसे कार्य है जो अपने शत्रुओ की हिंसा करने के लिए किये जाते हैं तथा वेद जिनका आदेश नही देते हैं, किन्तु ऐसे अशुभहेतुओ से प्रेरित व्यक्तियो के लिये जिनके अनुष्ठान की विधियाँ वेदो मे वर्णित की गई हैं, केवल ये कार्य ही "अधर्म" कहलाते है। इस प्रकार सभी तरह की जीव-हिंसा "अधर्म" नही मानी जाती अपितु वेदो द्वारा वर्जित हिंसा ही "अधर्म" कहलाती है वेदो द्वारा जिस हिंसा का आदेश दिया गया है वह "अधर्म" नही वल्कि "धर्म" मानी जानी चाहिये। स्वरूपत द्रव्यो, कर्मों अथवा गुणो मे कुछ शक्तियाँ सन्निहित होती हैं जो उन्हे अधर्ममय या धर्ममय बनाती है, लेकिन कौन से द्रव्य आदि अधर्ममय हैं और कौन से धर्ममय यह श्रुतियो के आदेशो से ही ज्ञात किया जा सकता है।[2] इस प्रकार "धर्म" और "अधर्म" वस्तुओ, क्रियाओ आदि के वस्तुगत लक्षण हैं जिनका स्वरूप केवल श्रुति द्वारा ही प्रकट होता है। ऊपर हम देख ही चुके हैं कि प्रभाकर ने "धर्म" का एक सर्वथा भिन्न अर्थ दिया था। उनके अनुसार "धर्म" वैदिक कर्मकाण्डो के अनुष्ठान का वह अनुभवातीत फल

धर्म प्रीतिनिमित्त स्यात् तदा श्येनेऽपि धर्मता
यदा त्वप्रीति-हेतुर्य साक्षाद्व्यवहितोऽपि वा
सोऽधर्मश्चोदनात स्यात्तदा श्येनेऽप्यधर्मता।

—"श्लोकवार्त्तिक," सूत्र २ श्लोक २७०—२७३।

[1] द्रव्य-क्रिया-गुणादीनाँ धर्मत्व स्थापयिष्यते
तेषामऐन्द्रियकत्वेऽपि न ताद्रूप्येण धर्मता
श्रेय साधनता ह्येषा नित्य वेदात् प्रतीयते
ताद्रूप्येण च धर्मत्व तस्मान्नेन्द्रिय-गोचर।

—"श्लोक-वार्त्तिक," सूत्र २, १३, १४।

[2] धर्माधर्मार्थिभिर्नित्य मृग्यौ विधि-निषेधकौ क्वचिदस्या निषिद्धत्वाच्छक्ति. शास्त्रेण वोधिता विद्यमाना हि कथ्यन्ते शक्तयो द्रव्यकर्मणाम् तदेव चेद कर्मेति शास्त्रमेवानुधावता।

—वही, २४६, २५१।

(अपूर्व) है जो कार्य की समाप्ति के पश्चात् दीर्घकाल नक विद्यमान रहता है तथा उचित समय पर उचित एव अशुभ प्रभाव उत्पन्न करता है।[1]

स्मृति-साहित्य के स्रोत वेद माने जाते हैं, अत उसे प्रामाणिक समझना चाहिए, उसकी सामग्री का मूल यदि वेदो तक नही खोजा जा सकता है तो भी यह अनुमान द्वारा सिद्ध होता है कि उक्त वैदिक मूल-पाठ अस्तित्व मे रहा होगा।[2] स्मृति तभी अमान्य समझी जानी चाहिये जबकि किसी विशेष आदेश अथवा तथ्य के कथन मे वेदो द्वारा उसका प्रत्यक्ष व्याघात किया जाय। अतएव स्मृति-ग्रन्थ सामान्यतया वेदो के क्रमानुवर्त्ती माने जाते हैं। यद्यपि वास्तव मे स्मृति-ग्रन्थ परवर्त्ती युग मे विभिन्न कालो मे लिखे होने के कारण कई नवीन प्रत्ययो और कई नवीन आदर्शों का श्रीगणेश करते है, पर कुछ स्मृतियो मे पुराणो और स्मृतियो के उपदेशो को वैदिक उपदेशो से निम्नतर स्तर का माना गया है।[3] स्मृति और वेदो के सम्बन्ध पर कम से कम दो भिन्न दृष्टिकोण है। प्रथम दृष्टिकोण के अनुसार यदि स्मृतियाँ वेदो से विपरीत हो, तो स्मृति के मूल-पाठ की इस प्रकार व्याख्या करनी चाहिए कि वह वैदिक मूल-पाठ के सदर्भ मे सहमत हो जाय, और यदि ऐसा सम्भव न हो तो स्मृति के मूल पाठ को अमान्य समझना चाहिये। अन्य विद्वानो के अनुसार विपरीत स्मृति मूल पाठ को अमान्य ही समझना चाहिये। मित्र मिश्र, शबर एव भट्ट शाखाओ के उपर्युक्त दो मतो पर टीका करते हुए कहते हैं कि पहले मत के अनुसार यह सदेह हो जाता है कि वेदो से विपरीत स्मृति के मूल पाठ का लेखक त्रुटियो से मुक्त नही है, अतएव वेदो से अविपरीत स्मृति के मूल पाठो को भी दोषपूर्ण समझा जा सकता है जिनका स्रोत वेदो मे नही खोजा जा सकता। द्वितीय मत के अनुसार स्मृति को मान्य समझा जाता है क्योकि कोई यह निश्चयपूर्वक नही कह सकता कि वे वेदो से अविपरीत मूल-पाठ, जिनका स्रोत वेदो मे नही खोजा जा सकता, यथार्थ मे वेदो मे अविद्यमान हैं। जिनमे सामजस्य की कोई गु जायश न हो, ऐसे वेदो से विपरीत मूल-पाठो की दशा मे भी, स्मृति के आदेश वैदिक आदेशो से विपरीत होने पर वैकल्पिक रूप से मान्य समझे जा

[1] न हि ज्योतिष्टोमादि—यागस्यापि धर्मत्व अस्ति, अपूर्वस्य धर्मत्वाभ्युपगमात्।
—"शास्त्र-दीपिका," पृ० ३३, बम्बई, १९१५।

[2] विरोधे त्वनपेक्ष्य स्यादस्ति ह्यनुमानम्।
—"मीमासा-सूत्र," १, ३, ३।

[3] अत स परमो धर्मो यो वेदाद् अवगम्यते
अवर स तु विज्ञेय पुयेराणादिषु स्मृत
तथा च वैदिको धर्मों मुख्य उत्कृष्टत्वात्, स्मार्त अनुकल्प अप्रकृष्टत्वात्।
—"वीर मित्रोदय-परिभाषा-प्रकाश" मे "व्यास-स्मृति" से उद्धृत पृ० २९।

सकते है।[1] वेदो मे "धर्म" के प्रत्यय मे अनुष्ठानकर्ता अथवा अन्य व्यक्तियो को लाभप्रद उन सभी बातो का अपवर्जन हो जाता है जो अनुभव अथवा निरीक्षण द्वारा ज्ञात की जा सकती है, वह पूर्णतया उन कर्मकाण्डीय क्रियाओ तक ही सीमित है जिनके शुभ प्रभाव अनुभव द्वारा नही बल्कि केवल वैदिक आदेशो के द्वारा ही ज्ञात किये जा सकते है।[2] जैसे कुएँ खुदवाना आदि कार्यो को अनुभव द्वारा सार्वजनिक हित (परोपकाराय) के कार्य के रूप मे ज्ञात किया जाता है, अत वह "धर्म" नही कहा जायगा। अतएव कोई भी "दृष्टार्थ" अर्थात् वे कार्य जिनके लाभप्रद प्रभाव अनुभव द्वारा ज्ञात किये जा सकें, "धर्म" नही कहला सकते। "अगिर स्मृति" इसी विचार को प्रतिध्वनित करते हुए कहती है कि आत्मज्ञान की प्राप्ति मे किये गए प्रयत्नो के अतिरिक्त कोई व्यक्ति अपनी व्यक्तिगत इच्छा अथवा अभिलाषा से प्रेरित होकर जो भी कार्य करता है, वह बालक्रीडावत् एव निष्प्रयोजन होता है।[3] पर कई महत्वपूर्ण स्मृतियाँ "धर्म" के प्रत्यय की सीमाओ का विशुद्ध वैदिक आदेशो से परे विस्तार करती हुई प्रतीत होती है। मनु का ग्रथ पूर्णतया वेदो के सदर्भ पर आधारित होने के कारण, मनु को महानतम् स्मृतिकार माना जाता है, जो भी स्मृति मनु-स्मृति से विरोध मे होती है वह अमान्य समझी जाती है।[4] मनु की परिभाषानुसार "धर्म" वह है जिसका राग-द्वेष से रहित विद्वज्जन नित्य अनुसरण करते है, तथा जिसकी हृदय स्वीकृति देता है।[5] एक अन्य स्थान मे मनु कहते है कि "धर्म" चार प्रकार का होता है, वैदिक आदेशो का पालन, स्मृति के आदेशो का पालन, साधु जनो के आचार का पालन, और ऐसे कार्यो का सपादन जो अनुष्ठानकर्ता को मानसिक सतोष (आत्मन

---

[1] देखिए "वीर मित्रोदय" भाग १, पृ० २८, २९।

[2] तथा प्रत्युपस्थितनियमानाम् आचाराणा दृष्टार्थत्वाद् एव प्रामाण्यम् प्रपास् तडागानि च परोपकाराय न धर्माय इत्येवावगम्यते।

—"मीमासा-सूत्र" पर "शबर-भाष्य" १, ३, २।

[3] स्वाभिप्रायकृत कर्म यत्किचिज्ज्ञानज्वर्जितम् क्रीडा-कर्मेव बालाना तत्सर्व निष्प्रयोजनम्।

—"वीरमित्रोदय-परिभाषा-प्रकाश" पृ० ११।

[4] वेदार्थोपनिवन्धृत्वात् प्राधान्य हि मनो स्मृतम्
मन्वर्थविपरीता तु या स्मृति सा न प्रशस्यते।

—"वीरमित्रोदय" मे बृहस्पति का उद्धरण, वही, पृ० २७।

[5] विद्वद्भि सेवित सद्भिर्नित्यम् अप-द्वेरागिभि
हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्त निबोधत।

—"मनु-सहिता," २, १।

स्तुष्टि) प्रदान करे ।[1] लेकिन टीकाकार "धर्म" के अर्थ एव विषय का इस प्रकार का विस्तार स्वीकार करने के प्रति अनिच्छुक है। एक प्राचीनतम टीकाकार, मेधा-तिथि (६ वी शताब्दी), मे कहते है कि वैदिक आदेशो के पालन के रूप मे "धर्म" अनादि है, केवल वेदो के विद्वान ही "धर्म" के ज्ञाता कहे जा सकते है, तथा यह असम्भव है कि यहाँ "धर्म" के स्वरूप को ज्ञात करने के अन्य साधन भी है। धार्मिक कृत्यो के नाम पर जो अन्य आचार, व्यवहार तथा जीवन के विधि-विधान प्रचलित है उन्हे दुश्चरित्र मुर्खों ने प्रवृत्त किया है (मुर्ख-दु शील-पुरुप-प्रवृत्तित्त) वे कुछ काल तक प्रचलित रहते हैं और तत्पश्चात् उनका नाश हो जाता है। ऐसे धार्मिक आचार प्राय लोभ के कारण अपनाये जाते है (लोभान् मत्र तत्रादिशु प्रवर्त्तते) ।[2] ज्ञानी और शीलवान केवल वे ही है जो वेदो के आदेशो के ज्ञाता हैं, उनको नियम के प्रति आदरभाव से कार्यो मे परिणत करते है और लोभ अथवा द्वेष से प्रेरित होकर अवैदिक कृत्यो को करने की भूल नहीं करते। और, यद्यपि मनुष्य अपनी इन्द्रिय-तृप्ति के लिये कई कार्यों को करने के लिये मन मे लालायित हो सकता है, तथापि हृदय का वास्तविक सतोष तो वैदिक कृत्यो के अनुष्ठान से ही प्राप्त हो सकता है।[3] अपनी इस प्रकार की व्याख्या

---

[1] वेदोऽखिलो धर्म-मूल स्मृतिशीले च तद्विदाम्,
आचारश्चेव साधूनाम् आत्मनस्तुष्टिए व च । —वही, २, ६ ।

[2] मेधातिथि कहते हैं कि शरीर पर विभूति लगाना, मानवी खोपडिया लिये फिरना, नगे घूमना या गेरुए वस्त्र पहनना आदि कार्य निकम्मे लोगो द्वारा जीविकोपार्जन के साधन के रूप मे अपनाये जाते हैं। —वही, अध्याय २, १ ।

[3] "हृदयेन अभ्यनुज्ञात्" वाक्याश मे "हृदय" शब्द की व्याख्या करते हुए मेधातिथि कहते हैं कि "हृदय" का अर्थ "मन" हो सकता है (मनस्, अतर्हृदयवर्त्तीति बुद्ध-यादि तत्वानि)। इस मान्यता के अनुसार वे यह कहेगे कि मन का सतोष वैदिक कर्त्तव्य-पथ के पालन से ही प्राप्त हो सकता है। परन्तु इस अर्थ से प्रत्यक्षत असन्तुष्ट होकर वे यह सोचते हैं कि "हृदय" का अर्थ वेदो की स्मरण की हुई सामग्री भी हो सकता है (हृदय वेद, स ह्यधातो भावना-रूपेण हृदय-सहित्तो हृदयम्)। इसका अर्थ यह हो जाता है कि वेदो का पडित मानो सहजवृति से सद्गुणी कार्यो मे प्रवृत्त होता है क्योकि अपने आचार-पथ को चुनते समय वह अचेतन रूप मे अपने वैदिक अध्ययन से निर्देशित होता है। मनुष्य कार्यो मे प्रेरित अपनी निजी प्रवृत्ति से, महापुरुषो के उदाहरण से, अथवा वैदिक आदेशो से हो सकता है, किन्तु वह चाहे किसी भी ढग से इस प्रकार प्रेरित हो, उसके कार्य "धर्म" के अनुरूप तभी होगे जबकि वे अततोगत्वा वैदिक कर्त्तव्य-पथ के अनुरूप हो।

से सगति रखते हुए मेधातिथि न केवल बौद्धो एव जैनो को सच्चे वैदिक धर्म से बाहर होने के कारण तिरस्कृत करते है बल्कि पचरात्र के अनुयायियो (अर्थात् भागवतो) एव पाशुपतो को भी तिलाजलि देते है क्योकि वे उक्त तत्रो के लेखको के आप्तत्व मे तथा अपनी रुचि के देवताओ की महानता मे विश्वास रखते थे। उनके मत मे इनके उपदेश वेदो के आदेशो से स्पष्टतया विपरीत हैं तथा उदाहरण के तौर पर वे सकेत करते है कि भागवतो के मतानुसार सब प्रकार की जीव-हिसा अधार्मिक है, और यह मत यज्ञ-विशेष मे पशुओ की बलि-सम्बन्धी वैदिक आदेश के स्पष्टत विपरीत है। प्राणियो की हिंसा स्वत ही अधार्मिक नही है केवल वही हिसा अधार्मिक है जिसका वैदिक आदेशो द्वारा निषेध किया गया है। अत उन सभी धर्म-तत्रो के आचार एव कृत्य, जो वेदो के उपदेशो पर आधारित नही हैं, "धर्म" के अनुकूल न होने के कारण त्याज्य है। "स्मृति-शीले च तद्विदाम्" की व्याख्या करते हुए मेधातिथि कहते हैं कि "शील" शब्द (जिसको साधारणतया "चरित्र" मे अनूदित किया जाता है) का अर्थ यहा उस एकाग्रता से है जो मन को वैदिक आदेशो के सही भावार्थ को स्मरण करने मे समर्थ बनाती है।[1] आचार से मेधातिथि का तात्पर्य केवल उन्ही कर्मो मे है जिनका वैदिक कर्त्तव्यो का यथावत् अनुसरण करने वाले लोगो द्वारा वर्त्तमान समय मे पालन किया जाता है किन्तु जिनके सम्बन्ध मे कोई वैदिक या स्मृति का मूल पाठ उपलब्ध नही है। उनकी मान्यता है कि वे गौण विधान तथा अन्य कर्मकाण्ड जिनका वैदिक परिमण्डल के लोगो द्वारा अनुष्ठान किया जाता है अततोगत्वा वैदिक आदेशो से ही आरम्भ हुए है। इसी प्रकार वेदो के अनुसार कार्य करने मे अभ्यस्त लोगो के आत्म-सतोष की भावना ही "धर्म" पथ की निर्देशक मानी जा सकती है। इसका अर्थ केवल यही हुआ कि वेदो के सभी अनुयायियो की सहज-प्रवृति पर यह सकेत करने का भरोसा किया जा सकता है जिन कार्यो की ओर उनका मन प्रवृत्त हो वे वैदिक आदेशो के अनुकूल होने ही चाहिये और फलत "धर्म" के अनुरूप होने ही चाहिये। किन्तु अन्य टीकाकार "शील", "आत्मनस्तुष्टि" व "हृदयेण अभ्यनुज्ञात" शब्दो के अर्थ पर अधिक उदार दृष्टिकोण अपनाते है। इस प्रकार गोविन्दराज अतिम वाक्याश की व्याख्या "सशय से रहित" (अत करण-चिकित्सा-शून्य) के अर्थ मे करते है, और नारायण तो इतना तक कहते है यदि हृदय किसी कार्य की अनुमति न दे तो वह सत् नही माना जा सकता रामानन्द कहते है कि जब दो परस्पर विपरित मूलपाठो के सम्बन्ध मे सशय हो तब एक व्यक्ति को वही काय करना चाहिये जिससे उसका मन सतुष्ट है। रामानन्द ने अपनी "मन्वर्थ चन्द्रिका" मे "शील" "चरित्र" (वृत्त) के

---

[1] समाधि शीलम् उच्यते यच्चेतसोऽन्यविषयव्याक्षेप परिहारेण शास्त्रार्थ निरूपण-प्रवणता तच्छीलम् उच्यते।

—मेधातिथि की टीका, अध्याय २, ६।

अर्थ मे की है और गोविन्दराज ने राग एव द्वेप के परित्याग के अर्थ मे। हारीत द्वारा दी गई "शील" की परिभाषा का अनुसरण करते हुए कुल्लूक उसमे अहिंसा, द्वेप-हीनता नम्रता, मैत्री, कृतज्ञता, दया, शान्ति आदि गुणो का समावेश करते हैं। व्यवहार मे आत्म-सतुष्टि द्वारा "धर्म" का स्वरूप पहचाना जा सकता है लेकिन केवल तभी जबकि उसे निर्धारित करने के लिये कोई उल्लिखित मूलपाठ न हो। अत यद्यपि अन्य परवर्ती टीकाकार मेधातिथि से तनिक अधिक उदार हैं, तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि वे सभी सच्चरित्रता एव आत्म-सतुष्टि या अतर्भावना को "धर्म" के सघटक तत्वो के रूप मे मनु द्वारा दिये गये थोड़े से महत्व की व्याख्या, न्यूनाधिक मेधातिथि की परम्परानुसार, केवल श्रुति के आदेशो के प्रति निष्ठा के अर्थ मे करते है।

यह निर्देश किया जा चुका है कि मेधातिथि ने निश्चय ही पचरात्र व पाशुपत तत्रो को विधर्मी कहकर बहिष्कृत किया और फलत उन्हे "धर्म" के स्वरूप के प्रवर्तन के लिये अमान्य ठहराया। किन्तु परवर्ती काल मे वे भी वैदिक शाखाओ के रूप मे अमान्य हो गये और फलत उनके आदेश ऐसे आप्तवचन समझे जाने लगे कि उनको तार्किक आधार पर चुनौती नही दी जा सकती थी।[1]

किन्तु यह जानकर सतोप होता है कि कुछ परवर्ती स्मृतियो मे "धर्म" के प्रत्यय का विस्तार सामान्य नैतिकता एव कतिपय प्रमुख सद्गुणो तक कर दिया गया था। उदाहरणार्थ बृहस्पति दया (अर्थात् मित्र या शत्रु को आपत्तियो से बचाने की कर्त्तव्य-भावना) क्षमा (अर्थात् सर्व प्रकार की कठिनाइयो मे धैर्य) अनसूया (दूसरो के सद्गुणो की प्रशसा तथा दूसरो के दोपो के प्रति गर्वहीनता के गुण), शौच (अर्थात् दुर्गुणो का परिहार, साधुजनो का साहचर्य तथा अपने जाति-कर्त्तव्यो का दृढ पालन), सन्यास (प्रबल यतित्व का परिहार), मगल (अनुमोदित कार्यों का पालन एव अननुमोदित कार्यो का निवारण), अकार्पण्य (क्षुद्र भावनो के होते हुए भी नियमित दान) अस्पृहा (स्वय को जो थोडा भी प्राप्त हो उससे सतोप, तथा दूसरो की समृद्धि के प्रति

[1] उदाहरणार्थ "योगी-याज्ञवल्क्य" मे कहा है - साख्य योग पचरात्र वेदा पाशुपत तथा अति-प्रमाणान्येनानि हेतुभिर्न विरोधयेत्।

—"वीरमित्रोदय" मे पृ० २० पर उद्धृत लेकिन बम्बई से मुद्रित मूलपाठ मे अनुपलब्ध।

"योगी-याज्ञवल्क्य" का "योग" पर लिखा हुआ ग्रथ है तथा दूसरा "स्मृति" पर लिखा हुआ ग्रन्थ है, और पहले का मूलपाठ ही मुद्रित हुआ है। वर्त्तमान लेखक को दूसरे मूलपाठ के कहीं भी प्रकाशित होने की कोई जानकारी नही है।

द्वेषहीनता) को सभी के लिये सार्वदेशिक "धर्म" के अंग मानते हैं।[1] विष्णु क्षमा, सत्य, दम, शौच, दान, इन्द्रिय-संयम, अहिंसा, गुरु शुश्रूषा, दया, आर्जव, अलोलुपता, देवताओं एवं ब्राह्मणों की आराधना को सार्वदेशिक "धर्म" के तत्व मानते हैं। देवल शौच, दान, तपस्, श्रद्धा, गुरु-सेवा, क्षमा, दया, विज्ञान, विनय, सत्य को सभी धर्मों के समुच्चय के तत्व मानते हैं (धर्म-समुच्चय)। याज्ञवल्क्य अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय-निग्रह, दान, दम, दया और शान्ति को सभी के लिये सार्वदेशिक "धर्म" संघटक तत्व मानते हैं। "महाभारत" सत्य स्वधर्म-वर्तित्व के रूप में तप, शौच, संतोष (अर्थात् स्वयं की पत्नि तक सेक्स तृप्ति सीमित रखना), विषय-त्याग, ह्री (अशुभ कार्यों के करने में लज्जा), क्षमा (कठिनाइयों को सहन करने की योग्यता) आर्जव (मन की समता), ज्ञान, चित्त-प्रसन्नता के रूप में शम, दया, निर्विषय के रूप में ध्यान (मन का सभी इन्द्रिय-विषयों से परावर्त्तन) को सार्वदेशिक "धर्म" मानता है। याज्ञवल्क्य कहते हैं कि "योग" के द्वारा आत्म-ज्ञान की प्राप्ति ही सर्वोच्च "धर्म" है।

इन सार्वदेशिक "धर्मों" का विभिन्न वर्ण-धर्मों अथवा भिन्न परिस्थितियों के धर्मों से अंतर है। इस प्रकार "धर्म" के प्रत्यय के विकास मे तीन चरण है—वैदिक आदेशों के पालन रूपी कर्त्तव्य के रूप मे "धर्म", अहिंसा, सत्य, आत्म-संयम आदि नैतिक सद्-गुणों के रूप मे "धर्म", "योग" के द्वारा आत्म-ज्ञान के रूप मे "धर्म"।

किन्तु "भागवत" "धर्म" के प्रत्यय का एक नवीन पहलू उपस्थित करता है। "भागवत" के अनुसार "ईश्वर की अहैतुकी और अप्रतिहत भक्ति का नाम धर्म है, वह उपासना जो सबके प्रति दयालुता की प्रवृत्ति रखने वाले तथा निर्मत्सर मनुष्यों द्वारा हृदय की पूर्ण सद्भावना के साथ की जाती है। इस उपासना मे आत्मा की पूजनीयता की अनुभूति के स्वाभाविक परिणाम के रूप मे परमतत्व के ज्ञान का समावेश होता है तथा वह स्वभावत सर्वोच्च आनन्द को उत्पन्न करती है।[2] जिस अवतरण का विवेचन किया जा रहा है उसमे "धर्म" की परिभाषा के एक लक्षण के रूप मे

[1] वही, पृ० ३२-४।

"विष्णुधर्मोत्तर" मे भी पंचरात्र और पाशुपत का ब्रह्मजिज्ञासा के साधन के रूप मे उल्लेख आता है

साख्य योग पंचरात्र वेदा पाशुपत
तथा कृतांत-पंचक विद्धि ब्रह्मण. परिमार्गणे। वही पृ० २२।

लेकिन मित्रमिश्र उसी पृष्ठ पर पाशुपत के वैदिक आगम और अवैदिक आगम रूपो मे भेद स्थापित करते हैं। इसी प्रकार पंचरात्र के भी वैदिक और अवैदिक रूप थे। वही पृ० २३।

[2] भागवत पुराण १, १, २ श्रीधर के प्रतिपादन के अनुसार व्याख्या।

ईश्वर की आराधना का प्रत्यक्ष उल्लेख नही किया गया है, जैसाकि श्रीधर ने व्याख्या की है।[1] "धर्म" पूर्ण निष्छलता मे निहित है—आत्मा से सर्व प्रयोजनो, कृत्रिमताओं व सभी प्रकार के वाह्य साहचर्यो का निरोध होना चाहिये और यह मान लिया जाता है कि जब आत्मा इस प्रकार की सभी वाह्य अशुद्धियों से मुक्त हो जाता है तब उसकी वह स्वाभाविक अवस्था ही उसका स्वाभाविक "धर्म" है। अतएव "धर्म" कोई ऐसी वस्तु नही है जो प्राप्त की जाय अथवा जिसे वाह्य वस्तु की भाति अर्जित किया जाय, अपितु वह तो मनुष्य का अपना स्वरूप है जो अशुद्धियो का निराकरण होते ही स्वय को अभिव्यक्त करता है। अत धर्म की आधारभूत अवस्था स्वीकारात्मक न होकर नकारात्मक है जो वाह्य तत्वो के (कैतव) के विच्छेद (प्रोज्झित) मे निहित है। क्योकि, ज्योंही वाह्य तत्वों का उन्मूलन हो जाता है, आत्मा अपने यथार्थ स्वरूप मे प्रकट हो जाता है, और तब उसका परम सत्य व परम शुभ से सम्बन्ध स्वय-सिद्ध हो जाता है इस प्रकार के सम्बन्ध की सामान्य उपलब्धि ही "धर्म" या ईश्वर की उपासना कहलाती है, अथवा जिसे श्रीधर ईश्वर के प्रति कोमल आराधना की सज्ञा देते है। "धर्म" के स्वरूप की स्वय मे वास्तविक उपलब्धि के लिये अग्रसर होने के हेतु एक व्यक्ति मे जिन प्रमुख योग्यताओ की अपेक्षा होती है वे यह है कि उसे दूसरो के प्रति ईर्ष्या नही रखनी चाहिये, तथा उसे सर्व प्राणियो के प्रति मैत्री की स्वाभाविक भावना रखनी चाहिये। "भागवत" मे निरूपित "धर्म" के प्रत्यय द्वारा भारतीय दर्शन-शास्त्र के इतिहास मे "धर्म" की धारणा के विकास मे नवीन दिशा-सकेत किया गया है और उसके लक्ष्यार्थो को स्पष्ट करने का प्रयत्न आगामी परिच्छेदो मे किया जायगा। श्लोक १, २, ६ मे यह निश्चयपूर्वक कहा गया है कि सभी वाह्य तत्वो से इस विच्छेद का अततोगत्वा अर्थ है ईश्वर के प्रति ऐसी अहैतुकी और स्वाभाविक भक्ति का प्रवाह जिससे आत्मा सर्वोच्च सतुष्टि को प्राप्त होता है, तथा वही सर्वोच्च "धर्म" है. यदि ईश्वर की भक्ति को उत्पन्न न करने वाली किसी वस्तु को "धर्म" की सज्ञा दी जा सकती है तो ऐसा "धर्म" निष्फल श्रम मात्र है।[2] वैदिक आदेशो द्वारा परिभाषित "धर्म" के फल तो केवल अस्थायी सुखमय परिणामो को उत्पन्न कर सकते है। सच्चा "धर्म" तो वही है जो ईश्वर-भक्ति के माध्यम से अततोगत्वा आत्म-ज्ञान को उत्पन्न करता है, और ऐसे "धर्म" की समरूपता कोरे लाभ या इच्छाओ की पूर्ति से नही की जा सकती। इस प्रकार ईश्वर की सर्वोच्च भक्ति के अर्थ मे धर्म वैदिक "धर्म" से उत्कृष्ट है जो केवल नाना प्रकार की इन्द्रिय-तृप्ति को ही उत्पन्न कर सकता है।

---

[1] कोमलम् ईश्वराराधन लक्षणो धर्मो निरूप्यते

—श्रीधर की उपर्युक्त अवतरण पर टीका।

[2] वही, १, २, ७।

से पीडित रहते है ।[1] परमेश्वर अपने शुद्ध चैतन्य स्वरूप मे "माया" और प्रकृति की सीमाओं से अतीत रहता है और अपनी आत्मा मे आत्मा से कैवल्य मे स्थित रहता है, और यही परमेश्वर माया से मोहित जीवो को सद्गुण एव दुर्गुण के शुभाशुभ फल प्रदान करता है ।[2] "भागवत" के कई अवतरणो मे इस बात पर बल दिया गया है कि अपने यथार्थ स्वरूप मे परमेश्वर शुद्ध चैतन्य है और सर्व प्रकार के द्वैत एव भेदो से पूर्णतया रहित है । इस दृष्टि से वह चरम और सर्वोत्तीर्ण है जीव भी प्रसुप्त रहते हैं और इस अवस्था मे सब "गुण" अपने अव्यक्त रूप मे स्थित रहते है, और वह अपनी ही शक्ति से अपनी "माया" रूप "प्रकृति" को जाग्रत करता है जिसके कारण जीव सदा नाम और रूपो का अनुभव करने मे प्रवृत्त होते हैं । इसलिए परमेश्वर अपने स्वरूप मे पूर्णतया निराकार शुद्ध चैतन्य समझा जाना चाहिये, अपनी चिच्छक्ति के द्वारा तो वह जीवो को स्वय मे धारण करता है और अपनी अचिच्छक्ति के द्वारा वह भौतिक जगत् का भ्रम फैलाकर उसे जीवो के विविध अनुभवो के हेतु उनसे सम्बन्धित करता है ।[3]

इस प्रकार हम देखते है कि परमेश्वर की तीन भिन्न-भिन्न शक्तियाँ मानी गई है— आतरिक शक्ति जिससे उसका सार-तत्व निर्मित है (अतरग स्वरूप-शक्ति), "माया" के रूप मे वाह्य शक्ति (वहिरग-शक्ति) और वह शक्ति जिसके द्वारा जीवो की अभिव्यक्ति होती है । यह अवधारणा कदाचित् पहले व्याख्या किये गये उस मत के विरोध मे प्रतीत हो सकती है जिसके अनुसार ब्रह्मन् एक भेद-रहित चैतन्य है । लेकिन व्याख्याकार इस कल्पना के आधार पर दोनो मतो का सामजस्य करते है कि अतिम दृष्टि-

[1] वही, १, ७, ६ (श्रीधर की टीका) ।

तद् उक्त विष्णु-स्वामिना

ह्लादिन्या सविदाश्लिष्ट सच्चिदानद ईश्वर

स्वाविद्या-सवृतो जीव सक्लेश-निकराकर

तथा स ईशो यद्-वशे माया स जीवो यस तयार्दित, इत्यादि ।

जीव इसी अवतरण को उद्धृत करते है और उसको "सर्वज्ञ-शुक्ति-पट्-सदर्भ" मे स्थित मानते हैं, पृ० १६१ ।

[2] त्वम् आद्य पुरुप साक्षाद् ईश्वर प्रकृते पर
माया व्युदस्य चिच्छक्त्या कैवल्ये स्थित आत्मनि ।
स एव जीव-लोकस्य माया-मोहित-चेतसो ।
विधत्से स्वेन वीर्येण श्रेयो धर्मादि-लक्षणम् । —वही, १, ७, २३, २४ ।

[3] अनन्ताव्यक्त रूपेण येनेदम् अखिल ततम् ।
चिदचिच्छक्ति-युक्ताय तस्मै भगवते नम —"भागवत" ७, ३, ३४ ।

सम्भव नही हो सकते ।[1] उसकी सत्ता का स्वरूप इस तथ्य मे निहित है कि वह परमानन्द रूप (परम-सुख-रूपत्व) है, सभी इच्छाओ का चरम लक्ष्य (परम पुरुषार्थता) है, और नित्य है। यही परम नित्य सत्ता सर्व वेदान्तोपदेशो की अंतर्विषय है। इस प्रकार "भागवत-पुराण" निर्देश करता है कि यही वह सत्ता है जो सभी की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का कारण है, यही वह सत्ता है जो सुषुप्ति, स्वप्न और जाग्रत अवस्थाओ मे समरूप रहती है, यही वह सत्ता है जो शरीर, इन्द्रियो और मन को सजीवता प्रदान करती है और फिर भी स्वय मे किसी कारण से रहित है। वह न जन्म लेती है, न विकसित होती है, न क्षीण होती है, न मरती है, फिर भी वह एक स्थिर तत्व के रूप मे शुद्ध चैतन्य के रूप मे-सर्व परिवर्त्तनो की अध्यक्षता करती है, और सुषुप्ति मे भी जबकि समस्त इन्द्रियो का परिचालन रुक जाता है, उसका अपना एक रस अनुभव समरूप बना रहता है।

इस सत्ता को कुछ लोग ब्रह्मन् कहते है, कुछ भगवत् कहते हैं और अन्य परमात्मन् कहते हैं। जब विशुद्ध आनन्द स्वरूप सत्ता का परमहसो द्वारा अपनी आत्मा से तादात्म्य का अनुभव किया जाता है, और जब उनके मन उसके विविध शक्तियो से युक्त स्वरूप को ग्रहण करने मे असमर्थ रहते हैं तथा जब उसमे और उसकी शक्तियो मे भेद नही समझा जाता है, तब वह ब्रह्मन् कही जाती है। इस प्रकार के अनुभवो मे यह सत्ता अपनी अमूर्त्तता मे सामान्य रूप से ही ग्रहण की जाती है।[2] लेकिन जब यह सत्ता विविध शक्तियो से युक्त पर उनसे भिन्न अपने यथार्थ स्वरूप के उपासकों द्वारा सिद्ध की जाती है, तब उसे "भगवत्" नाम से पुकारा जाता है। इस प्रसग मे विशुद्ध आनन्द तो द्रव्य अथवा विशेष्य होता है और अन्य समस्त शक्तियाँ उसकी विशेषण मात्र होती है, अत जब सत्ता अपने उचित सम्बन्धो सहित अपनी पूर्णता मे कल्पित की जाती है तब वह भगवन् कहलाती है किन्तु जब वह अपने विशेष सम्बन्धो के बिना व अपने अमूर्त्त रूप मे कल्पित की जाती है तब वह

---

[1] अद्वयत्व च अस्य स्वयसिद्ध-तादृशातादृश-तत्वातराभावात् स्वशक्त्येकसहायत्वात्, परमाश्रय त विना तासाम् असिद्धत्वाच्च।

—"तत्व-सदर्भ" पृ० ३७।

[2] तद् एकम् एव अखडानन्द-रूप तत्व परम-हसाना साधनवशात् तादात्म्यम् अनुपपन्ने सत्याम् अपि तदीय स्वरूप-शक्ति वैचित्र्या तद्ग्रहण सामर्थ्ये चेतसि यथा सामान्यतो लक्षित तथैव स्फुरद् वा तद्-वद् एव अविविक्त-शक्ति-शक्तिमत्ता-भेदतया प्रतिपाद्य-मान वा ब्रह्मेति शब्द्यते।

—"षट्-सदर्भ" पृ० ४९-५०।

ब्रह्मन् कहलाती है।[1] जहाँ तक ब्रह्मन् और भगवत् के प्रत्ययो मे इस अन्तर का सम्बन्ध है वह उपयुक्त है। लेकिन इस सम्प्रदाय मे इस स्थान पर पुराण शास्त्र का अतिक्रमण कर जाता है। पुराणो मे पौराणिक दृष्टि से कृष्ण या भगवान "वैकुण्ठ" मे भडकीले वस्त्रो को धारण किए अपने सहचरो से घिरे हुए अपने सिंहासन पर विराजमान प्रदर्शित किये गये है। यह "वैकुण्ठ" दिक् और काल से रहित है, वह परमेश्वर की "स्वरूप शक्ति" की अभिव्यक्ति है अतएव वह "गुणो से निर्मित नही है जो दिक्-काल-मय जगत् के निर्माणकारी द्रव्य है। चूँकि "वैकुण्ठ" दिक्-काल से रहित है अत यह कहना कि परमेश्वर "वैकुण्ठ मे स्थित है उतना ही सत्य है जितना यह कहना कि परमेश्वर स्वय "वैकुण्ठ" है। जो लोग धर्म की इस शाखा मे विश्वास रखते थे वे पौराणिक कथाओ और निरूपणो के महत्व से इतने ग्रस्त हो गये थे कि वे परमेश्वर को विशिष्ट आकृतियो, वस्त्रो, आभूषणो, सहचरो आदि से युक्त मानते थे। वे यह सोचने मे असफल रहे कि इन निरूपणो की पौराणिक, साध्यवसाविक अथवा कोई अन्य व्याख्या सम्भव है। वे इन प्रगाढ पुरुषविध वर्णनो को अक्षरश सत्य मानते थे। लेकिन ऐसी स्वीकृतियो की यह अकाट्य आलोचना हो सकती है कि हाथो, पैरो और वस्त्रो वाला परमेश्वर नाशवान होगा। इस आलोचना के परिहारार्थ उनका कथन था कि परमेश्वर की आकृतिया, वास-स्थान आदि उसकी अभौतिक स्वरूप-शक्ति के दिक्-काल-रहित तत्वो से निर्मित होते हैं। किन्तु आकृतियो मे दिक् की धारणा सन्निहित है और दिक्-शून्य आकृतियो का अर्थ होगा दिक्रहित दिक्। इस आलोचना का उनके पास कोई उत्तर नही था, तथा उसके परिहार की एक-मात्र विधि उनकी यह दृढोक्ति थी कि परमेश्वर की शक्तियो का स्वरूप हमारे लिये अचिंत्य है, अतएव इस स्वरूप-शक्ति की अभिव्यक्ति-रूप परमेश्वर की आकृतियो की तार्किक आधार पर आलोचना नही की जा सकती, अपितु "पुराणो" की प्रामाणिक साक्ष्य के बल पर वे सत्य मानी जानी चाहिये।

इस तर्कातीत, बुद्धि से अगम्य या विचारातीत (अचिन्त्य) सत्ता की धारणा का यह सम्प्रदाय अपने मतो, सिद्धान्तो और विश्वासो से सम्बन्धित समस्त कठिनाइयो की व्याख्या करने के लिये स्वच्छन्दतापूर्वक प्रयोग करता है। "अचिन्त्य" वह है जिसे अपरिहार्यत तथ्यो की व्याख्या के हेतु स्वीकार करना पडता है, परन्तु जो तर्क की सवीक्षा सहन नही कर सकती (तर्कासह यज्ज्ञान कार्यान्यथानुपपत्ति-प्रमाणकम्), तथा जो बुद्धि से अगम्य अथवा असम्भव समझी जाने वाली घटनाओ की व्याख्या कर सके

[1] एव च आनन्द-मात्र विशेष्य समस्त शक्तय विशेषणानि विशिष्टो भगवान् इत्याख्यातम्। तथा चैव विशिष्टये प्राप्ते पूर्णाविर्भावत्वेन अखड तत्व-रूपोऽसौ भगवान् ब्रह्म तु स्फुटम् अप्रकटित-वैशिष्ट्या कारत्वेन तस्यैव असम्यग् आविर्भाव।
—वही, पृ० ५०।

(दुर्घट-घटकत्वम्) । इस "अचिन्त्य" की धारणा द्वारा यह समझाने का प्रयत्न किया गया है कि निराकार ब्रह्मन् कैसे उन तीन शक्तियो से सम्बन्धित हो सकता है जिनके द्वारा वह स्वय मे अपरिवर्तित रहकर भी अपनी बाह्य "माया" शक्ति द्वारा जगत् की सृष्टि करता है, अथवा अपनी अन्य शक्ति से जीवो को धारण करता है ।[1] परमेश्वर की बाह्य शक्ति की अभिव्यक्ति "माया" की "भागवत" मे यह परिभाषा दी गई है कि वह परमसत्ता के माध्यम के सिवा स्वय को अभिव्यक्त नही कर सकती तथा फिर भी उसमे भासमान नही होती है, अर्थात् "माया" वह है जो ब्रह्मन् के बिना कोई अस्तित्व नही रख सकती और जिसका फिर भी ब्रह्मन् मे कोई अस्तित्व नही है ।[2] इस "माया" के दो व्यापार है—एक तो "जीव-माया' जिसके द्वारा वह जीवो को मोहित करती है तथा दूसरा "गुण-माया" जिसके द्वारा जगत् के रूपान्तरण घटित होते है ।

अपनी "सर्वो-सवादिनी" मे जो "तत्व-सदर्भ" पर एक धाराप्रवाह टीका है, जीव गोस्वामी का तर्क है कि शकर के अनुयायी अद्वय, भेद-रहित, शुद्ध चैतन्य को परम सत्ता मानते हैं । उसके सदृश अथवा असदृश कोई अन्य सत्ता अस्तित्व नही रखती तथा इसी तथ्य मे उसकी असीमता एव उसकी सत्ता निहित है । उसके अनुसार ऐसी सत्ता मे कोई पृथक् शक्ति अथवा कोई ऐसी शक्ति भी नही हो सकती, जिसे उसका सार (स्वरूप-भूत-शक्ति) माना जा सके । कारण यदि ऐसी शक्ति उस सत्ता से भिन्न हो तो वह उसका एक-रूप सार नही हो सकती और यदि वह उस सत्ता से भिन्न न हो तो वह उसकी शक्ति नही मानी जा सकती । यदि परम सत्ता से भिन्न कोई ऐसी सार भूत-शक्ति स्वीकार की जाय, तो वह शक्ति उस सत्ता के समरूप ही होनी चाहिये (अर्थात् शुद्ध चैतन्य स्वरूप) और तब वैष्णवो द्वारा प्रमुख सिद्धान्त के रूप मे स्वीकृत की गई यह धारणा असम्भव हो जायगी कि यह शक्ति परमेश्वर की विविध अभि-व्यक्तियो, उसकी अनुभवातीत आकृतियो, निवास-स्थान आदि की उत्पत्ति मे योगदान देती हैं । किन्तु शकर के अनुयायियो के मत के विरोध मे कहा जा सकता है कि उनको भी यह मानना पडता है कि ब्रह्मन् की कोई शक्ति है जिसके द्वारा जगदाभास अभिव्यक्त होता है, यदि जगत सम्पूर्णत माया की सृष्टि है और ब्रह्मन् का उससे कोई सम्बन्ध नही है तो उसका अस्तित्व मानने का कोई लाभ नही है तथा "माया" सर्वे-

[1] "विष्णु-पुराण" मे इन तीन शक्तियो को "परा" "अविद्या कर्म-सज्ञा" और "क्षेत्र-ज्ञाख्य" कहा गया है । वह "परामाया" या "स्वरूप शक्ति" कभी-कभी "योग-माया" भी कही जाती है ।

[2] ऋतेऽर्थ यत् प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि
तद् विद्याद् आत्मनो माया यथाभासो यथा तम ।

—भागवत, २ ९ ३३ ।

सर्वा हो जायगी। यह शक्ति उसे धारण करने वाली सत्ता के स्वरूप से भिन्न नही हो सकती और, चूं कि "अविद्या" "ब्रह्मन्" के बिना अस्तित्व नही रख सकती, इसलिये यह एक अतिरिक्त प्रमाण है कि "अविद्या" भी उसकी शक्तियो मे से एक है। किसी भी सत्ता की शक्ति अप्रकट रहने पर भी सदा स्वय उसी मे विद्यमान रहती, यदि यह युक्ति दी जाय कि ब्रह्मन् तो स्वय-प्रकाश है अतएव उसे किसी शक्ति की आवश्यकता नही है तो यह उत्तर दिया जा सकता है कि जिस कारण के बल पर वह स्वय प्रकाश है उसी को उसकी शक्ति गिना जा सकता है। इस ढग से जीव गोस्वामी रामानुज युक्ति के कुछ आधारभूत अशो का इस सिद्धान्त के पक्ष मे अनुसरण करते हैं कि परम सत्ता, ब्रह्मन, निराकार एव निर्गुण नही है बल्कि अपनी शक्तियो व गुणो को धारण किये हुए एक गुण-विशिष्ट सत्ता है। इस मत को सिद्ध करने के प्रयत्न मे जीव रामानुज की प्रमुख युक्ति का सक्षेप मे अनुसरण करते है। किन्तु जीव यह विचार प्रस्तावित करते हैं कि परम सत्ता के गुणो व शक्तियो का सम्बन्ध तर्कातीत है, तार्किक आधार पर उसकी व्याख्या नही की जा सकती, अतएव एक रहस्यमय ढग मे शक्तिया परम सत्ता से भिन्न होते हुए भी उससे एक-रूप हैं ? फलत परम सत्ता की मानवी आकृतियो, वस्त्रो आदि सहित स्थूल परमेश्वर के रूप मे अभिव्यक्ति होने पर भी वह उसी काल मे, ब्रह्मन् के रूप मे अपने अपरिवर्त्तनशील अस्तित्व मे परिवर्तन-रहित रहती है।

बुद्धि से अगम्यता के इस रहस्यमय फार्मूले की प्रस्तावना से इस सम्प्रदाय के वैष्णवो को अपने सिद्धान्तो एव मतो की तर्कसम्मत व्याख्या करने के उत्तरदायित्व से विमुक्ति प्राप्त हो जाती है और इस प्रकार स्वच्छदतापूर्वक वे तर्क-बुद्धि के प्रभाव क्षेत्र से देव कथा-शास्त्रीय ढग की "पौराणिक" श्रद्धा के अधिकार क्षेत्र मे अवरोहण करते हैं।

परमेश्वर की विशेष श्रेष्ठताओ का वर्णन करते समय जीव यह मानने मे रामानुज का अनुसरण करते हैं कि परमेश्वर मे जगत मे पाए जाने वाले कोई दुर्गुण नही हैं, बल्कि जिन श्रेष्ठ गुणो की हम कल्पना कर सकते हैं उन सभी को वह धारण करता है। "अचिन्त्य" की धारणा के प्रकाश मे ये सभी श्रेष्ठ लक्षण किसी प्रकार उसकी स्वरूप-शक्ति की अभिव्यक्ति माने जाते हैं अतएव उसके साथ उनका तादात्म्य है। "अचिन्त्य" की तर्कातीत धारणा का श्रीगणेश करने से जीव और उनके सम्प्रदाय के अन्य "भागवत" के टीकाकार अधिक स्वच्छन्दतापूर्वक भिन्नमतैक्यवाद (सामजस्यवाद) का प्रतिपादन करने मे समर्थ होते हैं, जो अन्यथा सम्भव नही होता और इसलिये जीव यद्यपि परम सत्ता को सविशेष मानने मे रामानुज का अनुसरण करते हैं, तथापि एक ही सास मे दृढता से यह कह सकते हैं कि परम सत्ता निराकार एव निर्विशेष है। अत वे कहते हैं कि यद्यपि रामानुज के अनुयायी ब्रह्मन् को निर्विशेष नही मानते है

तथापि सविशेष की स्वीकृति मे स्वभावत निर्विशेष भी पूर्व-गृहीत है।[1] परम सत्ता का "निविशेष", सविशेष (विशिष्ट) एव अनेक के रूप मे वर्णन करने वाले विभिन्न श्रुति-पाठो का सामजस्य करने के हेतु तर्कातीत की धारणा को प्रस्तावित करने के विचार का उद्गम मध्व के दर्शन मे "विशेष" की धारणा की प्रस्तावना (जिसका पिछले एक अध्याय मे वर्णन किया जा चुका है) मे मिल सकता है, जिसके द्वारा मध्व ने अद्वैतवाद के प्रत्यय का बहुतत्ववाद के प्रत्यय के साथ सामजस्य करने का प्रयत्न किया था। चैतन्य द्वारा प्रारम्भ की गई वैष्णववाद की बगाली शाखा मुख्यतया "भागवत पुराण" पर आधारित है, तथा इस शाखा के अनेक लेखको मे से केवल दो ही दार्शनिक ग्रन्थो के लेखको के रूप मे प्रमुख है—बलदेव विद्याभूषण और जीव गोस्वामी। इनमे से बलदेव ने बारम्बार मध्य के दर्शन के प्रति अपनी शाखा की ऋणग्रस्तता तथा मध्व के वैष्णववादी शाखा के एक अनुयायी द्वारा चैतन्य की सन्यास मे दीक्षा का उल्लेख किया है। यद्यपि वे जीव गोस्वामी के एक अवर समकालीन तथा उनके "तत्व-सदर्भ" के टीकाकार थे, तथापि वे अद्वैतवादी स्थिति का विशिष्टाद्वैत व बहुतत्ववाद के साथ सामजम्य करने के लिए प्राय मध्व के "विशेष" के सिद्धान्त की ओर परावृत होते हैं। यदि वे जीव की तर्कातीत (अचिन्त्य) की धारणा पर दृढ रहते तो "विशेष" के प्रत्यय सर्वथा अनावश्यक हो जाता। किन्तु बलदेव न केवल "विशेष" के प्रत्यय का प्रयोग करते है, बल्कि तर्कातीत के प्रत्यय का भी, और वे "विशेष" के प्रत्यय को तर्कातीत का प्रत्यय ही मानते है। अत वे अपने "सिद्धान्त-रत्न" मे कहते है कि चित्, आनन्द आदि गुण ब्रह्मन् के स्वरूप से भिन्न नही है और फिर भी ब्रह्मन् को "विशेष" के तर्कातीत व्यापारो के कारण (अचिन्त्य-विशेष-महिमा) सगति-पूर्वक इन विभिन्न गुणो को धारण करने वाला भी कहते हैं। इस दृढोक्ति मे यह सिद्धान्त अन्तर्ग्रस्त नही है कि परम सत्ता एक दृष्टि-बिन्दु से तो अपने गुणो से भिन्न है तथा दूसरे दृष्टि-बिन्दु से उनसे एक-रूप है (न चैव भेदभेदो स्याताम्), और इस कठिनाई का एक-मात्र हल तर्कातीत के सिद्धान्त को मानने से ही हो सकता है (तस्माद् अविचिन्त्यतैव शरणम्)। इस सम्बन्ध मे बलदेव आगे कहते है कि "विशेष" का सिद्धान्त इस रूप मे स्वीकृत करना चाहिये कि वह भेद की अनुपस्थिति मे भी भेद के आभास की व्याख्या कर सके।[2] किन्तु यह "विशेष" का प्रत्यय परम सत्ता की युगपत् अनेकता और एकता का सामजस्य करने के लिये ही प्रयोजित किया जाना चाहिये। परन्तु जहाँ तक परम सत्ता और जीवो के सम्बन्ध का प्रश्न है उनका

[1] यद्यपि श्री-रामानुजीयैर्निर्विशेष ब्रह्म न मन्यते तथापि सविशेष मन्यमानैर विशेषातिरिक्त मन्तव्यमेव।
—जीव की "सर्वसवादिनी" पृ० ७४ (नित्यस्वरूप ब्रह्मचारी का सस्करण)

[2] सिद्धान्त रत्न पृ० १७–२२ (बनारस, १९२४)।

भेद सर्व-विदित है, अतएव यहाँ "विशेष" के सिद्धान्त का प्रयोग करना आवश्यक नहीं होगा। किन्तु "विशेष" का सिद्धान्त न केवल ब्रह्म् के स्वरूप का उसके गुणों व शक्तियों के अभेदत्व के साथ सामञ्जस्य स्थापित करने के लिये प्रयुक्त किया जाता है, बल्कि उसके दिव्य शरीर, दिव्य धाम, दिव्य विलास स्थान इत्यादि के साथ सामञ्जस्य के हेतु भी उसे प्रयुक्त किया जाता है, क्योंकि ब्रह्म् के दिव्य शरीर और गुण भी सदा ही उसके एक-रूप हैं।[1]

इसी विषय पर वर्णन करते हुए जीव कहता है कि किन्तु भगवान् की निज शक्ति (चित्-शक्ति) का उसके स्वरूप से साथ तादात्म्य है। जब उसका स्वरूप कार्योत्पत्ति की ओर उन्मुख होता है, तब वह शक्ति कहलाता है (स्वरूपम् एव कार्योन्मुखं शक्ति शब्देन उक्तम्)। परम सत्ता की यह विशिष्ट सामर्थ्य उससे भिन्न नहीं मानी जा सकती तथा उससे कोई पृथक् अस्तित्व नहीं रख सकती क्योंकि यह कभी भी परमसत्ता के स्वरूप से भिन्न नहीं मानी जा सकती और चूंकि भेद स्पष्ट किसी प्रकार भिन्न नहीं माना जा सकता, शक्ति और उसके धारणकर्ता का भेद अनिर्वचनीय, अचिन्त्य व तर्कातीत है। यह मत रामानुज और उनके अनुयायियों का नहीं है जो शक्ति को उसके धारण-कर्ता से भिन्न मानते हैं, तथापि, चूंकि वे भी यह विश्वास करते हैं कि परमेश्वर की शक्तियाँ स्वरूपतः उसी में अन्तर्निहित हैं इसलिए रामानुज की शाखा और वैष्णववाद की बंगाली शाखा में यथेष्ट समानता है।[2] शंकर के अनुयायियों के विरुद्ध युक्ति देते हुए जीव कहते हैं कि शुद्ध चैतन्य और आनन्द सम्बन्धी उपनिषद् के अवतरण में भी ब्रह्मन् (विज्ञानम् आनंद ब्रह्म), चैतन्य और आनन्द में तादात्म्य नहीं माना जा सकता, क्योंकि फिर दोनों शब्द पुनरुक्ति मात्र होंगे, ये भिन्न भी नहीं माने जा सकते क्योंकि फिर ब्रह्मन् में दो विरोधी गुण हो जायेंगे। यदि दो शब्दों—"विज्ञान" और "आनन्द"— का अर्थ अज्ञान और दुख का निषेध है तो ये दो निषेध दो भिन्न सत्ताएँ होकर ब्रह्मन् में सह अस्तित्व धारण करती हैं। यदि दोनों निषेधों का अर्थ एक ही सत्ता से है तो एक ही सत्ता भिन्न वस्तुओं का निषेध कैसे हो सकती है? यदि यह कहा जाय कि केवल सुखमय चैतन्य को ही आनन्द कहते हैं तो फिर सौख्य का गुण एक पृथक् गुण के रूप में दिखाई देता है। यदि इन शब्दों को अज्ञान एवं दुख के निषेधों के रूप में समझा जाय तो ये भी विशिष्ट गुण हो जाएँगे, यदि यह अनुरोध किया जाय कि ये विशिष्ट गुण नहीं हैं, बल्कि केवल ऐसी विशेष योग्यताएँ हैं जिसके कारण अज्ञान व दुःख का निषेध होता है, तो फिर भी ये विशेष

---

[1] तथा च विग्रहादे स्वरूपानतिरोकेऽपि विशेषाद् एव भेदव्यवहार।

—वही, पृ० २६।

[2] सर्व-संवादिनी, पृ० २९, ३०।

योग्यताएँ विशिष्ट गुण ही मानी जाएँगी। इस प्रकार यह सिद्धान्त असत्य है कि परम सत्ता निर्विशेष है। ब्रह्मन् के गुण उसकी शक्तियो से एकरूप है और इन सभी का उसकी आत्मा के साथ तादात्म्य है।

जीव के स्वरूप के विषय मे "जीव" गोस्वामी कहते है कि जीव शुद्ध चैतन्य नही हैं, किन्तु ऐसी सत्ताएँ है जो "अहम्" अथवा "मैं" के रूप मे आत्म-चेतनता के लक्षण से सम्पन्न है। जीवो को किसी भी अवस्था मे परमात्मन् से एकरूप नही मान सकते तथा प्रत्येक जीव अन्य प्रत्येक जीव से भिन्न है।[१] ये जीव आणवीय आकार के है अतएव निरवयव है। आणवीय जीव हृदय मे स्थित रहता है जहाँ से वह अपने चेतनता के गुण द्वारा सम्पूर्ण शरीर मे उसी प्रकार व्याप्त हो जाता है जैसे चन्दन अपनी मधुर गध द्वारा सम्पूर्ण पडोस मे व्याप्त हो जाता है। इसी प्रकार जीव आणवीय हैं किन्तु जिन शरीरो मे वे स्थित है उनमे अपनी चैतन्य शक्ति से परिव्याप्त हो जाते है। चैतन्य को जीव का गुण कहा जाता है क्योकि वह सदा उसी पर आश्रित रहता है और उसके उद्देश्य को सम्पादित करता है (नित्य-तद्-आश्रयत्व तच्छेषत्व-निवन्धन)।[२] फिर, चैतन्य जीव पर इस प्रकार आश्रित होने के कारण किसी समय मे जिन-जिन भिन्न शरीरो मे परिचालित होता है उनमे व्याप्त होने के लिए विस्तृत होता है और आकुंचित होता है। इस प्रकार परमेश्वर से भिन्न होने के कारण जीव मोक्ष मे भी पृथक् व भिन्न रहते है। अत वे परम आत्मा (परमात्मन्) से उत्पन्न होते हैं और सदा उसके पूर्ण नियत्रण मे रहते हैं तथा उससे परिव्याप्त रहते है। इसी कारण परमेश्वर को जीवो (आत्मन्) की भिन्नता मे परमात्मन् कहा जाता है। जीव परमात्मन् से विकीर्ण रश्मियो के समान है अतएव सदा उस पर पूर्णतया आश्रित रहते है तथा उसके विना अस्तित्व नही रख सकते।[३] उनको परमात्मन् की "तटस्थ शक्ति" भी मानते है, क्योकि यद्यपि वे परमात्मन् की शक्ति हैं तथापि वे एक प्रकार से तटस्थ व उससे पृथक् स्थित रहते है, अतएव वे परमात्मन् की अन्य शक्ति "माया" के विभ्रम मे रहते हैं, जो स्वय परमेश्वर पर कोई प्रभाव नही रखती, अतएव, यद्यपि जीव अज्ञान (अविद्या) के वन्धन से पीडित रहते है, तथापि परम आत्मन् (परमात्मन्) पूर्णरूपेण उनसे अछूता रहता है।[४] परमात्मन् की शक्ति होने

[१] तस्मात् प्रति क्षेत्र भिन्न एव जीव । —वही, पृ० ८७।

[२] वही, पृ० ९४।

[३] तदीय–रश्मि-स्थानीयत्वेऽपि नित्य-तद्-आश्रयित्वात्, तद् व्यतिरेकेण व्यतिरेकात्।
—"षट-सदर्भ" पृ० २३३।

[४] तदैव शक्तित्वेऽपि अन्यत्वम् अस्य तटस्थत्वात्, तटस्थत्व च माया शक्त्यतीतत्वात्, अस्य अविद्या पराभवादि–रूपेण दोषेण परमात्मनो लोपाभावाच्च।
—वही, पृ० २३४।

के कारण कभी उससे एक-रूप कहते है और कभी उससे भिन्न मानते है। इन जीवो मे से कुछ न तो स्वभाव से ही परमात्मन् के भक्त होते हैं तथा अन्य अविद्या के वशीभूत होते है और परमात्मन् से विमुख होते है, पश्चादुक्त जीव ही इस जगत के वासी होते हैं और पुर्नजन्म लेते है।

बाह्य-शक्ति (बहिरग शक्ति) "माया" के दो व्यापार होते हैं, सृजनात्मक (निमित्त) और निष्क्रिय (उपादान), इनमे से काल, दैव एव कर्म पूर्वोक्त का प्रतिनिधित्व करते हैं और तीन "प्रश्चादुक्त" का। जीव "माया" के इन दोनो "व्यापारो" के तत्वो का समाकल अशो के रूप मे स्वय मे अतर्विष्ट रखते है। "माया" के सृजनात्मक व्यापार के फिर दो प्रकार होते हैं जो या तो मनुष्य के बन्धन के लिए परिचालित होते है या मोक्ष के लिये। यह सृजनात्मक "माया" परमात्मन् के ब्रह्माण्डीय ज्ञान, उसकी इच्छा व उसकी सृजनात्मक क्रिया की प्रारूप होती है।[1] परमात्मन् का ज्ञान भी दो प्रकार का माना गया है–एक तो वह जो उसका आत्म-ज्ञान है तथा उसकी स्वरूप-शक्ति का भाग होता है और दूसरा वह जो जीवो के हितार्थ ब्रह्माण्डीय क्रिया की ओर उन्मुख होता है। परमात्मन् का यह ब्रह्माण्डीय ज्ञान ही उसकी "माया" शक्ति के सृजनात्मक व्यापार के अतर्गत आता है। ब्रह्माण्डीय ज्ञान फिर दो प्रकार का होता है–एक तो वह जो परमात्मन् मे उसकी सर्वज्ञता, उसकी सृष्टि रचने की इच्छा, एव उसके सृष्टि करने के प्रयत्न (जिसे "काल" भी कहते हैं) के रूप मे स्थित रहता है, और दूसरा वह जिसे परमात्मन् जीवो को उनकी भोग अथवा "कर्म" से मोक्ष प्राप्त करने की इच्छा आदि के रूप मे प्रदान कर देता है, यही फिर जीवो की "अविद्या" और "विद्या" माने जाते है।[2] इस मत के अनुसार "माया" का अर्थ अविद्या नही है बल्कि विविध सृष्टि-रचना की शक्ति है (मीयते विचित्र निर्मियत अनया इति विचित्रार्थ-कर-शक्ति-वचित्वमैव), अतएव जगत को परमात्मन् का परिणाम मानना चाहिये (परमात्म-परिणामैव)।[3] परमात्मन् की तर्कातीत शक्ति के कारण वह स्वय मे अपरिर्वतित रह कर भी जगत की अनेक सृष्टियो मे रूपान्तरित (परिणाम) होता है। "जीव" के अनुसार "परिणाम" का अर्थ परमतत्व का परिणाम नही है (न तत्वस्य परिणाम), अपितु यथार्थ परिणाम है (तत्वतो परिणाम)। फिर भी अपनी "स्वरूप-शक्ति" के रूप मे परमात्मन् की अभिव्यक्ति तर्कातीत "माया" से

---

[1] निमित्ताश–रूपया मायाख्ययैव प्रसिद्धा शक्तिस्त्रिधा दृश्यते ज्ञानेच्छा-क्रिया–रूपत्वेन।

–वही, पृ० २४४।

[2] षट्-सदर्भ, पृ० २४४।

[3] सर्व सवादिनी, पृ० १२१।

उत्पन्न उसके जागतिक परिणामो से सदा अछूति रहती है।[1] इसका यह अर्थ नही है कि परमात्मन् के दो भिन्न रूप हैं, अपितु केवल यही है कि जो हमारी साधारण तर्क-वुद्धि को विरोधग्रस्त प्रतीत होता है वही अनुभवातीत (परमार्थिक) तथ्य हो सकता है तथा पारमार्थिक स्तर पर यह मानने मे कोई विरोध ग्रस्तता नही है कि परमात्मन् अपरिर्वतित होने के साथ ही अपनी दो भिन्न शक्तियो के परिचालन से परिर्वतित भी हो जाय। इस मत मे "माया" अतात्विक अथवा मिथ्या नही है वरन् परमात्मन् की सृजनात्मक शक्ति है जिसमे उसकी सर्वज्ञता व सर्वशक्तिमत्ता, "गुणो" की सस्थिति व सयोजन के रूप मे जगत् के सम्पूर्ण भौतिक द्रव्य, तथा समस्त विविध व्यक्तिगत अभिव्यक्ति केन्द्रो मे प्रकट अपनी सफलता मे शुभाशुभ मानवी अनुभव का समावेश होता है। किन्तु अपनी तर्कातीत "माया-शक्ति" द्वारा उत्पन्न अपने इन समस्त परिणामो व अभिव्यक्तियो के अनन्तर भी परमात्मन् अपनी तर्कातीत स्वरूप-शक्ति की अभिव्यक्तियो मे सम्पूर्णतया पूर्ण व अपरिवर्तित रहता है। एक ओर जो परमात्मन् जगत के सृष्टा और धारणकर्त्ता के रूप मे दिखाई देता है, एव दूसरी ओर वह धार्मिक दृष्टि से अपने उपासको के रहस्यमय आनन्द के विपय के रूप मे प्रकट होता है। जगत परमात्मन् की "माया-शक्ति" से उत्पन्न हुआ है अतएव वह उससे एक-रूप नही स्थूल व अशुद्ध जीव तथा जगत, समस्त चेतन व जड पदार्थ, जीव का कारण एव सूक्ष्म विशुद्ध तत्व—ये कोई भी परमात्मन् से भिन्न नही हैं क्योकि सूक्ष्म तो उसकी शक्ति के स्वरूप हैं, और स्थूल उसकी शक्ति के रूपान्तरण या परिणाम है, और यद्यपि जगत परमात्मन् से एक रूप है तथापि जगत के दोप एव अशुद्धताएँ उसको प्रभावित नही करते है, क्योकि इन परिणामो के अनन्तर भी वह उनसे अछूता है, यही उसकी शक्ति का तार्कातीत लक्षण है।[2]

"जीव" फिर यह प्रदर्शित करने को अग्रसर होते हैं कि स्थूल भौतिक जगत का, पच महाभूतो व उनके विकारो का चरम द्रव्य परमात्मन् या परमेश्वर के अतिरिक्त दूसरा कोई नही है। स्थूल भौतिक पदार्थो मे स्वय ऐसा कोई तत्व नही है जिसके द्वारा ठोस इकाईयो के रूप मे सगठन के उनके आभास की व्याख्या की जा सके। जिस अर्थ मे वृक्षो से वने वन सगठित इकाईयाँ है उसी अर्थ मे स्थूल भौतिक पदार्थ सगठित इकाईयाँ नही हो सकते, वास्तव मे वनो को सगठित इकाईयाँ कहना उचित नही है, क्योकि यदि एक वृक्ष को खीचा जाय तो सम्पूर्ण वन नही खिच जाता है, किन्तु स्थूल पदार्थ का जव एक छोर खीचा जाता है तो स्वय वह पदार्थ खिच जाता है। यदि यह युक्ति दी जाय कि अशो से भिन्न एक अशी है तो उसका अशो से

[1] तत्वतोऽन्यथा—भाव परिणाम इत्येव लक्षण न तु तत्वस्य।

—सर्व-सवादिनी, पृ० १२१।

[2] वही, पृ० २५१।

सम्बन्ध बुद्धिगम्य नही रहेगा, क्योकि उसका कभी अशो से सर्वथा भिन्न अनुभव नही किया जाता, यदि अशी को प्रत्येक अश से सवधित माना जाय तो एक उगली की भी सम्पूर्ण शरीर के रूप मे अनुभूति होनी चाहिये, यदि यह माना जाय कि अशी केवल अशत अपने अशो मे स्थित है तो पुन वही कठिनाई आ खडी होगी और हम दुष्ट अनन्त मे उलझ जाएँगे। अतएव अशो से भिन्न किसी भी ठोस अशी का अस्तित्व स्वीकृत नही किया जा सकता और इसी कारण अशो के पृथक् स्थूल अस्तित्व को अस्वीकृत किया जा सकता है। इस प्रकार यदि अशियो के अस्तित्व का निषेध किया जाय तो अशो के अस्तित्व का भी निषेध होना चाहिये, क्योकि प्रत्यक्ष अनुभव तो केवल अशियो का ही होता है, तथा अशो का अस्तित्व भी केवल अशियो की अनुभूति व्याख्या करने के लिए स्वीकृत किया जाता है। अन जो एक-मात्र मान्यता शेप रह जाती है वह यह है कि परमात्मन् ही परम द्रव्य है। "जीव" "भागवत पुराण" के ३, ६, १-३ का उल्लेख करते है जिसके अनुसार यह प्रतीत होता है कि परमात्मन् की शक्ति के विविक्त तत्वो से ही तेईस साख्य पदार्थो का निर्माण होता है जो उस काल-तत्व के द्वारा अशियो के रूप मे सगठित होते है जो परमात्मन् के अलौकिक प्रयास का ही दूसरा नाम है। इस स्थान पर प्रतिपादित यह विचित्र सिद्धान्त भारतीय दर्शन शास्त्र के इतिहास मे नवीन है, यद्यपि दुर्भाग्यवश यहाँ उसका आगे विकास नही हो पाया है। इसकी यह सधारणा प्रतीत होनी है "माया के उपादानाश" के विविक्त तत्व अपनी तात्विकता का आभास परमेश्वर से प्राप्त करते है तथा परमेश्वर के अतिरिक्त कोई अशी न होने के कारण काल के रूप मे परमेश्वर की "शक्ति" या "क्रिया" द्वारा वे तत्व अशियो की सकल्पना को उत्पन्न करने के लिए एकत्र रक्खे जाते हैं। काल किस प्रकार परमाणुओ को अणुओ मे और अणुओ को अशियो के रूप मे सगठित करने मे उत्तरदायी है, इसकी कोई व्याख्या नही की गई है।

भागवत-पुराण में कपिल दर्शन

"भागवत-पुराण" साख्य का जो विवरण देता है वह शास्त्रीय साख्य ग्रन्थो मे उपलब्ध विवरण से कुछ भिन्न है। यह सारा जगत् जिससे व्याप्त होकर प्रकाशित होता है, वह आत्मा ही पुरुष है। वह अनादि, निर्गुण, प्रकृति से परे अत करण मे स्फुरित होने वाला और स्वय प्रकाश है।[1] यही वह पुरुष है जो स्वेच्छा से अपनी ओर अभिगमन करती हुई "प्रकृति" को लीला के लिए (लीलया) स्वीकार करता है,

---

[1] अनादिरात्मा पुरुषो निर्गुण प्रकृते पर
प्रत्यग्धाम स्वय-ज्योतिर्विश्व येन समन्वितम्।

—"भागवत-पुराण" तृतीय २६, ३।

सम्भवत यही "पुरुप" ईश्वर माना जाता है।[1] किन्तु वह "प्रकृति" को स्वय अपने सत्वादि गुणो से विविध प्रकार की सृष्टियो को उत्पन्न करते हुए देखकर इस "प्रकृति" की आवरण डालने वाली अज्ञान-शक्ति (ज्ञान-गूहया) से स्वय "विमूढ" हो गया।[2] इस प्रकार अपने से भिन्न प्रकृति के अपने स्वरूप पर मिथ्या आरोपण के कारण "पुरुप" "प्रकृति" के "गुणो" की स्वाभाविक गति से उत्पन्न परिवर्तनो मे स्वय को कर्त्ता के रूप मे सकल्पित कर बैठता है, अतएव वह स्वय को जन्म व पुनर्जन्म का भागी बनाता है तथा "कर्म" के नियमो मे बँध जाता है। वस्तुत प्रकृति स्वय ही अपने समस्त आत्म-स्थित प्रभावो की कारण और कर्त्ता है, तथा "पुरुप" केवल सर्व सुख-दु ख का निष्क्रिय भोक्ता है। पदार्थो के विकास के विवरण मे हमारे सम्मुख पाँच स्थूल तत्व या "महाभूत," पाँच "तन्मात्रा" दस इन्द्रियाँ एव "मनस्" "बुद्धि" "अहकार" एव "चित्त" द्वारा निर्मित्त "अतरात्मक" आते है। इनके अतिरिक्त "काल" नामक पच्चीसवा पदार्थ है, जिसे कुछ विद्वान् एक पृथक् पदार्थ मानते है—"पुरुप" (ईश्वर के अर्थ मे) के अलौकिक प्रयास के रूप मे न कि "प्रकृति" से विकसित पदार्थ के रूप मे।[3] ऐसा कहा जाता है कि ईश्वर आतरिक दृष्टि से तो मनुष्य मे उसके समस्त अनुभवो के नियत्रक अतरात्मा के रूप मे अभिव्यक्त होता है, तथा बाह्य दृष्टि से अनुभव के विपयो मे काल के रूप मे प्रकट होता है। इस प्रकार यदि काल, जीवो एव ईश्वर को एक ही पदार्थ माना जाय तो पच्चीस पदार्थ होते है, यदि काल को पृथक् माना जाय और ईश्वर एव "पुरुप" को एक माना जाय तो छब्बीस पदार्थ होते हैं, और यदि तीनो को पृथक् माना जाय तो सत्ताइस पदार्थ होते है।[4] "पुरुप" ही "प्रकृति" के प्रभाव मे आता है और वही

[1] अय ईश्वर इत्युच्यते। "सुबोधिनी" —भागवत पुराण पर टीका।

[2] यहाँ "सुबोधिनि" निर्देश करती है कि ऐसी अवस्था जिसमे "पुरुष" स्वय को "विमूढ" बना लेता है वह "जीव" कहलाता है। किन्तु विजय-ध्वजी इसे इस अर्थ मे लेते हैं कि अलौकिक "पुरुप" अथवा "ईश्वर" जब "प्रकृति" को स्वीकृत कर लेता है तब वह जीवो को उसके द्वारा विमूढ बना देता है। श्रीधर कहते है कि "पुरुप" दो प्रकार के होते है, "ईश्वर" एव "जीव" तथा आगे वे कहते है कि "प्रकृति" अपनी "आवरण-शक्ति एव "विक्षेप-शक्ति" के अनुसार दो प्रकार की होती है और "पुरुप" भी जीवो अथवा ईश्वर के रूप मे व्यवहार करता हुआ दो प्रकार का होता है।

[3] प्रभव पुरुप प्राहु कालमेके यतोऽभयम्।

—वही, ३, २६, १६।

[4] इस गणना मे "प्रकृति" का समावेश नही किया गया है, यदि ऐसा किया जाय तो अट्ठाईस पदार्थ हो जायेगे।

ईश्वर के रूप मे अपनी अलौकिक योग्यता द्वारा उनमे मुक्त रहता है। "काल" के प्रभाव से ही "प्रकृति" के "गुणो" की साम्यावस्था मे विक्षोभ होता है तथा उनके स्वाभाविक परिणाम उत्पन्न होते है, और ईश्वर द्वारा अवीक्षित "कर्म" के नियमो के निर्देश मे "महत्" का विकास होता है। यह विचित्र बात है कि यद्यपि 'महत्" को "प्रकृति" को विकास-क्रम की एक अवस्था बताया गया है तथापि उसे केवल एक सृजनात्मक अवस्था (वृत्ति) या "प्रकृति" माना गया है, न कि एक पृथक् पदार्थ। "भागवत" के अन्य एक अवतरण मे यह कहा गया है कि प्रारम्भ मे ईश्वर अपनी सुप्त शक्तियो सहित स्वय मे अकेला था, तथा स्वय को प्रतिबिम्बित करने एव अपना आत्म-लाभ प्राप्त करने मे सहायक कोई भी वस्तु न पाकर उसने काल की क्रिया एव अपने स्वभाव (पुरुष) के माध्यम से अपनी "माया-शक्ति" की साम्यावस्था मे विक्षोभ उत्पन्न किया तथा उसे चैतन्य से ससिक्त किया, और इस प्रकार प्रकृति के परिणमन द्वारा सृष्टि-क्रम प्रारम्भ हुआ।[1] एक अन्य अवतरण मे यह प्रश्न उठाया गया है कि यदि ईश्वर स्वय मे मुक्त है तो फिर वह स्वय को "माया" के बन्धन मे कैसे डाल सकता है, और उत्तर दिया जाता है कि वस्तुत ईश्वर का कोई बधन नही होता, किन्तु जैसे स्वप्नो मे एक मनुष्य अपने सिर को अपने धड से अलग देखे, अथवा लहरो के कारण पानी मे अपने प्रतिबिम्ब को हिलता हुआ देखे, उसी प्रकार केवल ईश्वर का प्रतिबिम्ब ही सासारिक अनुभवो के बधन से पीडित जीवो के रूप मे भासित होता है। अतएव यह निष्कर्ष निकलता है कि इस दृष्टिकोण के अनुसार जीवो की सृष्टि मिथ्या है, और फलत वे तथा उनके सासारिक अनुभव असत्य होने चाहिये। उपर्युक्त अवतरण के तुरन्त बाद मे आने वाले एक अन्य अवतरण मे यह निश्चित रूप से कहा गया है कि जगत् चैतन्य मे केवल भासित होता है, किन्तु वस्तुत उसका कोई अस्तित्व नही है।[2] यह स्पष्ट है कि 'भागवत" के ये अवतरण पिछले अनुभागो मे "जीव" द्वारा दी गई उसके दर्शन की व्याख्या के स्पष्टत विरोध मे है, क्योकि इनमे जीवो की तात्विकता तथा जगदाभास की तात्विकता का निषेध किया गया है।[3] किन्तु यदि हम यह स्मरण रक्खें कि "भागवत" एक व्यवस्थित सम्मुच्चय न होकर विभिन्न कालो मे भिन्न-भिन्न लेखको से प्राप्त सवर्धनो का एक सग्रह है तो हम ठीक ऐसी ही विरोधग्रस्तता की आशा कर सकते हैं। यदि २ ५, ३ ५, ३ ७ और ३ २६ मे वर्णित साख्य-सिद्धान्त

[1] वही, अध्याय २, ५, २२, २३।

[2] भागवत पुराण ३ ७, ६-१२।

[3] अर्थाभाव विनिश्चित्य प्रतीतस्यापि नात्मन। वही ३ ७, १८। अनात्मन प्रपचस्य प्रतीतस्यापि अर्थाभावमर्थोऽत्र नास्ति किन्तु प्रतीति-मात्रम्।

—"भागवत" पर श्रीधर की टीका ३ ७-१८।

की सगतिपूर्ण व्याख्या की जाय तो यह निष्कर्ष निकलता है कि ईश्वर और उसकी "माया" या प्रकृति—ये दो मूलभूत पदार्थ हैं, ईश्वर आत्मा-लाभ करने की इच्छा से स्वय को "प्रकृति" मे (जो उसी की शक्ति है) प्रतिबिम्बित करता है और अपनी ही शक्ति मे अपने को गर्भावृत कर "प्रकृति" के बन्धन से पीडित जीवो के रूप मे भासित होता है पुन उसके स्वय का इस प्रकार गर्भाधान करने के द्वारा ही "प्रकृति" चैतन्य से सजीव होती है, और फिर काल नामक उसके सृजनात्मक प्रयास द्वारा "प्रकृति" के "गुणों" की साम्यावस्था का विक्षोभ होता है, प्रकृति मे परिणामवादी गति उत्पन्न होती है तथा पदार्थो का विकास होता है।

पाचवें अध्याय (५ १२, ६–६) के एक अवतरण मे निश्चय रूप से समुच्चयों (अगियों) के अस्तित्व को मिथ्या बताया गया है। निरवयव परमाणुओं के अतिरिक्त कोई सत्ताएँ नही है तथा ये परमाणु भी काल्पनिक रचनाएँ हैं जिनके बिना समुच्चयो की सकल्पना सम्भव नहीं हो सकेगी। बाह्य जगत् सम्बन्धी हमारी समस्त सकल्पनाएँ परमाणुओ से प्रारम्भ होती हैं तथा जो कुछ भी हम देखते अथवा अनुभव करते है वह शनै शनै श्रेणीबद्ध सवर्धनो से विकसित होते हैं। सवर्धनो का विकास कोई वास्तविक विकास नही होता बल्कि काल-भावना का विनियोग मात्र है। अत काल जगत का सह व्यापी है। परमाणु की सकल्पना लघुतम क्षण की सकल्पना मात्र है, और परमाणुओं के समुच्चयो के द्व्यणुको, स्थूलतर कणो इत्यादि मे विकसित होने की सकल्पना विकासोन्मुख कालिक रचना तथा काल-क्षणों के सवर्धनशील सग्रह के अतिरिक्त कुछ भी नही है। इन समस्त परिवर्तनो मे अधिष्ठान रूप मे स्थित परम सत्ता एक सर्व-व्यापी अपरिवर्तनशील समुच्चय है, जो काल की क्रिया के द्वारा क्षणो और उनके सवर्धनो के रूप मे भासित होते है (परमाणुओं तथा उनके सग्रहो के अनुरूप)।[1] काल इस प्रकार "प्रकृति" की उपज नहीं है बल्कि ईश्वर की अलौकिक क्रिया है जिसके द्वारा अव्यक्त "प्रकृति" का स्थूल जगत् मे परिणमन होता है, तथा समस्त विविक्त सत्ताएँ समुच्चयो के रूप मे भासित होती हैं।[2] ईश्वर मे यह काल उसकी अन्तर्निहित क्रिया-शक्ति के रूप मे अस्तित्व रखता है। पिछले परिच्छेद मे यह

---

[1] वही, ३ ११, १–५।

अत जो मुक्त होने की अभिलाषा रखते हैं उन्हे सासारिक सुखो के प्रति विरक्ति एव गहरी भक्ति का दृढतापूर्वक अभ्यास करना चाहिये। उन्हे आत्म-सयम का पथ अपनाना चाहिये, अपने मन को सर्व प्राणियो के प्रति वैर-भाव से मुक्त करना चाहिये, समानता, ब्रह्मचर्य एव मौन का अभ्यास करना चाहिये, जो कुछ सहज मे प्राप्त हो जाय उससे सतुष्ट रहना चाहिये, और ईश्वर के प्रति दृढ भक्ति रखनी चाहिये। जब वे अपने मिथ्या स्वार्थ प्रेम एव अहकार को छोड देते हैं तथा "प्रकृति" एव "पुरुष" के विषय मे इस सत्य का अनुभव कर लेते हैं कि जिस प्रकार एक ही सूर्य जल मे अनेक प्रतिबिम्बो का भ्रम उत्पन्न करता है उसी प्रकार "पुरुष" ही सबकी निरुपाधिक एव अधिष्ठान-सत्ता है, जब वे यह समझ लेते है कि यथार्थ आत्मा, एव परम सत्ता, सदा उस अधिष्ठान सत्ता के रूप मे अनुभूत होती है जो हमारे जैविक, ऐन्द्रिय एव मानसिक व्यक्तित्व या अहता को अभिव्यक्त करती है, तथा इस परम सत्ता की प्राप्ति सुषुप्ति अवस्था मे की जाती है (जबकि अहता अस्थायी रूप से विलीन हो जाती है), तब वे अपनी वास्तविक मुक्ति को उपलब्ध करते हैं।[1] पतजलि द्वारा उल्लिखित अहिंसा, सत्य, अस्तेय, निर्वाह-मात्र के लिये जीवन की आवश्यकताओ मे सतोष, शौच, स्वाध्याय, धैर्य, इन्द्रिय निग्रह, आदि सुपरिचित "योग" के उपागो को भी आत्म विकास के लिये आवश्यक तैयारी के रूप मे स्वीकार किया गया है। "आसन", "प्राणायाम" तथा ध्यान के विशेष विषयो पर मन को स्थिरतापूर्वक धारण करने के अभ्यास को भी मन को शुद्ध करने की प्रणालियो के रूप मे सलाह दी गई है। जब मन इस प्रकार शुद्ध हो जाता है तथा ध्यान का अभ्यास कर लिया जाता है, तब व्यक्ति को ईश्वर एव उसके महान् गुणो का चिन्तन करना चाहिये।[2] ईश्वर-भक्ति को परम सत्ता के एकत्व और "प्रकृति" एव आत्मक जीवो के सम्बन्ध के सम्यक् ज्ञान एव प्रज्ञान की प्राप्ति का द्वितीय साधन माना गया है। अत यह कहा गया है कि जब कोई व्यक्ति हरि की सुन्दर, अलौकिक एव दैदीप्यमान आकृति का चितन करता है तथा उसके प्रेम मे मदमस्त हो जाता है, तब उसका हृदय भक्ति मे द्रवित हो उठता है, भावातिरेक मे उसके रोगटे खडे हो जाते हैं और वह ईश्वर के प्रति उत्कठा मे आनन्दातिरेक के अश्रुओ मे प्लावित हो जाता है, इस प्रकार मनस् रूपी लाटा जिन इन्द्रिय विषयो मे सलग्न होता है, उनसे वियुक्त भी हो जाता है।[3] जब ऐसे भावातिरेक मे किसी व्यक्ति

---

[1] भागवत पुराण, ३ २७।

[2] वही, ३ २८।

[3]

किन्तु यह निर्देश दिया जा सकता है कि "योग" की प्रथम प्रणाली भी एक प्रकार की "भक्ति" से सम्बद्ध है, क्योंकि उसमे ईश्वर-प्रणिधान एव उससे सम्बद्ध आनन्द के भाव का समावेश होता है। "योग" शब्द का प्रयोग इस प्रसग मे पतजलि द्वारा दिये गये पारिभाषिक अर्थ ("युज् समाधौ" धातु से) मे नही किया गया है, अपितु "योग" के अधिक सामान्य अर्थ ("युजिर् योगे" धातु से "योग" का अर्थ है "सयोजन") मे किया गया है। यद्यपि इस प्रणाली मे मन की शुद्धि एव ध्यान की तैयारी के लिये "योग" के सभी उपागो का समावेश हुआ है, तथापि उसका चरम उद्देश्य प्रापचिक जीव की ईश्वर के साथ एकता की उपलब्धि करना है, जो पतजलि के "योग" से सर्वथा भिन्न है। अत चूकि यह "योग" मुख्यतया ईश्वर का चिंतन करके उसके साथ एकीकरण का लक्ष्य रखता है, इसे एक प्रकार का "भक्ति-योग" भी कहा जा सकता है जिसमे ईश्वर के प्रति भावातिरेक के द्वारा "योग" प्रशिक्षण के सभी उद्देश्यो की पूर्ति हो जाती है।[1]

कपिल का वर्णन ईश्वर के एक अवतार के रूप मे किया गया है, तथा "भागवत" मे उन्हें जिस दर्शन के लिये उत्तरदायी बताया है वही उसमे अन्तर्विष्ट प्रधान दर्शन है। "भागवत" मे आद्योपान्त कपिल द्वारा वर्णित सेश्वर साख्य-दर्शन की विविध अवतरणो एव विविध प्रसगो मे वारम्बार पुनरावृत्ति की गई है। उसके ईश्वर-कृष्ण द्वारा अथवा पतजलि एव व्यास द्वारा जिस चिर-परिचित साख्य की व्याख्या की गई है उसमे अतर इतना स्पष्ट है कि विस्तार से उसके स्पष्टीकरण की कोई आवश्यकता नही है। "भागवत" ११ २२ मे सांख्य की उन विभिन्न शाखाओ का उल्लेख किया गया है जो चरम पदार्थों की सख्या, तीन, चार, पाँच, छ , सात, नौ, ग्यारह, तेरह, पन्द्रह, सोलह, सत्रह, पच्चीस एव छब्बीस मानती हैं, तथा यह पूछा गया है कि मत की इन भिन्नताओ का सामजस्य कैसे किया जा सकता है। उत्तर मे कहा गया है कि ये भिन्नताएँ साख्य विचारधारा मे कोई वास्तविक भेद को अभिव्यक्त नही करती, भेद तो कुछ पदार्थो का कुछ अन्य पदार्थो मे समावेश कर लेने के कारण उत्पन्न हो गया है (परस्परानुप्रवेशात् तत्वानाम्), उदाहरण के लिये, कुछ कार्य-तत्व कुछ कारण तत्वो मे समाविष्ट कर लिये गये हैं, अथवा कुछ तत्वो का अभिनिर्धारण कुछ विशेष अभिप्राय से किया गया है। इस प्रकार, जब हम यह सोच लेते हैं कि "पुरुष" अनादि अविद्या से प्रभावित होने के कारण (अनाद्यविद्यायुक्तस्य) स्वय परम सत्ता का ज्ञान प्राप्त करने मे असमर्थ हैं, तब उससे भिन्न एक पुरुषोत्तम के अस्तित्व की सकल्पना करना आवश्यक हो जाता है जो उसे उक्त ज्ञान प्रदान कर सके, इस दृष्टिकोण से छब्वीस

[1] यत सघार्यमाना योगिनो भक्ति लक्षण
आशु सम्पद्यते योग आश्रय भद्रमीक्षत । भागवत पुराण, २ १, २१ ।

तत्व होगे। किन्तु, जब हम सोच लेते है कि "पुरुष" (अथवा जीव) और ईश्वर मे तनिक भी अन्तर नही है, तब ईश्वर की पुरुष से भिन्न सकल्पना नितान्त अनावश्यक हो जाती है। पुन जो विद्वान् नौ तत्व मानते है वे "पुरुष", "प्रकृति," "महत्", "अहकार" एव पाच "तन्मात्र" को गिनकर ऐसा करते हैं। इस दृष्टि से "ज्ञान" "गुणो" का एक परिणमन माना जाता है, और (चूंकि "प्रकृति" गुणो की साम्यावस्था के अतिरिक्त कुछ भी नही है अत) ज्ञान को "प्रकृति" से एक-रूप माना जा सकता है, इसी प्रकार क्रियाएँ केवल "रजस्" के परिणमन मानी जानी चाहिये और अज्ञान "तमस्" का परिणमन। "काल" यहाँ एक पृथक् तत्व नही माना गया है बल्कि "गुणो" की सहकारी गति का कारण समझा गया है, और "स्वभाव" को "महतत्व" से एक रूप माना गया है। ज्ञानेन्द्रियो को यहाँ "सत्व" के ज्ञानात्मक द्रव्य मे समाविष्ट किया गया है, कर्मेन्द्रियो को "रजस्" मे तथा स्पर्श, गध आदि के सज्ञान पृथक् तत्व न माने जाकर ज्ञानेन्द्रियो की अभिव्यक्तियो के क्षेत्र माने गये है। बारह तत्व मानने वाले विद्वान ज्ञानेन्द्रियो एव कर्मेन्द्रियो को दो अतिरिक्त तत्व मानते है और स्पर्श, गध आदि सवेदनाओ को ज्ञानेन्द्रियो की अभिव्यक्तियाँ मानकर स्वाभाविकतया उनके तत्व होने के दावे की अवहेलना करते हैं। एक अन्य दृष्टि से "प्रकृति" जो कि "पुरुष" के प्रभाव से क्रिया मे प्रवृत्त की जाती है, उससे भिन्न समझी जाती है, और इस प्रकार दो तत्व तो "पुरुष" एव "प्रकृति" हो जाते है, फिर पाच तन्मात्राएँ, अलौकिक द्रष्टा एव प्रापचिक जीव हो जाते है, अतएव कुल मिलाकर नौ तत्व हो जाते है। छ तत्व मानने वाले मत के अनुसार केवल पाँच महाभूत एव अलौकिक "पुरुष" ही स्वीकृत किये जाते है। जो विद्वान् केवल चार ही तत्वो को मानते हैं वे तेजस्, आप, एव पृथ्वी इन तीन तत्वो को स्वीकृत करते है, तथा अलौकिक पुरुष को चौथा तत्व मानते हैं। जो सत्रह तत्व मानते है वे पाच "तन्मात्र," पच महाभूत एव पाच ज्ञानेन्द्रियो, मनस् तथा "पुरुष" को स्वीकृत करते है। जो सोलह तत्व मानते है वे "मनस्" को पुरुष से एक रूप मान लेते है। जो तेरह तत्वो को मानते हैं वे पच महाभूत (जिनको "तन्मात्र" से एक रूप कर लिया गया है), पाच ज्ञानेन्द्रियो, मनस्, अलौकिक एव प्रापचिक पुरुषो को स्वीकृत करते है। जो केवल ग्यारह तत्व मानते हैं वे केवल पच महाभूत, पाच ज्ञानेन्द्रियो और पुरुष को स्वीकार करते हैं। पुन वे विद्वान् भी हैं जो आठ "प्रकृतियो" और "पुरुष" को स्वीकार करते है और इस प्रकार वे तत्वो की सख्या नौ कर देते है। "भागवत" की सामजस्यवादी भावना ने साख्य-तत्वो के विरोध-ग्रस्त विवरणो का भेदो की असतोषजनक व्याख्या द्वारा सामजस्य करने का प्रयास किया है, किन्तु एक निष्पक्ष प्रेक्षक को कभी-कभी ये भेद मूल-भूत प्रतीत होते है, तथा कम से कम इतना तो स्पष्ट है कि ये सभी भिन्न-भिन्न विचार धाराएँ किसी अर्थ मे "साख्य" नाम से पुकारी जा सकती है,

तथापि वे एक यथेष्ट स्वतत्र विचारणा के अस्तित्व की सूचक है, जिसके वास्तविक मूल्य का, इन शाखाओ की सविस्तार एव यथार्थ जानकारी के अभाव मे, निर्धारण नही किया जा सकता ।[1]

भागवत सम्प्रदाय के साख्य का शास्त्रीय साख्य से मूल भेद यह है कि वह एक ही "पुरुष" को वास्तविक सर्व-व्यापी आत्मा के रूप मे स्वीकृत करता है, जो हमारे समस्त अनुभवो का यथार्थ द्रष्टा है तथा इस जगत की निखिल वस्तुओ मे अधिष्ठान रूप मे मूलभूत सामान्य सत्ता है । विशेष प्रापचिक जीव सामान्य "पुरुष" के "प्रकृति" के परिणमनो के साथ भ्रामक अविवेक तथा उसके फल-स्वरूप "प्रकृति" की गतियो एव उपकरणो के इस सामान्य "पुरुष" मे आरोपण के कारण सत्य भासित होते हैं । इस मिथ्या आरोपण के कारण से ही मिथ्या विशेष जीवो का उदय होता है तथा इस प्रकार जन्म व पुनर्जन्म का आभास उत्पन्न होता है, यद्यपि "प्रकृति" का सामान्य "पुरुष" के साथ कोई साहचर्य नही होता है । हमारे समस्त जागतिक अनुभव स्वप्नो के सदृश मिथ्या है तथा मन की भ्रान्त-धारणाओ के कारण उत्पन्न होते है । उपर्युक्त वर्णित कपिल के साख्य दर्शन से सम्बन्धित अवतरणो की अपेक्षा "भागवत" के ११ २२ मे पाये जाने वाले अवतरणो मे जगत् के मिथ्यात्व पर अधिक बल दिया गया है, और यद्यपि दोनो प्रतिपादनो को मूलत भिन्न नही कहा जा सकता तथापि जागतिक अनुभवो को मिथ्या मानने वाली एकतत्ववादी प्रवृत्ति पर ऐसा विशिष्ट बल दिया गया है कि उसके द्वारा उस यथार्थवादी प्रवृत्ति का लगभग विनाश हो जाता है जो साख्य-मतवादी विचारको का एक विशिष्ट लक्षण है ।[2]

११ १३ मे यह एकतत्ववादी व्याख्या अथवा साख्य का यह एकतत्ववादी रूपान्तर अपने चरम बिन्दु पर पहुँच जाता है, वहाँ यह अवधारणा स्थापित की गई है कि परम सत्ता एक है तथा सर्व भेद केवल नाम-रूप के भेद हैं । जो कुछ भी ज्ञानेन्द्रियो

[1] अश्वघोष के "बुद्ध-चरित" मे साख्य के एक विवरण मे "प्रकृति" और "विकार" की गणना की गई है । इनमे से "प्रकृति" आठ तत्वो से बनी है—पच महाभूत "अहकार" "बुद्धि" एव "अव्यक्त" और "विकार" सत्रह तत्वो मे निर्मित है—पाच ज्ञानेन्द्रियाँ एव पाच कर्मेन्द्रियाँ, मनस्, बुद्धि व पाच प्रकार का सवेदना-जन्य ज्ञान । इसके अतिरिक्त "क्षेत्रज्ञ" या "आत्मन्" नामक तत्व भी है ।

[2] यथा मनोरथ-धियो विषयानुभवो मृषा
स्वप्न-दृष्टाश्च दाशार्ह तथा ससार आत्मन
अर्थे ह्य विद्यमानेऽपि ससृतिर्न निवर्तते
ध्यायतो विषयानस्य स्वप्नेऽनर्थागमो यथा ।
—भागवत, ११ २२, ५५, ५६ ।

तथापि वे एक यथेष्ट स्वतन्त्र विचारणा के अस्तित्व की सूचक है, जिसके वास्तविक मूल्य का, इन शाखाओं की सविस्तार एवं यथार्थ जानकारी के अभाव मे, निर्धारण नही किया जा सकता ।[1]

भागवत सम्प्रदाय के साख्य का शास्त्रीय साख्य से मूल भेद यह है कि वह एक ही "पुरुष" को वास्तविक सर्व-व्यापी आत्मा के रूप मे स्वीकृत करता है, जो हमारे समस्त अनुभवो का यथार्थ द्रष्टा है तथा इस जगत की निखिल वस्तुओ मे अधिष्ठान रूप मे मूलभूत सामान्य सत्ता है। विशेष प्रापचिक जीव सामान्य "पुरुष" के "प्रकृति" के परिणमनो के साथ भ्रामक अविवेक तथा उसके फल-स्वरूप "प्रकृति" की गतियो एव उपकरणो के इस सामान्य "पुरुष" मे आरोपण के कारण सत्य भासित होते हैं। इस मिथ्या आरोपण के कारण से ही मिथ्या विशेष जीवो का उदय होता है तथा इस प्रकार जन्म व पुनर्जन्म का आभास उत्पन्न होता है, यद्यपि "प्रकृति" का सामान्य "पुरुष" के साथ कोई साहचर्य नही होता है। हमारे समस्त जागतिक अनुभव स्वप्नो के सदृश मिथ्या है तथा मन की भ्रान्त-धारणाओ के कारण उत्पन्न होते है। उपर्युक्त वर्णित कपिल के साख्य दर्शन से सम्बन्धित अवतरणो की अपेक्षा "भागवत" के ११ २२ मे पाये जाने वाले अवतरणो मे जगत् के मिथ्यात्व पर अधिक बल दिया गया है, और यद्यपि दोनो प्रतिपादनो को मूलत भिन्न नही कहा जा सकता तथापि जागतिक अनुभवो को मिथ्या मानने वाली एकतत्ववादी प्रवृत्ति पर ऐसा विशिष्ट बल दिया गया है कि उसके द्वारा उस यथार्थवादी प्रवृत्ति का लगभग विनाश हो जाता है जो साख्य-मतवादी विचारको का एक विशिष्ट लक्षण है ।[2]

११ १३ मे यह एकतत्ववादी व्याख्या अथवा साख्य का यह एकतत्ववादी रूपान्तर अपने चरम बिन्दु पर पहुँच जाता है, वहाँ यह अवधारणा स्थापित की गई है कि परम सत्ता एक है तथा सर्व भेद केवल नाम-रूप के भेद हैं। जो कुछ भी ज्ञानेन्द्रियो

[1] अश्वघोष के "बुद्ध-चरित" मे साख्य के एक विवरण मे "प्रकृति" और "विकार" की गणना की गई है। इनमे से "प्रकृति" आठ तत्वो से बनी है—पच महाभूत "अहकार" "बुद्धि" एव "अव्यक्त" और "विकार" सत्रह तत्वो मे निर्मित है—पाच ज्ञानेन्द्रियाँ एव पाच कर्मेन्द्रियाँ, मनस्, बुद्धि व पाच प्रकार का सवेदना-जन्य ज्ञान। इसके अतिरिक्त "क्षेत्रज्ञ" या "आत्मन्" नामक तत्व भी है।

[2] यथा मनोरथ-धियो विषयानुभवो मृषा
स्वप्न-दृष्टाश्च दाशार्ह तथा ससार आत्मन
अर्थे ह्य विद्यमानेऽपि ससृतिर्न निवर्तते
ध्यायतो विषयानस्य स्वप्नेऽनर्थागमो यथा ।
—भागवत, ११ २२, ५५, ५६ ।

से प्रत्यक्ष हो सकता है, शब्दो द्वारा कथित किया जा सकता है, अथवा विचार से सकल्पित किया जा सकता है वह एक परम सत्ता ब्रह्म ही है। "गुण" मनस् की उपज हैं तथा मनस् "गुणो" की उपज है, और ये दो मिथ्या सत्ताएँ ही व्यक्ति का निर्माण करती हैं, किन्तु हमे यह समझना चाहिये कि ये दोनो अयथार्थ हैं तथा एक-मात्र तत्व ब्रह्मन् है जिस पर उन दोनो का आरोपण होता है। जाग्रत अनुभव, स्वप्न एव सुषुप्ति सभी मनस् के व्यापार हैं, यथार्थ आत्म तो विशुद्ध "साक्षिन्" है, जो उनसे नितान्त भिन्न है। जब तक "नानात्व" की संकल्पना दार्शनिक तर्क से निर्मूल नहीं हो जाती, तब तक अज्ञानी व्यक्ति अपनी जाग्रतावस्था मे स्वप्न-मात्र देखता है, ठीक उसी प्रकार जैसे एक व्यक्ति अपने स्वप्नो मे स्वय को जाग्रत समझता है। चू कि आत्मन् के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नही है, तथा अन्य सभी कुछ स्वप्नो के सदृश भ्रम मात्र हैं, अत सर्व जागतिक नियम, उद्देश्य, लक्ष्य एव कार्य अनिवार्यत उनके समान ही मिथ्या हैं। हमे यह प्रेक्षण करना चाहिये कि हममे अपने जाग्रत एव स्वप्नानुभवो मे तथा अपने सुषुप्ति के अनुभवो मे आत्मन् के तादात्म्य की सकल्पना विद्यमान है, और हमे इस बात से सहमत होना चाहिये कि जीवन की इन तीनो अवस्थाओ के ये सभी अनुभव वास्तव मे अस्तित्व नही रखते, वे सब परम सत्ता, ब्रह्मन् पर "माया" की अभिव्यक्तिया मात्र हैं, और इस प्रकार के तर्को एव विचारो से हमे अपनी समस्त आसक्तियो का निष्कासन कर देना चाहिये तथा ज्ञान की तलवार द्वारा अपने सर्व बन्धनो को काट फेंकना चाहिये। हमे समस्त जगत् एव उसके अनुभवो को मन की कल्पना-मात्र समझना चाहिये—एक आभास मात्र जो प्रकट होता है और तिरोहित हो जाता है, सब अनुभव "माया" मात्र हैं तथा एक मात्र अधिष्ठान सत्ता शुद्ध चैतन्य है। अत सम्यक् ज्ञान के द्वारा ही मोक्ष प्राप्त होता है, यद्यपि शरीर तब तक रह सकता है जब तक कि सुखमय एव दु खमय अनुभवो के भोग से "कर्म" के फल समाप्त नही हो जाते। इसी को सांख्य और योग का गुप्त तत्व कहा गया है। "भागवत" मे इस प्रकार का अतिशय अध्यात्मवादी एकतत्ववाद देखकर हमे साधारणतया आश्चर्य-सा लगेगा, किन्तु ऐसे अनेक अवतरण हैं जिनसे स्पष्ट होता है कि "भागवत" की एक प्रमुख विचार-धारा के रूप मे एक तीव्र अध्यात्मवाद की बार-बार पुनरावृत्ति होती है।[1]

"भागवत" का सबसे महत्वपूर्ण अवतरण कदाचित् उसका प्रथम मगलाचरण का श्लोक ही है। इस अवतरण तक मे यह कहा गया है (उसकी एक प्रमुख व प्रत्यक्ष व्याख्या के अनुसार) कि "गुणो" द्वारा की गई सृष्टि मिथ्या है और फिर भी उसमे अधिष्ठान रूप मे स्थित परम सत्ता के कारण वह यथार्थ प्रतीत होती है, जगत की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय परम सत्ता ब्रह्मन् से निष्पन्न होते हैं तथा इस परम सत्ता

---

[1] वही, ११ १३।

की ज्योति मे सर्व अधकार तिरोहित हो जाता है।[1] ६, ४, २९–३२ मे एक अन्य अवतरण मे कहा गया है कि ब्रह्मन् "गुणो" मे अतीत है तथा जगत् मे अथवा जगत् के रूप मे जो भी उत्पन्न होता है उसका अधिष्ठान एव कारण ब्रह्मन् ही है और केवल वही सत्य है, और निरीश्वर साख्य तथा सेश्वर योग उसी को परम सत्ता मानने मे सहमत है।

एक पिछले परिच्छेद मे यह निर्देश किया गया था कि "जीव" के अनुसार "माया" के निमित्तात्मक एव उपादानात्मक 'दो भाग होते है, तथा पश्चादुक्त को "प्रकृति" या "गुणो" से एक-रूप माना गया है। किन्तु यह "माया" ईश्वर की बाह्य शक्ति मानी गई थी जो उसकी स्वरूप-शक्ति से भिन्न है। पर "विष्णु-पुराण" द्वारा ऐसा कोई भेद स्थापित किया गया प्रतीत नही होता, उसका कथन है कि ईश्वर अपनी क्रीडात्मक क्रिया के द्वारा "प्रकृति," "पुरुष" नानात्मक जगत् एव काल के रूप मे स्वय को अभिव्यक्त करता है, किन्तु फिर भी वह "प्रकृति" एव "पुरुष" को ईश्वर के स्वरूप से भिन्न मानता है, तथा काल को ऐसी सत्ता मानता है जो इन दोनो को सान्निध्य मे रखकर इन्हे सृष्टि-रचना की ओर प्रवृत्त करता है।[2] इस प्रकार चूँकि काल "प्रकृति" एव "पुरुष" मे सम्बन्ध स्थापित करने वाला कारण है, इसलिये महाप्रलय के समय निखिल सृष्टि-रूपो के प्रकृति मे फिर से लय होने के पश्चात् भी वह अपना अस्तित्व बनाये रखता है। जब "गुण" साम्यावस्था मे होते है तब "प्रकृति" एव "पुरुष" असम्बन्धित रहते है और तत्पश्चात् काल-तत्व ईश्वर से निकल कर दोनो मे सम्बन्ध स्थापित करता है।[3] किन्तु "प्रकृति का अपने अव्यक्त एव व्यक्त अथवा "सकोच" एव "विकास" (सकोच-विकासाभ्याम् की दोनो दशाओ मे ईश्वर के स्वरूप की अश होती है, "प्रकृति" की साम्यावस्था को क्षुब्ध करने मे ईश्वर स्वय अपने स्वरूपको

[1] जन्माद्यस्य यतोऽन्वयाद् इतरतश्चार्थेष्व अभिज्ञ स्वराट्, तेने ब्रह्म हृदा य आदि-कवये मुह्यन्ति यत् सूरय, तेजो-वारि-मृदा यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गोऽमृषा, धाम्ना स्वेन सदा निरस्त कुहक सत्य पर धीमहि।

—भागवत, १ १, १।

[2] व्यक्त विष्णुस्तथाव्यक्त पुरुष कालेव च।
क्रीडतो बालकस्येव चेष्टा तस्य निशामय।
विष्णो स्वरूपात् परतो हि तेऽन्ये रूपे प्रधान पुरुषश्च विप्रास्तस्येव तेऽन्येन घृते वियुक्त रूपादि यत् तद् द्विज कालसज्ञम्।

—"विष्णु-पुराण" १ २, १८, २४।

[3] गुण-साम्ये ततस्तस्मिन् पृथक् पु सि व्यवस्थिते
काल-स्वरूप-रूप तद् विष्णोर् मैत्रेय वर्तते। —वही, २७।

विक्षुब्ध करता है (स एव क्षोभको ब्रह्मन् क्षोभ्यश्च पुरुषोत्तम), तथा वह ऐसा काल के माध्यम से करता है। वह अपनी इच्छा-शक्ति के द्वारा "प्रकृति" एव "पुरुष" मे प्रवेश कर जाता है, तथा "प्रकृति" के सृजनात्मक कार्य को प्रारम्भ करता है, यद्यपि इस इच्छा-शक्ति की क्रिया मे साधारण भौतिक क्रिया की सकल्पना का कोई समावेश नही होता।[1] इस प्रकार काल ईश्वर का ऐसा आध्यात्मिक प्रभाव माना जाता है जिसके द्वारा ईश्वर स्वय मे अचल रह कर भी "प्रकृति" को चलायमान करता है। "प्रकृति" से विशिष्टीकरण की क्रिया तथा विषमगता के विकास द्वारा "महत्" का त्रिविध विकास होता है (सात्विक, राजस एव तामस)।[2] इसी क्रिया के द्वारा महत् का "वैकारिक" तेजस एव "भूतादि" से विशिष्टीकरण होता है जो "महत्" मे सगठित रहते हैं और महत् "प्रकृति" मे सगठित रहता है।[3] इसी प्रकार "महत्" के अन्तर्गत सगठित रहकर "भूतादि" का "तन्मात्रिक" अवस्था मे विशिष्टीकरण होता है तथा वह शब्द तन्मात्र उत्पन्न करता है। "शब्द-तन्मात्र" से "आकाश" तत्व उत्पन्न हुआ, यह शब्द-तन्मात्र एव "आकाश भूतादि" मे आगे और सगठित हुए तथा इस सगठित अवस्था मे "आकाश" तत्व ने स्वय को "स्पर्श-तन्मात्र" मे रूपान्तरित कर लिया, इस "स्पर्श-तन्मात्र" से उसके रूपान्तरण द्वारा वायु की उत्पत्ति हुई (भूतादि द्वारा अभिवृद्ध होकर)। फिर "आकाश" तत्व एव "शब्द-तन्मात्र" के एकीकरण का "स्पर्श-तन्मात्र" से सयोजन करके वायु-तत्व ने "भूतादि" के माध्यम मे "रूप-तन्मात्र" को उत्पन्न किया, तथा "भूतादि" से अभिवृद्धि पाकर "रूप-तन्मात्र" से "तेज" तत्व उत्पन्न हुआ। पुन "स्पर्श-तन्मात्र," "वायु-तत्व" एव "रूप-तन्मात्र" के एकीकरण से सयोजित होकर तेज-तत्व ने "भूतादि" के माध्यम मे स्वय को "रस-तन्मात्र" मे रूपान्तरित कर लिया तथा उसी ढग से "भूतादि" से अभिवृद्धि पाकर "आप" तत्व उत्पन्न हुआ। फिर "रस-तन्मात्र" "रूप-तन्मात्र" एव "आप" तत्व के एकीकरण से "भूतादि" के माध्यम मे "आप-तत्व" के रूपान्तरण द्वारा "गन्ध-तन्मात्र" उत्पन्न हुआ और "भूतादि" से अभिवृद्धि पाकर "गध-तन्मात्र" के "रस-तन्मात्र" "रूप-तन्मात्र" एव "आप-तत्व" के साथ एकीकरण द्वारा "पृथ्वी-तत्व" उत्पन्न हुआ। "तेजस-अहकार" से दस कर्मेन्द्रिया एव ज्ञानेन्द्रियाँ उत्पन्न हुई तथा "मनस्" 'वैकारिक-अहकार' से उत्पन्न हुआ। पाच

[1] प्रधान पुरुष चापि प्रविश्यात्मेच्छया हरि
क्षोभयामास सम्प्राप्ते सर्ग-कालेव्ययाव्ययौ। —वही, २९।

[2] तीन प्रकार के महत् के विकास का यह मत "विष्णु-पुराण" की विशेषता है जो शास्त्रीय साख्य-मत से भिन्न है।

[3] यह द्वितीय अवस्था पतजलि के "योग-सूत्र" २ १९ की "व्यास-भाष्य" मे की गई व्याख्या के अनुसार साख्य-सिद्धान्त से सहमत है।

"तन्मात्राएँ" "अविशेष" रूपान्तरण कही जाती हैं, तथा इन्द्रियाँ एव स्थल तत्व "विशेष" रूपान्तरण माने जाते हैं ।[1]

उपरोक्त वितरण से तथा इस कृति के प्रथम ग्रथ मे कपिल एव पातजल साख्य-सम्प्रदाय विषयक अध्याय मे जो कुछ लिखा जा चुका है, उससे यह स्पष्ट हो जायगा कि साख्य-दर्शन विभिन्न कालो मे कई लेखको के हाथो मे पडकर कई प्रकार से परिवर्तित हो चुका था। किन्तु यह अनुमान लगाना कठिन है कि इनमे से कौनसा मत यथार्थ मे कपिल का मत है। किसी विपरीत प्रमाण की अनुपस्थिति मे यह माना जा सकता है कि "भागवत" मे कपिल को जिस साख्य-मत के लिये श्रेय दिया गया है वह साधारणतया सत्य है। किन्तु ईश्वर कृष्ण ने भी अपनी "साख्य-कारिका" मे शास्त्रीय साख्य मत का विवरण दिया है, जिसका उनके अनुसार सर्व प्रथम कपिल ने आसुरि को, उपदेश दिया और आसुरि ने पचशिख को, तथा उनके द्वारा दिया गया साख्य-मत का विवरण "षष्टि तन्त्र" (उसके विवाद-ग्रस्त मार्गो एव आख्यानो को छोडकर) का साराश है, तथा वे स्वय आसुरि से गुरु-शिष्य की पीढियो द्वारा प्राप्त परम्परागत साख्य-मत मे उपदिष्ट हुए। किन्तु "भागवत" मे दिया गया कपिल-साख्य का विवरण "साख्यकारिका" द्वारा दिये गये साख्य-मत से महत्वपूर्ण अशो मे भिन्न है, क्योंकि जहाँ पूर्वोक्त निश्चय रूप से ईश्वरवादी है वहाँ पश्चादुक्त कम से कम मौन रूप से निरीश्वर-वादी है क्योकि वह ईश्वर के सम्बन्ध मे पूर्णतया मौन है, स्पष्ट है कि इस मत मे ईश्वर को कोई स्थान नही है। किन्तु "भागवत" मे वर्णित ईश्वरवादी साख्य, जो कि पतजलि एव "व्यास-भाष्य" के ईश्वरवादी साख्य, जो कि पतजलि एव "व्यास-भाष्य" के ईश्वरवादी साख्य से सर्वथा भिन्न है, कोई एक ऐसा एकाकी उदाहरण नही है जिसकी सरलता से उपेक्षा की जा सके, क्योकि जिन "पुराणो" के पीछे वैष्णव परम्परा है उनमे से अधिकाश "पुराण" "भागवत" मे दिये गये कपिल-साख्य के ईश्वर-वादी तत्व से सब अनिवार्य लक्षणो मे साधारणतया सहमत हैं, तथा कुछ महत्वपूर्ण पचरात्र "आगम" भी कुछ अशो मे उसका समर्थन करते है। इस प्रकार "अहिर्बुध्न्य-सहिता" साख्य-मत का विवरण देते हुए कहती है कि साख्य साख्य "प्रकृति" को अनेकात्मक जगत् का कारण मानता है, तथा यह "प्रकृति" विष्णु भगवान की इच्छा-शक्ति मे प्रेरित काल के प्रभाव द्वारा सृजनात्मक रूपान्तरणो मे प्रवृत्त होती है। "पुरुष" केवल एक ही है जो सब "पुरुषो" का पूर्ण योग है तथा पूर्णत अपरिवर्त्तनशील (कूटस्थ) है, "प्रकृति" तीन "गुणो" की साम्यावस्था मे निर्मित है, "काल" तत्व के

---

[1] "विष्णु-पुराण" १ २ देखिये—इस अवतरण की पी० सी० राय की ग्रथ २, ९०–५ मे दी हुई डा० सर बी० एन० सील द्वारा की गई व्याख्या। साख्य-तत्वो के विकास के बारे मे यही श्लोक "पद्म-पुराण" (स्वर्ग खड) मे हैं।

द्वारा ईश्वर की सकल्प शक्ति (विष्णु-मकल्प-चोदितात्) "प्रकृति" और "पुरुष" को सम्बन्वित करती है जिसके फल-स्वरूप "प्रकृति" की सृजनात्मक क्रिया प्रारम्भ होती है। "पुरुष" "प्रकृति" एव "काल" विष्णु भगवान की विशिष्ट अभिव्यक्ति मात्र हैं।[1] "अहिर्बुध्न्य-सहिता" के अनुसार स्थूल तत्वो का विकास भी अपनी-अपनी "तन्मात्राओं" से सीधा होता है। उसका यह भी विश्वास है कि ईश्वर की शक्तियाँ तर्कातीत (अचिन्त्य) है, अतएव उनका प्रतिरोध तर्क-बुद्धि के विशुद्ध आकारगत सिद्धान्तो अथवा तर्क-शास्त्र के विरोध-नियम के आधार पर नही किया जा सकता। किन्तु वह इस विलक्षण मत को अपनाती है कि "काल" मे "सत्व-गुण" उत्पन्न होता है, तथा "सत्व" से "रजस्" एव "रजस्" से तमस" "उत्पन्न होता है, और वह "व्यूह" सिद्धान्त की भिन्न व्याख्या करता है—लेकिन पचरात्र-दर्शन नामक अध्याय मे इन बातो का हम विवेचन कर चुके है कि "अहिर्बुध्न्य" इस सांख्य-मत का श्रेय कपिल को देती है (जो "विष्णु" के अवतार कहे जाते है) जिन्होने 'षष्टि-तत्र" लिखा, तथा वह इस कृति के अध्यायो "तत्रो" का परिगणन भी करती है।[2] यह कृति दो पुस्तको मे विभक्त हैं, प्रथम पुस्तक मे एक अध्याय (तत्र) ब्रह्मन् पर है, एक "पुरुष" पर, तीन "शक्ति" पर, एक "अक्षर" पर, एक "प्राण" पर तथा एक "कर्तृ" पर, एक ईश्वर पर, पाँच 'मज्ञान" पर, पाँच क्रियाओ पर, पाँच तन्मात्राओ पर और पाँच नच महाभूतो पर है, इस प्रकार प्रथम पुस्तक मे कुल मिलाकर बत्तीस अध्याय है। द्वितीय पुस्तक मे अट्ठाईस अध्याय है—पाँच कर्त्तव्यो पर, एक अनुभव पर, एक चरित्र पर, पाँच क्लेशो पर, तीन "प्रमाणो" पर, एक भ्रमो पर, एक "धर्म" पर, एक वैराग्य पर, अतिप्राकृति शक्तियो पर, एक "गुण" पर, एक "लिंग" पर, एक प्रत्यक्षीकरण पर, एक वैदिक अनुष्ठानो पर, एक शोक पर, एक चरम लब्धि पर, एक वासनाओ के निवारण पर, एक रीति-रिवाजो पर, तथा एक मोक्ष पर।[3] इस प्रकार हमारे सम्मुख साख्य का एक तो ईश्वरवादी विवरण है, और एक निरीश्वरवादी, जो दोनो "षष्टि-तत्र" पर आधारित होने का दावा करते है, दोनो कपिल-दर्शन के रूप मे वर्णित किये गये हैं,

---

[1] पुरुषश्चैव कालश्च गुणश्चेति त्रिधोच्यते
भूति शुद्धेतरा विष्णो

—"अहिर्बुध्न्य-सहिता" ६ ८।

[2] साख्यरूपेण सकल्पो वैष्णव कपिलाद् ऋषे
उदितो यादृश पूर्वं तादृश शृणु मेऽखिलम्
षष्टिभेद स्मृत तत्र साख्य नाम महामुने
प्राकृत वैकृत चेति मण्डले द्वे समासत।

—वही, ७ १९।

[3] वही, ७ २०–३०।

और दोनो प्रामाणिक प्राचीन मूल-पाठो से प्राप्त किये गये हैं। केवल "भागवत" ही कपिल का ईश्वर के अवतार के रूप मे उल्लेख नही करती, वल्कि कई पचरात्र के मूल- भी उनका भगवान विष्णु के अवतार के रूप मे उल्लेख करते हैं, "महाभारत" उनका भगवान हरि और भगवान विष्णु के रूप मे विवरण देता है (३.४७ १८), उनको वासुदेव (३ १०७ ३१) व कृष्ण कहता है, तथा उनका एक महर्षि के रूप मे वर्णन करता है जिन्होंने अपने कोप द्वारा सागर के पुत्रो को भस्मसात कर दिया था। "भगवद् गीता" मे कृष्ण कहते है कि वे सिद्धो मे कपिल मुनि हैं (१० २६), किन्तु "महाभारत" (३ २२०,२१) मे उनको "चतुर्थ अग्नि" से एक-रूप माना है। "श्वेताश्वेतर उपनिषद्" (५.७२) मे भी एक कपिल मुनि का उल्लेख आता है और शकर अपने "ब्रह्म-सूत्र" –भाष्य मे कहते हैं कि यह कपिल उन कपिल से भिन्न होने चाहिये जिन्होने सागर के पुत्रो को भस्म कर दिया था, तथा सांख्य-दर्शन लिखने वाले कपिल का निश्चित रूप से पता नही लगाया जा सकता। इस प्रकार कम से कम तीन कपिल हो चुके हैं, वे कपिल जिन्होंने सागर के पुत्रो को भस्म कर दिया तथा जो "महाभारत" के अनुसार विष्णु, हरि या कृष्ण के अवतार माने जाते हैं, वे कपिल जो "अग्नि" के अवतार माने जाते हैं, और उपनिषदीय मुनि कपिल जो वहाँ प्रज्ञान मे परिपक्व माने जाते है। प्रथम दो कपिल निश्चित रूप से सांख्य-दर्शन के लेखको के रूप मे विख्यात है, तथा "महाभारत" के टीकाकार नीलकण्ठ का कथन है कि "अग्नि" के अवतार कपिल ही निरीश्वरवादी सांख्य के लेखक है।[1] "महाभारत" (१२ ३५०,५) मे कहा गया है कि कपिल मुनि ने अपना सांख्य-दर्शन इस सिद्धान्त पर आधारित किया कि एक ही "पुरुष" महानारायण है, जो स्वय मे पूर्णत निर्गुण एव सर्व सांसारिक अवस्थाओ मे अछूता है और फिर भी वही सूक्ष्म एव स्थूल शरीरो से सम्बन्धित जीवो का अधिष्ठक है, तथा उनके द्वारा भोगे गये समस्त ज्ञानात्मक एव इन्द्रियजन्य अनुभवो का परम आधार है, वही आत्मगत एव विषयगत जगत् के रूप मे भासित होने वाली पूर्ण एव परम सत्ता है, और फिर भी वासुदेव सकर्षण, अनिरुद्ध एव प्रद्युम्न के रूप मे अपने चतुर्मुखी व्यक्तित्व के द्वारा ब्रह्माण्ड के सृष्टा एव नियन्ता की भाँति व्यवहार करता है।[2] "महाभारत" मे पाये गये सांख्य के अन्य विवरणों का परीक्षण करने से पूर्व [illegible] देना उचित है कि पचशिख [illegible] मे कपिल [illegible]

वादी और निरीश्वरवादी आदि अनेक प्रकार हो चुके हैं। चूँकि "अहिर्बुध्न्य-संहिता" "षष्टि-तन्त्र" के अध्यायो के नाम बताती है, अत यह लगभग निश्चित है कि उसके लेखक ने यह कृति देखी होगी, तथा उसके द्वारा वर्णित साख्य उस कृति से सहमत है। परिगणित विषयो की तालिका बताती है कि उस कृति मे ब्रह्मन्, "पुरुष" "शक्ति" "नियति" एव "काल" पर अध्याय थे, तथा यही तत्व "अहिर्बुध्न्य" द्वारा दिये गये साख्य के विवरण मे भी आते है। अतएव यह बहुत सम्भव है कि "अहिर्बुध्न्य" द्वारा दिये गये साख्य का विवरण अधिकाशत "षष्टि-तन्त्र" के प्रति निष्ठावान है। हमे विदित है कि कपिल के साख्य-दर्शन ने कुछ महत्वपूर्ण लक्षणो मे अपना स्वरूप बदलना आरम्भ कर दिया था, तथा यह बिल्कुल सम्भव है कि जब तक वह परम्परा से ईश्वर-कृष्ण तक पहुचा तब तक वह काफी बदल चुका था। अत "षष्टितन्त्र" से बहुत भिन्न होने पर भी वह दर्शन उसके महत्वपूर्ण उपदेशो से पूर्ण समझा जाता रहा होगा, ऐसा कोई प्रमाण नही है कि ईश्वर-कृष्ण को मौलिक "षष्टि-तन्त्र" पढने का अवसर मिला होगा, तथा यह मानना युक्ति-युक्त है कि उसका एक बाद का सस्करण ही उन्हे उपलब्ध हुआ था अथवा उस पर आधारित कोई सशोधित सग्रह ही उन्हे प्राप्त हुआ। यह भी हो सकता है "षष्टि-तन्त्र" एक प्राचीन ग्रथ होने के कारण ऐसी लचीली भाषा मे लिखा गया होगा कि बादरायण के "ब्रह्म-सूत्र" की भाँति उसकी भी विभिन्न व्याख्याएँ सम्भव थी, अथवा ऐसा भी हो कि "षष्टि-तन्त्र" दो थे।[1]

[1] ईश्वर कृष्ण की "साख्य-कारिका" पर लिखी गई माठराचार्य की "माठर-वृत्ति" मे कहा गया है कि "षष्टि तन्त्र" का अर्थ है एक ऐसा "तन्त्र" या ग्रथ जिसमे साठ विषयो का वर्णन हो, न कि साठ अध्यायो वाला ग्रथ (तन्यन्ते व्युत्पाद्यन्ते पदार्था इति तन्त्रम्)। ये साठ विषय है पाच "विपर्यय" अट्ठाईस दोष (अशक्ति), नौ मिथ्या सतोष (तुष्टि), आठ "सिद्धियाँ" कुल मिलाकर पचास विषय (कारिका) ४७—अन्य दस विषय हैं पाँच तर्को द्वारा सिद्ध "प्रकृति" का अस्तित्व ("अस्तित्व" का तत्व), उसका "एकत्व", "पुरुषो" से उसका प्रयोजनात्मक सम्बन्ध (अर्थवत्व व पारार्थ्य), पुरुषो का अनेकत्व (बहुत्व), जीवन-मुक्ति के पश्चात् भी शरीर की "स्थिति", "प्रकृति" और "पुरुष" का अन्यत्व, "प्रकृति" की "निवृत्ति"। माठर पश्चादुक्त दस विषयो का परिगणन करने वाली 'कारिका" का उद्धरण देते है—अस्तित्वम्, एकत्वम्, अर्थवत्तम्, पारार्थ्यम्, अन्यत्वम्, अर्थनिवृत्ति, योगो वियोगो, बहव पुमास, स्थिति, शरीरस्य विशेष-वृत्ति।

—"माठर-वृत्ति" ७२।

यह परिगणना सर्वथा मनमानी प्रतीत होती है तथा यह बताने के लिये कुछ भी नहीं कहा गया है कि "षष्टि-तन्त्र" इन साठ विषयो की व्याख्या करने के कारण इस नाम से पुकारा गया था।

'अहिर्बुध्न्य-सहिता' की व्याख्या के अनुसार ईश्वर सबसे परे है, और तत्पश्चात् कूटस्थ ब्रह्मन् ('पुरुषो' की समष्टि से निर्मित) तीन 'गुणो' की साम्यावस्था के रूप मे 'प्रकृति' तथा 'काल' आते है–जैसा कि पहले बताया जा चुका है।[1] 'काल' एक ऐसा तत्व माना गया है जो 'प्रकृति' और 'पुरुषो' का सयोजन करता है। यह कहा गया है कि ईश्वर (सुदर्शन) की सकल्प-शक्ति के कारण तत्वो के विकास-द्वारा 'प्रकृति' 'पुरुष' एव 'काल' अनेकात्मक जगत् को उत्पन्न करने के लिये अपने-अपने कार्य मे प्रवृत्त होते हैं।[2] इस प्रकार एक कूटस्थ 'पुरुष' अनेक जीवो अथवा भगवान विष्णु या ईश्वर के अशो के रूप मे भासित होता है।[3] ईश्वर की इच्छा-शक्ति जिसे 'सुदर्शन' या 'सकल्प' कहते हैं–जो एक 'परिस्पन्दित' विचार-क्रिया (ज्ञान-मूल-क्रियात्म) मानी जाती है–'प्रकृति' के तत्वो (महत् आदि) मे विशिष्टीकरण की सक्रिय कारण है। 'काल' को इस शक्ति से एक-रूप न मानकर एक पृथक सत्ता माना गया है, एक ऐसा यत्र जिसके द्वारा वह शक्ति कार्य करती है। फिर भी यह 'काल' अलौकिक स्वरूप का माना जाना चाहिये। इसका 'पुरुष' और 'प्रकृति' से सह-अस्तित्व है, तथा वह क्षणो अथवा उनके समुदाय से निर्मित 'काल' से भिन्न है क्योकि यह 'काल' तो 'महत्' तत्व का 'तमस्' पक्ष माना गया है। 'महत्' का 'सत्व' पक्ष निश्चयात्मक बुद्धि (बुद्धिर्अध्यवसायिनी) के रूप मे अभिव्यक्त होता है, और 'रजस्' पक्ष 'प्राण' के रूप मे। 'बुद्धि' रूपी 'महत्' का 'सत्व' पक्ष धर्म, प्रज्ञान सिद्धियो एव 'वैराग्य' के रूप मे अभिव्यक्त होता है और 'तमस्' पक्ष अधर्म, अज्ञान, राग एव दौर्बल्य के रूप अभिव्यक्त होता है। 'महत्' तत्व मे सामान्य इन्द्रिय शक्ति सम्पन्न होती है

[1] अन्यूनानतिरिक्त यद् गुण साम्य तमोमय
तत् साख्यैर्जगतो मूल प्रकृतिश्चेति कथ्यते।
क्रमावतीर्णो यस्तत्र चतुर्मनुयुग पुमान्
समष्टि पुरुषो योनि स कूटस्थ इतीर्यते
यत् तत् कालमय तत्व जगत सम्प्रकालन
स तयो कार्मसाम्याम सयोजक–विभाजक।

—"अहिर्बुध्न्य-सहिता" ७ १–३।

[2] मृत्पिण्डीभूतमेतत्तु कालादि–त्रितय मुने
विष्णो सुदर्शनेनैन स्वस्व-कार्य-प्रचोदिन
महदादि–पृथिव्यत-तत्व-वर्गोपवादकम्। —वही, ४।

[3] कूटस्थो य पुराप्रोक्त पुमान् व्योम्न परात् दघ
मानवो देवताद्याश्च तद्-व्यष्टय इतीरिता।
जीव-भेदा मुने सर्वे विष्णु–भूत्यश-कल्पिता। —वही, ५८

जिसके द्वारा विषयो को ज्ञानात्मक वृत्तियो के रूप मे ज्ञात किया जाता है, महत् मे 'अहकार' भी उत्पन्न होता है, जिसमे एक ज्ञाता एव भोक्ता के रूप मे व्यक्ति के समस्त अनुभवो के सगठन की सकल्पना का समावेश होता है (अभिमान)। इसका आशय यह प्रतीत होता है कि 'महत्' तत्व स्वय को इन्द्रिय-शक्तियो एव ज्ञाता की भांति व्यवहार करने वाले व्यक्ति के रूप मे अभिव्यक्त करता है, क्योकि यही वे प्रकार हैं जिनके माध्यम से बुद्धि अपने स्वरूप की अनुभूति करने मे समर्थ होती है। 'अहकार' का 'सात्विक' पक्ष 'वैकारिक' कहा जाता है, 'राजस' पक्ष 'तेजस' तथा 'तामस' पक्ष 'भूतादि' कहलाता है। यहाँ यह सकेत करना उचित होगा कि साख्य का यह विवरण शास्त्रीय साख्य से बहुत अन्तर रखता है, क्योकि इसमे इन्द्रिय-शक्ति 'अहकार' से पूर्व उत्पन्न होती है न कि 'अहकार' से, तथा जबकि 'अहकार' का विकास ईश्वर की विचार-प्रक्रिया द्वारा उत्पन्न एक पृथक तत्व का विकास माना जाता है, तब इन्द्रिय-शक्ति 'बुद्धि' या 'महत्' का प्रकार ही मानी जाती है, न कि पृथक तत्व। ईश्वर की विचार-प्रक्रिया द्वारा 'अहकार' से विकसित होने वाली एक-मात्र 'इन्द्रिय-शक्ति' 'मनस्' या चिंतनात्मक इन्द्रिय है (चिंतनात्मक अहकारिकम् इन्द्रियम्)। 'भूतादि' रूप 'अहकार' के तमस् पक्ष से 'शब्द-तन्मात्र' उत्पन्न होती है, और उससे 'आकाश' तत्व की उत्पत्ति होती है। 'आकाश' यहाँ दो प्रकार का माना गया है, एक तो शब्द को धारण करने वाला, और दूसरा अवकाश को अभिव्यक्त करने वाला (अवकाश प्रदायि)। 'वैकारिक अहकार' से ईश्वर की विचार-प्रक्रिया द्वारा श्रवण और वाक् इन्द्रियाँ तत्वो के रूप मे उत्पन्न होती हैं। इसी प्रकार 'भूतादि' से 'स्पर्श-तन्मात्र' उत्पन्न होती है और फिर इससे वायु उत्पन्न होती है जो सुखाती है, नोदन करती है, हिलाती है एव सपिण्डन करती है, पुन, ईश्वर की विचार-प्रक्रिया द्वारा स्पर्शेन्द्रिय एव हस्तेन्द्रिय उत्पन्न होती है, तथा इसी ढग से 'भूतादि' से 'रूप-तन्मात्र' उत्पन्न होती है, और उससे 'तेज' तत्व उत्पन्न होता है, 'वैकारिक' से भी दृष्येन्द्रिय एव पदेन्द्रिय उत्पन्न होती हैं, 'भूतादि' से 'रस-मात्र' उत्पन्न होती है और उससे आप तत्व उत्पन्न होता है, तथा 'वैकारिक' से भी दृष्येन्द्रिय एव पदेन्द्रिय उत्पन्न होती है, 'भूतादि' से 'रस-मात्र' उत्पन्न होती है और उससे आप तत्व उत्पन्न होता है, तथा 'वैकारिक अहकार' से रसेन्द्रिय व जननेन्द्रिय उत्पन्न होती है, 'भूतादि' से 'गन्ध-मात्र' उत्पन्न होती हैं। सकल्प-शक्ति, ऊर्जा और पाच प्रकार के 'प्राण,' 'मनस्', 'अहकार' एव 'बुद्धि' से सयुक्त रूप मे उत्पन्न होते है। हरि, विष्णु या ईश्वर की 'शक्ति' एक है, किन्तु वह भौतिक शक्ति नही है जिसमे यान्त्रिक क्रिया समाविष्ट होती है, किन्तु वह एक अर्थ मे ईश्वर के समान है, तथा विशुद्ध आत्म-निर्धारित विचार के स्वरूप की है (स्वच्छन्द-चिन्मय), लेकिन वह साधारण विचार के स्वरूप की नही है—जिसमे विशेष सामग्री एव विषय होते हैं—बल्कि वह अव्यक्त विचार है, ऐसा विचार जो ज्ञान-मूलक क्रिया मे (ज्ञान-मूल-क्रियात्म) व्यक्त होकर ज्ञाता-ज्ञेय के रूपो मे विकसित होने वाला है।

यही ज्ञान-मूलक क्रिया आत्मा-विच्छेद द्वारा दो रूपो मे विभक्त होती है (द्विधा-भावम्-ऋच्छति)—'भावक,' ईश्वर के 'सकल्प' के रूप मे तथा 'भाव्य,' 'प्रकृति' के रूप मे। 'भावक' के द्वारा ही 'भाव्य' का विकास होता है, तथा उसका विविध तत्वो मे विशिष्टीकरण होता है। ईश्वर के विचार की प्रकम्पित क्रिया का तात्पर्य केवल उसके निर्बाध स्वरूप से है, वह स्वरूप जो बिना किसी बाधा के अव्यक्त अवस्था से व्यक्त अवस्था मे रूपातरित हो जाता है। ईश्वर की विचार-शक्ति का यह निर्बाध प्रवाह ही उसका सकल्प, प्रत्यय या विचार (सुदर्शनता) कहा जाता है।[१] इस प्रकार 'प्रकृति' भी ईश्वर के विचार की विषमता या सामग्री को सूचित करती है और उसे एक स्वतत्र भौतिक तत्व के रूप मे व्यवहार करने का तभी अवसर मिलता है जब ईश्वर की शक्ति के आत्म-विच्छेद के कारण विचार-शक्ति को ऐसे विषय की आवश्यकता होती है जिसके माध्यम से वह अपना आत्म-लाभ कर सके।

'अहिर्बुध्न्य-सहिता' के एक अन्य अध्याय मे कहा गया है कि यह शक्ति अपनी मौलिक अवस्था मे शुद्ध नीरवता (स्तैमित्यरूप) अथवा शुद्ध शून्यता (शून्यत्व-रूपिणी) के रूप मे सकल्पित की जा सकती है तथा वह अपने अवर्णनीय उन्मेष से ही स्वय को गतिशील बनाती है।[२] यही उन्मेष जो आप ही आप मे से उत्पन्न होता है एव आप अपना है, ईश्वर के विचार अथवा उसकी आत्म-विच्छेह की क्रिया, या एक से अनेक होने की इच्छा के रूप मे वर्णित किया जाता है। समस्त सृष्टि इसी आत्म-स्फूर्ति से अग्रसर होती है, सृष्टि-रचना कोई ऐसी घटना नही है जो एक विशेप समय मे घटित हुई हो वरन् वह ईश्वर की इस शक्ति का शाश्वत उन्मेष है जो स्वय को शाश्वत सृष्टि-रचना के रूप मे अभिव्यक्त करता है, एक शाश्वत् एव सतत् आत्माभिव्यक्ति है।[३] क्रिया 'वीर्य' 'तेजम्' अथवा 'बल' या 'ईश्वर' इसी शक्ति के विभिन्न पहलू है। ईश्वर का 'बल' इस तथ्य मे निहित है कि वह अपने शाश्वत एव सतत सृष्टि-रचना कार्य के अनन्तर भी कभी थकता नही है, उसका 'वीर्य' इस बात मे निहित है कि यद्यपि उसकी शक्ति हीकार्य करती है, तथापि इस कारण उसमे कोई परिवर्तन नही होता।[४] उसका 'तेजस्' इसमे निहित है कि वह अपने सृजनात्मक कार्यो मे किसी

[१] अव्याघातस्तु यतस्य सा सुदर्शनता मुने
ज्ञान-मूल-क्रियात्मामो स्वच्छ स्वच्छन्द-चिन्मय।
—अहिर्बुध्न्य-सहिता, ७ ६७।

[२] स्वातत्र्याद् एव कस्माच्चित् कचित् सोन्मेपम् ऋच्छति। —वही, ५ ४।

[३] सतत कुर्वतो जगत्। —वही, २ ५६।

[४] तस्योपादान-भावेऽपि विकार-विरहो हि य
वीर्यनाम गुण सोऽयमच्युतत्वापराह्वयम्। —वही, २ ६०।

प्रकार से यत्र की सहायता की अपेक्षा नही रखता[1] और इस शक्ति की आत्म-स्फूर्ति ही जगत् की सृष्टा 'कर्त्तृत्व' शक्ति मानी जाती है। ईश्वर का वर्णन शुद्ध-चैतन्य स्वरूप एव शक्ति-स्वरूप दोनो प्रकार से किया गया है। ईश्वर की सर्वज्ञता उसके चैतन्य की सर्व-व्यापकता मे निहित है, और जब वह सर्वज्ञता की नीरवता तथा भेद-रहित शून्यता के रूप मे आत्म-पूर्ण स्थिर चैतन्य अपना विच्छेद करता है और सृजनात्मक कार्य मे प्रवृत्त होता है, तब वह उसकी 'शक्ति' कहा जाता है। इसी कारण ईश्वर की शक्ति विचार-प्रक्रिया रूपिणी (ज्ञान-मूल-क्रियात्मक) मानी जाती है। यह शक्ति या चैतन्य ईश्वर का अश मानी जा सकती है, अतएव उससे एक-रूप मानी जा सकती है, तथा उसका विशिष्ट लक्षण या गुण मानी जा सकती है, यही शक्ति स्वय को चेतनता व उसके विषय (चेत्य-चेतन), काल एव उससे मापी जाने वाली सर्व वस्तुओ (काल्य-काल), व्यक्त एव अव्यक्त (व्यक्ताव्यक्त) भोक्ता एव भोग्य (भोक्ता-भोग्य), देह एव देहिन् के रूप मे विभक्त करती है।[2] मधु-मक्खियो का छत्ता जिस प्रकार कोषो की एक बस्ती होता है उसी प्रकार 'पुरुष' भी जीवो के सगठन से निर्मित एक बस्ती या सगठन के रूप मे सकल्पित किया गया प्रतीत होता है।[3] 'पुरुष' स्वय मे अपरिवर्त्तनशील (कूटस्थ) माने जाते हैं, किन्तु फिर भी वे अनादि वासनाओ की अशुद्धताओ से कुण्ठित होने के कारण स्वय मे विशुद्ध होने पर भी अशुद्ध माने जाते हैं।[4] वे स्वय मे सर्व क्लेशो से पूर्णत अप्रभावित हैं और ईश्वर के स्वरूप के अश होने के कारण सर्वज्ञ एव नित्य मुक्त होते हैं। किन्तु 'पुरुष' ईश्वर की सकल्प-शक्ति अथवा उसकी शक्ति की सृजनात्मक क्रिया से उत्पन्न 'नियति' के कारण 'अविद्या' से प्रभावित हो जाते है और अनेक क्लेशो से पीडित होते हैं, तथा उसके फलस्वरूप उनका स्वरूप उन्ही से छिप जाता है और वे सर्व प्रकार के सुख-दुख मय पुण्य एव पाप के अनुभवो का भोग करते हुए प्रतीत होते है, और इस प्रकार प्रभावित होकर वे सर्व प्रथम तो ईश्वर की सृजनात्मक 'शक्ति' से सम्बन्धित होते हैं, तथा फिर जब यह शक्ति अपना विकास 'नियति' रूपी 'काल'—तत्व के रूप मे करती है, तब वे उस 'नियति' से सम्बन्धित होते हैं, और फिर जब सर्वग्राही 'काल' तत्व के रूप मे तीसरी प्रक्रिया होती है तब वे 'काल' तत्व से सम्बन्धित होते हैं, तथा फिर जब 'काल' से धीरे-धीरे 'सत्व', 'गुण' विकसित होते हैं, 'रजस्', 'गुण', 'सत्व' से तथा 'तमस्

[1] गत्पार्यंनपेक्षा या तत् तेज समुदाहृनम्। —वही, २ ६१।

[2] वही, ५ ६-१२।

[3] सर्वात्मना समन्तिर्या कोषो मधु-कृतमिव। —वही, ६ ३३।

[4] शुद्धाशुद्धिमयो भावो भूते स पुरुष स्मृत
[illegible] [illegible]ष्टिनैश्रतिमिमिश्चित। —वही, ७ ३४।

गुण' 'रजस्' से विकसित होते हैं, तब 'पुरुषो' की वस्ती पहले 'सत्व' से, फिर 'रजस्' से व फिर 'तमस्' से सम्बन्धित होती है। जब वे 'गुण' विकसित होते हैं तब यद्यपि तीनो 'गुण' सृजनात्मक कार्य के लिये विक्षुब्ध होते हैं तथापि वे अपने सभी अशो मे विक्षुब्ध नहीं होते हैं, 'गुणो' के सम्मिश्रण के कुछ अश साम्यावस्था मे बने रहते हैं तथा गुणो की इस साम्यावस्था को 'प्रकृति' कहा जाता है।[1] ईश्वर की सृजनात्मक शक्ति से लेकर 'प्रकृति' तक विभिन्न तत्वो के विकास का विवरण 'अहिर्बुध्न्य' के सातवे अध्याय मे नही दिया गया है, जिसका निश्चित रूप से कपिल के साख्य-दर्शन के रूप मे वर्णन किया गया है, यह तो केवल साख्य के उस विवरण के पूरक के रूप मे दिया गया पचरात्र का विवरण है, जो 'गुणो' की साम्यावस्था 'प्रकृति' से तत्वो के विकास के कथन से प्रारम्भ होता है। 'अहिर्बुध्न्य-सहिता' के पचरात्र के विवरण के अनुसार 'पुरुषो' की वस्ती या मण्डल एक प्रधान तत्व है जो ईश्वर की स्वविकसित शक्ति से प्रारम्भ से ही सम्बन्धित होता है, 'प्रकृति' के विकसित होने से पूर्व सभी तत्वो से उसका सम्बन्ध प्रत्येक चरण पर बना रहता है, और तत्पश्चात् 'प्रकृति' से विकसित होने वाले अन्य सभी तत्वो से भी वह सम्बन्धित रहता है। 'अहिर्बुध्न्य-सहिता' मे पाये गये कपिल-साख्य के विवरण के अनुसार 'पुरुषो' का यह सगठन एक अपरिवर्तनशील तत्व माना गया है जो तत्वो के विकास-क्रम से प्रारम्भ मे ही सम्बन्धित रहता है और उनके विकास की क्रमानुगत अवस्थाओ में से उत्तरोत्तर गुजरता हुआ पूर्ण मानव अवस्था तक पहुँचता है जहाँ विभिन्न इन्द्रियो एव स्थूल तत्वो का विकास होता है। जहाँ शास्त्रीय साख्य ग्रन्थो मे 'पुरुषो' को वासनाओ एव क्लेशो से सर्वथा अछूता माना जाता है, जहाँ 'अहिर्बुध्न्य-सहिता' के अनुसार (जैन मत के समान ही) 'पुरुष' स्वय मे शुद्ध होने पर भी वासनाओ एव क्लेशो की अशुद्धताओ से आच्छादित माने जाते हैं, पुन जहाँ शास्त्रीय साख्य यह मानता है कि जन्म एव पुर्नजन्म की अनन्त शृखला मे 'कर्म' के माध्यम से 'वासनाएँ' अनादि रूप मे उत्पन्न होती हैं, जहाँ 'पचरात्र' के विभिन्न 'पुरुष' ईश्वर की इच्छा के अनुसार विभिन्न 'वासनाओ' मे मूलत सम्बद्ध रहते हैं। शास्त्रीय साख्य के विवरण के विपरीत (जहाँ 'वासनाओ' को 'बुद्धि' या 'चित्त' के रूप मे 'प्रकृति' का अग माना जाता है) यहाँ वासनाओ को 'पुरुषो' की मूल वाह्य अशुद्धता माना गया है। किन्तु यह सम्भव है कि वासनाओ तथा ईश्वर की सकल्प-शक्ति के द्वारा 'पुरुषो' के साथ उनके मूल साहचर्य का यह विवरण कपिल के 'षष्टितन्त्र' का भाग नही था, लेकिन 'अहिर्बुध्न्य' के लेखक द्वारा एक पूरक सिद्धान्त के रूप मे जोड दिया गया है, क्योकि इसका 'अहिर्बुध्न्य' के सातवें

[1] क्षोभमानेऽपि सृष्ट्यर्थम् पूर्णं गुण युग तदा
प्रशात साम्यमाप्नोति विष्णु-सान्न-द्योतितम्।

—अहिर्बुध्न्य-सहिता, ६ ६२।

अध्याय मे जहाँ साख्य-दर्शन का निरूपण किया गया है, कोई उल्लेख नही है। 'गीता' मे पाये गये साख्य-मत की व्याख्या वर्त्तमान कृति के द्वितीय ग्रन्थ मे दी गई है, तथा इससे स्पष्ट हो जायगा कि यद्यपि 'गीता' का विवरण अव्यवस्थित एव अस्पष्ट है और उसमे महत्वपूर्ण बातें छूट गई है, तथापि वह प्रधानत ईश्वरवादी है तथा 'अहिर्बुध्न्य' मे दिये गये कपिल-साख्य से गहरा सम्बन्ध रखता है, अतएव 'साख्य-कारिका' के शास्त्रीय साख्य-मत से मूलत भिन्न है।

'भागवत' के ग्यारवे खण्ड के बाईसवे अध्याय मे साख्य की विभिन्न शाखाओ का उल्लेख आया है जो तत्वो की सख्या भिन्न-भिन्न मानती है।[1] इस प्रकार कुछ साख्यवादी नौ तत्व मानते है, कुछ ग्यारह, कुछ पाच, कुछ छब्बीस, कुछ पच्चीस, कुछ सात, कुछ छ, कुछ चार, कुछ सत्रह, कुछ सोलह और कुछ तेरह। उद्धव ने भगवान कृष्ण को इन विभिन्न विपरीत मतो का सामजस्य करने की प्रार्थना की। उत्तर मे भगवान कृष्ण ने कहा कि तत्वो की यह विभिन्न गणना निम्नतर तत्वो के उच्चतर तत्यो को लुप्त कर देने से उत्पन्न हुई है—जैसे कुछ कार्य-तत्वो की उपेक्षा कर दी जाती है (क्योकि वे पहले ही से कारण मे समाविष्ट है) अथवा कुछ क्रमिक कारण-तत्वो की उपेक्षा कर दी जाती है (क्योकि वे कार्य मे विद्यमान है)।[2] इस प्रकार ऐसी साख्य शाखाएँ हो सकती है जिनमे तन्मात्राओ की गणना नही की जाती है अथवा जिनमे स्थूल महाभूतो की तत्वो मे गणना नही की जाती है। इन सभी उदाहरणो के आधार मे यह सिद्धान्त है कि कुछ विचारक 'तन्मात्राओ' की गणना इसलिये करना नही चाहते थे कि वे स्थूल महाभूतो मे पहले ही समाविष्ट है (घटे मृद्वत), तथा अन्य विचारको ने स्थूल महाभूतो की गणना नही की क्योकि वे 'तन्मात्राओ' मे समाविष्ट विकास तत्व है (मृदि घटवत्)। किन्तु मतभेद न केवल 'प्रकृति' से विकसित तत्वो के सम्बन्ध मे है, बल्कि 'पुरुषो' और ईश्वर के सम्बन्ध मे भी है। इस तरह 'प्रकृति' सहित चौबीस तत्व हैं, 'पुरुष' को पच्चीसवा तत्व गिना जाता है,

---

[1] कति तत्वानि विश्वेश सख्यातान्य् ऋषिभि प्रभो
नव-एकादश पच त्रीण्यथा त्वम् इह शुश्रुम
केचित् षड्विंशति प्राहुरपरे पचविंशति
सप्तैके नव-षट केचिच्चत्वार्येकादशावरे
केचित् सप्तदश प्राहु षोडशैके त्रयोदश। —श्लोक १, २।

[2] अनुप्रवेश दर्शयति एकस्मिन्नपीति पूर्वस्मिन् कारणभूते तत्वे सूक्ष्म-रूपेण प्रविष्टानि मृदि घटवत्। अपरस्मिन् कार्य-तत्वे कारण तत्वानि अनुगतत्वेन प्रविष्टानि घटे मृद्वत्।

—'श्लोक' ८ पर श्रीधर की टीका।

तथा ईश्वरवादी साख्य के अनुसार ईश्वर को छब्बीसवा तत्व गिना जाता है। यह आपत्ति उठाई जा सकती है कि तत्वो की विभिन्न गणना के सामजस्य का उपर्युक्त सिद्धान्त (कार्य-तत्वो का कारण मे उपनय, अथवा कार्य-तत्वो की उपेक्षा) यहाँ लागू नही किया जा सकता। ईश्वरवादी साख्य ईश्वर को इस आधार पर स्वीकार करता है कि 'पुरुषो' को आत्म-ज्ञान प्रदान करने वाली कोई सत्ता होनी चाहिये क्योकि वे स्वत उसे प्राप्त नही कर सकते। यदि इस मतानुसार छब्बीस तत्वो को सत्य समझा जाय, तब पच्चीस तत्वो को मानने वाले अन्य मत से इसका सामजस्य नही किया जा सकता। इस आपत्ति का यह उत्तर है कि 'पुरुष' एव ईश्वर के स्वरूप मे कोई आतरिक भेद नही है, क्योकि वे दोनो शुद्ध चैतन्य स्वरूप हैं। यह आपत्ति उठाना कि इस मान्यता के अनुसार ईश्वर द्वारा प्रदत्त आत्म-ज्ञान एक पृथक तत्व गिना जाना चाहिये त्रुटिपूर्ण है, क्योकि आत्म ज्ञान ज्ञान होने के नाते 'प्रकृति' के 'सत्व गुण' की पराकाष्ठा मात्र है अत वह प्रकृति मे ही समाविष्ट हो जाता है। ज्ञान 'पुरुष' की विशेषता नही है वरिक 'प्रकृति' की विशेषता है। साम्य की वह अवस्था जिसमे 'गुणो' की विशिष्टता अभी अभिव्यक्त नही हो पाई है 'प्रकृति' कहलाती है। साम्यावस्था के विक्षोभ से 'गुणो' की अभिव्यक्ति होती है, अतएव 'गुणो' को 'प्रकृति' के विशेषण मानना चाहिये। 'पुरुष' कर्त्ता न होने के कारण ज्ञान को अपनी विशेषता नही बना सकता। अत समस्त क्रिया रजस् से उत्पन्न होने के कारण तथा समस्त अज्ञान तमस् से उत्पन्न होने के कारण, क्रिया एव अज्ञान भी 'प्रकृति' के अग माने जाने चाहिये क्योकि ईश्वर के कर्तृत्व से ही 'गुणो' का सम्मिश्रण होता है, वह गुणो के मिश्रण का कारण माना जाता है। जो मत 'काल' को 'गुणो' के मिश्रण का कारण मानता है वह इसी तथ्य पर आधारित है तथा इसी कारण से श्रुतियो मे 'काल' को ईश्वर का नाम माना गया है। 'महत्' तत्व से सभी का विकास होने के कारण, वह स्वय 'स्वभाव' कहा जाता है। इस प्रकार 'काल' और 'स्वभाव' को जगत के मूल कारण मानने वाले परस्पर विरोधी मतो का उपरोक्त व्याख्या के अनुसार साख्य से सामजस्य किया जा सकता है।

नौ तत्वो को मानने वाली साख्य की शाखा केवल 'पुरुष', 'प्रकृति', 'महत्', 'अहकार' तथा पच महाभूतो ही की गणना करती है। जो ग्यारह तत्व मानते हैं वे केवल पाँच ज्ञानेन्द्रियो, पाँच कर्मेन्द्रियो एव 'मनस्' को ही गिनते है। जो पाँच तत्व मानते हैं वे पाच इन्द्रिय विषयो ही को गिनते हैं। जो सात तत्व मानते है वे पाच इन्द्रिय विषय आत्मा व ईश्वर को गिनते है। जो छ तत्व मानते हैं वे उनमे पाच इन्द्रिय-विषयो और 'पुरुष' का समावेश करते है। किन्तु अन्य विद्वान पृथ्वी, आप, तेज और आत्मा—ये चार तत्व मानते हैं। अन्य पाच इन्द्रिय-विषयो, ग्यारह इन्द्रियो तथा 'पुरुष' को तत्व मानते है। कुछ विद्वान 'मनस्' को छोडकर केवल सोलह तत्व मानते है। अन्य पाच इन्द्रिय-विषयो, पाच ज्ञानेन्द्रियो, 'मनस्', आत्मा

और ईश्वर को स्वीकार करते है, तथा इस प्रकार तेरह तत्व मानते हैं। अन्य पाँच इन्द्रिय-विषयो, पाँच ज्ञानेन्द्रियो तथा इन्द्रिय को मिलाकर ग्यारह तत्व मानते हैं। अन्य 'प्रकृति', 'महत्', 'अहकार,' पाँच 'तन्मात्राएँ' तथा 'पुरुष'—ये नौ तत्व मानते है।

खेद है कि साख्य की उपर्युक्त शाखाओ तथा उनके सामजस्य के हेतु किए प्रयत्नो के सम्बन्ध मे 'भागवत' मे पाये गये उल्लेख के अतिरिक्त इन सिद्धान्तो के मौलिक ग्रन्थ उपलब्ध नही हो सके हैं जो भागवत के लेखन-काल से बहुत पहले विद्यमान रहे होगे। जैसा कि स्पष्ट किया जा चुका है, 'भागवत' की सेश्वर साख्य-मत मे ही अभिरुचि है, तथा वह साख्य की विपरीत शाखाओ का एक ही विचार-शाखा के रूप मे सामजस्य करने का प्रयत्न करता है। उसकी आगे यह धारणा है कि 'प्रकृति' एव उसकी अभिव्यक्तियाँ ईश्वर की विविध 'माया' शक्ति की क्रिया से उत्पन्न होती है। 'प्रलय' काल मे ईश्वर स्वय से पूर्ण तादात्म्य बनाये रखता है, तथा 'गुण' जो उसकी 'माया' शक्ति की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं, साम्यावस्था मे रहते है—ऐसी अवस्था जिसमे उसकी समस्त शक्तियाँ मानो सुप्त रहती हैं। अपनी अतर्निहित शक्ति के द्वारा वह अपनी सुप्त शक्ति की साम्यावस्था को विक्षुब्ध करता है तथा स्वय को सृष्टि-रचना—'प्रकृति' व उसके विकास तत्वो की रचना मे लगाता है और इस प्रकार उनका अपने वश-रूप 'जीवो' से साहचर्य स्थापित करता है, जो जगत् के द्वैतानुभव से भ्रमित होते है, उसका उपभोग करते हैं व उसके लिये पीडित होते है और वह उनको वेदो के द्वारा उपदेश देकर उन्हे सम्यक् मार्ग प्रदर्शित करता है।[1] आत्मा अपने अनुभवातीत स्वरूप मे विशुद्ध अनुभव है अतएव किसी प्रकार की वस्तुगत आकृति से रहित है एव उससे पूर्णत अछूता है। उसकी वस्तुगतता तथा विषय-सामग्री से साहचर्य स्वप्न-सृष्टि की भाँति मिथ्या है, और उन्हे 'माया' से उत्पन्न समझना चाहिये।[2]

[1] स वै किलाय पुरुष पुरातनो
य एक आसीद् अविशप आत्मनि
अग्रे गुणेभ्यो जगद्–आत्मनीश्वरे
निमीन्नितात्मन् निशि सुप्त-शक्तिपु
म एव भूयो निज-वीर्य-चोदित
स्व-जीव-माया प्रकृति सिसृक्षतीम्
अनाम-रूपात्मनि रूप-नामनी
विधित्समानोऽनुममार शास्त्रकृत्। —'भागवत' १ १०, २१, २२।

[2] आत्मा-मायाम् ऋते राजन् परस्यानुभवात्मन
न घटनार्थसम्बन्ध स्वप्नद्रष्टुर् इवाञ्जसा। —वही, २९ १।

'अनुभव-स्वरूप' सत्ता के रूप मे 'पुरुष' का विभेदीकरण किया जाना चाहिए तथा 'अन्वय-व्यतिरेक' विधि के द्वारा उसे जाग्रत, स्वप्न एव सुषुप्ति अवस्थाओ की सामग्री के रूप मे पाई जाने वाली चचल मानसिक अवस्थाओ से भिन्न चीन्हा जाना चाहिये। कारण यह है कि मानसिक अवस्थाओ मे समाविष्ट, विविध अगो की अनुभव-सामग्री मे जो मुक्ता-माला मे विद्यमान सूत्र के सदृश स्थिर बना रहता है, वह विशुद्ध अनुभव-कर्त्ता है, 'पुरुष' है। अतएव 'पुरुष' को मानसिक अवस्थाओ की उस सामग्री से भिन्न समझना चाहिये जिसे वह प्रकाशित करता है।[1]

मरणोत्तर अवस्था-सम्बन्धी सिद्धान्त

'भागवत पुराण' के ३ ३२ मे यह मत प्रदर्शित किया गया है कि जो व्यक्ति यज्ञ का अनुष्ठान करते है तथा देवताओ एव पितरो को भेट चढाते हैं वे मृत्यु के उपरान्त चन्द्र-लोक मे जाते है, जहाँ से वे पृथ्वी पर पुन लौट आते है, किन्तु जो व्यक्ति अपने कर्त्तव्यो का पालन करते है तथा अपने सर्व कर्मों को देवताओ को समर्पित करते है, मन एव हृदय से शुद्ध और सासारिक वस्तुओ से अनासक्त रहते है, वे मृत्यु के उपरान्त सूर्य-लोक मे जाते है और वहाँ से वे जगत् के कारण रूप 'सार्वभौम तत्व' मे जाकर मिल जाते है। परन्तु जो व्यक्ति द्वैत की धारणा से ग्रसित रहते है वे सगुण ब्रह्मन् को प्राप्त होते है और तत्पश्चात् अपने कर्मानुसार जगत् मे पुर्नजन्म लेते है। जो व्यक्ति इच्छाओ से पूर्ण साधारण जीवन व्यतीत करते है तथा अपने पितरो को भेट चढाते है उन्हे प्रथम तो धूम्रमय दक्षिण-मार्ग से पितरो के लोक मे जाना पडता है, और फिर वे अपनी सतान की वश-परम्परा मे पुन जन्म लेते है।

किन्तु ११ २२, ३७ मे हमे अधिक युक्तिसगत मत मिलता है। वहाँ यह कहा गया है कि मनुष्यो का 'मनस्' उनके कर्मों एव उनके कारणो से अभिव्याप्त हो जाता है तथा यह मनस् ही एक शरीर से दूसरे शरीर मे प्रवेश करता है। 'आत्मन्' इस मनस् का अनुसरण करता है। 'भागवत पुराण' के सुपरिचित टीकाकार श्रीधर यहाँ

भ्रम या 'माया' की परिभाषा यह दी जाती है कि माया वह है जो असत् विषयो को अभिव्यक्त करती है, किन्तु स्वय अभिव्यक्त नही होती।

ऋतेऽर्थ यत्प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि
तद् विद्यदात्मनो माया यथाभासो तथा तम। वही, २ ९ ३३।

[1] अन्वय-व्यतिरेकेण विवेकेन सतात्मना
सर्ग-स्थान-समाम्नायैर विमृशद्‌भिर्‌सत्वरै
बुधेर जागरण स्वप्न सुषुप्तिरिति वृत्तय
ता यैनेवानुमुयन्ते सोऽध्यक्ष पुरुष पर। —वही, ७ ७, २४, २५।

'मनस्' का अर्थ 'लिंग-शरीर' से लेते हैं और यह मत अपनाते हैं कि 'आत्मन्' अहकार से पीडित 'मनस्' का अनुसरण करता है। 'भागवत पुराण' का आगे यह मत है कि 'कर्म' की भवितव्यता के द्वारा मनस् देखी व सुनी गई वस्तुओ का चिंतन करता है तथा क्रमश उनके सम्बन्ध मे अपनी स्मृति को खो बैठता है। अन्य शरीर मे प्रविष्ट होता हुआ यह 'मनस्' इस प्रकार पूर्व शरीरो के अनुभवो को विस्मृत कर देता है, अतएव मृत्यु की परिभाषा पूर्ण विस्मृति के रूप मे दी जा सकती है (मृत्युरत्यत—विस्मृति ११ २२, ३९)। जन्म का अर्थ है नवीन अनुभवो की स्वीकृति। श्रीधर बताते हैं कि पुराने शरीरो के सम्बन्ध मे अहकार की क्रिया के समाप्त होने तथा नवीन शरीर के सम्बन्ध मे अहकार की क्रिया के विस्तरण से जन्म घटित होता है। जैसे व्यक्ति अपने स्वप्नो को स्मरण नही कर सकता वैसे ही वह अपने पुराने अनुभवो को विस्मृत कर देता है, तथा यह स्थिति मृत्यु के अनुकूलित हो जाती है। जन्म के समय, सदा अस्तित्व रखने वाला आत्मन् नवीन जन्म ग्रहण करता-सा प्रतीत होता है। आत्मन् का शरीर के साथ तादात्म्य स्थापित करके व्यक्ति अपने अनुभवो को आतरिक एव बाह्य भागो मे विभक्त करता है। वस्तुत शरीर सतत नष्ट होता रहता है एव उत्पन्न होता रहता है, किन्तु ऐसे परिवर्त्तन सूक्ष्म होने के कारण ध्यान मे नही आते। जिस प्रकार दो क्षणो मे एक ही लौ अस्तित्व नही रख सकती अथवा दो भिन्न क्षणो मे एक ही वहती सरिता विद्यमान नही हो सकती, उसी प्रकार शरीर भी दो विभिन्न क्षणो मे भिन्न होता है, यद्यपि अपने अज्ञान के कारण हम मान लेते है कि एक ही शरीर विविध स्थितियो व अवस्थाओ से गुजरता है। किन्तु यथार्थ मे कोई भी 'कर्म' के द्वारा न तो जन्म लेता है और न मरता है। यह सब भ्रमो की चित्रावली मात्र है, जैसे अग्नि ताप के रूप मे बाहर अस्तित्व रखकर भी लकडी के लट्ठो के साथ जलती हुई प्रतीत होती है। शरीर की विभिन्न अवस्थाओ के रूप मे जन्म, शैशव, यौवन, जरायु व मृत्यु के प्रतिभग्न मनोराज्य मात्र है। वे केवल मूल पुद्गल, 'प्रकृति' की अवस्थाएँ हैं जो भ्रम के कारण हमारे जीवन की अवस्थाएँ मान ली जाती हैं। एक व्यक्ति अपने पिता की मृत्यु तथा अपने पुत्र के जन्म को देखकर शरीरो के विनाश एव उत्पत्ति की चर्चा कर सकता है, किन्तु कोई यह अनुभव नही करता कि अनुभवकर्त्ता स्वय जन्म एव मृत्यु का भागी होता है। आत्मन् इस प्रकार शरीर से सर्वथा भिन्न है। दोनो मे सम्यक् विभेद स्थापित करने की अयोग्यता के कारण ही एक व्यक्ति इन्द्रिय विषयो मे आसक्त होता है और जन्म-मरण के चक्र मे भ्रमण करता हुआ प्रतीत होता है। जिस प्रकार एक मनुष्य किसी दूसरे मनुष्य को नृत्य करते अथवा गाते हुए देखकर उसके कार्यों का अनुकरण करने लगता है, उसी प्रकार 'पुरुष' स्वय की गति न रखते हुए भी गतियो के व्यापार मे 'बुद्धि' के गुणों का अनुकरण करता हुआ प्रतीत होता है। पुन जिस प्रकार कोई चलते हुए जल मे वृक्षो के प्रतिबिम्बो को देखता है तब वृक्ष स्वय अनेक प्रतीत होने लगते है, उसी प्रकार आत्मन् स्वय को 'प्रकृति' की गतियो मे फसा हुआ मानता

है। इसी के फलस्वरूप हमे जगत् के अनुभव तथा जन्म-मरण के चक्रो का अनुभव उपलब्ध होता है, यद्यपि इनमे से वस्तुत किसी का अस्तित्व नही है। अत हम देखते है कि जन्म और मृत्यु के सम्बन्ध मे 'भागवत पुराण' सामान्य साख्य एव वेदान्त मत से सहमत है। वह नि सन्देह उपनिषदो के साधारण मत को स्वीकार करता है कि मानव मृग के सदृश एक साथ ही अन्य शरीर को ग्रहण किये विना एक शरीर का त्याग नही करता (भागवत पुराण, १० १, ३८–४४), किन्तु वह साथ ही यह मत भी मानता है कि ऐसा जन्म एव पुनर्जन्म अपने स्वय के भ्रम अथवा 'माया' के कारण होता है।

---

६ २५

मध्व और उनका सम्प्रदाय

मध्व का जीवन

भण्डारकर अपने ग्रन्थ 'Vaisnavism Saivism and Minor Religious Systems' मे कहते है कि 'महाभारत तात्पर्य-निर्णय' मे मध्व ने अपनी जन्म-तिथि 'कलि' ४३०० दी है। इस प्रकार मध्व की जन्म-तिथि सन् ११९९ अथवा शक ११२१ होगी। भण्डारकर कहते है कि चूँकि कोई तो तिथि देते समय चालू वर्ष का उल्लेख करते है और कोई उसके पूर्व के वर्ष का, इसलिये शक ११२१ को शक १११९ माना जा सकता है। किन्तु वर्त्तमान लेखक 'महाभारत तात्पर्य-निर्णय' के एकमात्र मुद्रित सस्करण मे इस तिथि को नही ढूढ सका है (शक १८३३ मे टी० आर० कृष्णाचार्य द्वारा प्रकाशित सस्करण)। लेकिन भण्डारकर इस समस्या की ओर एक अन्य मार्ग से भी अग्रसर होते है। उनका कथन है कि कई मठो मे परिरक्षित सूची मध्व की तिथि शक १११९ देती है और चूँकि मध्व ७९ वर्ष तक जीवित रहे थे, अत उनकी जन्म-तिथि शक १०४० थी। किन्तु भण्डारकर मठ की सूची मे दी गई तिथि शक १११९ को मध्व की जन्म तिथि मानते हैं, न कि देहावसान तिथि। वे कहते है कि श्रीकूर्म-स्थित कूर्मेश्वर मदिर मे प्राप्त आलेख गजम जिले के एक तालुक मे है जहाँ नरहरि-तीर्थ ने एक मदिर बनवाकर उसमे शक १२०३ मे नरसिंह की मूर्ति स्थापित की बताते हैं (Epigraphica India भाग ४, पृ० २६०)। उस शिलालेख मे उल्लिखित प्रथम व्यक्ति पुरुषोत्तमतीर्थ है जो अच्युतप्रेक्ष ही है, फिर उनका शिष्य आनन्द तीर्थ है, फिर आनन्द तीर्थ का शिष्य नरहरि तीथ है। सम्भवत नरहरि तीर्थ नरसिंह ही थे जिन्होंने शक १११९ से १२२५ तक उपरोक्त तालुक का शासन किया। उनका उल्लेख शक १२१५ के श्रीकूर्मन्‌स्थित शिलालेखो मे आया है, जो सम्राट् के शासन का अठारहवा वर्ष बताया जाता है। यह सम्राट् नरसिंह द्वितीय थे जिनकी 'एकावली' मे प्रशस्ति की गई थी। अन्य शिलालेखो से प्राप्त नरहरि की तिथि शक ११८६ और १२१२ के बीच मे आती है। ये अभिलेख इस परम्परा की पुष्टि करते हैं कि नरहरि-तीर्थ का सक्रिय काल शक ११८६ से १२१५ तक प्रसारित था। उनके गुरु मध्व का देहावसान शक १११९ मे अर्थात् सडसठ वर्ष पूर्व, नही हो सकता था। अत भण्डारकर मठ की सूची मे उल्लिखित शक १११९ को मध्व की जन्म-तिथि

मानते हैं न कि देहावसान की तिथि। मध्व की यह जन्म तिथि शक–१११९ अथवा सन् ११९७–ग्रियर्सन और कृष्णस्वामी एय्यर द्वारा स्वीकृत की गई है तथा अबतक उस पर कोई आपत्ति नही उठाई गई है।

मध्व के जीवन के सम्बन्ध मे कोई प्रामाणिक जानकारी नही है। उनके सम्बन्ध मे हम जो कुछ जानते हैं उसे मध्व के वास्तविक शिष्य त्रिविक्रम के पुत्र नारायण भट्ट द्वारा रचित 'मध्व-विजय' और 'मणि-मजरी' नामक मध्व के आख्यानात्मक व अर्ध-पौराणिक जीवन-चरित्रो मे प्राप्त करना पडता है। कुछ जानकारी त्रिविक्रम पडित के यशोगान से भी प्राप्त की जा सकती है। मध्व शकर के जन्मजात शत्रु प्रतीत होते हैं। 'मणि-मजरी' मे नारायण भट्ट मणिमत नामक एक राक्षस की कपोल-कल्पित की कहानी प्रस्तुत करते हैं। मणिमत किसी विधवा की वर्ण-सकर सतान था, अतएव वह शकर कहा जाता था, शिव से अनुग्रह से वह सौराष्ट्र मे 'शास्त्रो' मे सिद्धहस्त हो गया, उसने 'सूर्य-मार्ग' का सिद्धान्त प्रतिपादित किया तथा उसका नीति-भ्रष्ट स्वभाव के व्यक्तियो द्वारा अभिनन्दन किया जाता था। उसने वेदान्त की आड मे वस्तुत बौद्ध-दर्शन का प्रतिपादन किया। वह ब्रह्म को सूर्य से एक-रूप मानता था। उसने अपने ब्राह्मण पोषक की पत्नी को छल लिया, तथा वह अपने जादुई चमत्कारो से लोगो का मत-परिवर्त्तन करता था। जब उसकी मृत्यु हुई तब उसने अपने शिष्यो को वेदान्त के सच्चे पडित सत्यप्रज्ञ की हत्या करने का आदेश दिया, शकर के अनुयायी अत्याचारी लोग थे जो मठो को जलाते थे, मवेशियो को मार देते थे, और स्त्रियों व बच्चो की हत्या करते थे। उन्होने अपने प्रमुख विरोधी प्रज्ञातीर्थ का बलपूर्वक मत-परिवर्त्तन किया। किन्तु प्रज्ञातीर्थ के शिष्य गुप्त रूप से सच्चे वेदान्त-मत के समर्थक बने रहे, और उन्होने अपने एक शिष्य को वैदिक शास्त्रो मे पूर्ण पडित बना दिया। मध्व के गुरु अच्युतप्रेक्ष शकर के समकालीन सच्चे वैदिक गुरु सत्यप्रज्ञ की शिष्य-परम्परा मे उत्पन्न ऐसे ही यथार्थ गुरु के शिष्य थे।

मध्व वायु के अवतार थे। उनके अवतार का उद्देश्य था शकर के झूठे सिद्धान्तो को नष्ट करना, क्योकि वे सिद्धान्त लोकायतो, जैनो एव पाशुपतो के सिद्धान्तो से अधिक समानता रखते थे, तथा उनसे भी अधिक बेहूदे व हानिकारक थे।

मध्व नारायण भट्ट के पुत्र थे जो शृगेरि से लगभग ८० मील पश्चिम मे स्थित

चाहिये कि हैदराबाद के दक्षिण से लगाकर मगलोर तक, अर्थात, सम्पूर्ण उत्तरी व दक्षिणी कनारा, वीर-शैव-मत का भी सबसे महत्वपूर्ण केन्द्र माना जा सकता है—वीर-शैव-मत का निरूपण वर्त्तमान कृति के पाचवें खण्ड मे किया जायगा। रजतपीठ ग्राम जहा मध्व ने जन्म लिया था सम्भवत आधुनिक कल्याणपुर ही था। वे अच्युतप्रेक्ष के शिष्य थे, और दीक्षा के समय उन्हे पूर्णप्रज्ञ नाम प्राप्त हुआ तथा तत्पश्चात् आनन्द-तीर्थ नाम मिला, वे इन दोनो नामो से प्रसिद्ध हैं। पहले तो उन्होने शकर के मत का अध्ययनकिया किन्तु शीघ्र ही अपना स्वय का विचार-तन्त्र विकसित किया जो शकर के मत का स्पष्ट विरोधी था। उन्होने अपने पूर्व केआचार्यो द्वारा लिखित इक्कीस 'भाष्यों' का खडन किया, और नारायण भट्ट की 'मध्व विजय' के टीकाकार छलारि-नृसिंहाचार्य के शिष्य शेष 'ब्रह्मसूत्र' के इन टीकाकारो के नाम निम्नलिखित बताते है, भारती-विजय, सच्चिदानन्द, ब्रह्मघोष, शतानन्द, वाग्भट्ट, विजय, रूद्रभट्ट, वामन, यादवप्रकाश, रामानुज, भर्तृप्रपच, द्रविड, ब्रह्मदत्त, भास्कर, पिशाच, वृत्तिकार, विजयभट्ट, विष्णु-क्रान्त, वादीन्द्र, माधवदेशक, शकर। रजतपीठपुर तक मे उन्होने एक बार अपने गुरु अच्युतप्रेक्ष से मिलने के हेतु आये हुए शकर-मत के एक महान् पडित को हराया। फिर वे अच्युतप्रेक्ष के साथ दक्षिण मे गये और विष्णु-मगल नगर मे पहुँचे।[1] यहाँ से वे दक्षिण दिशा को गये और अनन्तपुर (आधुनिक त्रिवेन्द्रम) पहुँचे। यहाँ उनका शृगेरि मठ के शकरानुयायियो से लम्बा शास्त्रार्थ हुआ। वहाँ से वे धनुष्कोटि एव रामेश्वरम् गये, तथा विष्णु की उपासना की। उन्होने राह मे कई विरोधियो को परास्त किया तथा रामेश्वरम् मे चार माह तक रहे, तत्पश्चात् उदिपि लौट आये। इस प्रकार दक्षिण मे स्वय को नवीन मत के नेता के रूप मे स्थापित करके मध्व ने उत्तरी भारत का पर्यटन प्रारम्भ किया, और गगा को पार करके हरिद्वार गये, तथा वहाँ से बदरिका गए, जहाँ उनकी व्यास से भेट हुई। व्यास ने उन्हे शकर के मिथ्या 'भाष्य' के खण्डनार्थ 'ब्रह्मसूत्र' पर एक भाष्य लिखने का आदेश दिया। फिर वे राह मे कई शकरानुयायियो जैसे, गोदावरी के तीर पर निवास करने वाले शामा भट्ट व अन्य लोगो का मन परिवर्तन करते हुए उदिपि लौट आए।[2] अन्त मे उन्होंने अच्युतप्रेक्ष को अपने सिद्धान्तो के पक्ष मे परिवर्तित कर लिया। 'मध्व-विजय' के ग्यारहवें और तेरहवें अध्याय मे हम शृगेरि मठ के अध्यक्ष पद्मतीर्थ द्वारा मध्व के उत्पीडन की कहानी पढते है, जिसने मध्व द्वारा प्रेरित नवीन मत की प्रगति मे रोडे अटकाने का भरसक प्रयत्न किया तथा मध्व के ग्रन्थो तक को चुरा लिया। किन्तु जो विष्णुमगल के स्थानीय राजकुमार की मध्यस्थता के द्वारा उनको लौटा दिए गए, इस मत का प्रचार होता गया, और 'मणि-मजरी' व 'मध्व-विजय' के लेखक नारायण भट्ट

के पिता त्रिविरम पडित तथा अन्य कई महत्वपूर्ण व्यक्ति मध्व मत के पक्ष मे परिवर्तित हो गए। जीवन के अतिम वर्षों मे मध्व ने पुन. उत्तर की तीर्थयात्रा की और वहा वे व्यास से फिर मिले बताते हैं, और अभी तक उन्ही के साथ ठहरे हुए बताते हैं। वे उन्यासी वर्ष तक जीवित रहे बताते है और सम्भवत शा १९६८ अथवा सन् १२३६ मे परलोकवासी हुए। वे पूर्णप्रज्ञ, आनन्द-तीर्थ, नन्दीतीर्थ व वासुदेव आदि कई नामो से विख्यात थे।[1]

मध्व-दर्शन का निम्नलिखित निरूपण सन् १९३० मे लिखा गया था, अतएव वर्तमान लेखक को कुछ समय पूर्व प्रकाशित श्री शर्मा की उत्तम कृति मे डुबकी लगाने का अवसर नही मिल सका, क्योकि उस समय वर्तमान कृति मुद्रण के लिए तैयार थी। पद्मानाभसूर के 'मध्व-सिद्धान्त-सार' मे मध्व के सिद्धान्तो का सक्षिप्त निरूपण किया गया है। मध्व ने सैंतीस ग्रन्थ लिखे। उनकी गणना नीचे की गई है।[2]

---

[1] मध्व पर अग्रेजी मे कुछ ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं। सबसे पूर्व का विवरण 'Account of the Madhva Gooroos' मे मिलता है जिसे मेजर मैकेंजी ने २४ अगस्त १८०० मे लिखा और जो 'Asiatic Annual Register' के सन् १८०४ (लदन, १८०६) के अक मे पृ० ३३ पर 'Character' शीर्षक के अन्तर्गत छपा, एच० एच० विल्सन का लेख 'Sketch of the religious seats of the Hindus' जो Asiatic Researches लन्दन, १८६१ के खण्ड १६ व २० के पृ० १३६ मे फिर छापा गया, कृष्णस्वामी एय्यर का 'Sri Madhva and Madhvaism मद्रास, आर० जी० भण्डारकर का 'Vaisnavism, Saivicism and Minor Religious Systems' खण्ड २०, 'Dharwar बम्बई, १८८४, जी० वैंकोबा राव का A sketch of the History of the Madhva Acharyas जो 'Indian Antiquary' के खण्ड (१९१४) से छपना प्रारम्भ होता है, तथा सी० एम० पद्मनाभचार्य का 'Life of Madhvacharya' एस० सुब्बाराव के पास श्री मध्वाचार्य के 'ब्रह्मसूत्र' भाष्य का सम्पूर्ण अनुवाद है, यथा श्री मध्वाचार्य के 'भाष्य' के अनुसार टीका के सहित 'भगवद्गीता' का अग्रेजी अनुवाद है। इस 'भगवद्गीता' के प्राक्कथन मे परम्परागत दृष्टि से मध्व का जीवन-वृत्तान्त दिया गया है। पी० रामचन्द्र राव का 'The Brahma Sutras' भी है जिसमे श्री मध्वाचार्य के भाष्य का अंग्रेजी अनुवाद किया गया है (मद्रास, कुम्बकोनम् १९०२), जी० ए० ग्रियर्सन का मध्व पर 'Encyclopaedia of Religion and Ethics' खण्ड ८ मे बहुत ज्ञानपूर्ण लेख है, श्री नागराज शर्मा ने मध्व-दर्शन पर हाल ही मे एक गम्भीर लेख प्रकाशित किया है।

[2] दे०—हेल्मथ वॉन ग्लासनैप का Philosophie des Vishnu Glanbens', पृ० ९३।

(१) 'ऋग्भाष्य' जो ऋग्वेद के अ० ११–४० पर टीका है, (२) 'क्रम-निर्णय' जो 'ऐतरेय ब्राह्मण' अ० ४, १–४ 'ऐतरेय-आरण्यक' अ० ४१ तथा उनमे उद्धृत वैदिक ऋचाओ के सम्यक् उच्चारण एव क्रम के सम्बन्ध मे विवेचन करता है, (३) 'ऐतरेय उपनिषद् भाष्य,' (६) 'तैत्तिरीय उपनिषद्,–भाष्य', (७) 'ईशावास्य-उपनिषद्-भाष्य', (८) 'काठक-उपनिषद्-भाष्य,' (९) 'मुण्डक-उपनिषद्-भाष्य,' (१०) 'माडूक्य-उपनिषद्-भाष्य,' (११) 'प्रश्नोपनिषद् भाष्य,' (१२) 'कनोपनिषद् भाष्य,' (१३) 'महाभारत-तात्पर्य-निर्णय,' (१४) 'भगवद् गीता भाष्य,' (१५) 'भगवद्गीता-तात्पर्य-निर्णय,' (१६) 'भागवत्-तात्पर्य-निर्णय,' (१७) 'ब्रह्म सूत्र-भाष्य,' (१८) 'ब्रह्म सूत्रनुभाष्य,' (१९) ब्रह्म-सूत्रानुव्याख्यान,' (२०) 'ब्रह्मसूत्रानुव्याख्यान-निर्णय,' (२१) 'प्रमाण-लक्षण,' (२२) 'कथा-लक्षण,' (२३) 'उपाधि-खण्डन,' (२४) 'मायावाद खण्ड,' (२५) 'प्रपच मिथ्यातानुमान-खण्डन,' (२६) 'तत्वोद्द्योत,' (२७) 'तत्व-विवेक,' (२८) 'तत्व-सस्थान,' (२९) 'विष्णु-तत्व-निर्णय,' (३०) 'तत्र-सार-सग्रह,' (३१) 'कृष्णामृत-महार्णव,' (३२) 'यति-प्रणव कल्प,' (३३) 'सदाचार-स्मृति,' (३४) 'जयन्ती-निर्णय', अथवा 'जयन्ती कल्प,' (३५) 'यमक-भारत,' (३६) 'नृसिह-नख-स्तोत्र,' (३७) 'द्वादश-स्तोत्र'।

जयतीर्थ के 'ग्रन्थ-मलिका-स्तोत्र' मे 'ब्रह्म-सूत्रानु-व्याख्यान-निर्णन' के स्थान पर 'सन्यास पद्धति' दिया गया है। आफ्रेट के 'The Catalogus Catalogurum' मे आर० जी० भण्डारकर द्वारा की गई सन् १८८२–८३ मे बम्बई प्रदेश मे सस्कृत पाण्डुलिपियो की खोज के विवरण का उल्लेख आया है, तथा उसमे कई अन्य ग्रन्थो की गणना की गई है जो 'ग्रन्थ-मालिका-स्तोत्र' मे नही गिनाये गये है। वे निम्नलिखित है–

'आत्मज्ञान-प्रदेश-टीका,' 'आत्मोपदेश टीका,' 'आर्य-स्तोत्र,' 'उपदेश-सहस्र-टीका,' 'उपनिषद्-प्रस्थान,' 'ऐतरोयोपनिपद-भाष्य-टिप्पणी,' 'काठकोपनिपद्-भाष्य-टिप्पणी,' 'कैनोपनिपद्-भाष्य-टिप्पणी,' 'कौपीयवग्युपनिपद् भाष्य-टिप्पनी,' 'खपुष्प-टीका,' 'गुर स्तुति,' 'गोविन्द-भाष्य-पीठक,' 'गोविन्दाष्टक-टीका,' 'गौढपादीय-भाष्य-टीका,' 'छादोग्योपनिपद्-भाष्य-टिप्पणी,' 'तैत्तिरीयोपनिपद्-भाष्य-भाष्य-टिप्पणी,' 'तैत्तिरीय-श्रुति-वार्त्तिक टीका,' 'त्रिपुटी-प्रकरण-टीका,' 'नारायणोपनिपद् भाष्य-टिप्पणी,' 'न्याय-विवरण,' 'पचीकरण-प्रक्रिया-विवरण,' 'प्रश्नोपनिपद्-भाष्य-टिप्पणी,' 'बृहदारण्यक-वार्तिक-टीका,' 'बृहज्जाबालोपनिपद्-भाष्य,' बृहदारण्यक भाष्य-टिप्पणी,' 'ब्रह्मसूत्र भाष्य टीका,' 'ब्रह्मसूत्र-भाष्य निर्णय,' 'ब्रह्मा-नन्द,' 'भक्ति रसायन,' 'भगवद्-गीता प्रस्थान,' 'भगवद्गीता भाष्य-विवेचन,' 'माण्डूक्योपनिपद्-भाष्य-टिप्पणी,' मित-भाषिणी,' 'रामोत्तर-तापनीय-भाष्य,' 'वाक्य-सुधा-टीका' 'विष्णु-सहस्रनाम-भाष्य,' 'वेदान्त वार्तिक,' 'शङ्कर-विजय,' 'शकराचार्य-अवतार-कथा,' 'शतश्लोकी टीका,' 'सर्वोपनिषद्-भाष्य,' 'नृसिंहोपनिपद्-भाष्य-टिप्पणी, 'षट्-तत्व,' सदाचारस्तुति-स्तोत्र,' 'सिद्धान्त-बिन्दु' 'स्मृति सार-समुच्चय,' 'स्वरूप-निर्णय-टीका,' 'हरिमीडेस्तोत्र-टीका।

मध्व गुरुओं की उत्तराधिकार-सूची

भण्डारकर सन् १८८२–३ मे सस्कृत पाण्डुलिपियो की खोज मे गुरुओ की मरण-तिथियो सहित उनके नाम देते हैं। इस प्रकार आनन्द तीर्थ या मध्व के उत्तराधिकारी शक ११२६ मे पद्मनाम तीर्थ बने, तथा पद्मनाम तीर्थ के पश्चात् शक ११३५ मे नरहरि तीर्थ बने, माध्व तीर्थ ११५२, अक्षोम्य तीर्थ ११६६, जय तीर्थ ११९०, विद्याधिराज तीर्थ १२५४, कवीन्द्र तीर्थ १२६१, कागीश तीर्थ १२६५, रामचन्द्र तीर्थ १२६८, विद्यानिधि तीर्थ १३०६, रघुनाथ तीर्थ १३६४, रघुवर्य तीर्थ १४१६, रघूत्तम तीर्थ १४५७, वेदव्यास तीर्थ १४८१, विद्याधीश तीर्थ १४९३, वेदनिधि तीर्थ १४९७, सत्यव्रत तीर्थ १५६०, सत्यनिधि तीर्थ १५८२, सत्यनाथ तीर्थ १५९५, सत्याभिवन तीर्थ १६२८, सत्यपूर्ण तीर्थ १६४८, सत्यविजय तीर्थ १६६१, सत्यबोध तीर्थ १७०५, सत्यसन्निधान तीर्थ १७१६, सत्यवर तीर्थ १७१९, सत्यधाम तीर्थ १७५२, सत्यसार तीर्थ १७६३, सत्यपरायण तीर्थ १७८५, सत्यकाम तीर्थ १७९३, सत्येष्टि तीर्थ १७९४, सत्यप्रियपरायण तीर्थ १८०१, सत्यवित् तीर्थ १८८२ मे जब 'Search for Sanskrit Mss' (सस्कृत पाण्डुलिपियो की खोज) ग्रन्थ लिखा जा रहा था, जीवित थे। इस प्रकार मध्व (शक ११९८) से लेकर सत्यवित तीर्थ (जो शक १८०४ अथवा सन् १८८२ मे जीवित थे) तक पैंतीस गुरुओ की सूची हमारे सम्मुख उपस्थित है। यह सूची बेलगाँव और पूना मे प्राप्त दो सूचियो के अनुसार बनाई गई थी। यह सूची बलदेव द्वारा रचित 'ब्रह्म सूत्र' भाष्य के प्राक्कथन मे दी गई सूची से भिन्न है। बलदेव निम्नलिखित सूची मे देते हैं

मध्व, पद्मनाम, नृहरि, माधव, अक्षोम्य, जयतीर्थ, ज्ञानसिंह, दयानिधि, विद्यानिधि, राजेन्द्र, जयधर्म, पुरुषोत्तमतीर्थ, ब्रह्माण्डतीर्थ, व्यासतीर्थ, लक्ष्मीपति, माधवेन्द्र, ईश्वर। ईश्वर चैतन्य के गुरु थे। हम देखते हैं कि बलदेव द्वारा दी गई सूची जयतीर्थ तक सही है, लेकिन जयतीर्थ के पश्चात् बलदेव द्वारा दी गई सूची बेलगाँव एव पूना के मध्व-मठो से प्राप्त दो सूचियो से पूर्णत असगत है। इन परिस्थितियो मे हम बलदेव द्वारा दी गई गुरुओ की सूची को स्वीकार करने मे असमर्थ है—उसमे कई अन्य असगतियाँ भी हैं जिनके विस्तार मे जाने की यहाँ कोई आवश्यकता नही है।

मध्व की महत्वपूर्ण कृतियाँ

'महाभारत-तात्पर्य-निर्णय' · मध्व की यह रचना बत्तीस अध्यायो की है तथा छन्दबद्ध है। प्रथम अध्याय मे मध्व अपने मत के अति सक्षिप्त साराश से प्रारम्भ होते है। उसमे उनका कथन है कि चार वेद, 'पचरात्र,' 'महाभारत,' 'मौलिक रामायण' व 'ब्रह्मसूत्र' ही केवल प्रामाणिक श्रुति मूल-पाठ हैं, तथा जो कुछ भी उनके विरोध मे

है वह असत्य माना जाना चाहिये । 'वैष्णव पुराण' मुख्यत 'पचरात्र' के स्पष्टीकरण मात्र होने के कारण सत्य शास्त्र माने जाने चाहिये । मनु तथा अन्य लोगो द्वारा रचित 'स्मृति'–साहित्य उसी सीमा तक सत्य है जहाँ तक वह वेदो, 'महाभारत' 'पचरात्र' तथा 'विष्णु पुराण' के उपदेशो के विरोध मे न हो ।[1] बौद्ध दर्शन जैसे अन्य शास्त्र विष्णु ने असुरो को भ्रान्ति मे डालने के हेतु से रचे, तथा शिव ने भी विष्णु के आदेश से 'शैव शास्त्र' की रचना इसी हेतु से की । वे सब शास्त्र जो इस जीवन मे अथवा मुक्ति के समय आत्मन् और ब्रह्मन् के तादात्म्य का कथन करते हैं असत्य है । विष्णु ही सच्चे भगवान हैं । जगत् का प्रवाह यथार्थ है, और वह जीव एव ईश्वर, जीव एव जीव, जड एव ईश्वर, जड एव जड, तथा जड एव जीव के पचभेदो से समन्वित है ।[2] केवल देवता गण और श्रेष्ठ मानव ज्ञान एव ईश्वरानुग्रह के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति कर सकते हैं, साधारण मानव जन्म एव पुनर्जन्म के चक्र मे भटकते रहते है, और निकृष्ट लोग नर्क से अभिशापित होते हैं । दानवो को तथा नित्य मुक्त जीवो को जन्म एव पुनर्जन्म के चक्र मे आवागमन नही करना पडता । दानव किसी भी परिस्थिति मे मोक्ष की प्राप्ति नही कर सकते । अत शाश्वत अभिशाप का सिद्धान्त केवल मध्व ने ही प्रतिपादित किया है, अन्य किसी भारतीय दर्शन-तन्त्र से नही । मानव जब ईश्वर को सर्व शुभ गुणो से सम्पन्न तथा आनन्दमय एव सर्वज्ञ मानकर उसकी उपासना करता है तब वह मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है । मोक्ष की अवस्था मे भी जीवो मे परस्पर व्यक्तिगत भेद विद्यमान रहते हैं तथा ईश्वर की पूर्ण एव निष्काम भक्ति ही मुक्ति का एकमात्र साधन है । 'भक्ति' के द्वारा ही मोक्ष सम्भव है, मुक्त जीव भी भक्ति के द्वारा सुख के चिरन्तन प्रवाह का उपभोग करते है, भक्ति को यहा

[1] ऋग-आदयश्चत्वार पचरात्र च भारत
मूल-रामायण ब्रह्म-सूत्रम् मान स्वत स्मृतम् ।
—महाभारत-तात्पर्य-निर्णय, १ ३० ।

अविरुद्ध तु यत् तु अन्य प्रमाण तच्च नान्यथा
एतद्-विरुद्ध यत् तु स्यात् न तत् मान कथचन
वैष्णवानि पुराणानि पाचरात्रात्मकत्वत

प्रमाणान्येवम् मान्वाद्या स्मृतयोप्यनुकूलत । —वही, १ ३१–३२ ।

[2] जगत् प्रवाह सत्योऽय पच-भेद-समन्वित
जीवेशयोर् भिदा चैव जीव-भेद परस्परम्
जडेशयोर् जडाना च जड–जीव–भिदा तथा
पच भेदा इमे नित्या सर्वावस्थासु नित्यश
मुक्ताना च न हीयन्ते तारतम्य च सर्वदा । —वही, अ० १ ६९–७१ ।

यह परिभाषा दी गई है कि वह उपासना के विषय की महानता की पूर्ण चेतना से युक्त भावना है,[1] तथा उसे सार्वभौम समाधान माना जाता है। समस्त धार्मिक कर्त्तव्यो का पालन भी एक व्यक्ति को नर्क से नही बचा सकता, किन्तु 'भक्ति' एक मनुष्य को निकृष्ट पाप करने पर भी बचा सकती है। 'भक्ति' के बिना श्रेष्ठ धार्मिक कृत्य भी पाप मे परिणत हो जाते है, किन्तु भक्ति से निकृष्ट पाप भी एक मनुष्य को प्रभावित नही करते। ईश्वर केवल 'भक्ति' से प्रसन्न होता है किसी अन्य बात से नही, तथा केवल वही मोक्ष प्रदान कर सकता है।

द्वितीय अध्याय मे मध्व कहते है कि 'महाभारत-तात्पर्य-निर्णय' मे उन्होने 'महाभारत' के मुख्य उपदेशो का साराश देने का प्रयत्न किया है, और 'महाभारत' का मूल-पाठ उनके समय मे सर्वथा दूपित हो गया है, तथा 'महाभारत' स्वय मे तो कठिन है ही, लेकिन इन दूपित मूल-पाठो के कारण उसके मूल तक पहुँचना और भी अधिक कठिन हो गया है। उनका आगे कथन है कि सही मूलपाठ को प्राप्त करने के लिए उन्होने 'महाभारत' के मूल-पाठ कई देशो से उपलब्ध किये, तथा इन विभिन्न मूलपाठो की तुलना करके ही उन्होने अन्य शास्त्रो एव वेदो के उपदेशो के अनुरूप 'महाभारत' के प्रमुख उपदेशो का निरूपण करने का प्रयत्न किया है।[2] मध्व के अनुसार 'महाभारत' एक अन्योक्ति है जिसमे शुभ और अशुभ का सघर्प बताया गया है, शुभ का प्रतिनिधित्व पाण्डव करते हैं, तथा अशुभ का प्रतिनिधित्व धृतराष्ट्र के पुत्र करते है। मध्व 'महाभारत' मे दी गई कथा के क्रम का अनुसरण नही करते, वे कई सयोगात्मक कथानको को छोड देते है, तथा 'पुराणो' एव 'रामायण' से चुने हुए कथानको को कथा मे जोड देते है। इस प्रकार वे 'रामायण' के साराश तथा 'भागवत पुराण' मे दी गई कृष्ण की कथा को 'महाभारत' का अग मानकर प्रस्तुत करते है। सामान्य कथा के निरूपण मे भी वे भीम एव अर्जुन की अति-श्रेष्ठता पर बल देते हैं।

मध्य की इस कृति पर कई टीकाएँ की गई है, अर्थात् जनार्दन भट्ट द्वारा लिखी गई 'पदार्थ-दीपिका,' वरदराज द्वारा लिखित 'महा-सुबोधिनी' अथवा 'प्रकाश,' वादिराज स्वामी की टीका, विठ्लाचार्य सूनु की टीका, व्यास तीर्थ की टीका, सत्याभिनव यति द्वारा लिखित 'दुर्घटार्थ-प्रकाशिका, 'महाभारत-तात्पर्य-निर्णय व्याख्या' (जिसे 'पदार्थ-

[1] भक्त्यर्थान्यखिलान्येव भक्तिर् मोक्षाया केवला
मुक्तानाम् अपि भक्तिर् हि नित्यानद-स्व-रूपिणी
ज्ञान-पूर्व-पर-स्नेहो नित्ये भक्तिर् इतीर्यते।'
—महाभारत-तात्पर्य-निर्णय, १, १०६—७।

[2] शास्त्रान्तराणि सजानन् वेदाश्चास्य प्रसादत
देशेदेशे तथा ग्रन्थान् दृष्ट्वा चैव पृथग्विधान्। —वही, अध्याय २७।

यह परिभाषा दी गई है कि वह उपासना के विषय की महानता की पूर्ण चेतना से युक्त भावना है,[1] तथा उसे सार्वभौम समाधान माना जाता है। समस्त धार्मिक कर्त्तव्यो का पालन भी एक व्यक्ति को नर्क से नही बचा सकता, किन्तु 'भक्ति' एक मनुष्य को निकृष्ट पाप करने पर भी बचा सकती है। 'भक्ति' के बिना श्रेष्ठ धार्मिक कृत्य भी पाप मे परिणत हो जाते है, किन्तु भक्ति से निकृष्ट पाप भी एक मनुष्य को प्रभावित नही करते। ईश्वर केवल 'भक्ति' से प्रसन्न होता है किसी अन्य बात से नही, तथा केवल वही मोक्ष प्रदान कर सकता है।

द्वितीय अध्याय मे मध्व कहते है कि 'महाभारत-तात्पर्य-निर्णय' मे उन्होंने 'महाभारत' के मुख्य उपदेशो का साराश देने का प्रयत्न किया है, और 'महाभारत' का मूल-पाठ उनके समय मे सर्वथा दूषित हो गया है, तथा 'महाभारत' स्वय मे तो कठिन है ही, लेकिन इन दूषित मूल-पाठो के कारण उसके मूल तक पहुँचना और भी अधिक कठिन हो गया है। उनका आगे कथन है कि सही मूलपाठ को प्राप्त करने के लिए उन्होने 'महाभारत' के मूल-पाठ कई देशो से उपलब्ध किये, तथा इन विभिन्न मूलपाठो की तुलना करके ही उन्होने अन्य शास्त्रो एव वेदो के उपदेशो के अनुरूप 'महाभारत' के प्रमुख उपदेशो का निरूपण करने का प्रयत्न किया है।[2] मध्व के अनुसार 'महाभारत' एक अन्योक्ति है जिसमे शुभ और अशुभ का सघर्ष बताया गया है, शुभ का प्रतिनिधित्व पाण्डव करते है, तथा अशुभ का प्रतिनिधित्व धृतराष्ट्र के पुत्र करते हैं। मध्व 'महाभारत' मे दी गई कथा के क्रम का अनुसरण नही करते, वे कई सयोगात्मक कथानको को छोड देते है, तथा 'पुराणो' एव 'रामायण' से चुने हुए कथानको को कथा मे जोड देते है। इस प्रकार वे 'रामायण' के साराश तथा 'भागवत पुराण' मे दी गई कृष्ण की कथा को 'महाभारत' का अग मानकर प्रस्तुत करते है। सामान्य कथा के निरूपण मे भी वे भीम एव अर्जुन की अति-श्रेष्ठता पर बल देते हैं।

मध्व की इस कृति पर कई टीकाएँ की गई है, अर्थात् जनार्दन भट्ट द्वारा लिखी गई 'पदार्थ-दीपिका,' वरदराज द्वारा लिखित 'महा-सुबोधिनी' अथवा 'प्रकाश,' वादिराज स्वामी की टीका, विठ्लाचार्य सूनु की टीका, व्यास तीर्थ की टीका, सत्याभिनव यति द्वारा लिखित 'दुर्घटार्थ-प्रकाशिका, 'महाभारत-तात्पर्य-निर्णय व्याख्या' (जिसे 'पदार्थ-

---

[1] भक्त्यर्थान्यखिलान्येव भक्तिर् मोक्षाया केवला
मुक्तानाम् अपि भक्तिर् हि नित्यानद-स्व-रूपिणी
ज्ञान-पूर्व-पर-स्नेहो नित्ये भक्तिर् इतीयते।'

—महाभारत-तात्पर्य-निर्णय, १, १०६-७।

[2] शास्त्रान्तराणि सजानन् वेदाग्चास्य प्रसादत
देशेदेशे तथा ग्रन्थान् दृष्ट्वा चैव पृथग्विधान्। —वही, अध्याय २७।

विवादास्पद महत्वपूर्ण समस्याओ की विवेचना करते हैं। इस प्रकार कुमारिल का अनुसरण करते हुए वे कहते हैं कि 'शास्त्र' 'अपरिज्ञेय' (अनुभवातीत उद्गम के) होने के कारण पूर्णत. सत्य है। 'कर्मों' के अनुष्ठान के सम्बन्ध मे उनका कथन है कि 'कर्म' फल की इच्छा किये बिना इसलिए करते हैं कि 'शास्त्र' ऐसा करने का आदेश देते है। केवल अधिकाधिक ज्ञान और बढती हुई 'भक्ति' की इच्छाएँ ही ऐसी इच्छाएँ हैं जिनका परित्याग नही करना चाहिये, यदि 'कर्मों' से किसी फल की उत्पत्ति न हो तो भी कम से कम उनसे ईश्वर को सतोष होगा क्योकि 'शास्त्रो' के आदेशो का पालन करके व्यक्ति ने ईश्वर के आदेशो का पालन किया है। वे शकर के अद्वैतमत का भी खण्डन करते है तथा कहते हैं कि यदि ईश्वर मानव मे प्रतिविम्बित हो तो इस आधार पर प्रतिबिम्ब को मूल ईश्वर से एक रूप नही माना जा सकता। तथाकथित 'उपाधि' के कारण ब्रह्मन् और जीव मे भेद बना रहता है। यह कहना भी सही नही है कि जिस प्रकार जल का जल मे मिश्रण हो जाता है उसी प्रकार मोक्ष के समय जीव का ईश्वर मे लय हो जाता है, क्योकि जब जल का जल मे मिश्रण होता है तव भेद उत्पन्न हो जाता है—इसी भेद के द्वारा हम जल के अधिक सचयन की व्याख्या कर सकते है। अत मोक्ष की अवस्था मे जीव केवल ईश्वर के निकट आ जाता है, किन्तु कभी अपने व्यक्तित्व को नही खोता। 'मोक्ष' की अवस्था सबसे वाछनीय अवस्था है क्योकि उसमे व्यक्ति समस्त शोक-पूर्ण अनुभवो से मुक्त हो जाता है, तथा उसमे कोई इच्छा शेप नही रहती। मोक्ष की अवस्था विभिन्न जीवो के व्यक्तित्व के अनुसार भिन्न-भिन्न होती है। मोक्ष की अवस्था मे सामान्य तत्व यह है कि किसी भी मुक्त व्यक्ति को कोई दु खमय अनुभव नही भोगना पडता। मध्व यह सिद्ध करने के लिये भी बहुत परिश्रम करते हैं कि 'नारायण' अथवा 'विष्णु' महानतम या उच्चतम ईश्वर है। तीसरे अध्याय का निरूपण करते हुए वे कहते हैं कि इस अनादि जगत मे एक कर्म भी अनेक जन्मो को उत्पन्न कर सकता है, तथा 'कर्मों' का सचित भण्डार किसी व्यक्ति को कभी भी अपने पूर्ण फल प्रदान नही कर पाता, अत यदि कोई व्यक्ति 'धर्म' करे तो भी अपने पूर्व 'कर्मो' के कारण भाग्य मे लिखे फलो से नही वच सकता, फलस्वरूप 'कर्म' के परित्याग से कोई लाभ नही हो सकता। हेतु अथवा इच्छा से रहित 'कर्म' ही ज्ञान से सम्बन्ध स्थापित करता है, तथा मोक्ष की ओर ले जाता है, अत 'कर्म' के न करने मात्र से भी मोक्ष प्राप्त नही हो सकता। मध्व इस धारणा का खण्डन करते है कि तीर्थ-स्थानो मे मरने से मोक्ष की प्राप्ति की जा सकती है, क्योकि यह तो ब्रह्म-ज्ञान द्वारा ही सम्भव हो सकता है। एक व्यक्ति को अपने 'सस्कारो' के वल से 'कर्म' करने पडते हैं। अत अधिक विस्तार से यह वताना आवश्यक नही है कि इस ढग से मध्व 'गीता' की व्याख्या अपने मत की पुष्टि के लिये करते है और वे प्राय यह प्रदर्शित करने का भी प्रयत्न करते हैं कि उनके द्वारा प्रतिपादित मत अन्य 'पुराणों' एव उपनिषदो के उपदेशो के अनुरूप हैं। मध्व की 'गीता' की व्याख्या पर अनेक

रचनाएँ है, राघवेन्द्र की 'गीतार्थ-सग्रह' राघवेन्द्र यति की 'गीता-विवृत्ति' विद्याधिराज भट्टोपाध्याय की 'गीता-विवृत्ति,' तथा जयतीर्थ की 'प्रमेय-दीपिका' जिस पर 'भाव-प्रकाश' नामक एक अन्य टीका है। मध्व ने 'ब्रह्मसूत्र' पर 'ब्रह्मसूत्र-भाष्य' नामक एक अन्य टीका लिखी। यह लगभग २५०० ग्रन्थो की एक छोटी रचना है, तथा टीका सक्षिप्त एव सकेतात्मक है।[1] उन्होने 'अनुभाष्य' नामक एक अन्य रचना भी लिखी जो 'ब्रह्मसूत्र' के प्रमुख विषयो एव अभिप्राय का सक्षिप्त साराश है। इस पर भी जयतीर्थ, अनन्त भट्ट, चलारि-नृसिह, राघवेन्द्रतीर्थ और शेषाचार्य ने टीकाएँ लिखी है। आनन्दतीर्थ के 'ब्रह्मसूत्र-भाष्य' पर 'तत्व प्रकाशिका' नामक जयतीर्थ द्वारा लिखी गई एक टीका है। इस पर भी अनेक टीकाएँ है रघूत्तम यति की 'तात्पर्य-प्रकाशिका-भाव-बोध' व 'तात्पर्य-प्रकाशिका गत-न्याय-विवरण,' राघवेन्द्र यति की 'भाव-दीपिका,' व्यासतीर्थ की 'तात्पर्य-चन्द्रिका' जिस पर टीकाएँ हुई, अर्थात् केशव यति की 'तात्पर्य-चन्द्रिका-प्रकाश,' तिम्मनाचार्य (अथवा तिम्मपुर-रघुनाथाचार्य) की 'तात्पर्य-चद्रिका-न्याय-विवरण,' और 'तात्पर्य-चद्रिकोदाहरण-न्याय-विवरण। इसके अतिरिक्त 'तत्व-प्रकाशिका' पर अन्य टीकाएँ लिखी गई, सत्यनाथ यति की 'अभिनव चद्रिका,' श्रीनिवास की 'तत्व-प्रकाशिका-व्याख्यार्थ-मजरी' तथा 'वाक्यार्थ-मुक्तावली'। 'तात्पर्य-चद्रिका' पर गुरुराज ने अन्य टीका लिखी तथा 'तत्व-प्रकाशिका' पर 'तत्र-दीपिका' लिखी गई। मध्व के 'भाष्य' पर जगन्नाथ यति (भाष्य-दीपिका), विठ्लसुत-श्रीनिवास ('भाष्य-टिप्पणी-प्रमेय-मुक्तावली') वादिराज (गुर्वर्थ-दीपिका), ताम्रपर्णी श्रीनिवास और सुमतीन्द्र-तीर्थ द्वारा टीकाएँ लिखी गई। 'ब्रह्मसूत्र-भाष्यार्थ-सग्रह' तथा ब्रह्मसूत्रार्थ नामक दो अन्य टीकाएँ भी है। मध्व के 'अनुभाष्य' पर नृसिह, जयतीर्थ, अनन्त भट्ट, चलारि नृसिह, राघवेन्द्रतीर्थ और शेषाचार्य ने टीकाएँ लिखी। मध्व ने 'ब्रह्मसूत्र' पर 'अनुव्याख्यान' नामक एक और रचना लिखी। इस पर जयतीर्थ ने अपनी 'पजिका' व 'न्याय-सुधा' मे टीका की, तथा जदुपति और श्रीनिवास ने भी टीकाएँ लिखी। इस पर 'ब्रह्मसूत्रानुव्याख्यान-न्याय सम्बन्ध-दीपिका' नामक एक अन्य टीका भी है। इनमे से जयतीर्थ की 'न्याय-सुधा' बहुत उत्तम, अति विद्वत्तापूर्ण रचना है। 'अनुव्याख्यान' पर रघूत्तम ने अपने 'न्याय-सूत्र-प्रदीप' और 'अनुव्याख्यान-टीका' मे टीका की है। 'न्याय-सुधा' पर भी कई लेखको ने टीकाएँ लिखी। ये टीकाएँ श्रीनिवासतीर्थ, जदुपति, विठ्लसुतानन्दतीर्थ, केशव भट्ट ('शेष व्याख्यार्थ-चद्रिका') रामचन्द्रतीर्थ, कुण्डलगिरिसूरि, विद्याधीश, तिम्मनार्य, वादिराज और राघवेन्द्र यति द्वारा लिखी गई। श्रीपदराज ने 'न्यायसुधोपन्यास' नामक टीका लिखी 'अनुव्याख्यान' छोटी सी पद्य बद्ध रचना है जिसमे 'ब्रह्मसूत्र' की मुख्य तार्किक स्थिति का अध्याय-क्रम से अनुसरण किया गया है। मध्व का कथन है कि अपनी व्याख्या मे उन्होने वेदो के

[1] बत्तीस अक्षरो का एक 'ग्रन्थ' कहलाता है।

विश्वसनीय श्रुति-पाठों एवं तार्किक युक्तियों का अनुसरण किया है।[1] वे प्राक्कथन में आगे कहते हैं कि यद्यपि वे 'ब्रह्मसूत्र' पर भाष्य लिखे जा चुके हैं तथापि अपने मत को उचित रूप से स्पष्ट करने के हेतु से वे 'अनुव्याख्यान' लिख रहे हैं। प्रथम अध्याय में वे कहते हैं कि ब्रह्मन् को निर्दिष्ट करने वाला 'ओमकार' जो गायत्री का अभिप्राय है वही सब वेदों का अभिप्राय है, तथा हमें उसे ज्ञात करना चाहिये। जो ब्रह्मन् को जानने का प्रयत्न करते हैं वे अपने इस प्रयास से ईश्वर को प्रसन्न कर लेते हैं, और उसके अनुग्रह से मुक्त हो जाते हैं। समस्त वस्तुओं, क्रियाओं, काल, चरित्र और जीवों का अस्तित्व ईश्वर पर अवलम्बित है, तथा उसकी इच्छा से उनका अस्तित्व मिट सकता है। ईश्वर अज्ञानी को ज्ञान प्रदान करता है तथा ज्ञानी को मोक्ष प्रदान करता है। मुक्त व्यक्ति के सर्व आनन्द का उद्गम स्वयं ईश्वर ही है। सर्व बन्धन यथार्थ है क्योंकि उसका यथार्थ प्रत्यक्ष किया जाता है, कोई ऐसा साधन नहीं है जिसके द्वारा बंधन को मिथ्या सिद्ध किया जा सके, क्योंकि यदि उसके मिथ्यात्व के पक्ष में कोई प्रमाण सम्भव है तो उनका अस्तित्व होना चाहिये, और उनके अस्तित्व में अद्वैत-मत नष्ट हो जायगा। केवल एक सत्ता स्वयं को प्रमाण एवं प्रमाण के विषय में विभक्त नहीं कर सकती। अतः समस्त अनुभवों को यथार्थ मानना चाहिये। जो वस्तु व्यवहार के अनुरूप हो, उसे यथार्थ मानना चाहिये। अद्वैतवादी कहते हैं कि सत्ता तीन प्रकार की होती है, किन्तु वे उसके लिये कोई प्रमाण नहीं दे सकते। यदि जगत् वास्तव में असत् होता तो वह किसी के हितों को हानि कैसे पहुँचाता? हम ब्रह्मन् को ही एक-मात्र शुद्ध 'सत्ता' नहीं मान सकते, तथा जगताभास को मिथ्या नहीं मान सकते, क्योंकि उसका अनुभव में कभी निषेध नहीं किया जा सकता। यदि इस जगत् को विशुद्ध असत् अथवा अनस्तित्व से भिन्न जानना चाहिये, तो 'असत्' को भी ज्ञात करना पड़ेगा, किन्तु 'असत्' का एक उदाहरण है, अर्थात भ्रम एक वस्तु का ऐसा आभास है जो वह स्वयं में नहीं है। किन्तु इसका तात्पर्य यह होगा कि आभास एक ऐसी सत्ता का होता है जिसका अस्तित्व नहीं है तथा जिसकी परिभाषा देना भी सम्भव नहीं है। किन्तु ऐसी स्थिति 'दुष्ट अनन्त' को उत्पन्न करती है, क्योंकि अनेक सत्ताओं के अस्तित्व को एक अन्य सत्ता पर निर्भर करना पड़ता है, तथा इस सत्ता को किसी अन्य पर निर्भर करना पड़ेगा, इत्यादि। किसी वस्तु का अस्तित्व उस पर निर्भर करता है जिसका निषेध न हो, और उसके निषेध का न होना किसी अन्य अनुभव पर निर्भर करता है, इत्यादि। साथ ही, यदि शुद्ध भेद-रहित सत्ता स्वयं प्रकाश है, तो वह 'अज्ञान' से कैसे आवृत्त हो सकती है? फिर, जब तक 'अज्ञान' के अस्तित्व को सिद्ध करना सम्भव नहीं है, तब तक मिथ्यात्व के अस्तित्व को सिद्ध नहीं किया जा सकता।

---

[1] आप्त-वाक्यतया तेन श्रुति-मूलतया तथा
युक्ति-मूलतया चैव प्रामाण्यं त्रिविधं महत्। अनुव्याख्यान, १ १।

किन्तु 'अनुव्याख्यान' के सम्पूर्ण तर्क को देना यहाँ आवश्यक नही है, क्योकि उसका अन्य रूपो मे तब विवेचन किया जायगा जब 'अद्वैत-सिद्धि' के विरोध मे व्यासतीर्थ द्वारा 'न्याय-मजरी' मे दी गई युक्तियो का उल्लेख आयगा।

मध्व ने 'प्रमाण-लक्षण,' 'कथा-लक्षण,' मिथ्यात्वानुमान-खडन,' 'उपाधि-खडन,' 'मायावाद खडन,' 'तत्व सख्यान,' 'तत्वोद्योत,' 'तत्व विवेक,' विष्णु-तत्व-निर्णय,' 'कर्म-निर्णय' की भी रचना की।[1] 'प्रमाण-लक्षण' पर कई टीकाएँ लिखी गई हैं: जयतीर्थ द्वारा 'न्याय-कल्प-लता,' केशवतीर्थ, पाण्डुरग, पद्मरामतीर्थ और चण्डकेशव द्वारा 'सन्नास-दीपिका' व अन्य टीकाएँ। जयतीर्थ की 'न्याय कल्प-लता' १४५० 'ग्रन्थो' की रचना है, उस पर दो अन्य लेखको द्वारा 'न्याय-कल्प-लता-व्याख्या' नामक एक टीका लिखी गई है। उनमे से एक तो विद्याधीश यति के शिष्य है, किन्तु दूसरी टीका का लेखक अज्ञात है। चण्डकेशवाचार्य द्वारा 'प्रबोधिनी' और 'न्याय-मजरी' दो अन्य टीकाएँ भी हैं। मध्व तर्क से सम्बन्धित अन्य रचनाएँ है—राघवेन्द्र यति की 'न्याय-मुक्तावली,' विजयीन्द्र की 'न्याय-मौक्तिका-माला' और वादिराज की 'न्याय-रत्नावली'। स्वय जयतीर्थ ने 'प्रमाण-पद्धति' नामक रचना लिखी जिस पर अनेक टीकाएँ लिखी गई (आनन्द भट्ट, वेदेश भिक्षु, विजयीन्द्र, विठ्ठल भट्ट, सत्यनाथ यति, नृसिहतीर्थ, राघवेन्द्रतीर्थ, नारायण भट्ट, जनार्दन भट्ट द्वारा तथा 'भाव-दीपिका' व 'पदार्थ-चद्रिका' को अन्य अज्ञात लेखको द्वारा)। मध्व के 'कथा लक्षण' पर पद्मनाभतीर्थ, केशव भट्टारक और जयतीर्थ द्वारा टीकाएँ लिखी गई। मध्व के 'मिथ्यात्वानुमान-खडन' पर जयतीर्थ द्वारा कम से कम चार टीकाएँ रची गई, जिनमे से चौथी 'मन्दार-मजरी' है। 'उपाधि-खडन' पर कम से कम तीन टीकाएँ जयतीर्थ, अनन्त भट्ट और श्रीनिवासतीर्थ द्वारा लिखी गई। श्रीनिवासतीर्थ एव पद्मनाभतीर्थ दोनो ने जयतीर्थ की 'उपाधि खडन-व्याख्या-विवरण' नामक टीका पर टीकाएँ लिखी। मध्व के 'मायावाद-खडन' पर जयतीर्थ, श्रीनिवासतीर्थ, केशवमिश्र अनन्त भट्ट और पद्मनाभतीर्थ द्वारा टीकाएँ लिखी गई। मध्व के 'तत्व सख्यान' पर जयतीर्थ, श्रीनिवासतीर्थ, अनन्त भट्ट, वेंकटाद्रिसूरि, सत्यप्रज्ञयति, सत्यप्रज्ञतीर्थ, मौद्गल-नृसिहाचार्य, तिम्मन्नाचार्य, गुरुराज और यदुपति द्वारा टीकाएँ लिखी गई। जयतीर्थ की टीका 'तत्व-सख्यान-विवरण' पर सत्यधर्म-यति द्वारा टीका लिखी गई (सत्य धर्म-टिप्पन)। मध्व के 'तत्वोद्योत' पर जयतीर्थ, यदुपति, वेदेशभिक्षु, पद्मनाभतीर्थ, श्रीनिवासतीर्थ, नरपण्डित, राघवेन्द्रतीर्थ, विजयीन्द्र, गुरुराज (अथवा केशव भट्टारक) द्वारा टीकाएँ लिखी गई। मध्व के 'तत्व-विवेक' पर जयतीर्थ, अनन्त भट्ट और श्रीनिवासतीर्थ द्वारा टीकाएँ लिखी गई।

---

[1] मध्व की ये दस रचनाएँ 'दस-प्रकरण' कहलाती हैं। किन्तु कभी-कभी मिथ्यात्वानुमान के स्थान पर 'ऋग्वेद-ब्रह्म-पचिका' की गणना की जाती है।

'कथा-लक्षण' मे मध्व विभिन्न प्रकार के सुसवाद ('वाद') के स्वरूप का मूल्याकन देते है तथा कुसवाद (वितडा) से उनका अन्तर स्पष्ट करते हैं। 'वाद' एक ऐसा सवाद है जो विभिन्न समस्याओ के स्पष्टीकरण के लिये गुरु और शिष्य के मध्य किया जाता है, अथवा तर्क द्वारा सत्य की खोज मे अभिरुचि रखने वाले दो या अधिक शिष्यो के मध्य किया जाता है, किन्तु जब यह सवाद अहकार अथवा प्रतिस्पर्धा की भावना से विवाद मे विजय प्राप्त करने के लिये अथवा प्रसिद्धि प्राप्त करने के लिये किया जाता है, तब वह 'जल्प' कहलाता है। कुसवाद अथवा 'वितडा' मे सत्य मतो की अविश्वसनीयता सिद्ध करने के उद्देश्य से छलपूर्ण युक्तियो का प्रयोग किया जाता है। एक सवाद मे एक या अधिक सभापति ('प्रश्निक') हो सकते है, किन्तु ऐसे व्यक्ति अथवा व्यक्तियो को पूर्णत. पक्षपात-रहित होना चाहिये। सभी सवाद श्रुति-पाठो पर सम्यक् रूप से आधारित होने चाहिये तथा उन पाठो की छलपूर्ण युक्ति द्वारा व्याख्या नही की जानी चाहिये।[1] मध्व की 'कथा लक्षण' 'ब्रह्मतर्क' नामक रचना पर आधारित प्रतीत होती है। न्याय दर्शन के अनुसार 'वाद,' 'जल्प' और 'वितण्डा' के स्वरूप का निरूपण इस कृति के प्रथम भाग मे किया जा चुका है।[2]

'तत्व सख्यान' ग्यारह श्लोको की एक लघु पुस्तिका है जिसमे मध्व मत के कुछ महत्वपूर्ण सिद्धान्तो का विवरण दिया गया है। इस प्रकार उसका कथन है कि दो तत्व हैं—स्वतत्र और परतत्र, केवल विष्णु ही स्वतत्र है। परतत्र तत्व दो प्रकार के है—भाव और अभाव। अभाव अथवा निषेध तीन प्रकार का होता है—उत्पन्न होने के पूर्व अभाव (प्रागभाव), विध्वस के द्वारा अभाव (विध्वसाभाव), तथा सार्वभौम अभाव (अत्यताभाव)। फिर भाव-तत्व चेतन और जड होते हैं। चेतन सत्ताएँ पुन दो प्रकार की होती है—वे जो दु ख के सम्पर्क मे है, तथा वे जो दु खो के सम्पर्क मे नही है। जो दु खो के सम्पर्क मे हैं वे पुन दो प्रकार की होती हैं, अर्थात् जो मुक्त है, तथा जो दु.ख मे है। जो दु ख मे है वे पुन दो प्रकार की होती हैं, अर्थात् वे जो मोक्ष के योग्य है, तथा जो मोक्ष के योग्य नही हैं। अन्य चेतन सत्ताएँ ऐसी हैं जो किसी भी काल मे मोक्ष के योग्य नही होती। निकृष्ट मनुष्य, दानव, 'राक्षस' और 'पिशाच' {किसी भी काल मे मोक्ष के योग्य नही होते। इनके दो प्रकार होते हैं अर्थात् वे जो 'ससार' पथ पर चल रहे है किन्तु नर्क के भागी है। जड सत्ताएँ पुन तीन प्रकार की होती है,

---

[1] श्री नागराज शर्मा ने अपने 'Reign of reactism' मे टीकाकार जयतीर्थ, राघवेन्द्र स्वामी और वेदेशतीर्थ द्वारा दी गई सामग्री की सहायता लेकर 'कथालक्षण' की विषय-वस्तु का साराश दिया है।

[2] 'कथा' के स्वरूप एव शास्त्रार्थ की अवस्थाओं सम्बन्धी विषय पर देखिये 'खण्डन-खण्ड-खाद्य' पृ० २०, बनारस १९१४।

नित्य, अनित्य तथा अशत नित्य एव अशत अनित्य। केवल दो ही नित्य हैं। 'पुराणो' का पवित्र साहित्य काल और 'प्रकृति' नित्य एव अनित्य दोनो हैं, क्योकि स्वरूप मे 'पुराण' काल व 'प्रकृति' नित्य है किन्तु विकास की अवस्था मे वे अनित्य है। अनित्य सत्ताएँ पुन दो प्रकार की होती हैं–जिनकी सृष्टि हुई है (सश्लिष्ट) एव जिसकी सृष्टि नही हुई है (असस्लिष्ट। 'असस्लिष्ट' सत्ताएँ हैं 'महत्' 'अहम्' 'बुद्धि' 'मनस्' इन्द्रियाँ, तन्मात्राएँ और पचभूतिया। जगत तथा जगत की समस्त वस्तुएँ सस्लिष्ट सत्ताएँ है। सृष्टि-रचना का अर्थ है क्रियाओ मे प्रेरित होना, अतएव 'सस्लिप्ट' सत्ताऐं कई अवस्थाओ मे से निकलती हैं ईश्वर ही समस्त वस्तुओ और सर्व परिवर्त्तनो का आतरिक सचालक है। मध्व की 'तत्व-विवेक' 'तत्व-सख्यान' के समान लघु रचना है जो केवल एक दर्जन 'ग्रन्थो' की है तथा न्यूनाधिक उसी विषय का निरूपण करती है अत उसकी विषय-सूची का साराश देना आवश्यक है।

परन्तु 'तत्वोद्योत' पद्य एव गद्य मे लिखी हुई कुछ बडी रचना है। वह इस प्रश्न को लेकर आरम्भ होती है कि मुक्त आत्माओ मे भेद हैं अथवा नही, तथा मध्व कहते हैं कि मुक्त आत्माएँ ईश्वर से भिन्न हैं क्योकि वे एक काल विशेष मे मुक्त हुई थी। उनका ईश्वर से भेद और अभेद नही हो सकता क्योकि ऐसा मानना अर्थहीन होगा। वेदान्तियो द्वारा दी गई 'अनिवर्चनीय' की सकल्पना किसी उदाहरण पर आधारित नही है। मध्व 'अनिवर्चनीय' के सिद्धान्त को श्रुति-पाठो की सहायता से खडित करने मे श्रम लगाते हैं, और कहते हैं कि शकर मतवादियो का तथाकथित मिथ्यात्व का सिद्धान्त प्रत्यक्ष, अनुमान अथवा अर्थापत्ति से सिद्ध नही किया जा सकता। यह मानने का कोई कारण नही है कि जगत के आभासो का निषेध (बाधक) नही किया जा सकता।. वे आगे कहते हैं कि यदि जगत मे सब कुछ मिथ्या होता तो यह आरोप भी मिथ्या होगा कि जगत अनुभव मे बाध्य हो जायगा। यदि जगत की बाध्यता मिथ्या है तो इसका तात्पर्य यह है कि जगतानुभव कभी बाध्य नही होता। यदि यह कहा जाय कि जगताभास सत् से भिन्न है, तथा सत् विधेय का तात्पर्य 'सत्' के जाती-प्रत्यय से है तो फिर सत्ताओ के अनेकत्व को स्वीकार करना पडेगा क्योकि उनके विना सत् का जाति-प्रत्यय सम्भव नही है। किन्तु यदि 'सत्' विधेय का अर्थ शुद्ध सत् है तो चूंकि शुद्ध 'सत्' केवल ब्रह्मन् ही है अत उसका जगत से अन्तर बुद्धि-गम्य होगा और जगत की तथाकथित 'अनिर्वचनीयता' सिद्ध नही होगी। यह कहा जाता है कि मिथ्यात्व वह है जो सत् एव असत् दोनो से विलक्षण है, किन्तु इसका तात्पर्य यह होगा कि जो अनिलक्षण है वही सत्य है।[1] किन्तु इस मान्यता के आधार

[1] सद्विलक्षणत्व असद्विलक्षणत्व च मिथ्या
त्वर्हि निर्लक्षणमेव सत्य स्यात्। —वही, पृ० २४२ (अ)।

पर कारणो अथवा कार्यो के अनेकत्व अथवा अनुमान मे आश्रय-वाक्यो की विविधता को मिथ्या कहकर त्याग देना पडेगा, तथा ज्ञान भी मिथ्या हो जायगा। ज्ञान में विविधता का समावेश होता है, ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय एक ही नही हो सकते। पुन यह मानना गलत है कि अज्ञान ज्ञान के विषय अथवा ब्रह्मन् पर आश्रित रहता है क्योकि अज्ञान सदा ज्ञान पर आश्रित रहता है। यदि ज्ञान के अवसर पर यह माना जाय कि विषयो पर आश्रित अज्ञान दूर हो गया है, तो एक व्यक्ति के ज्ञान द्वारा विषय मे निहित अज्ञान दूर हो जाने के कारण सभी व्यक्ति उस विषय को ज्ञात करने मे समर्थ हो जाने चाहिये। यदि घट को ज्ञात करने का अर्थ है घट मे निहित अज्ञान का निराकरण होना, तो इस अज्ञान के निराकरण से घडे का ज्ञान उन व्यक्तियो को भी हो जाना चाहिये जो यहाँ उपस्थित नही है।[1] पुन यदि किसी विषय के ज्ञान द्वारा किसी अन्य विषय मे निहित अज्ञान का निराकरण होता है, तो घट के ज्ञान द्वारा अन्य विषयो का अज्ञान दूर हो जाता।

पुन, एक जड पदार्थ वह है जो कभी ज्ञाता नही बन सकता। इस कारण से आत्मन् ज्ञाता होने के कारण कभी जड नही माना जा सकता। किन्तु अद्वैतवादियो के अनुसार आत्मन् ब्रह्मन् के समरूप होने के कारण गुण-रहित है, अतएव वह कभी ज्ञाता नही हो सकता और यदि वह ज्ञाता नही हो सकता तो वह जड पदार्थ के स्वरूप का होना चाहिये—लेकिन यह सम्भव है। आत्मन् एक मिथ्या ज्ञाता भी नही हो सकता, क्योकि 'अनिर्वचनीय' के रूप मे मिथ्यात्व की सकल्पना का खण्डन हो चुका है। यदि 'जडत्व' का अर्थ है 'अप्रकाशत्व' तो हमे स्वीकार करना पडेगा कि आत्मन् भेदरहित होने के कारण स्वय को अथवा अन्य किसी वस्तु को प्रकाशित करने मे असमर्थ है, अतएव आत्मन् अप्रकाशक सिद्ध हो जायगा। आत्मन् स्वय को प्रकाशित नही कर सकता, वर्ना वह अपने प्रकाश की क्रिया का स्वय कर्त्ता एव विषय बन जायगा, जो असम्भव है। अन्य विषय भी अद्वैतवादियो के अनुसार मिथ्या होने के कारण अप्रकाशित नही हो सकते। जबकि वे विषय ही नही है और केवल मिथ्या है, तो वे प्रकाशित कैसे हो सकते है? इस प्रकार अद्वैतवादी ब्रह्मन् के स्वय-प्रकाशकत्व स्वरूप की व्याख्या करने मे असफल रहते हैं। फिर यह युक्ति भी ठीक नही है कि जो वस्तुएँ

[1] नहि ज्ञान-ज्ञेययोर्एकाकारता नहि
अज्ञस्य घटाश्रयत्व ब्रह्माश्रयत्व वा
अस्ति, पु गतमेव हि तमोज्ञानेन
निवर्तते, विषेयाश्रयचेद अज्ञान
निवर्तते तर्हि एकेन ज्ञातस्य घटस्य
अन्यैर्अज्ञातत्व न स्यात्। —वही, पृ० २४२।

काल एव दिक् से सीमित है वे मिथ्या है, क्योकि काल और 'प्रकृति' दिक्-काल से सीमित नही है, अतएव उनको मिथ्या नही माना जा सकता, जैसाकि अद्वैतवादी चाहते हैं। (फिर यह युक्ति यदि ठीक नही है कि जो वस्तुएँ काल एव दिक् से सीमित हैं वे मिथ्या हैं, क्योकि काल और 'प्रकृति' दिक्-काल से सीमित नही हैं, अतएव उनको मिथ्या नही माना जा सकता, जैसा कि अद्वैतवादी चाहते हैं।) फिर यह युक्ति यदि ठीक भी मान ली जाय तो वे वस्तुएँ जो अपने स्वरूप एव लक्षण से सीमित है, फलत मिथ्या हो जाएँगी। इस प्रकार आत्माएँ मिथ्या सिद्ध हो जाएगी, क्योकि वे अपने लक्षणो मे एक दूसरे से भिन्न हैं।

इसके अतिरिक्त, जगत सत्य एव तात्विक प्रत्यक्ष किया जाता है, और किसी ने उसको मिथ्या अनुभव नही किया है (सूर्य अथवा चद्रमा की लघुता का प्रत्यक्ष एक ऐसा भ्रम है जो दूरी के कारण उत्पन्न होता है, ऐसी अवस्थाएँ हमारे द्वारा प्रत्यक्ष किये गये जगत के सम्बन्ध मे लागू नही होती)। कोई ऐसा तर्क नही है जो इस मत को आधार दे कि जगत अज्ञान की उपज है। पुन, एक जादूगर और उसके जादू का साम्यानुमान जगत पर लागू नही किया जा सकता, क्योकि जादूगर अपने जादू की सृष्टि को प्रत्यक्ष नही करता और न वह उससे भ्रमित होता है। किन्तु ईश्वर तो अपनी सृष्टि का प्रत्यक्ष करता है। अत जगत जादू या 'माया' नही माना जा सकता, क्योकि ईश्वर सब वस्तुओ का अपरोक्ष प्रत्यक्ष करता है। इस प्रकार 'माया' के सिद्धान्त की किसी भी दृष्टिकोण से क्यो न विवेचना की जाय, यह युक्तिपूर्ण नही लगता तथा उसके पक्ष मे कोई प्रमाण नही दिये जा सकते।

मध्व का आगे यह मत है कि 'ब्रह्म-सूत्र' भाग २ मे न केवल विभिन्न अन्य दार्शनिक मतो का खडन किया गया है, वल्कि अद्वैतवादी सिद्धान्त का भी खडन किया गया है। बौद्ध-मत का खडन वस्तुत अद्वैतवादियो का भी खडन है, जो वास्तव मे प्रच्छन्न बौद्धो के अतिरिक्त कुछ भी नही है।[1] 'शून्यवादी' बौद्ध यह मानते हैं कि सत्य दो प्रकार का होता है, वह जो 'सम्वृत्त' अथवा सीमित अथवा व्यावहारिक महत्व का है, तथा वह जो 'परामर्थ' अथवा परम सत्य है। यदि कोई वस्तुओ के स्वरूप का सम्यक् विवेचन करे तो उनमे कोई सत्यता नही मिलेगी तथा जो सत्य के रूप मे प्रत्यक्ष किया जाता है वह केवल आभास है। 'पारमार्थिक' सत्ता का अर्थ है सर्व आभास की

[1] न च निर्विशेष ब्रह्मवादिन शून्यात् कश्चिद् विशेष,
तस्य निर्विशेष स्वय-भूतनिर्लेमरामर
शून्य तत्व विज्ञेय मनोवामोचरम्।

—तत्वोद्योत, पृ० २४३ (अ)।

निवृत्ति।[1] निर्गुण ब्रह्म और बौद्धों के 'शून्य' मे कोई अन्तर नही है। निर्गुण ब्रह्मन् स्वय-प्रकाश व नित्य है, बौद्धों का 'शून्य' मन और वाणी से अविज्ञेय है, तथा निर्विशेष, स्वय-प्रकाश व नित्य है। वह जडत्व, व्यावहारिकता, पीडा व दु ख समाप्ति व बधन के दोषो का विरोधी है।[2] वह वास्तव मे कोई सत्-भावात्मक सत्ता नही है, यद्यपि वह सर्व भावात्मक आभासो का आधार है, और यद्यपि वह स्वय मे नित्य है, तथापि व्यावहारिक दृष्टि से वह अनेक लक्षणो मे भासित होता है। वह न सत् है न असत्, न शुभ है न अशुभ। वह कोई ऐसी वस्तु नही है जिसे कोई त्याग सके अथवा ग्रहण कर सके, क्योकि वह अक्षय शून्य है।[3] इस सम्बन्ध मे यह कहा जा सकता है कि अद्वैतवादी भी सत् एव असत् नामक लक्षणों की सत्ता मे विश्वास नही रखते, क्योकि उनके अनुसार ब्रह्मन् सर्व लक्षणों व गुणों से रहित है। बौद्धो के शून्य की भाँति वह अनिर्वचनीय है, यद्यपि समस्त ज्ञान उसकी ओर सकेत करता है। न तो शकर-मतावलवी और न शून्यवादी सत्-अथवा भावात्मकता रूपी लक्षणो की सकल्पना मे विश्वास रखते हैं। शून्यवादी 'शून्य' को एक लक्षण नही मानता। अत. शकर के अनुयायियो का मत लक्षणो एव गुणो से सम्पन्न सगुण ईश्वर की धारणा से सर्वथा भिन्न है (समस्त प्रामाणिक श्रुति-पाठो का सामान्य आशय सगुण ईश्वर ही है)। अद्वैतवादियो के मत मे ब्रह्मन् निरपेक्ष, भेद-रहित है, अत वे अपने मत के पक्ष मे कोई युक्ति नही दे सकते, क्योकि समस्त युक्तियों मे सापेक्षता एव भेद का पूर्व-ग्रहण होता है। किसी सम्यक् युक्ति के अभाव मे, तथा जगत की सत्यता के व्यावहारिक अनुभव के समक्ष, वस्तुत. अद्वैतवादी मत को स्थापित करने का कोई साधन नही है। जगत के मिथ्यात्व को सिद्ध करने वाली सर्व युक्तियाँ जगताभास के अन्तर्गत ही आएगी, तथा स्वय मिथ्या हो जाएगी। यदि समस्त आत्माएँ एकरूप होतीं तो मुक्त और अमुक्त आत्माओ मे कोई

---

[1] सत्य च द्विविध प्रोक्त सम्वृतम् पारमार्थिक
सवृत व्यवहार्यं स्यान् निवृंत पारमार्थिक
विचारमानेन सत्यचापि प्रतीयये यस्य सवृत ज्ञान व्यवहारपादाच यत्।
—वही, पृ० २४३ (अ)।

[2] निर्विशेप स्वय भूत निर्लेपमजरामर
शून्य तत्वमविज्ञेय मनोवाचाम् अगोचर
जाड्य-सवृत-दु खान्त-पूर्व-दोप-विरोधि यत्
नित्य-भावनया भूत तद् भाव योगिना नयेन्
भावार्थ-प्रतियोगित्व वा न तत्वत
विश्वाकाराच सम्वृत्य यस्य तत् पद अज्ञायम्। —वही, पृ० २४३ (अ)।

[3] नास्य सत्वमसत्व वा न दोपो गुण एव वा
हेयोपादेय-रहित तच्छून्य पदम अक्षयम्। —वही, पृ० २४३।

भेद नही होता। यदि यह कहा जाय कि सर्व भेद अज्ञान के कारण है तो ईश्वर अज्ञान-रहित होने के कारण समस्त जीवो से अपने तादात्म्य का प्रत्यक्ष करेगा और इस प्रकार अनेक दु खो का भागी बन जायगा, किन्तु 'गीता' का श्रुतिपाठ निश्चय-पूर्वक यह बताता है कि ईश्वर स्वय को साधारण जीवो से भिन्न प्रत्यक्ष करता है। दु ख की अनुभूति 'उपाधि' जन्य सीमाओ से उत्पन्न नही मानी जा सकती, क्योकि उपाधियो की विविधता के होने पर भी अनुभवकर्त्ता एक-रूप बना रहता है। इसके अतिरिक्त ईश्वर सर्व उपाधियो से रहित होने के कारण सर्व प्राणियो के दु ख को बटाने की दृष्टि से उनके साथ अपनी समानता का प्रत्यक्षीकरण करने मे उपाधि-भेद द्वारा बाधित नही हो सकता। जो यह मानते हैं, कि जीव एक ही है तथा सर्व भ्रामक धारणाएँ उसके कारण है वे गलत है, क्योकि उसकी मृत्यु होने पर समस्त भेदो की निवृत्ति हो जानी चाहिये। इस मत के पक्ष मे भी कोई प्रमाण नही है कि भेद एव जगत के आभास की सकल्पना एक ही जीव की भ्रामक धारणा के कारण उत्पन्न हुई है। अत शकर-मतावलम्बियो द्वारा माने गये अद्वैतवादी मत के पक्ष मे कोई प्रमाण नही दिये जा सकते। इसलिये अब समय आ गया है कि 'माया'—सिद्धान्त के समर्थक भाग खडे हो, क्योकि सर्वज्ञ ईश्वर छलपूर्ण युक्तियो व श्रुति पाठो की असत्य व्याख्या रूपी अधकार को विदीर्ण करने के लिये आ रहा है।[1]

मध्व के 'कर्म-निर्णय' मे कर्म अथवा शास्त्रीय कर्त्तव्यों के स्वरूप का निरूपण किया है, जो 'पूर्व-मीमासा का विषय है। 'पूर्व-मीमासा' ईश्वर के अस्तित्व की न केवल लगभग उपेक्षा करता है, किन्तु उसका निषेध भी करता है। मध्व स्वय सगुण ईश्वर के महान् समर्थक थे, अत वे मीमासा की प्रामाणिक ढग से व्याख्या करना चाहते थे। उनके मत मे इन्द्र, अग्नि आदि विभिन्न देवता विष्णु अथवा नारायण का प्रतिनिधित्व करते है। 'पूर्व-मीमासा' तो समस्त यज्ञानुष्ठानो के उद्देश्य के रूप मे स्वर्ग की व्याख्या करके सतुष्ट हो गया था, पर मध्व के मत मे चरम उद्देश्य था सम्यक् ज्ञान तथा ईश्वर के अनुग्रह द्वारा मोक्ष की प्राप्ति। वे इस विचार को नापसन्द करते थे कि शास्त्रीय यज्ञो का अनुष्ठान स्वर्ग-प्राप्ति के उद्देश्य से किया जाना चाहिये, तथा वे इस धारणा पर बल देते थे कि यज्ञो का अनुष्ठान बिना किसी हेतु के करना चाहिये, उनके अनुसार उनका अनुष्ठान धार्मिक न्यादेश अथवा ईश्वरीय आदेश होने के नाते किया जाना चाहिये। उनका आगे मत था कि कार्यों के ऐसे निष्काम पालन ही से ईश्वरानुग्रह की प्राप्ति के लिए मन शुद्ध किया जा सकता है। अतएव यज्ञो का निष्काम सम्पादन एक प्रकार से प्रज्ञान एव ईश्वरानुग्रह की प्राप्ति का प्रारम्भिक चरण है तथा उसका उपसाधन है।

[1] पलायध्व पलायध्व त्वरया मायि दानव
सर्वज्ञो हरिरायाति तर्कागम-दरारिभृद्। —तत्त्वोद्योत, पृ० २८५ (अ)।

अत सदा की भाँति मध्व अद्वैतवादियो की अनन्त गुणसम्पन्न ईश्वर की विरोधी एव भेद-रहित ब्रह्मन् की समर्थक युक्ति का खडन करने का प्रयत्न करते है। उनका आगे कथन है कि 'सत्यम् ज्ञानम् अनन्तम् ब्रह्म' जैसे श्रुति-पाठ जो हमे निर्गुण ब्रह्म की ओर प्रेरित करते हैं उन श्रुति-पाठो से गौण माने जाने चाहिये जो द्वैतवादी स्वरूप के हैं। अनुमान के आधार पर अग्रसर होते हुए वे कहते हैं कि जगत कार्य रूप है अत उसका कोई बुद्धिमान कारण अथवा निर्माता होना चाहिये, और यह निर्माता ईश्वर है। जगत का यह निर्माता अनिवार्यत सर्वज्ञता एव सर्वशक्तिमत्ता सम्पन्न होना चाहिए। मध्व 'सगुण' ब्रह्म के पक्ष मे 'भागवत पुराण' की साक्ष देते हैं। जहाँ श्रुति-पाठ ब्रह्म को निर्गुण कहते हैं वहाँ आशय यह है कि ब्रह्म दुर्गुणो से रहित है। ब्रह्मन् सर्व विशेषो से रहित नही हो सकता, 'विशेष' का निषेव करना स्वय एक 'विशेष' है अतएव अद्वैतवादी उसका निषेध करेंगे, किन्तु वह उनको अनिवार्यत विशेष की स्वीकृति पर ही ले जायगा। फिर मध्व 'माया', 'मिथ्या' व 'अनिर्वचनीय' के विरोध मे अपनी पुरानी युक्तियाँ देते है, तथा यह सकेत करते हैं कि मध्व-निषेध नियम के अनुसार ऐसा कोई तत्व सम्भव नही है जो न 'सत्' हो और न 'असत्' हो। वस्तुत तथा-कथित 'अनिर्वचनीय' का कोई उदाहरण नही दिया जा सकता। कभी-कभी ऐसे भ्रम को, जो बाधित हो चुका है, 'अनिर्वचनीय' के उदाहरण के रूप मे प्रस्तुत किया जाता है, किन्तु यह सर्वथा त्रुटिपूर्ण है, क्योकि भ्रम की स्थिति मे इन्द्रियो द्वारा कोई वस्तु वास्तव मे दृष्येन्द्रिय के सम्पर्क मे थी तथा जब भ्रम का व्याघात होता है तब व्याघात का अर्थ है यह पता लगाना कि वह वस्तु जो वहाँ उपस्थित समझी गई थी वहाँ नहीं है। जिस वस्तु को—उदाहरण के लिये सर्प को गलती से प्रत्यक्ष किया गया, वह एक यथार्थ वस्तु थी, लेकिन उसका अस्तित्व वहाँ नही था जहाँ उसे सोचा गया था। यह कहना कि भ्रम 'मिथ्या' है केवल इतना ही अर्थ रखता है कि भ्रम-पूर्वक प्रत्यक्ष की गई वस्तु का वहाँ अस्तित्व नही है। केवल इस तथ्य का कि एक वस्तु भ्रम-पूर्वक प्रत्यक्ष की गई थी—यह अर्थ नही हो सकता कि वह वस्तु वास्तव मे सत् थी, और फिर उसकी असत्ता का व्याघात हो गया था, अतएव वह न सत् थी और न असत् थी। एकमात्र युक्ति-सगत दृष्टिकोण तो यह है कि भ्रम-पूर्वक प्रत्यक्ष की गई वस्तु का प्रत्यक्षीकरण की दिशा मे अस्तित्व नही रखती थी, अर्थात् वह 'असत्' थी। जो रज्जु 'सर्प' के रूप मे प्रत्यक्ष की गई थी, बाद मे जब सर्प का प्रत्यक्षीकरण लुप्त हो जाता है, तब उसका व्याघात हो जाता है, किन्तु स्वय जगत कभी भी लुप्त होता हुआ नही पाया गया है। इस प्रकार जगत के प्रत्यक्षीकरण मे तथा भ्रमक सर्प के प्रत्यक्षीकरण मे कोई समानता नही है। इसके अतिरिक्त 'अनिर्वचनीय' उसे कहते है जिसका विलक्षणता के कारण वर्णन करना कठिन होता है, परन्तु इसमे यह सिद्ध नहीं होता कि वह एक ऐसा तत्व है जो न सत् है और न असत्। यद्यपि उसका यथेष्ट विवरण दिया जा सकता है, तथापि हम उसके विवरण को समाप्त नहीं कर सकते। एक घट

एक कपडे से भिन्न होता है तथा केवल काल्पनिक शशशृ ग से भी भिन्न होता है, अर्थात्, एक घट एक सत् कपडे से तथा एक असत् शशशृ ग से भिन्न होता है, पर इससे घट 'अनिर्वचनीय' अथवा मिथ्या नही बन जाता। जैसाकि ऊपर बताया जा चुका है घट 'सदसद्-विलक्षण' है, किन्तु इस कारण से वह असत् नही हो जाता।

फिर, 'सदसद्-विलक्षण' वाक्याश का अर्थ बहुत अस्पष्ट है। प्रथमत यदि उसका अर्थ है 'भेद' का प्रत्यक्ष, तो यह अर्थ असगत है। अद्वैतवादी मानते है कि केवल ब्रह्मन् ही का अस्तित्व है, अतएव यदि सत् और असत् के भेद का भी अस्तित्व है तो द्वैतवाद प्रतिफलित हो जायगा। किन्तु उत्तर मे यह कहा जा सकता है कि द्वैतवाद का अभिवचन केवल निम्न-कोटि की सत्ता अर्थात् 'व्यावहारिक' सत्ता के रूप मे सम्भव है। परन्तु इस शब्द का अर्थ स्पष्ट नही है। उसका तात्पर्य एक ऐसे पदार्थ से नही हो सकता जो सत् और असत् दोनो से भिन्न हो, क्योकि ऐसा पदार्थ तार्किक दृष्टि से असत्य है। यदि उसका अर्थ सोपाधिक सत्ता से है, तो फिर उच्चतम सत्ता की सकल्पना भी मानवी ज्ञान से प्रतिबन्धित होने के कारण सोपाधिक (व्यावहारिक) होनी चाहिये, तथा इस पद को केवल भ्रामक प्रत्यक्षीकरण अथवा सामान्य प्रत्यक्षीकरण पर लागू करना सदेहपूर्ण होगा। द्वितीयत 'सदसद्विलक्षण' पद का अर्थ ब्रह्मन् और जगत् का तादात्म्य भी नही हो सकता, क्योकि ऐसे तादात्म्य का व्याघात हो सकता है। अद्वैतवादी न तो भेद की सत्ता का अभिवचन दे सकते है और न जगत और ब्रह्मन् के पूर्ण तादात्म्य की सत्ता का।

अद्वैतवादियो का यह मत कि सत्ता के विभिन्न स्तर होते हैं तथा उनमे स्वरूपत तादात्म्य व आभास की दृष्टि मे भेद है, तबतक स्थापित नही किया जा सकता जब-तक कि सत्ता के स्तरो की सत्यता को स्थापित नही कर दिया जाता। वे मानते है कि जगत (जो निम्न स्तर की सत्ता है) ब्रह्मन् पर अध्यारोपित है, अथवा ब्रह्मन् ने स्वय को जगत के रूप मे अभिव्यक्त किया है, किन्तु ऐसा कथन त्रुटिपूर्ण है यदि जगत एव ब्रह्मन् का पूर्ण तादात्म्य है। फिर तो 'पूर्ण तादात्म्य' वाक्याश केवल एक समानार्थक पद हो जायगा, तथा इस रूप मे जिन श्रुति-पाठो की व्याख्या की गई है वे भी समानार्थक हो जायेंगे। अद्वैतवादी यह युक्ति देते है कि 'सत्य', 'ज्ञान', 'अनन्तम्' पद समानार्थक नही है, क्योकि उनके द्वारा उनके निषेधवाचक पदो का अपवर्जन हो जाता है। ब्रह्मन् को 'सत्य' एव 'ज्ञान' कहने का अर्थ यह है कि ब्रह्मन् 'असत्य' एव 'अज्ञान' नही है। लेकिन इस प्रकार की व्याख्या से उनका यह तर्क नष्ट हो जायगा कि समस्त श्रुति-पदो की केवल एक ही सार्थकता (अर्थात्, विशुद्ध भेद-रहित सत्ता का कथन) नही होगी अपितु उनके द्वारा अन्य गुणो का निषेध भी किया जा सकता है, तथा ऐसी स्थिति मे इस मत का व्याघात हो जाता है कि सर्व श्रुति-पदो की अन्तिम सार्थकता भेद-रहित ब्रह्मन् के कथन मे निहित है। पुन, जगत की 'अनिर्वचनीयता' भ्रम के त्रुटि-पूर्ण

विश्लेपण पर आधारित है, अतएव यह कथन कि ब्रह्मन् की भेदरहितता जगत की भ्रामकता पर निर्भर करती है, अद्वैतवादियो द्वारा किसी सम्यक् युक्ति द्वारा सिद्ध नही किया जा सकता। अद्वैतवादियो द्वारा जगताभास एव ब्रह्मन् का भेद चरम सत्य नही माना जा सकता, क्योकि उस दशा मे 'भेद' का प्रत्यय ब्रह्मन् के साथ सह-अस्तित्व रखने वाली सत्ता बन जायगा। फिर, सत् और असत् के मध्य भेद के प्रत्यय का वर्गीकरण करना आवश्यक है, तथा जब तक यह नही किया जाय तब तक इस कथन मात्र मे कोई अर्थ नही होगा कि जगताभास का ब्रह्मन् से अभेद भी है और भेद भी है। जो असत् से भेद रखता है उसे सत् कहा जाता है, और जो सत् से भेद रखता है वह असत् अथवा काल्पनिक कहलाता है। असत् का कोई गुण नही होता, क्योकि उसे किसी भी साधन से ज्ञात नही किया जा सकता, अतएव उसका सत् से भेद ज्ञात नही किया जा सकता, क्योकि किन्ही दो सत्ताओ के भेद को ज्ञात करने के लिये हमे उन दोनो सत्ताओ का पूर्ण ज्ञान होना चाहिये। कोई इस सम्बन्ध मे तर्क नही कर सकता कि शशशृ ग का एक वृक्ष से भेद है अथवा अभेद। पुन यदि 'सत्' का तात्पर्य भेद-रहित परमसत्ता से है तो चूंकि ऐसे सत् एव किसी अन्य वस्तु के मध्य के भेद मे कोई गुण नही होता, अत उस भेद का प्रत्यय बनाना सम्भव नही है। इस प्रकार हम किसी ऐसी वस्तु का प्रत्यय नही बना सकते जो सत् एव असत् दोनो से भेद रखती है, यदि जगत असत् से भेद रखता है तो वह सत् होना चाहिये और यदि जगत् सत् से भेद रखता है तो वह सत् होना चाहिये और यदि जगत सत् से भेद रखता है वह तो शशशृ ग होना चाहिये। मध्य-निषेध के नियम के अनुसार भी ऐसी कोई सत्ता नही हो सकती जो न सत् हो और न असत्, विरोधी निर्णयो के एक युग्म में से एक निर्णय सत्य होना चाहिये। इस प्रकार ब्रह्मन् एक ऐसी सत्ता है जो सर्वगुण-सम्पन्न है, तथा जगत के स्रष्टा और नियन्ता के रूप मे उसका निषेध नही किया जा सकता।

मध्व फिर प्रभाकरो से विवाद करते हैं, जिनके मत मे वैदिक-वाक्यो का चरम आशय किसी कर्म का अनुष्ठान होना चाहिये। ऐसी दशा मे वैदिक वाक्यो का आशय ब्रह्मन् की सत्ता की ओर सकेत करना कभी नही होगा, क्योकि ब्रह्मन् मानवी कर्म का विषय नही बन सकता। मध्व के मत मे सर्व वैदिक पाठो का उद्देश्य ईश्वर का यशोगान करना है तथा यह बताना है कि जो कुछ ससीम मानवो की क्रिया द्वारा उत्पन्न किया जाता है वह असीम ईश्वर मे पूर्व-स्थापित है। सर्व कर्मो मे 'इष्टसाधनता' (सुखमय हेतु) सन्निहित होती है, न कि केवल क्रिया। मनुष्य द्वारा कोई ऐसा कार्य सम्पन्न नही किया जायगा जो उसके लिये स्पष्टत हानिकारक हो। इस प्रकार यदि सर्व कर्मों का बल 'इष्टसाधनता' पर होता है, तो फिर मीमासा-मत का यह कथन असत्य है कि सर्व सम्भाव्य कर्मो का आशय 'कार्यता' है, 'इष्ट-साधनता' के अन्तर्गत 'कार्यता' का समावेश हो जाता है। सर्व कर्मों को चरम 'इष्ट-साधनता' ईश्वरानुग्रह

द्वारा मोक्ष की प्राप्ति करना है। अत यह आवश्यक है कि सर्व यज्ञ-कर्म भक्ति-भाव से सम्पन्न किये जाय, क्योकि भक्तिमय उपासना से ही ईश्वर के अनुग्रह को प्राप्त किया जा सकता है। 'कर्म-निर्णय' ४०० 'ग्रन्थो' की एक छोटी सी रचना है।

'विष्णु-तत्व-निर्णय' मे जो लगभग ६०० 'ग्रन्थो' की रचना की है—मध्व अनेक महत्वपूर्ण समस्याओ का विवेचन करते हैं। वे यह घोषणा करते हैं कि वेद, 'महा-भारत,' 'पचरात्र,' 'रामायण,' 'विष्णु-पुराण' तथा उनका अनुकरण करने वाले सर्व धर्म-साहित्य प्रामाणिक शास्त्र (सद्-आगम) माने जाने चाहिये। अन्य सभी मूलपाठ जो उनके विरोध मे जाते हैं वे अशुभ शास्त्र (दुर-आगम) माने जाने चाहिये, तथा उनका अनुसरण करके ईश्वर के सत्य स्वरूप को ज्ञात नही किया जा सकता। ईश्वर न तो प्रत्यक्ष और न अनुमान द्वारा ज्ञात किया जा सकता है, केवल वेदो की सहायता से ही ईश्वर के स्वरूप को ज्ञात किया जा सकता है। वेदो की रचना किसी मानव के द्वारा नही की गई थी (अपौरुषेय) जब तक वेदो के अलौकिक उद्गम को स्वीकार नही कर लिया जाता तब तक धार्मिक कर्त्तव्यो की निरपेक्ष प्रामाणिकता स्थपित नही की जा सकती, सर्व नैतिक एव धार्मिक कर्त्तव्य सापेक्ष बने रहेगे। कोई भी मानवी आदेश अज्ञान की अनुपस्थिति अथवा असत्य ज्ञान की अनुपस्थित के सम्बन्ध मे आश्वा-सन नही दे सकते, न यह माना जा सकता है कि यह आदेश किसी सर्वज्ञ सत्ता के अग्रसर होते हैं क्योकि एक सर्वज्ञ सत्ता के अस्तित्व को श्रुतियो के बिना ज्ञात नही किया जा सकता। यह मान लेना भी युक्ति-सगत नही है कि ऐसी सर्वज्ञ सत्ता हमे धोखा देने मे अभिरुचि न रखती हो। पर यदि दूसरी ओर वेदो को किसी पुरुष से उत्पन्न नही माना जाता है तो हमे किसी अन्य मान्यता स्वीकार करने को बाध्य नही होना पडता, वेदो का 'अपौरुषेय' उद्गम स्वय-सिद्ध है क्योकि हम किसी ऐसे व्यक्ति को नही जानते जिसने उन्हे लिखा हो। उनकी उक्तियाँ साधारण उक्तियो से भिन्न हैं, क्योकि हम पश्चादुक्त के रचियताओ को जानते हैं। वेद अपने स्वरूप मे स्थित हैं तथा केवल महर्षियो के सम्मुख प्रकट किये गये है, तथा उनकी सत्यता किसी अन्य वस्तु पर निर्भर नही करती, क्योकि यदि हम ऐसा न माने तो हमारे पास सत्यता की कोई निरपेक्ष कसौटी शेष नही रह जाती, तथा अनवस्था दोष उत्पन्न हो जायगा। उनकी सत्यता किसी तर्क पर निर्भर नही करती, क्योकि अच्छा तर्क केवल यही बता सकता है कि विचार प्रक्रिया मे कोई तार्किक दोष नही है, तथा स्वय किसी वस्तु की सत्यता स्थापित नही

सकेत मिलता प्रतीत होता है तो इस बात का प्रत्यक्ष अनुभव तथा अनुमान द्वारा व्याघात हो जाता है, अतएव इन पाठो की अद्वैतवादी व्याख्या असत्य हो जायगी। श्रुतियां किसी ऐसी बात का निर्देश नही कर सकती जिसका अनुभव द्वारा प्रत्यक्ष व्याघात हो जाय, क्योकि यदि अनुभव को असत्य माना जाय तो श्रुतियो की सत्यता का अनुभव असत्य हो जायगा। श्रुतियो का उपदेश अन्य 'प्रमाणो' से अनुकूल होने पर अतिरिक्त बल प्राप्त कर लेता है, और चूंकि सभी 'प्रमाण' भेद की सत्यता की ओर सकेत करते हैं अत श्रुति-पाठो की अद्वैतवादी व्याख्या को सत्य नही माना जा सकता। जब किसी अनुभव-विशेष का अनेक अन्य 'प्रमाणो' के द्वारा व्याघात हो, तब वह अनुभव असत्य सिद्ध हो जाता है। इसी विधि से शुक्ति-रजत का मिथ्यात्व सिद्ध किया जाता है। जो वस्तु दूर से रजत के रूप मे प्रत्यक्ष की गई थी उसका निकट निरीक्षण तथा हाथ के स्पर्श द्वारा बोध हो जाता है और इसी कारण से दूर से प्रत्यक्ष की गई शुक्ति-रजत को असत्य माना जाता है। जो अनुभव अनेक अन्य प्रमाणो द्वारा बाधित होता है, उसे उसी कारण से दोष-युक्त मानना चाहिये।[1] किसी प्रमाण का तुलनात्मक मूल्य उसके परिणाम अथवा गुण से आका जा सकता है।[2] गुणात्मक प्रमाण दो प्रकार के होते है, अर्थात् सापेक्ष (उपजीवक) तथा स्वतत्र (उपजीव्य), इनमे से पश्चादुक्त को अधिक सबल मानना चाहिये। प्रत्यक्ष तथा अनुमान स्वतत्र प्रमाण हैं, अतएव इनको 'उपजीव्य' माना जा सकता है, पर श्रुति-पाठ प्रत्यक्ष एव अनुमान पर आश्रित है अतएव 'उपजीवक' माने जाने चाहिये। सत्य प्रत्यक्ष अनुमान से पहले आता है और उससे श्रेष्ठ है क्योकि अनुमान को प्रत्यक्ष पर आश्रित रहना पडता है, अत यदि श्रुति-पाठो एव प्रत्यक्ष मे स्पष्ट विरोध हो तो श्रुति-पाठो की व्याख्या इस ढग से की जानी चाहिये कि उस प्रकार का कोई विरोध उत्पन्न न हो। अपने स्वरूप से सर्व प्रमाणो का आधार होने के नाते प्रत्यक्ष अथवा प्रत्यक्ष अनुभव 'उपजीव्य' है, तथा इस कारण से सत्यता का दृढतर अधिकारी है।[3] अद्वैतवादी तथा द्वैतवादी श्रुति-पाठो मे से पश्चादुक्त को प्रत्यक्ष

[1] बहु-प्रमाण-विरुद्धाना दोपजन्यत्व-नियमात्, दोप-जन्यत्व च बलव-प्रमाण-विरोधाद् एव ज्ञायते।

अदुष्टमिन्द्रिय त्वक्ष तर्कोऽदुष्टम् तथानुमा
आगमोऽदुष्टवाक्य च तादृक् चानुभव स्मृत
बलवत्–प्रमाणतश्चैव ज्ञेया दोपा न चान्यथा।

—वही, पृ० ५६२ (४)।

[2] द्वि-विधम् बलवत्त्वञ्च बहुत्वाच्च स्वभावत। —वही।

[3] मध्व यहाँ 'ब्रह्मतर्क' के अनुसार विभिन्न 'प्रमाणों' का उल्लेख करते हैं। 'प्रमाणों' का विवरण एक अन्य भाग मे दिया गया है।

प्रमाण का समर्थन प्राप्त है। यदि यह कहा जाय कि श्रुति-पाठो का उद्देश्य प्रत्यक्ष से परे जाना है तथा विशुद्ध सत्ता की प्रत्यक्ष द्वारा ही अनुभूति की जा सकती है, तो यह बात फलित होती है कि द्वैतवादी पाठ साधारण प्रत्यक्ष के विरोध मे होने के नाते इसी आधार पर अधिक प्रामाणिक माने जाने चाहिये कि वे प्रत्यक्ष से परे जाते है। अत किसी भी दृष्टिकोण से देखने पर द्वैतवादी पाठो की श्रेष्ठता को अस्वीकृत नही किया जा सकता। इसके अतिरिक्त जब एक तथ्य विशेष को कई प्रमाणो द्वारा समर्थन प्राप्त होता है तो इससे उस तथ्य की सत्यता बलवती हो जाती है। यह तथ्य की ईश्वर जीवन और जगत से भिन्न है कई प्रमाणो द्वारा प्रमाणित होता है अतएव उसको चुनौती नही दी जा सकती, तथा समस्त वैदिक पाठो का अतिम व चरम आशय इस तथ्य की घोषणा करना है कि भगवान विष्णु उच्चतम सत्ता है। केवल ईश्वर की महानता व शुभत्व के ज्ञान द्वारा ही एक व्यक्ति उसकी भक्ति कर सकता है, तथा उसकी भक्ति और उसके अनुग्रह द्वारा ही वह जीवन के चरम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है। इस प्रकार ईश्वर एव उसके शुभत्व की घोषणा द्वारा 'श्रुति' हमारे लिये मोक्ष प्राप्त करवाने मे सहायक होती है।

कोई व्यक्ति किसी ऐसी वस्तु के प्रति आसक्त नही हो सकता जिससे वह अपने तादात्म्य का अनुभव करता है। एक सम्राट् अपने प्रतिपक्षी को प्रेम नही करता, अपितु वह उस पर आक्रमण करके उसे पराजित करने का प्रयत्न करेगा, किन्तु वही सम्राट् उस व्यक्ति को अपना सब कुछ दे देगा जो उसकी प्रशसा करे। अधिकाश श्रुति-पाठ ईश्वर को विविध विशेषणो एव शक्तियो से सम्पन्न बताते हैं जिनकी अद्वैतवाद के आधार पर व्याख्या नही की जा सकती। अत मध्व कहते हैं कि सर्व 'श्रुति' एव 'स्मृति' पाठो का चरम उद्देश्य परमेश्वर विष्णु की अनुत्तमता का कथन करता है।

किन्तु मध्व के प्रतिपक्षी यह युक्ति देते हैं कि परमसत्ता मे विशेषणो का प्रतिज्ञापन भेद के प्रत्यय पर निर्भर करता है, तथा भेद का प्रत्यय विशेषण और विशेष्य की पृथक-पृथक सत्ता पर निर्भर करता है। दो सत्ताओ के अभाव मे भेद का प्रत्यय नही बन सकता, तथा भेद के प्रत्यय के अभाव मे पृथक-पृथक सत्ताओ का प्रत्यय नही बन सकता, इस प्रकार ये दोनो प्रत्यय परस्पर अन्योन्याश्रित प्रत्यय है अतएव तार्किक दृष्टि से अमान्य है।[1] उत्तर मे मध्व कहते हैं कि उपर्युक्त युक्ति अमान्य है क्योकि वस्तुएँ स्वय भेद-स्वरूपी है। यह कहना युक्तिसगत नही है कि भेद निरर्थक हैं क्योकि उनका अनुभव वस्तुओ के सम्बन्ध मे ही हो सकता है, कारण यह है कि जिस प्रकार अभेद का

[1] न च विशेषण—विशेष्यतया भेद-सिद्धि, विशेषण-विशेष्य-भावश्च भेदापेक्ष धर्मि-प्रतियोग्यपेक्षया भेद-सिद्धिर्भेदापेक्ष च धर्मिप्रतियोगित्वमियन्योन्याश्रयनया भेदस्या-युक्ति। —विष्णु तत्व-विनिर्णय, पृ० २६४।

स्वतन्त्र अर्थ है उसी प्रकार भेद की अनुभूति भी स्वत हो जाती है। यह सोचना गलत है कि पहले तो हमे विभिन्न वस्तुओ का उनकी अभेदता मे ज्ञान होता है और उसके पश्चात् भेदो की अनुभूति होती है, अपितु वस्तु का प्रत्यक्षीकरण करना ही भेद का प्रत्यक्षीकरण करना है। अभेद भी उतना ही सरल एव विश्लेषण-गम्य है जितना अभेद। अभेद का प्रत्यय भी सरल है फिर भी तादात्म्य के सम्बन्ध के रूप मे उसकी अभिव्यक्ति की जा सकती है—यथा ब्रह्मन् एव जीव के तादात्म्य के रूप मे, जैसा कि अद्वैतवादी कहते है। उसके समान ही भेद का प्रत्यय सरल है, यद्यपि उसकी अभिव्यक्ति दो सत्ताओ के सम्बन्ध के रूप मे की जाती है। यह सत्य है कि सशय एव भ्रम की स्थिति मे हमे भेद के प्रत्यय को स्थगित करना पडता है, किन्तु वैसी स्थिति मे हमे अभेद के प्रत्यय को भी स्थगित करना पडता है। किसी वस्तु का प्रत्यक्षीकरण करने का अर्थ उसके अभेद अथवा तादात्म्य का प्रत्यक्षीकरण करना नही है, वस्तुओ का प्रत्यक्षीकरण करना, तथा इस विलक्षणता ही मे भेद का स्वरूप निहित है।[1] 'उसका भेद' यह कथन वस्तु के स्वरूप को लक्षित करता है, क्योकि यदि ऐसा न होता तो उस वस्तु के प्रत्यक्षीकरण से हमे अन्य वस्तुओ से उसकी पृथकता एव भेद की अनुभूति नही हो पाती। यदि वस्तु के प्रत्यक्षीकरण के साथ ही ऐसे भेद की अनुभूति नही होती तो एक व्यक्ति स्वय को घट अथवा वस्त्र से सम्भ्रात कर देता, किन्तु ऐसी सम्भ्राति कभी नही होती क्योकि ज्योहि घट का प्रत्यक्षीकरण होता है त्योही उसको अन्य सभी वस्तुओ मे भिन्न भी प्रत्यक्ष किया जाता है। अत भेद प्रत्यक्ष की गई वस्तुओ के स्वरूप के रूप मे अनुभूत किया जाता है, सशय केवल उन्ही स्थितियो मे उत्पन्न होता है जिनमे कुछ समानता हो, किन्तु अन्य अधिकाश स्थितियो मे एक सत्ता के अन्य सत्ताओ मे भेद की अनुभूति उस सत्ता के प्रत्यक्षीकरण के साथ ही हो जाती है। जिस प्रकार अनेक व्यक्तियो को एक दृष्टि से देखने पर उनका एक सामान्य ज्ञान हो जाता है, उसी प्रकार भेद का ज्ञान भी सामान्यत हो जाता है यद्यपि उस वस्तु का अन्य वस्तु-विशेष मे विशेष भेद प्रत्यक्षीकरण के तुरन्त साथ ही ज्ञान नही हो पाता। जब अनेक वस्तुओ का प्रत्यक्षीकरण किया जाता है तब हम यह प्रत्यक्षीकरण भी करते हैं कि प्रत्येक वस्तु भिन्न है, यद्यपि प्रत्येक वस्तु का अन्य वस्तु से भेद तत्काल अनुभूत नही हो पाता। अत हम इस निष्कर्ष पर पहुचते है कि भेद का प्रत्यक्षीकरण इकाइयो की श्रेणी के रूप मे अनेकता के पूर्व प्रत्यक्षीकरण पर निर्भर करता है जिस पर भेद का प्रत्यय आधारित रहता है। वेदान्ती अथवा अद्वैतवादी भी जो प्रत्येक सत्ता को ब्रह्मन् से

भिन्न मानते है इस बात का निषेध नही कर सकते कि प्रत्येक सत्ता के प्रत्यक्षीकरण मे उसके विशेष स्वरूप एव विलक्षणता का प्रत्यक्ष किया जाता है। इस प्रकार अद्वैतवादी भेद के प्रत्यक्षीकरण को जिस अन्योन्याश्रित तर्क से सम्बन्धित करते हैं वह दोषमय है तथा अमान्य है यदि एक वस्तु अपने स्वरूप की अभिव्यक्ति के साथ-साथ अपना भेद-विशेष एव विलक्षणता की अभिव्यक्ति नही करेगी तो समस्त वस्तुओ का प्रत्यक्षीकरण एकरूप हो जायगा। इसके अतिरिक्त प्रत्येक भेद का अपना विलक्षणस्वरूप होता है, एक घट से भेद एक वस्त्र से भेद के समान नही होता। इस प्रकार भेद का प्रत्यक्षीकरण अवैध नही माना जा सकता, यह कहना कि जिस वस्तु का प्रत्यक्ष वैध रीति से हुआ है-वह मिथ्या है अनुभव को चुनौती देना है, तथा अमान्य है। शुक्ति-रजत के भ्रामक प्रत्यक्षीकरण को मिथ्या इसलिये माना जाता है कि उसका एक अधिक सबल प्रत्यक्ष अनुभव द्वारा व्याघात होता है। कोई हेत्वनुमानिक तर्क वैध प्रत्यक्षानुभव की सत्यता को चुनौती देने की क्षमता नही रखता। कोई भी द्वन्द्वात्मक तर्क प्रत्यक्ष, अपरोक्ष अनुभव की अवैधता सिद्ध नही कर सकता। इस तर्क के अनुसार वस्तुओ के भेदो का निषेध करने वाली समस्त युक्तियो का श्रुति-पाठो, प्रत्यक्ष तथा अन्य युक्तियो द्वारा व्याघात हो जाता है, जो भेद की सत्यता को चुनौती देते हैं उनकी युक्तियाँ स्वरूपत सर्वथा छलपूर्ण है। यह कहना निरर्थक है कि यद्यपि हमारे व्यावहारिक अनुभव मे भेद की अनुभूति होती है तथापि पारमार्थिक सत्ता मे कोई भेद नही है। यह पहले ही प्रदर्शित कर दिया गया है कि मिथ्यात्व की सत् एव असत् दोनो से भिन्न बताकर परिभाषा देना अर्थहीन है। असत् को अनुभव के लिये मूल्यहीन बताना और उसका निषेध करने का प्रयत्न करना अर्थहीन है, क्योकि चाहे उसका अनुभव हो अथवा न हो, उसका निषेध करने की कोई आवश्यकता नही है। किसी वस्तु का असत् से भेद असत् के ज्ञान के विना ज्ञात नही किया जा सकता। शुक्ति मे रजत के आभास को सत् और असत् से भिन्न नही कहा जा सकता, क्योकि रजत के आभास का शुक्ति मे अनस्तित्व माना जाता है, यहाँ यह युक्ति नही दी जा सकती कि रजत के आभास की अनुभूति हुई थी अत उसका अनस्तित्व नही हो सकता। असत् का सत् के रूप मे प्रत्यक्षीकरण करने का अर्थ है एक वस्तु का दूसरी वस्तु मे प्रत्यक्षीकरण। यही भ्रम का स्वरूप है। यह नही कहा जा सकता, क्योकि अद्वैतवादियो द्वारा यह स्वीकार किया गया है कि वास्तविक अस्तित्व न रखते हुए भी 'अनिर्वचनीय' का प्रत्यक्षीकरण किया जा सकता है। यह भी नही माना जा सकता कि ऐसा प्रत्यक्षीकरण स्वय 'अनिर्वचनीय' होता है, क्योकि उस अवस्था मे 'दुष्ट अनन्त' का दोप उत्पन्न हो जायगा—पहला 'अनिर्वचनीय' दूसरे पर निर्भर करेगा तथा दूसरा तीसरे पर, इत्यादि। यदि रजत का आभास अपने स्वरूप से ही 'अनिर्वचनीय' होता तो उसका उस रूप मे प्रत्यक्षीकरण हो जाता तथा भ्रम का निराकरण हो जाता, क्योकि यदि प्रत्यक्षीकरण के समय रजताभास को 'अनिर्वचनीय' के रूप मे ज्ञात किया जाता तो प्रत्येक व्यक्ति को

यह अनुभूति हो जाती कि वह भ्रम का अनुभव कर रहा है। 'मिथ्या' शब्द का अर्थ 'अनिर्वचनीय' नही होता, उसका अर्थ होना चाहिये अनस्तित्व। ऐसी कोई वस्तु नही हो सकती जो न सत् है और न असत् है, प्रत्येक व्यक्ति यह प्रत्यक्षीकरण करता है कि वस्तुएँ या तो सत् हैं अथवा नही है, किसी ने भी ऐसी वस्तु का प्रत्यक्षीकरण नही किया है जो न तो सत् है और न असत् है। इस प्रकार तथाकथित 'अनिर्वचनीय' की मान्यता तथा असत् का प्रत्यक्षीकरण दोनो समान रूप से अमान्य है, भेद का प्रत्यक्षीकरण मान्य है, तथा अद्वैतवादी मत खण्डित हो जाता है।

श्रुति भी जीवो और ब्रह्मन् के भेद को स्वीकार करती है, यदि श्रुति-पाठ भी असत्य है तो फिर श्रुति के आधार पर अद्वैतवाद का उपदेश देना निरर्थक है। श्रुतियो के आधार पर हमे मानना पडता है कि ब्रह्मन् महानतम और उच्चतम है, क्योकि समस्त मान्य श्रुतियो का आशय इसी दृढोक्ति की स्थापना करना है—कोई भी एक क्षण के लिये यह नही सोच सकता कि वह ब्रह्मन् से एकरूप हैं, कोई यह अनुभव नही करता कि 'मै सर्वज्ञ हूँ, मैं सर्वशक्तिमान हूँ, मैं समस्त दु खो व दोषो से रहित हूँ' इसके विपरीत हमारा सामान्य अनुभव इसके ठीक विरोध मे है, तथा वह अनुभव असत्य नही हो सकता क्योकि उसकी असत्यता का कोई प्रमाण नही है। श्रुतियाँ स्वय कभी आत्मा और ब्रह्मन् के तादात्म्य की घोषणा नही करती, तथाकथित तादात्म्य-सूचक पाठ (तत् त्वम् असि—'वह तू है') ऐसे उदाहरणों सहित उद्घोषित किया गया है जिन सबका सकेत द्वैतवादी मत की ओर ही है। प्रत्येक तादात्म्य-सूचक पाठ के प्रसग मे दिया गया उदाहरण उसका यथार्थ आशय प्रदर्शित करता है, अर्थात् वह ब्रह्मन् और जीवो के भेद को स्वीकार करता है। जब यह कहा जाता है कि एक के जान लेने पर सभी का ज्ञान हो जाता है, तब तात्पर्य यह है कि ज्ञान का प्रमुख विषय एक ही है, अथवा एक ही सबका कारण है, उसका यह तात्पर्य नही है कि अन्य सभी वस्तुएँ मिथ्या है। क्योकि, यदि एक ही सत्य होता और अन्य सभी वस्तुएँ मिथ्या होती तो हम यह आशा करते कि सत्य के ज्ञान मे सब मिथ्यात्व का ज्ञान फलित होगा—ऐसी बात असम्भव है (नहि सत्यज्ञानेन मिथ्याज्ञानम् भवति)। यह नही कहा जा सकता कि शुक्ति के ज्ञान द्वारा रजत के ज्ञान की प्राप्ति होती है, क्योकि यह दोनो ज्ञान भिन्न हैं। एक व्यक्ति यह ज्ञान कर लेने पर ही कि 'यह रजत नही है,' शुक्ति को ज्ञात कर पाता है, जब तक

को जान लेता है तब वह कह सकता है कि वह पुत्र को भी जान गया है, 'ओह ! मैं उसे जानता हूँ, वह अमुक व्यक्ति का पुत्र है, मेरा उससे परिचय है,' किसी व्यक्ति को ज्ञात कर लेने पर हम उसके सदृश अन्य व्यक्तियो को ज्ञात करने का दावा कर सकते है, एक स्त्री को जान लेने पर कोई कह सकता है 'ओह ! मैं स्त्रियो को जानता हूँ।' 'श्रुति-पाठ ऐसे ही उदाहरणो के आधार पर यह घोषणा करते हैं कि एक को ज्ञात कर लेने पर सभी का ज्ञान प्राप्त हो जाता है। यह कहने का कोई कारण नही है कि इस प्रकार की उक्तियां ब्रह्मन् के अतिरिक्त सभी वस्तुओ के मिथ्यात्व की घोषणा करती हैं। जब श्रुतिपाठ यह घोषणा करते हैं कि मिट्टी के एक पिण्ड को ज्ञात कर लेने पर हम समस्त मिट्टी के वर्तनो को ज्ञात कर लेते हैं, तब उनका आशय केवल समानता से है, क्योकि ऐसा तो नही हो सकता कि सभी मिट्टी के वर्तन एक ही मृत्तिका पिण्ड से 'निर्मित' होते है, श्रुति-पाठ यह नही कहता है कि मृत्तिका को ज्ञात कर लेने पर हम समस्त मिट्टी के वर्तनो को ज्ञात कर लेते है, उसका यह कथन है कि मृत्तिका-पिण्ड को ज्ञात कर लेने पर हम समस्त मिट्टी के वर्तनो को ज्ञात कर लेते है। एक मृत्तिका-पिण्ड तथा अन्य समस्त मिट्टी के वर्तनो की समानता ही उक्त श्रुति-पाठ को न्यायोचित सिद्ध करती है। 'वाचारम्भणम्' शब्दो से उत्पन्न मिथ्यात्व नही है, क्योकि यदि ऐसा होता तो 'नामधेय' शब्द अप्रयोज्य होता। अत हमारा यह निष्कर्ष है कि श्रुतियाँ कही भी जगत के मिथ्यात्व की घोषणा नही करती, इसके विपरीत, वे जगत को मिथ्या मानने वाले मत की निन्दा से ओत-प्रोत हैं।[1]

परम-आत्मन् या ब्रह्मन् सर्वतत्र, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् एव आनन्दमय है, जबकि जीवात्मन् स्वरूप मे यद्यपि उसके समान है तथापि सदा उसके नियत्रण मे रहता है, अल्पज्ञ एव अल्प शक्तिमान है। यह मानना गलत है कि आत्मन् एक है किन्तु मिथ्या 'उपाधि' के कारण अनेक भासित होता है, यथा यह सकल्प करना असम्भव है कि आत्मन् को त्रुटि से अनात्मन् के रूप मे सकल्पित किया जा सकता है। चमत्कार के द्वारा यथार्थ वस्तुओ के अनुकरण मे मिथ्या आभास की तथाकथित सृष्टि यथार्थ वस्तुओ के अस्तित्व के कारण ही सम्भव हो सकती है, यथार्थ वस्तुओ के आधार पर ही मिथ्या भ्रम भासित होते है। स्वप्न भी यथार्थ अनुभवो के आधार पर घटित होते हैं तथा उनका अनुकरण करते है। स्वप्न-सृष्टियां अर्द्धचेतन 'वासना' की क्रिया के द्वारा ही सम्पन्न हो सकती है, किन्तु यह मानने का कोई कारण नही है कि कभी

[1] असत्यमप्रतिष्ठ ते जगदाहुरनीश्वरम्
अपरस्पर-सम्भूत किमयत् काम-हैतुकम्
एता दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्प-बुद्धय ।
—'गीता' १६ ८-९, मध्व द्वारा उद्धृत।

बाधित न होने वाला एव वस्तुत अनुभूत होने वाला जगत् स्वप्न सृष्टियो के समान मिथ्या है। इसके अतिरिक्त परमेश्वर सर्वज्ञ एव स्वय-प्रकाश है, तथा यह सम्भव नही है कि वह अज्ञान से आच्छादित हो जाय। यदि यह युक्ति दी जाय कि एक ब्रह्मन् 'उपाधि' द्वारा अनेक रूपो मे भासित होता है तथा वह जन्म पुनर्जन्म के चक्र मे भ्रमण करता है, तो चूँकि जन्म-पुनर्जन्म के चक्र अनन्त हैं अत ब्रह्मन् कभी भी उनसे मुक्त नही हो पाएगा और उसका 'उपाधि' से सम्पर्क स्थायी होने के कारण वह कभी मोक्ष की प्राप्ति न कर सकेगा। यह कहने से बचाव नही होगा कि विशुद्ध-ब्रह्मन् उपाधियो के द्वारा बन्धन मे नही पड सकता, जो पहले से ही 'उपाधि' से सम्बन्धित है उसे उससे सम्बन्धित करने के लिए एक अन्य उपाधि की आवश्यकता नही हो सकती, क्योकि इस प्रकार अनवस्था दोष उत्पन्न हो जायगा। फिर, मिथ्या 'उपाधि' की मान्यता को तभी सिद्ध किया जा सकता है जबकि अज्ञान की सत्ता को सिद्ध करने के लिए युक्ति दी जाय, यदि अज्ञान की सत्ता नही रख सकता अत यहाँ अन्योन्याश्रय का दोष उत्पन्न हो जायगा। परिकल्पना के अनुसार सर्वज्ञता उसी मे हो सकती है जो मिथ्या 'उपाधि' से असम्बन्धित हो, अत यदि विशुद्ध ब्रह्मन् स्वय अज्ञान से सम्बन्धित है तो मोक्ष कदापि सम्भव नही हो सकता, क्योकि उस दशा मे अज्ञान ब्रह्मन् का स्वरूप बन जायगा जिससे वह पृथक् नही हो सकता। इसके अतिरिक्त अज्ञान का ऐसा स्थायी अस्तित्व स्वभावत ब्रह्मन् और अज्ञान के द्वैतवाद को उत्पन्न कर देगा। यदि यह माना जाय कि 'जीव' के 'अज्ञान' के फलस्वरूप जगत् का आभास सम्भव होता है, तो यह सकेत किया जा सकता है कि यहाँ भी अन्योन्याश्रय का दोष उत्पन्न होता है, क्योकि 'अज्ञान' के पूर्व अस्तित्व के बिना 'जीव' नही हो सकता, और 'जीव' के बिना 'अज्ञान' नही हो सकता, 'अज्ञान' के बिना 'उपाधि' नही हो सकती, और 'उपाधि' के बिना 'अज्ञान' नही हो सकता। न यह माना जा सकता है कि विशुद्ध ब्रह्मन् ही भ्रम के कारण अज्ञानी प्रतीत होता है, क्योकि जब तक 'अज्ञान' की स्थापना नही हो जाती तब तक भ्रम नही हो सकता, और जब तक भ्रम नही होता तब तक 'अज्ञान' नही हो सकता, और जब तक भ्रम नही होता तब तक 'अज्ञान' नही हो सकता। एक अन्य दृष्टिकोण से भी यह कहा जा सकता है कि जब अद्वैतवादी यह कहते हैं कि समस्त जीवो की मुक्ति होने पर ब्रह्मन् का भी मोक्ष हो जायगा तब वे एक असम्भव तर्क-वाक्य का समर्थन करते है, क्योकि जीव परमाणुओ से भी बहुत अधिक सख्या मे होते है, एक परमाणु की नोक पर लाखो जीव स्थित हो सकते हैं, तथा यह सकल्पना करना असम्भव है कि तत्व-ज्ञान की प्राप्ति के द्वारा वे सब मोक्ष प्राप्त कर लेंगे। यह भी

गई वस्तुओ की उपेक्षा नही की जा सकती। हम सभी यह जानते है कि हम अपने अनुभव मे सदा जगत के विषयो का उपभोग करते रहते है, तथा इस तथ्य के होते हुए हम कैसे कह सकते है कि अनुभव और अनुभूत पदार्थ मे कोई भेद नही है ? जब हम भोजन का प्रत्यक्षीकरण करते है तब हम यह कैसे कह सकते हैं कि भोजन की सत्ता नही है ? किसी प्रत्यक्षीकरण के अनुभव को हम तभी बहिष्कृत कर सकते हैं जब हमे यह ज्ञात हो कि उसकी अवस्थाएँ ऐसी थी जिनके कारण उसकी सत्यता दूषित हो गई। हम दूरी से एक वस्तु का प्रत्यक्षीकरण करते हैं, हम कुछ बातो मे उस पर अविश्वास कर सकते है क्योकि हम जानते हैं कि जब हम दूरी पर किसी वस्तु को देखते है तब वह छोटी एव धुधली प्रतीत होती है, किन्तु जब तक इस प्रकार की विक्षेप उत्पन्न करने वाली अवस्थाओ को सिद्ध नही कर दिया जाय तब तक कोई भी प्रत्यक्ष असत्य नही माना जा सकता। इसके अतिरिक्त एक प्रत्यक्षीकरण के दोषो को किसी अन्य परिपक्व प्रत्यक्षीकरण की सहायता से भी ढूढा जा सकता है। किसी भी युक्ति द्वारा कभी भी जगत के मिथ्यात्व को सिद्ध नही किया जा सका है। साथ ही ज्ञान, अज्ञान, सुख एव दुख के अनुभव बाधित नही किये जा सकते, अत यह मानना पडता है कि जगत् का अनुभव सत्य है, और सत्य होने के कारण उसका निषेध नही किया जा सकता, अतएव अद्वैतवादियो द्वारा इच्छित मोक्ष असम्भव है। यदि प्रत्यक्ष अनुभव की गई वस्तु अधिक सबल अनुभव से रहित छलपूर्ण युक्तियो द्वारा निषेध हो सकता है तो आत्मन् का प्रत्यक्ष अनुभव भी मिथ्या माना जा सकता है। आत्मन् के अस्तित्व के सम्बन्ध मे छलपूर्ण युक्तियो की कोई कमी नही है, क्योकि कोई भी यह युक्ति दे सकता है कि सब कुछ मिथ्या है अत आत्मन् की अनुभूति भी मिथ्या है, तथा कोई कारण नही है कि हम अन्य वस्तुओ के अस्तित्व एव आत्मन् के अस्तित्व मे भेद स्थापित करें, क्योकि अनुभव के रूप मे दोनो एक ही स्तर के है। यह मान्यता निराधार है कि आत्मन् एक भिन्न स्तर की सत्ता है अत उसके मिथ्यात्व की घोषणा नही की जा सकती। न यह कहना सम्भव है कि समस्त भ्रम आत्मानुभव के आधार पर घटित होते है, क्योकि ऐसा कहने के लिये पहले यह सिद्ध किया जाना चाहिये कि आत्मन् का अनुभव मिथ्या नही है जबकि अन्य सभी अनुभव मिथ्या है—मध्वानुयायी इसी बात पर आपत्ति उठाते है। यदि यह कहा जाय कि अतार्किकता किसी अनुभव का मिथ्यात्व ही प्रदर्शित करती है, तो यह उत्तर दिया जा सकता है कि वस्तुगत अनुभव के साहचर्य के आत्मानुभव की अतार्किकता अथवा अव्याख्यात्मकता आत्मानुभव के मिथ्यात्व को ही सिद्ध करती है तथा और कुछ भी स्थापित नही करती, क्योकि अद्वैतवादी कहते है कि सर्व अनुभव 'अविद्या' से उत्पन्न होने के कारण आत्मानुभव के आभास मात्र हो सकते है। 'अविद्या' को भी अव्याख्यात्मक माना जाता है, तथा सर्वसत्ता अनुभव पर नही बल्कि तार्किक युक्तियो पर आधारित मानी जाती है, उस दशा मे यह भी कहा जा सकता है कि वस्तुएँ यथार्थ द्रष्टा है और आत्मन् दृश्य है।

कोई यह भी कह सकता है कि द्रष्टा के बिना भी मिथ्या आभास हो सकते है, इस बात की अतार्किकता अथवा अव्याख्यात्मकता से हमे हिचकना नही चाहिये क्योकि 'माया' भी अतार्किक एव अव्याख्यात्मक हैं, अत यह बताना सम्भव नही है कि 'माया' किस ढग से सम्भ्रान्ति उत्पन्न करेगी। भ्रान्ति को उत्पन्न करना 'माया' का एक-मात्र व्यापार है, अतएव हम यह कह सकते है कि या तो द्रष्टा के बिना ही दृश्य हैं, अधिष्ठान के बिना ही भ्रम हैं, अथवा वस्तुएँ भी तथाकथित द्रष्टा हैं और आत्मन् या तथाकथित द्रष्टा यथार्थ मे एक वस्तु ही हैं।

पुन यदि सर्व भेदो को 'उपाधि' से उत्पन्न मिथ्या आभास मात्र मान लिया जाय, तो फिर परम सत्ता का अनुभव भी उसी सादृश्य के आधार पर मिथ्या क्यो न मान लिया जाता? यद्यपि सुख और दु ख की भावनाएँ एक व्यक्ति के विभिन्न अगो मे प्रकट होती है, तथापि अनुभव-कर्त्ता एक ही प्रतीत होता है। इसी सादृश्यता के आधार पर विभिन्न शरीरो अथवा व्यक्तियो मे पाए जाने वाले अनुभवो को एक ही व्यक्ति का अनुभव क्यो नही मान लिया जाता? पहली दशा मे 'उपाधियो' की भिन्नता (जैसे एक व्यक्ति के अगो की भिन्नता) होने पर एक ही अनुभवकर्त्ता प्रतीत होता है, अत दूसरी दशा मे भी एक से अधिक व्यक्ति के शरीरो की विभिन्न 'उपाधियो' के होने पर भी एक ही अनुभवकर्त्ता हो सकता है और फिर, एक 'उपाधि' के नाश से ब्रह्म अथवा आत्मन् मुक्त नही हो सकता, क्योकि ब्रह्मन् अन्य 'उपाधियो' से सम्बन्धित है और सर्वदा बन्धन से पीडित रहता।

पुन, यह प्रश्न उठता है कि 'उपाधि' सम्पूर्ण ब्रह्मन् को आच्छादित करती है अथवा उसके एक अश को। ब्रह्मन् अवयवो से निर्मित कल्पित नही किया जा सकता, यदि 'उपाधि' का साहचर्य अन्य उपाधि के कारण माना जाय तो अनवस्था दोष उत्पन्न हो जायगा। फिर, चूंकि ब्रह्मन् सर्व-व्यापी है, उसमे 'उपाधि' के द्वारा कोई भेद नहीं हो सकता, तथा ब्रह्मन् के एक अवयव की सकल्पना सम्भव नही है, 'उपाधि' केवल उन्ही वस्तुओ के लिए सम्भव है जो दिक् व काल मे सीमित हो। पुन इसी कारण से विभिन्न 'उपाधियो' द्वारा उत्पन्न अनुभव एक ही ब्रह्मन् के अनुभव होने चाहिये, तथा उस दशा मे जैसे एक व्यक्ति के विभिन्न अगो के सुख व दु ख का अनुभव उस एक ही व्यक्ति का अनुभव माना जाता है वैसे विभिन्न शरीरो के द्वारा एक ही अनुभव की प्रतीति होनी चाहिये।

उससे एक-रूप है ? यदि वह विशुद्ध ब्रह्मन् से एक-रूप है तो वह बन्धन से पीडित नही हो सकता। यदि वह उससे एक-रूप नही है तो प्रश्न यह है कि वह नित्य है अथवा अनित्य, यदि वह नित्य नही है तो वह नष्ट हो जायगा और उसका मोक्ष नही होगा, यदि वह नित्य है, तो यह मानना पडता है कि 'माया' और 'ब्रह्मन्' नित्य सम्पर्क मे रहते हैं, जिसका तात्पर्य यह है कि परम सत्ताए दो है। यदि यह कहा जाय कि ब्रह्म शुद्ध स्वरूप मे एक ही है, यद्यपि वह 'उपाधि' के सम्पर्क से अनेक भासित होता है, तो सीधा उत्तर यह है कि यदि शुद्ध स्वरूप 'उपाधि' के सम्पर्क मे आ सकता है तो वह स्वय शुद्ध नही माना जा सकता। यह कहना कि 'उपाधि' मिथ्या है अर्थहीन है, क्योकि मिथ्यात्व और 'उपाधि' के प्रत्यय अन्योन्याश्रित हैं। न यह कहा जा सकता है कि 'उपाधि' अनादि 'कर्म' के कारण है, क्योकि जब तक 'उपाधि' की अनेकता सिद्ध नही की जा सकती तब तक 'कर्म' की अनेकता सिद्ध नही की जा सकती, चूंकि दोनो प्रत्यय अन्योन्याश्रित है। अत अद्वैतवादी मत हमारे सर्व प्रमाणो से बाधित हो जाता है, और समस्त मूल श्रुतियाँ द्वैतवादी मत का समर्थन करते हैं। अद्वैतवादी मत के आधार पर 'माया' और ब्रह्मन् दोनो का वर्णन नही किया जा सकता, यह अनुभूति करना भी कठिन है कि ब्रह्मन् अथवा अद्वैती स्वय की अभिव्यक्ति कैसे कर सकता है, क्योकि यदि वह एक है तथा क्रिया-रहित है तो वह स्वय की अभिव्यक्ति करने मे असमर्थ होना चाहिये। यदि वह अन्य व्यक्तियो के प्रति, जिनका अस्तित्व नही है, अपनी अभिव्यक्ति नही कर सकता, तो वह स्वय को स्वय के प्रति भी अभिव्यक्त नही कर सकता, क्योकि स्वक्रिया असम्भव है (न च स्वेनापि ज्ञेयत्व तदुच्यते कर्तृ-कर्म-विरोधात्)। ज्ञाता के बिना कोई ज्ञान सम्भव नही है। ज्ञाता और ज्ञेय से रहित ज्ञान रीता और शून्य है, क्योकि किसी ने भी ऐसे ज्ञान की अनुभूति नही की है जहाँ ज्ञान और ज्ञाता न हो।

मध्व के 'विष्णु-तत्व-निर्णय' पर जयतीर्थ द्वारा 'विष्णु-तत्व-निर्णय-टीका,' केशवस्वामिन् द्वारा 'विष्णु तत्व-निर्णय-टीका-टिप्पणी,' श्रीनिवास एव पद्मनाभतीर्थ द्वारा 'विष्णु-तत्व-निर्णय-टिप्पणी,' रघूत्तम द्वारा 'भक्त बोध' नामक टीकाए लिखी गईं, उस पर 'विष्णु तत्व-निर्णय-टीकोपन्यास' नामक एक अन्य टीका भी लिखी गई। इनके अतिरिक्त 'विष्णु-तत्व-निर्णय-व्याख्यार्थ' और वनमाली मिश्र की 'विष्णु-तत्व-प्रहास' नामक स्वतत्र रचनाए भी लिखी गईं जो 'विष्णु-तत्व-निर्णय' की अनुगामी कही जा सकती है।[1]

[1] अतो ज्ञातृ-ज्ञेयाभावात् ज्ञानमपि शून्यत्वैव, अत शून्य-वादान् न कश्चिद् विशेष, न च ज्ञातृ ज्ञेय-रहित ज्ञान क्वचिद् दृष्टम्।

—वही, पृ० २७५ (१७)।

मध्व की 'न्याय विवरण' छ सौ से अधिक ग्रन्थो की रचना है जिसमे 'ब्रह्म-सूत्र' के विभिन्न अध्यायो के तार्किक सम्बन्ध का विवरण दिया गया है। उस पर विट्ठल-सुतानन्दतीर्थ, मुद्गलतीर्थ और रघूत्तम द्वारा अनेक टीकाए लिखी गईं, जयतीर्थ ने भी उस पर 'न्याय-विवरण-पजिका' लिखी। मध्व के 'न्याय-विवरण' की दिशा मे राघवेन्द्र, विजयीन्द्र व वादिराज ने क्रमश 'न्याय-मुक्तावली,' 'न्याय-मौक्तिकमाला' और 'न्याय-मुक्तावली' लिखी। मध्व ने अपने 'भाष्य,' 'अनुभाष्य' व 'अनुव्याख्यान' को समाप्त करने के पश्चात् 'न्याय-विवरण' की रचना की थी। इस रचना का विस्तार से अनुसरण करना आवश्यक नही है, किन्तु हम सक्षेप मे मध्व की विवेचन-पद्धति की ओर सकेत करेंगे। वे कहते हैं कि 'ब्रह्म-सूत्र' की रचना उपनिषदो की अद्वैतवादी व्याख्या का खण्डन करने के लिए की गई थी। एक अद्वैतवादी के अनुसार ब्रह्म स्वय-प्रकाश होने के कारण जिज्ञासा का विषय नही बन सकता, इस मत के विरोध मे 'ब्रह्म-सूत्र इस मान्यता से प्रारम्भ होता है कि ब्रह्म के सर्व-गुण-सम्पन्न परम पुरुष होने के कारण सीमित मनस् उसका अवधारण कठिनाई से कर सकता है। फिर परम पुरुष की महानता के विस्तार के सम्बन्ध मे स्वाभाविक जिज्ञासा व्यक्त की गई है तथा द्वितीय 'सूत्र' मे यह प्रदर्शित किया गया है कि ब्रह्म जीवो से एक-रूप नही हो सकता क्योकि वह जगत् की उत्पत्ति का उद्गम स्थान है, तथा वही जगत् का पालन-कर्ता भी है। तृतीय 'सूत्र' मे हमको ज्ञात होता है कि जगत् का ब्रह्म-कारणत्व श्रुतियो के माध्यम के अतिरिक्त नही माना जा सकता, चतुर्थ सूत्र मे हम पढते हैं कि जिन श्रुतियो द्वारा हम ब्रह्म को जान सकते है वे उपनिषद् के अतिरिक्त अन्य कोई नही हो सकती। इस प्रकार, अपने समस्त प्रथम अध्याय मे मध्व यह प्रदर्शित करने का प्रयत्न करते है कि यदि हम सदिग्ध श्रुति-पाठो की स्पष्ट एव निश्चित अर्थ वाले श्रुति-पाठो के आधार पर व्याख्या करे तो हम पाएगे कि वे भी परमेश्वर की श्रेष्ठता एव अनुभवातीतता की घोषणा करते है। प्रथम भाग मे शेष अध्यायो मे भी जीवो की तुलना मे परमेश्वर की अनुभवातीतता की धारणा के साथ श्रुति पाठो के सामजस्य विधान का क्रम बना रहता है। चतुर्थ भाग का विवरण देते समय मध्व अपने उस मनोनीत मत का विवेचन करते है जिसके अनुसार सभी व्यक्तियो को मोक्ष नही मिल सकता, क्योकि केवल कुछ व्यक्ति ही मुक्ति के योग्य होते है।[1] वे घोषणा करते है कि प्रतिदिन ईश्वर के श्रेष्ठ गुणो का निरन्तर कीर्तन करके उसकी उपासना करनी चाहिए। शास्त्रीय कर्तव्यो के साथ-साथ ध्यान और उसकी उपासना के बिना परमेश्वर का अपरोक्ष अनुभव नही हो सकता।[2] यह नहीं कहा जा सकता कि ज्ञान का उदय होते ही सर्व 'कर्मो' का नाश हो जाता है और मोक्ष स्वत-

प्राप्त हो जाता है, क्योंकि ज्ञान तो केवल 'अप्रारव्ध' कर्मों को मिटा सकता है। 'प्रारव्ध' 'कर्मो' का फल तो उनकी समाप्ति होने तक भोगना ही पडता है। इस प्रकार मध्व 'जीवन्मुक्ति' के सिद्धान्त के पक्ष मे है। यद्यपि यह कहा गया है कि सम्यक्-ज्ञान का उदय 'अप्रारव्ध कर्मो' को मिटा देता है, तथापि कर्ता परमेश्वर ही है। जब मनुष्य मे सम्यक्-ज्ञान उदित होता है तव परमेश्वर प्रसन्न हो जाता है और 'अप्रारव्ध कर्मो' का नाश कर देता है।[1] मृत्यु-काल' मे सर्व ज्ञानी व्यक्ति अग्नि की ओर अग्रसर होते है और वहाँ से 'वायु' की ओर जो उन्हे ब्रह्म तक पहुँचा देती है, क्योंकि 'वायु' के द्वारा ही ब्रह्म तक पहुँचा जा सकता है। जो जगत् मे फिर से आते है वे धूम्र मे से गमन करते है, तथा अन्य व्यक्ति अपने पापी चरित्र के कारण निम्नतम लोक मे पतित होते है। मोक्ष की अवस्था मे भी मुक्त प्राणी विशुद्ध आनन्द के रूप मे भक्ति का उपभोग करते है।

मध्व की 'तत्र-सार-सग्रह' कर्म-काण्ड पर चार अध्यायो की एक रचना है जिसमे 'मत्रो' के प्रयोग से विष्णु की उपासना-विधि वताई गई है तथा कर्मकाण्डीय उपासना के विभिन्न उपक्रम दिये गये हैं। उस पर चलारि नृसिहाचार्य, चलारि शेषाचार्य, रघुनाथयति और श्रीनिवासाचार्य द्वारा टीकाएँ लिखी गई हैं। जयतीर्थ ने 'तत्र-सारोक्त-पूजाविधि' नामक लघु रचना पद्य मे लिखी, उस पद्धति मे श्रीनिवासाचार्य ने 'तत्र-सार-मत्रोद्धार' नामक एक छोटी कृति लिखी।

मध्व ने 'सदाचार-स्मृति' नामक एक अन्य लघु रचना भी लिखी जो चालीस श्लोको मे है। यह रचना भी कर्म-काण्ड पर है जिसमे एक अच्छे 'वैष्णव' के कर्त्तव्यो का वर्णन किया गया है। इस पर द्रोणाचार्य ने 'सदाचार-स्मृति-व्याख्या' नामक टीका लिखी।

मध्व ने 'कृष्णामृत-महार्णव' नामक एक और छोटी कृति लिखी। मुझे उस पर कोई टीका नही मिली। उसमे दो सौ बयालीस श्लोक हैं जो विष्णु की उपासना की विधियो का वर्णन करते है तथा परमेश्वर के अति-श्रेष्ठ स्वरूप के सतत ध्यान व उपासना पर वल देते हैं। उनमे पापो के निवारण के लिए पश्चात्ताप एव ईश्वर-नाम के ध्यान के साधनो का उल्लेख किया गया है। मध्व आगे कहते है कि वर्तमान कलि-काल मे ईश्वर की 'भक्ति' ही मोक्ष का एकमात्र साधन है। ईश्वर का ध्यान ही सर्व पापो का नाश कर सकता है।[2] ईश्वर का ध्यान करने वालो के लिये कोई शौच

---

[1] कर्माणि क्षपयेद् विष्णुरप्रारब्धानि विद्यया
प्रारब्धानि तु भोगेन क्षपयन् स्वय पद नयेत। —वही, १६।

[2] स्मरणादेव कृष्णस्य पापसघट्ट पजर
शतधा भेदमायाति गिरिर्वज्राहतो यथा। —'कृष्णामृत-महार्णव,' श्लोक, ४६।

एव किसी सन्यास की आवश्यकता नही है। ईश्वर-नाम ही पापो को दूर करने का एकमात्र साधन है। इस प्रकार सम्पूर्ण 'कृष्णामृत-महार्णव' ईश्वर की महिमा का वर्णन करती है, उसकी उपासना की विधियो का विवरण देती है तथा महत्वपूर्ण तिथियो पर अच्छे 'वैष्णवो' के कर्त्तव्यो का उल्लेख करती है।

मध्व ने लगभग एक सौ तीस श्लोको की 'द्वादशस्तोत्र' नामक एक अन्य लघु रचना भी लिखी। इस पुस्तक के लेखक को उस पर कोई टीका उपलब्ध नही हुई है।

उन्होंने दो श्लको मे 'नरसिंह-नख-स्तोत्र' नामक एक अन्य अति लघु रचना तथा छियासी श्लोको की 'यमक-भारत' कृति लिखी। 'यमक-भारत' पर यदुपति एव तिम्मण्ण भट्ट ने टीकाएँ लिखी, और इनमे मध्व कृष्ण की कथा का विवरण देते है जिसमे वृन्दावन की घटनाओ तथा पाण्डवो के साथ हस्तिनापुर की घटनाओ का समावेश किया गया है।

उन्होंने 'ऋग्वेद' की कुछ चुनी हुई ऋचाओ की टीका के रूप मे 'ऋग्वेद-भाष्य' भी लिखी जिस पर जयतीर्थ, श्रीनिवासतीर्थ, वेंकट, चलारिनृसिंहाचार्य, राघवेन्द्र, केशवाचार्य, लक्ष्मीनारायण व सत्यनाथ यति ने टीकाएँ लिखी। इस लेखक को दो अन्य अज्ञात लेखको की ऐसी कृतियो की जानकारी है जो 'ऋग्वेद-भाष्य' की पद्धति के अनुसार लिखी गई है, वे हैं 'ऋगर्थ-चूडामणि' और 'ऋगर्थोद्धार'। राघवेन्द्रयति ने भी 'ऋगर्थ मजरी' नामक रचना उसी पद्धति पर लिखी। 'ईशोपनिषद्' पर मध्व द्वारा लिखे गये भाष्य पर जयतीर्थ, श्रीनिवासतीर्थ, रघुनाथयति, नृसिंहाचार्य और सत्यप्रज्ञयति ने टीकाएँ लिखी तथा राघवेन्द्रतीर्थ ने 'ईश,' 'केन,' 'कठ,' 'प्रश्न,' मुण्डक, और 'माण्डूक्य' उपनिषदो पर एक पृथक् रचना लिखी जो मध्व द्वारा की गई इन उपनिषदो की व्याख्या-पद्धति का अनुसरण करती है। मध्व द्वारा 'ऐतरेयोपनिषद' पर लिखे गये भाष्य पर ताम्रपर्णी श्रीनिवास, जयतीर्थ, विश्वेश्वरतीर्थ व नारायण-तीर्थ ने टीकाएँ लिखी और नरसिंह यति ने 'ऐतरेयोपनिषद्-खण्डार्थ' नामक पृथक् ग्रथ लिखा जिस पर श्रीनिवास तीर्थ ने 'पदार्थ-प्रकाश' टीका लिखी। मध्व के 'कठोपनिषद्-भाष्य' पर वेंकट ने टीका लिखी। व्यास तीर्थ ने मध्व के 'केनोपनिषद्-भाष्य' पर 'केनोपनिषद्-भाष्य-टीका' लिखी, जबकि राघवेन्द्र तीर्थ ने एक पृथक् रचना

तीर्थ ने 'प्रश्नोपनिषद-भाष्य-टीका-टिप्पण' नामक दो टीकाएँ की। मध्व के 'वृहदारण्यक-भाष्य' पर रघूत्तम, व्यास तीर्थ व श्रीनिवास तीर्थ द्वारा टीकाएँ (वृहदारण्यक-भाष्य-टीका) लिखी गई तथा रघत्तम यति ने उस पर 'वृहदारणथक-भाव-बोध' नामक पृथक् रचना लिखी। 'मध्व के 'माण्डूक्योपनिषद्-भाष्य' पर व्यास तीर्थ व कृष्णाचार्य द्वारा दो टीकाएँ लिखी गई और राघवेन्द्र यति ने उस पर पृथक् से 'माण्डूक्य-खण्डार्थ' नामक रचना लिखी। मध्व के 'मुण्डकोपनिषद्-भाष्य' पर निम्नलिखित टीकाएँ हैं—व्यास तीर्थ और नारायण तीर्थ द्वारा 'मुण्डकोपनिषद्-भाष्य-टीका-टिप्पणी' और नृसिंह भिक्षु द्वारा 'मुण्डकोपनिषद्-भाष्य व्याख्या'।

मध्व-सम्प्रदाय के आचार्य और लेखक

मध्वों के सम्बन्ध मे ऐतिहासिक शोध का श्रीगणेश कदाचित् कृष्णस्वामी अय्यर द्वारा लिखित एक प्रालेख मे किया गया जिसमे उन्होने मध्व की आयु के प्रश्न को हल करने का प्रयास किया,[1] किन्तु वे एच० कृष्ण शास्त्री की भांति पुरातत्व सम्बधी सामग्री का उपयोग करने की स्थिति मे नही थे।[2] जिन निष्कर्षो पर वे पहुँचे वे कुछ बातो मे मध्व 'मठो' के अभिलेखो के विरोध मे थे तथा तिरुपति मे प्रतिवर्ष होने वाली 'मध्व-सिद्धान्त उन्नाहिनी सभा' ने उनके वक्तव्यो के विरोध मे गम्भीर आपत्तियाँ उठाई। मध्व के 'गीता-भाष्य' के अपने अनुवादक के प्रावक्थन मे सुब्बाराव ने कृष्ण शास्त्री की उनके परम्परागत झुकाव के लिये कडी आलोचना की और यह आरोप लगया कि वे तत्सम्बन्वी तथ्यो से अनभिज्ञ हैं।[3] बाद मे सी० एम० पद्मनाभाचार्य ने भी आंशिक रूप से पुरलेख सम्बन्वी सामग्री की सहायता लेकर मध्व के विषय मे लिखने का प्रयास किया,[4] उनकी पुस्तक मे परम्परागत विवरणो के अनुरूप मध्व के जीवन के प्रमुख तथ्यो का वर्णन किया गया है।

हम मध्व के जीवन की रूप-रेखा पहले ही दे चुके हैं। बद्रिकाश्रम से दक्षिण भारत की ओर जाते समय मध्व की सत्य तीर्थ से भेंट हुई थी तथा उन्होंने उनके साथ वग एव कलिंग प्रदेशो की यात्रा की थी। तेलुगु प्रदेश मे मध्व को शोभन भट्ट नामक एक प्रसिद्ध अद्वैती द्वारा चुनौती दी गई थी जो पराजित हुआ और मध्व-मत मे परिवर्तित

[1] सी० एम० कृष्णस्वामी अय्यर एम० एम० द्वारा रचित "मध्वाचार्य शोर्ट हिस्टोरीकल स्केच"।

[2] इपीग्राफिकल इण्डिका खण्ड ६, पृ० २६०-८ पर उनका प्रालेख देखिये।

[3] देखिये मिनर्वा प्रेस, मद्रास मे मुद्रित सुब्बाराव एम० ए० की "दी भगवद् गीता"

[4] सी० एम० पद्मनाभाचार्य द्वारा लिखित व प्रोग्रेसिव प्रेस, मद्रास मे मुद्रित "दी लाइफ आफ मध्वाचार्य"।

कर लिया गया। यही शोभन भट्ट फिर पद्मनाभ तीर्थ के रूप में प्रख्यात हुआ। मध्व का शास्त्रार्थ एक अन्य विद्वान से भी हुआ जो कलिंग प्रदेश का प्रधान मंत्री था, उसका भी मध्व द्वारा मत-परिवर्तन कर दिया गया और उसे नरहरि तीर्थ नाम दिया गया। इस बीच कलिंग-सम्राट् का देहावसान हो गया और नरहरि तीर्थ को सम्राट् के शिशु पुत्र की देख-रेख करने तथा उसके नाम पर राज्य का शासन करने का आदेश मिला। मध्व की आज्ञा से नरहरि ने बारह वर्ष तक राजसत्ता चलाई और कलिंग साम्राज्य के कोष से मठहित राम और सीता की मूर्तियाँ निकाल कर उन्हें भेंट कीं। एक बार मध्व का उस स्थान में रहने वाले पद्म तीर्थ नामक प्रमुख अद्वैती से प्रखर विवाद के फलस्वरूप झगड़ा हो गया और वह पराजित होने पर मध्व का पुस्तकालय लेकर भाग खड़ा हुआ, किन्तु जयसिंह नामक एक स्थानीय मुखिया की मध्यस्थता से मध्व को पुन पुस्तकें प्राप्त हो गई। उसके पश्चात् मध्व ने त्रिविक्रम पंडित नामक एक अन्य अद्वैती को पराजित किया जो मध्व-मत मे परिवर्तित हो गया और 'मध्व-विजय' का लेखक बना। मध्व के देहावसान के पश्चात् पद्मनाभ तीर्थ गद्दी पर बैठे और उनके उत्तराधिकारी नरहरि तीर्थ बने। हमने आचार्यों की उत्तराधिकार सूची पहले ही दे दी है तथा दक्षिण के मध्व मठों से उपलब्ध मध्व-गुरुओं की सूची मे प्राप्त उनकी तिथियाँ भी दे दी है। सी० वेंकोबा राव ने मध्वाचार्यों के इतिहास विषयक एक लेख में मध्व के जीवन के प्रमुख तथ्यों का निम्नलिखित काल-क्रम प्रस्तुत किया है - मध्व का जन्म शक १११८, प्रव्रज्या-ग्रहण शक ११२८, दक्षिण की यात्रा, बदरी का तीर्थाटन, शोभन भट्ट, श्याम शास्त्री व गोविन्द भट्ट का मत-परिवर्तन, बदरी की दूसरी बार तीर्थ-यात्रा, नरहरि की राजसत्ता का प्रारम्भ शक ११८६, नरहरि राजसत्ता का अन्त तक ११९७, मध्वाचार्य का देहावसान एवं पद्मनाभ आरोहण शक ११९७, पद्मनाभ तीर्थ का देहावसान शक १२०४ एवं नरहरि का आचार्यत्व काल १२०४-५।

एन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एंड एथीक्स (भाग ८) मे 'मध्व-चरित' पर अपने लेख में ग्रियर्सन का विचार है कि मध्व-मत पर ईसाई मत का प्रभाव बहुत स्पष्ट है, उनका कथन है कि मध्व का जन्म-स्थान कल्याणपुरा नामक प्राचीन नगर में अथवा उसके निकट था। कल्याणपुरा भारत में एक सबसे प्रारम्भिक ईसाई उपनिवेश के रूप में प्रख्यात रहा है ये ईसाई 'नेस्टोरियन' थे। फिर नारायण की 'मध्व-विजय' मे वर्णित आख्यानो मे से एक आख्यान के अनुसार एक ब्राह्मण के सम्मुख अनन्तेश्वर की आत्मा अवतरित हुई तथा उसे इस शुभ संदेश की घोषणा करने वाला दूत बताया कि स्वर्ग का साम्राज्य समीप ही है। बालक मध्व अपने माता-पिता द्वारा एक जंगल मे से ले जाया जा रहा था तब दुष्ट प्रेतो द्वारा उनकी राह मे विघ्न उत्पन्न किये गये, पर मध्व द्वारा फटकारे जाने पर वे भाग खड़े हुए। एक बार बालक मध्व पाँच वर्ष की आयु मे अपने माता-पिता से बिछुड़ गया था और मिलने पर वह शास्त्रो के अनुसार विष्णु की उपासना का उपदेश देते हुए पाया गया। दक्षिणी जिलो का पर्यटन करते समय

मध्व ने अपने अनुगामियो की आवश्यकताओ की पूर्ति के लिये भोजन के भण्डार की अभिवृद्धि की बताते है। अपनी उत्तर की यात्रा मे वे अपने पाँव गीले किये बिना पानी पर चले तथा एक अन्य अवसर पर उन्होने अपनी कठोर दृष्टि से क्रोधित समुद्र को शात कर दिया। मध्व के सम्बन्ध मे इन चमत्कारो से और इन तथ्यो से कि मध्व के भक्ति-सिद्धान्त एव ईसाइयो के भक्तिवाद मे बहुत साम्य है तथा मध्व एक ऐसे स्थान मे समृद्धि-सम्पन्न हुए जहाँ ईसाइयो का निवास था। ग्रियर्सन इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि मध्ववाद मे ईसाई प्रभाव का तत्व था। इस तथ्य की व्याख्या भी उपर्युक्त मान्यता के पक्ष मे की गई है कि मध्व के अनुसार मोक्ष केवल 'वायु' देव की मध्यस्थता से प्राप्त किया जा सकता है। किन्तु मेरे विचार मे इन युक्तियो मे मध्व पर ईसाई प्रभाव को खोजने का यथेष्ट आधार नही मिल सकता। भक्ति-सिद्धान्त बहुत प्राचीन है तथा उनका यथेष्ट विकसित रूप कुछ वैदिक एव उपनिषदिक श्लोको मे, 'गीता', 'महाभारत' व प्रारम्भिक 'पुराणो' मे उपलब्ध हो जाता है। कल्याणपुरा मे कुछ ईसाई रहे होगे किन्तु ऐसा कोई प्रमाण नही है कि वे इतने महत्वपूर्ण थे कि मध्व के परम्परागत मत को प्रभावित कर पाते। वे अन्य आचार्यो की भाँति वारम्वार यह कहते हैं कि उनके सिद्धान्त वेदो, 'गीता', 'पञ्चरात्र', और 'महाभारत' पर आधारित है। हमे मध्व और ईसाइयो के बीच किसी विवाद का विवरण भी उपलब्ध नही होता है तथा उनके बहुभाषी होने का ईसाई-साहित्य से परिचित होने का भी कोई उल्लेख नही मिलता। यद्यपि प्राय 'वायु' को मध्यस्थ के रूप मे स्वीकार किया गया है तथापि प्रमुख बल ईश्वर-ज्ञान पर आधारित ईश्वरानुग्रह पर दिया गया है, मध्व-मत मे कही भी 'ट्रिनिटी-सिद्धान्त' की छाप नही मिलती। अत सम्भाव्य ईसाई मत के प्रभाव का सुझाव बहुत अस्वाभाविक प्रतीत होता है। किन्तु बर्नेल अपने लेख "दी इण्डियन आन्टीक्वेरी" (१८७३-७४) मे ग्रियर्सन का समर्थन करते हैं, पर गार्बे यह सम्भव मानते हैं कि कल्याणपुरा एक अन्य कल्याण हो सकता है, जो बम्बई के उत्तर मे है, जबकि ग्रियर्सन के विचार मे वह उदिपि स्थित कल्याण ही होना चाहिये जो मलाबार के निकट है।

बर्नेल फिर यह निर्देश करते है कि नवी शताब्दी के आरम्भ से पूर्व कुछ पारसी मनिग्राम मे बस गये थे तथा वे आगे यह सुझाव देते है कि ये पारसी 'मैनीचियन' थे। किन्तु बर्नेल के मत का कालिन्स ने सफलतापूर्वक खण्डन किया है। यद्यपि वे इस सम्भावना को अस्वीकार नही कर सके कि 'मनिग्राम' (मनि) अर्थात् प्रेतात्मा शब्द से निकला है। ग्रियसन बर्नेल के विचार का समर्थन करते है जिसने शकर के रूप मे जन्म लिया बताते है और जिसका कपोलकल्पित विवरण नारायण की 'मणिमजरी' मे दिया गया है। यह अस्वीकृत नही किया जा सकता कि मणिमत का आख्यान विचित्र है, क्योकि मणिमत 'महाभारत' मे भीम के विरोधी के रूप मे एक बहुत महत्वहीन भाग

लेता है, किन्तु शकर के दर्शन अथवा धर्म-दर्शन मे द्वैतवाद जैसी कोई विचारधारा नही है जिसमें प्रकाश (ईश्वर) और अन्धकार नामक दो सिद्धान्तो को माना गया हो।

सन् ११६७ मे पद्मनाभ तीर्थ आचार्यत्व मे मध्व के उत्तराधिकारी बने और सन् १२०४ मे उनका देहावसान हो गया। उन्होने 'अनुव्याख्यान' पर 'पण्न्याय-रत्नावली' नामक टीका लिखी। नरहरि तीर्थ, जो मध्व के व्यक्तिगत शिष्य रहे बताते हैं, सन् १२०४ से १२१३ तक आचार्यत्व की गद्दी पर विराजमान रहे,[1] उन्होने मध्व के 'ब्रह्म-सूत्र-भाष्य' पर एक 'टिप्पणी' लिखी। हमे आगामी आचार्य मध्व तीर्थ (सन् १२१३-३०) द्वारा रचित किसी ग्रन्थ की जानकारी नही है। सन् १२३० से १२४७ तक अक्षेम्य तीर्थ आचार्य रहे और फिर जय तीर्थ सन् १२४७ से १२६८ तक रहे। ऐसा माना जाता है कि जयतीर्थ न केवल अक्षोभ्य तीर्थ के शिष्य थे बल्कि पद्मनाभ तीर्थ के भी शिष्य थे।[2] वे मध्व शाखा के सबसे पारगत लेखक थे तथा उन्होंने कई गम्भीर विद्वत्तापूर्ण टीकाएँ लिखी, उदाहरणार्थ, मध्व के 'ऋग्भाष्य' पर 'ऋग्भाष्य-टीका', 'ईशोपनिषद्-भाष्य' पर 'व्याख्यान विवरण' 'प्रश्नोपनिषद्-भाष्य-टीका', 'गीता-भाष्य' पर 'प्रमेय-दीपिका', 'गीता-तात्पर्य-निर्णय' पर 'न्याय-दीपिका' और 'ब्रह्म-सूत्र-भाष्य' पर 'तत्व-प्रकाशिका' पर उनकी सबसे पाडित्यपूर्ण एव तीक्ष्ण रचना 'न्याय-सुधा' है, जो मध्व के 'अनुव्याख्यान' पर एक टीका है। यह एक महान् कृति है। वे उसके प्रारम्भ मे बताते हैं कि अक्षेम्य तीर्थ उनके गुरु थे। मध्व-शाखा के अधिकाश लेखको का वह प्रमुख आधार ग्रथ है, उस पर 'न्याय-सुधा-परिमल' नामक ग्रथ मे राघवेन्द्र यति द्वारा टीका लिखी गई। सी० एम० पद्मनाभाचार्य 'न्याय-सुधा' के सम्बन्ध मे कहते हैं कि सम्पूर्ण सस्कृत साहित्य मे इससे अधिक अधिकारपूर्ण टीका उपलब्ध नही है।

रामानुज और मध्व

हमे ज्ञात है कि मध्व का दर्शन-तत्र द्वैतवाद एव अनेकतत्ववाद का प्रतिरक्षक होने के नाते शकर व उनके अनुयायियो को अपना प्रमुख शत्रु मानता था, एतएव उन्ही को अपनी प्रबलतम आलोचना का लक्ष्य बनाया। मध्व का आविर्भाव तेरहवी सदी मे हुआ था तथा उस समय तक वाचस्पति, प्रकाशात्मन्, सुरेश्वर व अन्य अद्वैतवाद के प्रमुख व्याख्याता शकर के अद्वैतवादी दर्शन के समर्थन मे पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थ लिख चुके

[1] नरहरि के जीवन की प्रगति एव तिथि के सम्बन्ध मे विवेचन के लिये देखिये Epigraphica Indica भाग ६, पृ० २०६, इत्यादि।

[2] हैल्मथ वॉन ग्लेसेनेपक का "Madhva's philosophica des Vishum Glanbens", १६२३, पृ० ५२।

थे। मध्व और जयतीर्थ और व्यासतीर्थ व उनके अन्य अनुयायियो ने जगत के मिथ्यात्व के पक्ष मे दी गई अद्वैतवादी युक्तियो का खडन करने का भरसक प्रयत्न किया तथा जगत की सत्यता एव अनेकता, आत्मन् व ब्रह्मन् के भेद एव ब्रह्मन् के सगुणत्व को स्थापित करने का पूरा प्रयास किया। उन पर शकर-मत के लेखको द्वारा फिर से आक्रमण किया गया और फलत इन दो महत्वपूर्ण विचार-शाखाओ के सदस्यो के परस्पर आक्रमण एव प्रत्याक्रमण का एक लम्बा इतिहास बन गया। किन्तु पाठकगण स्वभावत यह जानने के इच्छुक होगे कि मध्व और रामानुज के सम्प्रदायो का सम्बन्ध कैसा था ? मध्व स्वय ऐसा कोई वक्तव्य नही देते है जिसे उनके पूर्ववर्त्ती रामानुज के विरोध मे प्रत्यक्ष आक्रमण समझा जा सके, किन्तु उनके परवर्त्ती युग मे रामानुज और मध्व की शाखाओ के अनुयायियो मे गम्भीर शास्त्रार्थ होने का प्रमाण मिलता है, उदाहरणार्थ, सौलहवी सदी मे परकाल-यति ने 'विजयीन्द्र-पराजय' नामक ग्रन्थ लिखा जिसमे स्पष्टत मध्व-दर्शन के प्रमुखतम सिद्धातो का खडन किया गया है। इस ग्रन्थ का यहाँ सक्षिप्त विवरण देना वाछनीय होगा क्योकि वह विरल है एव पाण्डुलिपि मे ही उपलब्ध है।

परकाल यति अपने विचारो को वेंकट के 'तत्व-मुक्ताकलाप' से ग्रहण करते हैं तथा अपने मत के समर्थन मे उसमे से श्लोको को बहुधा उद्धृत करते है। उनका आक्रमण मध्व के उस सिद्धात पर किया गया है जो रामानुज के पदार्थ-विभाग ('द्रव्य' और 'अद्रव्य') का परित्याग करता है तथा उस मत पर जो गुणो को द्रव्य के अग मानता है, यही 'विजयीन्द्र-पराजय' के प्रथम दो भागो की विषय-सामग्री है।

द्रव्य एव गुणो के भेद के सम्बन्ध मे मध्व की स्थिति का वर्णन करते हुए लेखक कहता है कि मध्वो के विचार मे 'घट नीला है' वाक्य इस तथ्य से न्यायसगत बनता है कि 'नीलत्व' घट के 'यथेष्ट विवरण' मे समाविष्ट होता है तथा उससे भिन्न अस्तित्व नही रखता। उनके अनुसार यह कहना गलत है कि घट के गुण घट से पृथक् रहते हैं तथा किसी विशेष क्षण मे उसमे प्रविष्ट होते है। स्वय घट के प्रत्यय मे उसके समस्त गुणो का समावेश हो जाता है तथा वे कोई पृथक् अस्तित्व नही रखते, अर्थात् वे घट से 'अपृथक्-सिद्ध' है। परकाल यति निर्देश करते हैं कि चू कि हमे ज्ञात है कि गुणरहित घट ऊष्मा के कारण नीला रग ग्रहण करता है, अत नीला रग घट से भिन्न माना जा सकता है।[1] रग आदि गुणो का द्रव्य अधिष्ठान है तथा वे अवस्थानुसार उसमे प्रवाहित होते हैं अथवा नही होते हैं। यह नही कहा जा सकता कि गुणो के प्रवाह

[1] घटे पाकेन नैल्यनोत्पन्नम् इत्यनन्यथा-सिद्ध-प्रत्यक्ष च तत्र प्रमाण किंच रूपादि स्वाधिकरणाद्ऽभिन्न स्वाश्रेय स्फारे अस्य आगमोपाधि-धर्मत्वात्।

विजयीन्द्र-पराजय, पृ० ३ (पाण्डुलिपि)।

को निश्चित करने वाली अवस्था द्रव्य का स्वरूप ही है जिसमे गुण अपृथक् है क्योंकि द्रव्य और गुणो के अपृथक्त्व की सम्भावना स्वय विवाद-ग्रस्त है और उसे स्वीकार नही किया जा सकता। इसके अतिरिक्त एक 'उपाधि' का अस्तित्व तभी प्रासगिक हो सकता है जब वस्तुएँ भिन्न हो और 'हेतु' एव 'साध्य' का साहचर्य कुछ परिस्थितियो मे ही सत्य हो, उस दशा मे ये परिस्थितियाँ साहचर्य को निश्चित करने वाली अवस्था (उपाधि) कही जाती हैं।[1]

किन्तु यदि मध्व-गण यह युक्ति दें कि रामानुज-गण भी द्रव्य और गुणो के अपृथक् स्वरूप को स्वीकार करते हैं तो इसका उत्तर होगा कि रामानुज के अनुसार 'अपृथकसिद्धत्व' का अर्थ केवल यही है कि द्रव्य और गुण के सयुक्त होने पर उनके तत्व पृथक् नही किये जा सकते।[2] केवल इस तथ्य से कि 'नीला घट' पद की किसी स्वामित्व सूचक प्रत्यय के विना भी 'नीलत्व' एव 'घट' के तादात्म्य का आभास देता है। यह निष्कर्ष नही निकल जाता कि 'नीला' तथा घट' मे वस्तुत तद्रूपता विद्यमान है। स्वय मध्व-गण भी नीलत्व और घटत्व को एक ही नही मानते, अत उनको यह स्वीकार करना पडता है कि नीलत्व किसी प्रकार घट का विशेषण बनता है। इस प्रकार की स्वीकृति से स्वय उनका सिद्धात खडित हो जायगा।[3] यदि 'नीला' से भिन्न 'नीलत्व' को 'कमलत्व' से सबधित किया जाय तो इस तथ्य की स्वीकृति कि 'नीला' एव 'कमल' शब्दो का एक ही प्रत्यय लगाकर विशेषणात्मक और द्रव्यात्मक प्रयोग किया जाय तब वे एक ही वस्तु को सूचित करते हैं, यह कोई युक्ति-सगत तर्क नही है। यदि उनके भिन्न अर्थ समझे जाय तो एक द्रव्य होगा और दूसरा द्रव्य वही होगा।

वस्तुत हमारा प्रत्यक्षीकरण का अनुभव समस्त द्रव्यो एव गुणो के सविशेष स्वरूप को अभिव्यक्त करता है। उपनिषदो का कोई भी सच्चा अनुगामी यह धारणा नही रख सकता कि प्रत्यक्षीकरण सत्ता के विशुद्ध निर्विशेष स्वरूप को अभिव्यक्त करता है। यदि गुणो और द्रव्यो मे कोई भेद स्थापित नही किया जा सके तो एक

[1] न चेह अपृथक्-सिद्धत्वम् उपाधिस्तस्य साध्यस्पत्वे
साधन-व्यापकत्वाद् भेद-घटितो हि व्याप्य व्यापक-भाव।
—विजयीन्द्र-पराजय।

[2] रूपादेर्मदीयमपृथक्-सिद्धत्व ससक्त पटे अन्यत्र नेतुमशक्यत्वमेव। तच्च तद्रूपभवेऽपि रूपान्तरेण धर्मसत्तया अविरोधितया न पृथक्सिद्धत्वेन विरुध्यते।
—वही।

[3] तस्य त्वयाऽपि अखण्डार्थत्वानभ्युपगमात् विशिष्टार्थत्वे त्वदभिमत—सिद्धे।
—वही, पृ० ४।

द्रव्य का दूसरे से अन्तर ज्ञात करना सम्भव नही होगा, क्योकि एक द्रव्य की दूसरे से भिन्नता उनके गुणो के आधार पर ही ज्ञात की जा सकती है।

इसके अतिरिक्त द्रव्य एव गुणो का भेद अन्य 'प्रमाणो' से भी स्पष्ट हो जाता है। इस प्रकार एक अधा व्यक्ति किसी वस्तु के स्पर्शानुभव के सबध मे विवाद कर सकता है। किन्तु वह उसके रग के सबध मे ऐसा नही कर सकता। अत रग एव स्पर्श का अनुभव उस वस्तु से भिन्न माना जाना चाहिये। साथ ही, हम एक घट की रग से युक्त होने की चर्चा करते हैं, पर ऐसा कभी नही कहते कि घट रग है। इसलिये यह स्वीकार करना पडेगा कि पदार्थो के 'द्रव्य' एव 'अद्रव्य' मे वर्गीकरण का जो मध्वो ने निपेध किया है वह तर्क-सगत नही है। यह मानना पडेगा कि 'अद्रव्य' यद्यपि 'द्रव्य' से सर्वथा भिन्न है, तथापि उसके साहचर्य मे रहता है तथा गुण के लक्षणो के रूप मे उसके स्वरूप की अभिव्यक्ति करता है। परकाल यदि फिर भी उपनिषदो के कई अवतरणो की सहायता से यह प्रदर्शित करने का प्रयत्न करते हैं कि यदि गुणो और द्रव्यो के भेद को स्वीकार नही किया जाय, तो अधिकाश श्रुति-पाठ अमान्य हो जाएँगे।

कुछ मध्वानुयायी यह मानते है कि भेद और अभेद दोनो सत्य हैं तथा सावधान निरीक्षण के द्वारा भी 'द्रव्य' एव 'अद्रव्य' का भेद विविक्त नही किया जा सकता, अतएव 'द्रव्य' एव 'अद्रव्य' मे कोई भेद स्थापित करना असभव है जैसाकि रामानुजानुयायी कहते है। इसका उत्तर देते हुए परकाल यति कहते है कि किसी वस्तु की सत्यता को निश्चित करने वाला नियम अबाधित एव अन्यथा-सिद्धत्व के सिद्धातो पर आधारित होना चाहिये।[1] 'नीला-घट' के पद मे 'घटत्व' एव 'नीलत्व' मे तादात्म्य प्रतीत होता है, किन्तु यह पद-व्यजना अन्य समान रूप से सत्य पद-व्यजनाओ, जैसे 'घट मे नीलत्व,' नीले रग का घट, से बाधित हो जाती है और इस प्रकार 'नीला' व 'घट' के तादात्म्य का आभास देने वाली पद-व्यजना 'नीला-घट' ही सत्यता को निश्चित करने मे असमर्थ रहेगी। घट की सविशेषता से यह प्रदर्शित होता है कि जिस गुण से वह सविशिष्ट है उससे वह भिन्न है। न यह कहा जा सकता है कि चूँकि एक रग-विशेष का किसी द्रव्य से सदा साहचर्य होता है, अत वह रग एव द्रव्य एक ही है, क्योकि श्वेत रग से साहचर्य रखते हुए भी शक्ति कभी-कभी पीत-वर्ण की प्रतीक हो सकती है। इसके अतिरिक्त, जब एक ही द्रव्य अनेक गुणो से सम्पन्न हो तब यह नही माना जा सकता कि उसका उन समस्त अनेक गुणो से एक साथ तादात्म्य होता है।[2] यदि गुणो की भाँति द्रव्यो के धर्म-विशेष स्वय स्वभावत भिन्न हो तो गुणो के

---

[1] यस्तु अबाधितो नान्यथा सिद्धश्च प्रत्यय स एवाथ व्यवस्थापयति।—वही, पृ० ३०।

[2] किंच परस्पर-भिन्नैर्गुणैरेकस्य गुणिन अभेदोऽपि न घटते इति तदभेदोपजीवनेन इत्युक्तिरपि अयुक्ता। —वही, पृ० ३३।

आधार पर द्रव्यो के भेद भी त्रुटिपूर्ण हो जाएगे।' यदि एक वस्तु एक साथ कई गुणो से तादात्म्य हो तो हमे जैनो के 'सप्तभगी' मत को स्वीकार करना पडेगा। इस प्रकार किसी भी दृष्टिकोण से 'द्रव्य' एव 'अद्रव्य' के वर्गीकरण द्वारा खण्डित करने के प्रयास का परीक्षण करने पर वह दोषपूर्ण एव असत्य सिद्ध हो जाता है।

जिन महत्वपूर्ण सिद्धातो मे मध्व का अन्य लोगो से मतभेद है उनमे से एक यह है कि मोक्ष की अनुभूति समस्त सतो अथवा मुक्त व्यक्तियो मे एक समान नही होती। इस मत का समर्थन कुछ 'पुराणो' द्वारा किया गया है तथा गौडीय शाखा के वैष्णवो ने भी उसे माना है, किन्तु रामानुजानुयायी और शकरानुयायी दोनो इस मत के प्रवल विरोध मे थे, अतएव रामानुजानुयायियो ने इस वात पर मध्व की कडी आलोचना की। अत श्रीनिवास आचार्य ने 'आनन्द-तारतम्य-खडन' नामक एक पृथक् 'प्रकरण' ग्रथ लिखा। पर इस दिशा मे एक अधिक विस्तारपूर्ण एव अधिक आलोचनात्मक प्रयास परकाल यति ने अपनी 'विजयीन्द्र-पराजय' के चतुर्थ अध्याय मे किया। यह दोनो रचनाएँ पाण्डुलिपि मे विद्यमान हैं।

'ब्रह्म-सूत्र' के चतुर्थ भाग के चौथे अध्याय मे इस प्रश्न का विवेचन किया गया है कि युक्त व्यक्ति मोक्ष के पश्चात् अपने अनुभवो का उपभोग कैसे करते है। वहाँ यह कहा गया है कि परमेश्वर के स्वरूप मे प्रवेश करके मुक्त प्राणी अपने 'सकल्प' मात्र से आनन्दमय अनुभवो के भागी बनते है, किन्तु अन्य लोगो का मत है कि मुक्त प्राणी आनन्दमय अनुभवो का उपभोग अपने प्रयत्नो के अनुसार स्वय अपने शरीरो के माध्यम से करते हैं। चूंकि मुक्त अवस्था मे एक व्यक्ति सर्व प्रकार के आनन्दमय अनुभवो का अधिकारी होता है अत उसे चरम श्रेय की अवस्था मानी जा सकती है। किन्तु मुक्त व्यक्ति उन सभी आनन्ददायी अनुभवो को प्राप्त नही कर सकता जो परमेश्वर मे विद्यमान होते हैं प्रत्येक जीव अपने अधिकारो एव योग्यताओ से सीमित होता है और उन सीमाओ के अन्तर्गत ही उसकी इच्छाएँ फलीभूत हो सकती हैं। इस प्रकार प्रत्येक मुक्त व्यक्ति अपनी योग्यता एव अधिकारो की सीमाओ मे कुछ विशेष प्रकार के आनद का अधिकारी होता है।

पुन, 'ब्रह्म-सूत्र के तृतीय भाग के तीसरे अध्याय मे विभिन्न लोगो के लिये विभिन्न प्रकार की उपासनाओ को निश्चित किया गया है तथा उपासना के इस भेद का तात्पर्य अनिवार्यत यही होना चाहिये कि उनकी फल-प्राप्ति भी भिन्न-भिन्न होती है। अत यह स्वीकार करना पडेगा कि मोक्ष की अवस्था मे विभिन्न स्तर के मुक्त व्यक्तियो द्वारा विभिन्न श्रेणी के आनन्द का अनुभव किया जाता है।

[1] गुणगत भेद व्यवहारो निर्निवन्धनश्च स्यात् यदि गुणवत् गुणीधर्म-विशेष स्वतेव स्यात्।
—वही।

रामानुज के अनुयायियो द्वारा इस मत को चुनौती दी गई है तथ वे इस प्रसग मे उपनिषद्–पाठो को उद्धृत करते है। 'तैत्तिरीय-उपनिषद्' की 'ब्रह्मानन्दवल्ली' मे जो मानवो, 'गन्धर्वों' व अन्य प्राणियो के लिये भिन्न-भिन्न प्रकार के आनन्द का उल्लेख किया गया है उसका अर्थ यह नही समझना चाहिये कि विभिन्न प्रकार के मुक्त प्राणियो द्वारा विभिन्न प्रकार के आनन्द का उपभोग किया जाता है। रामानुज-मत के अनुसार बधन की अवस्था मे जीव परमेश्वर के पूर्ण नियत्रण मे रहते है। किन्तु मुक्त अवस्था मे जब वे मोक्ष प्राप्त कर लेते है तब वे परमेश्वर के सामजस्य मे रहते है तथा उसके समस्त सुखो के भागी बनते है, वे उसके अश हैं। मुक्त व्यक्ति उस अच्छी पत्नी के समान होता है जो अपने पति से पृथक् कोई सकल्प नही रखती और अपने पति की समस्त क्रियाओ एव भावनाओ के अनुसार पति के अनुरूप आनन्द का उपभोग करती है। अत. मुक्त आत्माएँ परमेश्वर से पूर्ण सम्पर्क मे होने के कारण उसके सर्व सुखो का उपभोग करती है और उनकी भागीदार बनती हैं तथा विभिन्न मुक्त व्यक्तियो मे आनन्द की श्रेणियाँ नही हो सकती।[1] उस अवस्था मे इन्द्रिय-सुख सम्भव नही होता। मोक्ष की अवस्था मे ब्रह्मानद का अनुभव ब्रह्मन् के स्वरूप का होना चाहिये तथा स्वय ब्रह्मन् का अनुभव आत्म-लाभ का अनुभव होता है, अत. ब्रह्मानन्द का अनुभव ब्रह्मन् के आत्म-लाभ के अनुभव के रूप का होने के कारण विभिन्न श्रेणियो अथवा स्तरो का नही हो सकता। साधारण मानवो का सुख इन्द्रियस्वरूप होने के कारण उनकी बुद्धि के सकुचन एव विस्तार पर निर्भर करता है, अतएव उसमें उच्चतर व निम्नतर, बडी व छोटी श्रेणियो के उपभोग के विभेद हो सकते है। मध्व के अनुयायी सोचते है कि मोक्ष की अवस्था मे विविध प्रकार के अनुभव होते हैं, और फलत भक्त की योग्यता के अनुसार उस अनुभव मे आनन्द की श्रेणियाँ अथवा स्तर होते है, किन्तु समस्त श्रुति-पाठ यह बताते है कि मोक्ष के समय ब्रह्मन् के स्वरूप का अनुभव होता है, और यदि यह मान लिया जाय तो सम्भवत मोक्ष मे श्रेणियाँ अथवा स्तर नही हो सकते।

पाचवें अध्याय मे इस विवेचन को जारी रखते हुए परकाल यति कहते है कि मोक्ष मे प्राप्त आनन्द मे कोई विभेद इस आधार पर नही होते कि विभिन्न व्यक्ति परमेश्वर को प्राप्त करने के लिये भिन्न-भिन्न विधियाँ अपनाते है, क्योंकि ये विधियाँ

---

[1] पारतन्त्र्य परे पुसि प्राप्य निर्गतबन्धन
स्वातन्त्र्यमतुल प्राप्य तेनैव सह मोदते

इति मुक्ता स्वदेहात्यये कर्मनाशाच्च स्वतन्त्रशेषत्वेन शरीरतया भोक्तुर्ब्रह्मणैव इच्छाम नुसृत्य स्वानुषगिक-तुल्य-भोग-फलक-नद्-भक्त्यैर्वो-प्रकरण-भूता यथा पत्नी-व्यापारादय पत्युरेव मुक्ताना शास्त्र-सिद्धा परस्परव्यापाराऽपि ब्रह्मणैव सर्वशरीर-कतया शरीरिण्येव शरीर-भोग-न्यायात्। —'विजयीन्द्र-पराजय,' पृ० ४३।

चाहे कितनी ही भिन्न क्यो न हो, उनके द्वारा उपलब्ध फल एक ही होता है, अर्थात् ब्रह्मन् के स्वरूप की प्राप्ति। कुछ प्राणी अधिक 'भक्ति' के योग्य हो सकते हैं और कुछ कम भक्ति के योग्य, किन्तु उससे अतिम 'मुक्ति' की प्राप्ति मे कोई अन्तर नही होता तथा मुक्ति सबके लिए एक समान होने के कारण उसका आनन्द भी[1] एक समान ही होना चाहिये। इस स्थिति मे विभिन्न यज्ञो से विभिन्न फल प्राप्त होने का सादृश्य लागू नही होता, क्योकि ये यज्ञ बाह्य साधनो से सम्पन्न किये जाते है अतएव उनके फल भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। किन्तु मोक्ष की प्राप्ति आध्यात्मिक साधनो, अर्थात् 'भक्ति' से की जाती है। न यह युक्ति मान्य है कि मुक्त प्राणी का आनद एक वैयक्तिक जीव का आनद होने के कारण एक ही स्वरूप का नही हो सकता, क्योकि मोक्ष की अवस्था मे जीव ब्रह्म-प्राप्ति के आनन्द का उपभोग करते है जो एक-रस एव सर्व व्यापी होती है। यह युक्ति देना भी गलत है कि मुक्त प्राणी का आनन्द सासारिक जीवन मे अनुभूत आनन्द के सदृश होने के कारण आनन्द की श्रेणियो से युक्त होना चाहिये। यह युक्ति भी अमान्य है कि चूंकि ब्रह्मन् को अतिश्रेष्ठ आनन्दमय मानना उसका उचित वर्णन या परिभाषा है, अत जीवो को हम उसी अर्थ मे अतिश्रेष्ठ आनन्द से युक्त नहीं मान सकते, क्योकि ब्रह्मन् 'अनन्त' है अत उसको उपर्युक्त परिभाषा द्वारा सीमित करना गलत होगा तथा यह परिभाषा उस पर लागू नही हो सकती। मुक्त अवस्था मे अतिश्रेष्ठ आनन्दमय जीवो से उसके विरोध का प्रश्न ही नही उठता। यह भी कहना गलत है कि ब्रह्मन् का आनन्द ब्रह्मन् के अधिकार मे होने के कारण किसी अन्य प्राणी के द्वारा नही भोगा जा सकता, क्योकि 'भोग' का वास्तविक अर्थ है अनुकूल अनुभव। इस प्रकार पत्नी अपने पति के, गुरु अपने शिष्य के एव माता-पिता अपने पुत्र के सद्गुणो का 'भोग' कर सकते है। मुक्त व्यक्ति स्वय ब्रह्मन् से तादात्म्य के अनुभव की प्राप्ति करता है तथा ब्रह्मन् के स्वरूप की स्वय मे यह उपलब्धि ही श्रेष्ठतम आनन्द है। उसका तात्पर्य यह नही है कि ब्रह्मन् के गुणो मे कमी हो जाती है, किन्तु उसका अर्थ यह है कि स्वय मे उन गुणो की अनुभूति मे ही चरम आनन्द मिल सकता है।[1]

---

[1] यद्यत्र तदीयत्वेन तच्छेपत्व तर्हि राजपुरुष भोग्ये राज्ञि व्यभिचार, भोगो हि स्वानुकूलत्व-प्रकारक-साक्षात्कार तद्विषयत्वमैव भोग्यत्वम्, तच्च दास प्रति स्वामिनि शिष्य प्रत्याचार्ये पुत्र प्रति मातरै पितरि च सर्वानुभव सिद्धम्।

—'विजयीन्द्र-पराजय,' पृ० १२४।

अध्याय २६

मध्व द्वारा 'ब्रह्म-सूत्रों' की व्याख्या

मध्व ने 'ब्रह्म-सूत्रो' पर न केवल एक 'भाष्य' लिखा, वल्कि 'अनुव्याख्यान' नामक रचना मे 'ब्रह्म-सूत्रो' के सदर्भ के सबध मे अपने मत की प्रमुख वातो का विवरण भी दिया। जयतीर्थ ने 'तत्व-प्रकाशिका' नामक एक टीका मध्व के 'भाष्य' पर लिखी। व्यास यति ने 'तात्पर्य-चन्द्रिका' नामक एक अन्य टीका 'तत्व-प्रकाशिका' पर लिखी जिसमे वे व्याख्या की अन्य शाखाओ के वेदान्त-लेखको और विशेपत. शकर मत के विचारो की ओर ध्यान आकर्पित करते हैं तथा उनका खडन करते हैं।[1] राघवेन्द्र-यति ने 'तात्पर्य-चद्रिका' पर एक टीका 'चद्रिका-प्रकाश' लिखी। विद्याधीश के एक शिष्य केशव भट्टारक ने 'चद्रिका-व्याख्यार्थ-वृत्ति' नामक उस पर एक अन्य टीका लिखी किन्तु उसमे केवल प्रथम खण्ड का समावेश किया गया है। राघवेन्द्र यति ने 'भाव-दीपिका' नामक एक अन्य टीका 'तत्व-प्रकाशिका' पर लिखी जिसमे उन्होंने अपने प्रतिपक्षियो के आक्षेपो का उत्तर दिया तथा विभिन्न विपयो की सरल व्याख्या की। इस भाग मे इन टीकाओ के प्रकाश मे मध्व द्वारा दी गई 'ब्रह्म-सूत्रो' का व्याख्या का विवरण देने का प्रयत्न करूगा और साथ ही शकर एव उनके टीकाकारो की व्याख्या से उसका अन्तर वताऊँगा 'ब्रह्म-सूत्र-भाष्य' एव उसकी प्राथमिक टीकाओ पर तथा 'अनुव्याख्यान' पर कई अन्य टीकाएँ भी है। इस प्रकार मध्व के 'भाष्य' पर त्रिविक्रम पण्डिताचार्य ने 'तत्व-प्रदीपिका' टीका लिखी। नृसिंह ने उस पर 'भाव-प्रकाश' लिखी तथा विजयेन्द्रयति ने 'न्यायाध्व-दीपिका'। पुन, जयतीर्थ की 'तत्व-प्रकाशिका' पर कम से कम पाच अन्य टीकाएँ है, यथा 'भाव-चन्द्रिका,' 'तत्व-प्रकाशिका भाव-बोध,' 'तत्व-प्रकाशिकागत न्याय-विवरण,' 'न्याय-मौक्तिक-माला' और 'प्रमेय-मुक्तावली' जिन्हे क्रमश नरसिंह, रघुनाथ यति, विजयीन्द्रयति और श्रीनिवास ने लिखी 'तात्पर्य-चद्रिका' पर तिम्मनाचार्य व विजयीन्द्रयति ने 'चद्रिका-न्याय-विवरण' एव 'चद्रिका-दर्पण-न्याय-विवरण' नामक दो अन्य टीकाएं लिखी। 'अनुव्याख्यान' पर जयतीर्थ की 'न्याय-सुधा' तथा विजयेन्द्रयति की 'सुधा' रची गई। 'न्याय-सुधा' पर भी अनेक टीकाएँ हैं—यथा

[1] देखिये हेल्मथ वॉन ग्लेसेनैप की "Madhva's Philosophie des Vishnu-Glaubens" वान एव लिपजिग, १६२३, पृ० ५१-६४।

नारायण द्वारा लिखी गई टीका, यदुपति द्वारा 'न्याय-सुधा-टिप्पणी,' विद्याधिराज द्वारा 'व्याख्यार्थ-चद्रिका' तथा श्रीनिवासतीर्थ द्वारा रचित टीका।[1]

ब्रह्म-सूत्र १-१-१ की व्याख्या

बादरायण के 'ब्रह्म-सूत्र के प्रथम' सूत्र (अथातो ब्रह्म-जिज्ञासा) पर टीका करते हुए शकर मानते है कि 'अथ' शब्द वैदिक आदेशो के अनुसार वैदिक आचार के पूर्व कर्मकाण्डीय अनुष्ठान की किसी अपरिहार्य आवश्यकता की ओर सकेत नही करता है, अपितु वह शम-दमादि नैतिक योग्यताओ के पूर्व अर्जन का ही उल्लेख करता है, जिसके पश्चात् एक व्यक्ति वेदात के अध्ययन का अधिकारी वनता है। 'अत' शब्द ब्रह्म-जिज्ञासा के हेतु को बताता है, जो इस तथ्य मे निहित है कि ब्रह्म-ज्ञान ही सर्व आनन्दमय दु ख रहित उत्कृष्ट अवस्था की प्राप्ति कराता है, और ब्रह्म-जिज्ञासा को न्यायोचित सिद्ध करता है। चू कि ब्रह्मन् आत्मन् ही है और आत्मन् हमारे समस्त प्रत्यक्षीकरण मे अपरोक्ष रूप से अभिव्यक्त होता है अत ब्रह्मन् भी हमे सदा प्रत्यक्ष ज्ञात होता है। पर आत्मन् के स्वरूप के सम्बन्ध के साधारण ज्ञान के द्वारा ब्रह्मन् का ज्ञान होता ही है, तथापि ब्रह्मन् अथवा आत्मन् के स्वरूप के विशेष ज्ञान के लिये जाँच-पडताल आवश्यक है।

मध्व भगवान विष्णु के अनुग्रह को ब्रह्म-जिज्ञासा का हेतु (अत) मानते हैं—चू कि भगवान विष्णु की अधिक कृपा केवल उसके सम्यक् ज्ञान के द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है, अत ब्रह्म-ज्ञान के उद्गम के रूप मे ब्रह्म-जिज्ञासा उसके अनुग्रह को प्राप्त करने के लिये अपरिहार्य है। ब्रह्म-जिज्ञासा परमेश्वर के अनुग्रह से उत्पन्न होती है, क्योकि वही हमारी सर्व मानसिक वृत्तियो का प्रेरक है।[2] मध्व के अनुसार वेदान्त के अध्ययन के अधिकार की तीन श्रेणियाँ हैं। भगवान विष्णु के प्रति निष्ठावान अध्ययनशील व्यक्ति तृतीय श्रेणी मे आता है, शमदमादि छ नैतिक योग्यताओ से सम्पन्न व्यक्ति द्वितीय श्रेणी मे आता है और जो परमेश्वर पर पूर्ण आसक्त है तथा सर्व जगत को अस्थाई समझकर उसके प्रति अनासक्त है, वह व्यक्ति अधिकार की प्रथम श्रेणी मे आता है।[3] पुन, वैदिक आचार का अनुष्ठान हमे परमेश्वर की निम्न कृपा का ही अधिकारी वनाता है, श्रुति-पाठो का श्रवण कुछ उच्च स्तर की कृपा का अधि-

[1] देखिये, वही।

[2] अथशब्दस्यातः—शब्दो हेत्वार्थे समुदीरित ।
परस्य ब्रह्मणो विष्णो प्रसादादिति वा भवेत ।
स हि सर्वमनोवृत्ति-प्रेरक समुदाहृत । —ब्रह्म-सूत्र-भाष्य, १-१-१ ।

[3] वही।

कारी बनाता है, किन्तु 'मुक्ति' को देने वाली उच्चतम कृपा की प्राप्ति तो केवल ज्ञान द्वारा ही की जा सकती है।[1] सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति केवल श्रवण, मनन, निदिध्यासन एव भक्ति के द्वारा की जा सकती है, कोई इनके बिना सम्यक् ज्ञान को प्राप्त नही करता। मध्व के मत मे 'ब्रह्मन्' शब्द का अर्थ है महान् भगवान विष्णु। प्रथम सूत्र के सम्बन्ध मे शकर के विरोध मे मध्व जिन सबसे महत्वपूर्ण बातो मे से एक पर बल देना चाहते हैं और जिसे वे अपने 'न्याय-विवरण' मे स्पष्ट करते हैं, वह इस धारणा मे निहित है कि 'ब्रह्मन्' का धातु-अर्थ 'महान्' अथवा 'पूर्णत्व' के समस्त गुणो से सम्पन्न है, अतएव उसका अपूर्ण जीवो से तादात्म्य स्थापित नही किया जा सकता क्योकि हम उपनिषदो से ज्ञात करते है कि उससे जगत् की उत्पत्ति हुई है।[2] ब्रह्म-जिज्ञासा मे सलग्न होने मे हमारा प्रयोजन सब ओर से पूर्ण एक सत्ता के रूप मे विष्णु का ज्ञान प्राप्त करना है, जिससे एक अर्थ मे हम अपूर्ण प्राणियो से (जो इतने भिन्न हैं) भगवान विष्णु प्रसन्न हो जाएँगे तथा हमे अपने बन्धन से मुक्त कर देंगे। 'अनुव्याख्यान' मे मध्व इस तथ्य पर बल देने का प्रयास करते है कि हमारा बन्धन यथार्थ है तथा भगवान विष्णु के प्रसाद से उत्पन्न मोक्ष भी यथार्थ है। मध्व युक्ति देते हैं कि यदि बन्धन का निर्माण करने वाले शोक, दुःख आदि झूठे एव मिथ्या होते तो इस बात की स्थापना किसी 'प्रमाण' की सहायता से ही की जाती। यदि ऐसा 'प्रमाण' विद्यमान है, तो स्वभावत द्वैतवाद की उत्पत्ति होती है। शकर के मत के अनुसार निराकार एव भेद-रहित ब्रह्मन् स्वय किसी प्रमाण के प्रदर्शन मे भाग नही ले सकता। जगताभास के मिथ्यात्व की परिभाषा यह कहकर भी नही दी जा सकती कि वह ज्ञान के द्वारा बाधित होता है (ज्ञान-बाध्यत्व), क्योकि यदि ब्रह्मन् का प्रत्यय शुद्ध एव भेद रहित ज्ञान है, तो उसमे इस सकल्पना का समावेश नही हो सकता कि वह जगताभास से भिन्न है (अन्यथात्व) अथवा वह उसका निषेध करता है—पर यदि ब्रह्म-ज्ञान के द्वारा जगताभास बाधित होता है तो ऐसी सकल्पना आवश्यक है। जब ब्रह्मन् सर्वदा स्वय-प्रकाश माना जाता है, तो फिर शकर का 'अज्ञान' किस पर आवरण डालेगा? यदि यह कहा जाय कि वह एक वस्तुगत जगत के मिथ्या भेदो पर आवरण डालेगा, यदि यह कहा जाय कि वह एक वस्तुगत जगत के मिथ्या भेदो पर आवरण डालता है, तो एक और कठिनाई उत्पन्न होती है—मिथ्या भेद 'अज्ञान' के कारण ही उत्पन्न होते

---

[1] कर्मणाऽधम प्रोक्त
प्रसाद श्रवणादिभि
मध्यमो ज्ञान-सम्पत्या
प्रसादस्तूत्तमो मत। —वही।

[2] ब्रह्म-शब्देन पूर्ण-गुणत्वोक्तेनानुभव—सिद्धाल्पगुणो जीवाभेद।
—मध्व का 'न्याय-विवरण', १-१-१

है, किन्तु 'अज्ञान' द्वारा आवृत्त होने के लिये उनका 'अज्ञान' से स्वतत्र पृथक् अस्तित्व सिद्ध किया जाना चाहिये। अत यहाँ अनवस्था दोष की स्पष्ट स्थिति उपस्थित हो जाती है, 'अज्ञान' नाम से ही स्पष्ट होता है कि वह स्वय ज्ञान प्रदान नही कर सकता अतएव वह मिथ्या है, किंतु तब भी ऐसी मिथ्या वस्तु का कोई अस्तित्व नही हो सकता, क्योकि ज्ञान-शून्यता और 'अज्ञान' का ऐसा सबध है कि या तो 'अनवस्था' दोष उत्पन्न होता है या 'अन्योन्याश्रय' दोष, क्योकि किसी स्थिति विशेष मे एक वस्तु की ज्ञान-शून्यता उसके प्रति 'अज्ञान' के कारण होती है और वह 'अज्ञान' उसकी ज्ञान-शून्यता के कारण होता है आदि। अत शकर की व्याख्या गलत होने के कारण यह स्पष्ट है कि हमारे शोक और बधन सत्य हैं तथा वेद यह नही मानते हैं कि ब्रह्म और जीव मे तादात्म्य है—क्योकि ऐसी व्याख्या हमारे अनुभव के प्रत्यक्ष विरोध मे होगी।[1]

जयतीर्थ की 'तत्व-प्रकाशिका' पर व्यासयति द्वारा रचित एक पाण्डित्यपूर्ण टीका 'तात्पर्य-चन्द्रिका' न केवल मध्व के 'भाष्य' के अभिप्राय का स्पष्टीकरण करती है, बल्कि अधिकाश विवादग्रस्त विषयो पर प्रतिपक्षियो के मतो का उल्लेख भी करती है और उनका खण्डन करने का भी प्रयास करती है।[2] वह कतिपय महत्वपूर्ण दार्शनिक समस्याओ को उठाती है तथा वाचस्पति, प्रकाशात्मन एव शकर के अन्य अनुयायियो के मतो की आलोचना करती है, जिनकी उपेक्षा नही की जा सकती। इस प्रकार वह शकर के 'भाष्य' पर 'भामती' नामक टीका मे वाचस्पति द्वारा उठाई गई इस बात का उल्लेख करती है कि इस आपत्ति मे कोई सत्यता नही है कि ब्रह्म-जिज्ञासा की कुछ भी आवश्यकता नही है क्योकि जीव का ब्रह्म के साथ तादात्म्य है और उसका हम प्रत्यक्ष एव अपरोक्ष अनुभव करते हैं, 'अविद्या' के विनाश को भी वाछित उद्देश्य नही माना जा सकता क्योकि आत्मन् की सदा एक स्वय प्रकाश सत्ता के रूप मे अनुभूति होने पर भी 'अविद्या' का निराकरण नही हो पाता और चू कि वेदान्त के पाठो के अध्ययन करने तथा समझने मे भी अहकार की सकल्पना का समावेश होता है, अत वेदान्त के उन अवतरणो की हमारे साधारण अनुभव के अनुकूल फिर से व्याख्या की जानी चाहिये जो ब्रह्मन् का विशुद्ध ज्ञाता-ज्ञेय-रहित सत्, चित् एव आनन्द के रूप मे वर्णन करते हुए प्रतीत होते है। यह निश्चित है कि स्वय-प्रकाश वेदान्त के अवतरण उपर्युक्त विवरण के ब्रह्मन् का निर्देश करते हैं, और चू कि इनका अन्य कोई अर्थ नही हो सकता, हमे अपने तथाकथित अनुभव पर कोई विश्वास नही करना चाहिये जो

---

[1] सत्यत्वात् तेन दु खादे प्रत्यक्षेण विरोधत
न ब्रह्मत्व वदेद् वेदो जीवस्य हि कथचन। —अनुव्याख्यान, १-१-१।

[2] प्रति-सूत्र प्रकाश्येत घटनाघटने मया
स्वीयान्य-पक्षयो सम्यग्विदाकुर्वन्नु मूर्य। —वही, श्लोक १०।

सरलता से त्रुटि के वश हो सकता है। इस प्रकार 'भामती' के अनुसार यह निष्कर्ष निकलता है कि वेदात-पाठों का वास्तविक अभिप्राय भेद-रहित परम सत्ता ब्रह्मन् है तथा चूंकि यह शुद्ध ब्रह्मन् अनुभव मे प्रत्यक्ष अभिव्यक्त नही होता (शुद्धो न भाति) अत. ब्रह्मन् के स्वरूप के सबध मे जिज्ञासा न्यायोचित है।[1]

वाचस्पति के उपर्युक्त मत के विरोध मे व्यास तीर्थ जो आपत्ति उठाते है वह यह है कि यदि हमारे साधारण अनुभव मे 'शुद्ध' (ब्रह्मन्) अपनी अभिव्यक्ति नही करता है, तो इसका क्या तात्पर्य है? क्या इनका तात्पर्य यह है कि जो अपनी अभिव्यक्ति नहीं करता वह शरीर से आत्मन् का भेद है, कर्ता व भोक्ता के रूप मे हमारे स्वरूप का निषेध है, ब्रह्मन् और 'आत्म्' का अभेद है, अथवा केवल द्वैत का निषेध है? किन्तु क्या यह अनभिव्यक्त सत्ता आत्मन् से भिन्न है? यदि ऐसा है तो वह सामान्य अद्वैतवादी निष्कर्ष के विपरीत है और यदि यह कहा जाय कि एक अभावात्मक सत्ता के अस्तित्व से अद्वैतवादी सिद्धान्त का हनन नहा होगा, तो यह उत्तर दिया जा सकता है कि अभाव के ऐसे दृष्टिकोण का खडन 'न्यायामृत' नामक रचना मे किया जा चुका है। यदि ऐसी अनभिव्यक्त सत्ता मिथ्या है तो वह श्रुतियों के उपदेश का विषय नही हो सकती। यदि यह माना जाय कि 'आत्मन्' अनुभव मे अपनी अभिव्यक्ति नहीं करता तो ऐसा तभी माना जा सकता है कि 'आत्मन्' के दो भाग हैं जिनमे से एक तो अभिव्यक्त होता है और दूसरा नही होता, तथा दोनो मे कोई ऐसा कल्पित अतर (कल्पित-भेद) है कि यद्यपि आत्मन् अभिव्यक्त (गृहीत) होता है, उसका अनभिव्यक्त (आभासमान) भाग (अश) अभिव्यक्त एव अनुभूत होता हुआ प्रतीत नही होता है (अगृहीत इव भाति)। पर यदि ऐसी भी स्थिति है तो यह स्वीकार किया जाता है कि आत्मन् के दो कल्पित अशो मे कोई यथार्थ भेद नही है, अनभिव्यक्त अश एक मिथ्या एव भ्रामक भेद (कल्पित-भेद) से युक्त होना चाहिये तथा ऐसे भ्रामक व अनभिव्यक्त आत्मन् के स्वरूप का उपदेश देना किसी वेदात का उद्देश्य नहीं बन सकता। अनभिव्यक्त अश या तो सत्य हो सकता है या असत्य, यदि वह असत्य है, जैसाकि हमे मानना पडेगा तो उसके स्वरूप का उपदेश देना वेदात का उद्देश्य नही हो सकता। कारण, यदि भ्रामक अनभिव्यक्त अश आत्म ज्ञान के पश्चात् भी शेष रहता है तो ऐसा भ्रम कभी नष्ट नही हो सकता। समस्त भ्रामक आभास ऐसे भ्रमो के 'अधिष्ठान' के सत्य ज्ञान से नष्ट हो जाते हैं (उदाहरण के लिये, शुक्ति के ज्ञान से रजत का भ्रामक आभास नष्ट हो जाता है)।[2]

[1] वही, पृ० १५–१७।

[2] अधिष्ठान ज्ञानस्यैव भ्रमविरोधितया तस्मिन् सत्यपि भेद-भ्रमस्य तन्निमित्तकागृहीताशेषस्य वा अभ्युपगमे निवर्तकान्तरस्याभावात्तदनिवृत्ति-प्रसगात्। यदुक्तम्-भासमानोऽश आत्मातिरिक्तश्चेन् सत्यो मिथ्या वा इति तत्र मिथ्या-भूत इति ब्रूम।
—'चन्द्रिका-वाक्यार्थ-विवृति' पृ० १८।

इसके अतिरिक्त आत्मन् स्वय प्रकाश है, अतएव यह नही कहा जा सकता कि वह अनुभव मे स्वय प्रकाश सत्ता के रूप मे अभिव्यक्त नही होता (स्वप्रकाशत्वेन भावयोगात्)। यदि यह युक्ति दी जाय कि स्वय प्रकाश होते हुए भी वह 'अविद्या' से आवृत्त हो सकता है, तो ऐसी आपत्ति का उत्तर यह है कि यदि 'अविद्या' आत्मन् की अभिव्यक्ति को आवृत्त कर सकती है तो 'अविद्या' और उससे उत्पन्न दु ख, शोक आदि भी आत्मन् की अभिव्यक्ति द्वारा प्रकाशित नही किये जा सकते, पर यह माना गया है कि स्वय प्रकाश आत्मन् के द्वारा ये प्रकाशित होते है।[1] यह भी स्पष्ट है कि चित् अथवा स्व-प्रकाशकत्व (स्फुरती) कभी अप्रकाशकत्व (अस्फुरती) नही हो सकता। न यह माना जा सकता है कि यद्यपि विशुद्ध चित् अपनी विशुद्धता मे तो स्व-प्रकाश है तथापि चूँकि वह 'अज्ञान' के विरोध मे स्वय न होकर केवल मानसिक 'वृत्ति' के कारण उसके विरोध मे होता है और चूँकि साधारणतया उसके लिये 'वृत्ति' नही हुआ करती, अत वह 'अज्ञान' से आवृत्त हो सकता है तथा अपने स्वप्रकाश स्वरूप के बावजूद भी इस प्रकार आवृत्त होने के कारण जिज्ञासा का उपयुक्त विषय बन सकता है। पर यह मान्यता सत्य नही है, क्योकि यदि विशुद्ध चित् 'अज्ञान' के विरोध मे नही है तो उसके द्वारा अपरोक्ष रूप से ज्ञात किये गए शोक आदि 'अज्ञान' से आवृत्त ही रह जाने चाहिये। यदि सुख दु ख आदि का प्रत्यक्षीकरण नही होता है तो उनकी सत्ता को स्वीकार नही किया जा सकता। किसी वस्तु के आकार की मानसिक अवस्था या 'वृत्ति' तभी सम्भव है जबकि वह वस्तु पहले से अस्तित्व मे हो, क्योकि वेदात की ज्ञान-मीमासा के अनुसार 'अन्त करण' या मनस् इन्द्रियो के द्वारा बाहर दौडकर वस्तु के आकार मे परिवर्तित होता है तथा ऐसा होने के लिये वस्तु का पूर्व अस्तित्व होना आवश्यक है, किन्तु सुख दु ख की भावनाएँ उनकी अनुभूति के अतिरिक्त कोई अस्तित्व नही रखती और यदि यह कहा जाय कि उनको ज्ञात करने के लिये 'वृत्ति' की आवश्यकता होती है तो यह स्वीकार करना पडेगा कि उनका पूर्व वस्तुगत अस्तित्व है, पर ऐसा असम्भव है।[2] अत यह स्वीकार करना पडेगा कि भावनाएँ विशुद्ध चित् के द्वारा, किसी 'वृत्ति' अथवा मानसिक अवस्था के माध्यम के बिना, अपरोक्ष रूप से ज्ञात की जाती है तथा ऐसा असम्भव होगा यदि चित् का 'अज्ञान' से कोई विरोध न हो, क्योकि फिर चित् सदा आवृत्त रहता और दु ख आदि का कोई ज्ञान सम्भव नही होता।[3] इस सबध मे शकर-वेदात के अनुसार साधारण वस्तुओ के प्रत्यक्षीकरण के

[1] स्व-प्रकाशस्यापि अविद्या-वशाद् अभाने अविद्यादेर्दु खादेश्च प्रकाशो न स्यात्, तस्य चैतन्यप्रकाशाधीन प्रकाशच्चोपगमात्। —'तात्पर्य चन्द्रिका,' पृ० १९।

[2] सुखादेर्ज्ञातैकसत्वाभावापातात्। —वही, पृ० २०।

[3] स्वरूप-चित्तोऽज्ञान-विरोधित्वे तद्वेद्ये दु खादाज्ञवान-प्रसगात्। —'चद्रिका,' पृ० २०।

सिद्धात के विवेचन मे एक अन्य कठिनाई उत्पन्न होती है । शकर-वेदात यह मानता है कि वस्तुओ के प्रत्यक्षीकरण (जैसे 'यह घट') के अवसर पर मानसिक-वृत्ति मे भी घट आधार की वृत्ति से विशिष्ट शुद्ध चित् की अभिव्यक्ति होती है, पर यदि ऐसा है, यदि घट का हमारा प्रत्यक्षीकरण घट के आकार की वृत्ति से सयुक्त चित् का प्रकाश मात्र है, तो यह अस्वीकार नही किया जा सकता कि इस जटिल प्रत्यक्ष मे शुद्ध चित् का स्वप्रकाश अनिवार्यत समाविष्ट होता है ।[1]

इसके अतिरिक्त, यह भी सुझाव नही दिया जा सकता कि अनात्मन् के अश का आभास होता है तथा इस कारण से हमारी ब्रह्म-जिज्ञासा न्यायोचित है, क्योकि यदि यह अनात्मन् स्वय प्रकाश चित् के साथ-साथ एक बाह्य एव अतिरिक्त सत्ता के रूप मे मे भासमान होता है, तो चूँकि उसके द्वारा शुद्ध चित् की अभिव्यक्ति मे कोई बाधा नही आती, अत इस प्रकार की जिज्ञासा का कोई अवसर नही आता । यह स्पष्ट है कि इस अनात्मन् का आत्मन् से 'तादात्म्य' भासित नही हो सकता, क्योकि जब शुद्ध चित् स्वत प्रकाशित होना है, तो इस ढग से अनात्मन् के किसी अश के लिए अभिव्यक्त होने की कोई गुजायश नही होती (अधिष्ठाने तत्वत स्फुर अनात्मारोपायोगाच्च) । वाचस्पति द्वारा अपनी 'भामती' मे एक सादृश्यता उपस्थित की गई है जिसमे वे यह सुझाव देना चाहते हैं कि जिस प्रकार सगीत के विभिन्न स्वर यद्यपि हमारे साधारण अशिक्षित सगीत के प्रत्यक्षीकरण मे अन्त प्रज्ञा द्वारा ज्ञात किये जाते हैं, तथापि उनका उचित ज्ञान सगीत-शास्त्र (गधर्वशास्त्र) के गहन अध्ययन द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है, उसी प्रकार सच्चा ब्रह्म-ज्ञान वेदात-पाठो के अभिप्राय की अनुभूति एव उनके विवेचन द्वारा उचित मनोभूमि तैयार करने के पश्चात् ही उदित हो सकता है, अतएव यद्यपि आरम्भ मे हमारे साधारण अनुभव मे स्वय प्रकाश चित् की अभिव्यक्ति होती है, तथापि ब्रह्म के स्वरूप की अधिक पूर्ण अनुभूति के लिए ब्रह्म-जिज्ञासा की आवश्यकता होती है । किन्तु यह सादृश्यता यहाँ लागू नही होती, क्योकि हमारे सगीत के ज्ञान की अवस्था मे तो एक सामान्य ज्ञान सम्भव है जिसका सगीत-शास्त्र के गहन अध्ययन द्वारा क्रमश अधिकाधिक विशिष्टीकरण होता है और वह विशेष रूप से अभिव्यक्त होता हे, किन्तु ब्रह्मन्, स्वय प्रकाश चित् अथवा आत्मन् के हमारे ज्ञान के सबध मे ऐसा सम्भव नही है, क्योकि वह पूर्णत एक रस, सरल तथा भेद-रहित है– उसका एक सामान्य और एक विशेष ज्ञान प्राप्त करना सम्भव नही है । वह अन्त-र्वस्तु मे सर्वथा रहित सरल आत्माभिव्यक्ति की कौंध है अतएव उसमे कोई अधिक या कम ज्ञान नही हो सकता । इसी कारण 'भामती' मे समाविष्ट इस वक्तव्य मे कोई सत्य नही है कि यद्यपि वेदात के महावाक्य 'तत्वमसि' के सम्यक् बोध मे एक व्यक्ति

---

[1] त्वन्मते अय घट इत्याद्यपरोक्ष-वृत्तेरपि घटाद्यवच्छिन्न चिद्-विषयत्वाच्च ।

–वही ।

ब्रह्मन् से अपने तादात्म्य को समझ सकता है, तथापि विवादियो की आपत्तियो के कारण ब्रह्मन् के विषय मे सदेह हो सकता है, और इस प्रकार ब्रह्म-जिज्ञासा न्याय-सगत सिद्ध हो सकती है। क्योकि जब सरल अन्तर्वस्तु-रहित, विशुद्ध-चित् एक बार ज्ञात कर लिया जाता है, तो सदेह की गुजाइश कैसे रह सकती है ? चूंकि कतिपय उपनिषद्-पाठो की शुद्ध अद्वैतवादी व्याख्या साधारण अनुभव के द्वारा प्रत्यक्ष वाधित होती है अत कोई अन्य प्रकार की उचित व्याख्या करनी पडेगी जो हमारे प्रत्यक्ष अनुभव के अनुकूल हो।

इस समस्त सूक्ष्म विचार-विमर्श का सामान्य निष्कर्ष यह निकलता है कि शकर का मत (कि हमारा सबका ब्रह्मन्, स्वय प्रकाश चित् से तादात्म्य है) सही नही है, क्योकि यदि ऐसा होता है तो यह स्वय प्रकाशकत्व हमे सदा तत्काल एव अपरोक्ष रूप से ज्ञात हो जाता, अतएव ब्रह्मजिज्ञासा का कोई अवसर उत्पन्न ही नही होता, क्योकि यदि ब्रह्मन् अथवा आत्मन् हमे सदा प्रत्यक्ष ज्ञाता होता रहता है, तो उसके सबध मे जिज्ञासा की कोई आवश्यकता नही है। शकर-मत के विपरीत मध्व-मत यह है कि जीवो का ब्रह्मन् से कभी तादात्म्य नही होता, जीवन के विभिन्न साधारण प्रत्यय भी सत्य हैं, जगत भी सत्य है, अतएव कोई भी सम्यक् ज्ञान इन प्रत्ययो का विनाश नही कर सकता। यदि हमारा ब्रह्मन् से तादात्म्य होता तो ब्रह्मजिज्ञासा की कोई आवश्यकता नही रहती, चूंकि हम ब्रह्मन् से एकरूप नही है इसीलिये उसका स्वरूप जिज्ञासा के लिये उपयुक्त विषय है, क्योकि इसी प्रकार के ज्ञान से हम उसके पक्ष एव प्रसाद को प्राप्त करने के योग्य बन सकते है, और इनके द्वारा मोक्ष की प्राप्ति कर सकते है। यदि आत्मन् ब्रह्मन् से एकरूप है तो ऐसा आत्मन् सर्वदा स्वय अभिव्यक्त होने के कारण वेदो के 'ब्रह्म-खण्ड' के अर्थ को निश्चित करने के लिये जिज्ञासा की आवश्यकता नही रहती, वल्कि वेदो के 'कर्म-खण्ड' के अर्थ को निश्चित करने के लिये जिज्ञासा की आवश्यकता रहती, क्योकि 'ब्रह्म-खड' के अर्थ का सम्यक् बोध किसी अन्य वस्तु पर निर्भर नही करता (धर्मवद् ब्रह्म-खण्डार्थस्यात्मन परप्रकाश्यत्वाभावात्)।[1] यद्यपि ऐसा ब्रह्मन् हमारे अनुभव मे सदा आत्म-प्रकट है, तथापि चूंकि उसकी अनुभूति के द्वारा हम किसी प्रकार भी मोक्ष के समीप नही पहुँचते, इस प्रकार की ब्रह्म जिज्ञासा से कोई लाभ नही हो सकता। अत इस 'सूत्र' की शकर द्वारा दी गई व्याख्या के लिये कोई गुजायश नही है। यहाँ ब्रह्मन् का अर्थ गुणो की पूर्णता (गुण-पूर्त्ति), अत वह गुणो मे 'अपूर्ण' एव न्यून 'जीवन' से भिन्न है।[2]

[1] तात्पर्य-चन्द्रिका, पृ० ३६।

[2] जिज्ञास्य-ब्रह्म-शब्देन गुणपूर्त्यमिधायिना
अपूर्णत्वेनानुभूताज्जीवाद् भिन्न प्रतीयते। —वही, पृ० ४६।

मध्व शंकर के इस मत से भी असहमत हैं कि ब्रह्म-जिज्ञासा से पूर्व नित्यानित्य-वस्तु-विवेक, इहामुत्रार्थ भोग-विराग, शमदमादि, साधन-सम्पत्ति तथा मुमुक्षत्व की आवश्यकता होती है। कारण यदि हम 'भामती' का अनुसरण करें और 'नित्य' एवं 'अनित्य' का अर्थ सत्य एवं असत्य समझें, ब्रह्मन् के सम्यक् बोध को तो सत्य मानें और अन्य सभी वस्तुओं को असत्य मानें (ब्रह्मैव सत्यम् अन्यद अनृतम् इति विवेक), तो यह आपत्ति उठाई जा सकती है कि मानव द्वारा प्राप्त होने योग्य यही चरम वस्तु है—और यदि इसकी प्राप्ति पहले ही हो जाती है, तो फिर ब्रह्म-जिज्ञासा का क्या उपयोग शेष रह जाता है? अथवा यदि आत्मन् को 'नित्य' समझा जाय तथा अनात्मन् को 'अनित्य,' तो इस भेद की एक बार अनुभूति हो जाने पर अनात्मन् सदा के लिए लुप्त हो जाता है, और हमारे लिये आत्मन् के स्वरूप पर विचार-विमर्श करने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। 'पञ्चपादिका-विवरण' की व्याख्या के अनुसार 'नित्या-नित्य-विवेक' शब्द का तात्पर्य इस तथ्य के बोध से है कि ब्रह्म-ज्ञान ध्वंसरहित है एवं 'कर्म-फल' ध्वंसात्मक (ध्वंस-प्रतियोगी) है। किन्तु यह भी न्याय-संगत नहीं है, क्योंकि शुक्ति में रजत का सर्वदा अभाव (अत्यताभाव) होने के कारण 'ध्वंसात्मक' शब्द यहाँ लागू नहीं होता। यदि यह कहा जाय कि वस्तुत शुक्ति-रजत का पारमार्थिक दृष्टि से अभाव (पारमार्थिकत्वाकारेण अत्यन्ताभाव) है, किन्तु अपने आभास रूप में वह विनष्ट होती हुई कही जा सकती है (स्वरूपेण तु ध्वंस) तो यह भी सम्भव नहीं है, क्योंकि यद्यपि 'पारमार्थिक' शब्द की 'अबाध्यत्व' शब्द से व्याख्या की जाती है तथापि उसका कोई निश्चित अर्थ नहीं बताया जा सकता। 'अबाध्यत्व' का अर्थ है 'पारमार्थिक' इस प्रकार 'अन्योन्याश्रय' दोष उत्पन्न हो जाता है। निराकार होने के कारण ब्रह्म भी 'असत्' माना जा सकता है (अत्यन्ताभावप्रतियोगित्वस्य निराकारे ब्रह्मण्यपि सम्भवात्)।[1]

पुन. 'न्याय-विवरण' का कथन है कि यदि 'विषय' भी केवल सुख की अभिव्यक्ति करने में सहायक होते हैं और सुख 'आत्म-स्वरूप' है, तो कोई कारण नहीं है कि विषयों के सुख को मोक्ष के सुख से भिन्न माना जाय। फिर, मुमुक्षत्व को भी ब्रह्म-जिज्ञासा की आवश्यक अवस्था माना जाता है। किन्तु प्रश्न यह उठता है कि यह 'मुमुक्षत्व' किसका है? मुमुक्षत्व अहं के द्वारा निर्दिष्ट सत्ता (अहं-अर्थ) में नहीं हो सकता, क्योंकि यह सत्ता मोक्ष के समय शेष नहीं रहती (अहमर्थस्य मुक्तावनन्वयात्)। वह विशुद्ध 'चित्' में भी नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें कोई इच्छा ही नहीं हो सकती। इस प्रकार 'सूत्र' के प्रथम शब्द 'अथ' की शंकर द्वारा दी गई व्याख्या के विरोध में मध्व मत के विचारकों द्वारा आपत्तियाँ उठाई गई। स्वयं उनके द्वारा दी गई व्याख्या,

---

[1] तात्पर्य-चन्द्रिका, पृ० ६६।

जो मध्व के 'भाष्य' मे प्रस्तुत की गई तथा जयतीर्थ, व्यासतीर्थ, राघवेन्द्र यति एव अन्य विचारको द्वारा स्पष्ट की गई—यह है कि 'अथ' शब्द से एक ओर तो मागलिक प्रभाव की सूचना मिलती है और दूसरी ओर वह नारायण का एक नाम है।[1] 'अथ' शब्द का एक अन्य अर्थ यह है कि ब्रह्म-जिज्ञासा अधिकार-योग्यता की प्राप्ति के पश्चात् ही सम्भव होती है (अधिकारानन्तर्यार्थं)।[2] किन्तु यह अधिकार-योग्यता शकर-मत के अनुसार बताई गई योग्यता से कुछ भिन्न है। मैंने शकर-मत की मध्व के दृष्टिकोण से आलोचना पहले ही कर दी है। मध्व और उनके अनुयायी 'नित्यानित्य-वस्तु-विवेक' की योग्यता को छोड देते हैं तथा वे यह भी मानते हैं कि मुमुक्षत्व भी तर्क-सगत नही है क्योकि शकर-मत के अनुसार 'जीव' और ब्रह्म का तादात्म्य स्वीकार किया गया है। केवल मुमुक्षत्व भी यथेष्ठ अधिकार-योग्यता नही है, क्योकि 'सूत्रो' मे शूद्रो को ब्रह्म-जिज्ञासा का अधिकार नही दिया गया है।[3] अत यद्यपि मुमुक्षत्व से सम्पन्न व्यक्ति ब्रह्म-जिज्ञासा मे सलग्न हो सकता है, तथापि उचित यही है कि वह जिज्ञासा उनके द्वारा की जाय जो उपनिषदो का भक्तिपूर्वक अध्ययन कर चुके हैं, और जो शमदमादि नैतिक गुणो से सम्पन्न हैं तथा साधारण सासारिक सुखो के प्रति विरक्त है।[4]

'सूत्र' मे अत शब्द का अर्थ है 'भगवान विष्णु' के प्रसाद अथवा अनुग्रह के द्वारा, क्योकि उनके अनुग्रह के बिना यथार्थ सासारिक बन्धन नही तोडा जा सकता अथवा मोक्ष की प्राप्ति नही हो सकती। मध्व के 'अनुव्याख्यान' पर लिखी गई अपनी टीका 'न्याय-सुधा' मे जयतीर्थ इस सम्बन्ध मे एक आपत्ति का पूर्वानुमान करते हैं अर्थात् चूंकि मोक्ष सम्यक् ज्ञान के द्वारा स्वाभाविक क्रम से प्राप्त किया जा सकता है, जैसाकि एक ओर तो शकर एव उनके अनुयायियो तथा दूसरी ओर 'न्याय-सूत्र' ने स्पष्ट किया है—इसलिये मोक्ष को उत्पन्न करने के लिए ईश्वर के हस्तक्षेप की उपयोगिता क्या रह जाती है? समस्त दु ख अज्ञानान्धकार के कारण है तथा ज्योही ज्ञान का प्रकाश होता है वह अन्धकार निवृत्त हो जाता है अतएव उसे किसी कल्पित ईश्वर के प्रसाद

[1] एव च अथशब्दो मगलर्थिति भाष्यस्य अथशब्दो विघ्नोत्सारणसाधारणकरमात्म-कन नुष्ठेय-विष्णु स्मरणाथशब्दोच्चारणरूप मगल-प्रयोजनक प्रशस्तरूपाननुष्ठेयरूप-विष्ण्वभिधायकश्च इति अर्थं द्वय द्रष्टव्यम्। —वही, पृ० ७७

[2] यही मत विक्रम पण्डिताचार्य द्वारा मध्व के 'भाष्य' पर लिखी गई 'तत्व प्रदीप' नामक टीका मे भी अभिव्यक्त हुआ है।

[3] अनुभाष्य। ३ ब्रह्म-सूत्र, १, ३, ३४—८।

[4] मुक्ति-योग्यत्व-भक्ति-पूर्वकाध्ययन-शमदमादिवैराग्यसम्पत्तिरूपाधिकारार्पणेन, इत्यादि। —तत्व-प्रकाशिका-भाव-दीपिका, पृ० १२।

की प्रतीक्षा करने की आवश्यकता नही हो सकती ।[1] 'न्याय-सुधा' के अनुसार ऐसी आपत्ति का सरलतम उत्तर यह है कि बन्धन यथार्थ होने के कारण उसके निवारण के लिये केवल ज्ञान ही यथेष्ट नही होता । ज्ञान का मूल्य इस बात मे निहित है कि उसकी प्राप्ति से प्रभु प्रसन्न होता है तथा वह प्रसन्न होकर हमे अनुग्रह प्रदान करता है जिसके फलस्वरूप बन्धन का निराकरण होता है ।[2]

'ब्रह्मन्' शब्द (जो शकर के अनुसार 'बृहति' (अतिशयन) धातु से निकलने के कारण नित्यता, शुद्धता व चैतन्यता का अर्थ रखता है) का मध्व मत के अनुसार अर्थ वह पुरुष है जिसमे गुणो का पूर्णत्व हो (बृहन्तो ह्यस्मिन् गुणा) । यह युक्ति कि ब्रह्मन् और जीवो के भेद को स्वीकार करने से ब्रह्मन् सीमित हो जायगा समीचीन नही है, क्योकि जगत् के पदार्थों का ब्रह्मन् से तादात्म्य नही माना गया है, फिर भी वे ब्रह्मन् की अनतता को सीमित नही करते हैं तथा इसी प्रकार का उत्तर देकर ब्रह्मन् की अनतता और जीवो से उसके भेद दोनो की स्वीकृति को न्यायोचित ठहराया जा सकता है ।[3] अत ब्रह्मन् की अनन्तता को भेद से सीमित न होने के नाते केवल निषेधात्मक ढग से ही नही समझा जाना चाहिये, वरन् काल, दिक् एव गुणो के पूर्णत्व के रूप मे समझना चाहिये, अन्यथा बौद्धो के क्षणिक विज्ञान को भी ब्रह्मन् के समकक्ष मानना पडेगा, क्योकि वह भी न तो काल से और न दिक् से सीमित है ।[4]

[1] तथा च ज्ञान-स्वभाव-लभ्याया मुक्तौ किं ईश्वर-प्रसादेन, न हि अन्धकार निबन्धन-दु ख-निवृत्तये प्रदीपुपाददाना कस्यचित् प्रभो प्रसादमपेक्षन्ते ।
—न्याय-सुधा, पृ० १८ ।

[2] 'तत्व-प्रकाशिका' का कथन है कि 'अ' अक्षर का अर्थ है विष्णु, अतएव 'अत ' का अर्थ है विष्णु प्रसाद से 'अकार-वाच्याद विष्णोस्तत्प्रसादात्,' पृ० ४ ।

किन्तु शकर का अनुसरण करते हुए 'भामती,' 'अत ' शब्द की व्याख्या इस अर्थ मे करती है कि 'चूंकि स्वय वेद भी यह कहते है कि यज्ञो के फल अल्प-जीव होते हैं जबकि ब्रह्म-ज्ञान के फल अविनाशी एव नित्य होते हैं ।' अत वेदो के द्वारा हम लौकिक एव स्वर्गीय सुखो के प्रति वैराग्य प्राप्त करते हैं (इहामुत्र-फल-भोग-विराग) तथा इनके द्वारा ब्रह्म-जिज्ञासा मे प्रवृत्त होते हैं । पर 'चन्द्रिका' सकेत करती है कि 'अत ' के द्वारा सूचित 'वैराग्य' से ऐसा सम्बन्ध दूरस्थ है और इसके अतिरिक्त 'वैराग्य' से सम्बन्ध 'अथ' शब्द के द्वारा पहले ही अभिव्यक्त हो चुका था ।
—तत्व प्रकाशिका

[3] तात्पर्य टीका, पृ० ८६–६३ ।

[4] बौद्धाभिमत-क्षणिक-विज्ञानादेरपि वस्तुन कालाद्यभावेन अपरिच्छिन्नत्व प्रागाच्च, तस्माद्देशत कालश्चैव गुणतश्चापि पूर्णता ब्रह्मता, न तु भेदस्य राहित्य ब्रह्मतेप्यतें ।
—तात्पर्य टीका, पृ० ६४ ।

'ब्रह्म-जिज्ञासा' समास के निर्माण के सम्बन्ध मे 'चद्रिका' का सकेत है कि न तो शकर और न उनके अनुयायियो की यह व्याख्या न्यायोचित है कि 'जिज्ञासा' शब्द मे निहित क्रिया के सम्बन्ध मे ब्रह्मन् कर्मकारक मे है, क्योकि ब्रह्म केवल अपरोक्ष सहज-ज्ञान से ज्ञात होने वाला विशुद्ध एव निरपेक्ष चैतन्य होने के नाते किसी ऐसी जिज्ञासा का उपयुक्त विषय नही बन सकता जिसमे विचार-विमर्श और युक्तियो का समावेश हो।[1] किन्तु मध्व मत के अनुसार ब्रह्म को जिज्ञासा का विषय बनाने मे कोई आपत्ति नही हो सकती। 'न्याय-सुधा' और 'तात्पर्य-चन्द्रिका' दोनो के अनुसार 'ब्रह्म-जिज्ञासा' मे 'जिज्ञासा' शब्द का रूढ अर्थ युक्तिपूर्ण तर्क (मनन) है, न कि ज्ञात करने की इच्छा, जैसाकि शकर के अनुयायियो का सुझाव है।[2] तर्क-पूर्ण विचार-विमर्श से युक्त ब्रह्म-जिज्ञासा का उद्देश्य है ब्रह्मन् के स्वरूप का निर्धारण—ब्रह्मन् मे समस्त गुणो का प्रत्यक्षीकरण है, अथवा उसमे केवल कुछ ही गुण विद्यमान है, अथवा वह सर्वथा गुण-रहित है।[3]

मध्व के अनुयायियो ने शकर तथा उनके अनुयायियो द्वारा इस 'सूत्र' की व्याख्या मे दिये गये लगभग सभी विचारो का खण्डन करने का ही प्रयत्न नही किया, बल्कि मध्व ने अपने 'अनुव्याख्यान' मे जिस पर 'न्याय-सुधा' एव 'न्याय-सुधा परिमल' मे टीका की गई है, कई अन्य महत्व की बातो को विचारार्थ उठाया है जो शकर की स्थिति के मूल मे कुठाराघात करती हुई प्रतीत होती हैं। इन विवेचनो की विस्तृत गणना इस अध्याय के क्षेत्र मे नही की जा सकती, तथा मैं कुछ महत्वपूर्ण विचारो का ही उल्लेख कर सकता हूँ। 'अनुव्याख्यान' का अनुसरण करते हुए जयतीर्थ ने शकर द्वारा वर्णित भ्रम की सम्भावना तक को चुनौती दी है। उनका कथन है कि जीव स्वभावत अपने समस्त कर्मो एव भागो मे स्वतन्त्र है, तथा केवल ईश्वर पर ही आश्रित है। यदि ऐसा व्यक्ति किसी भी समय यह अनुभव करे कि वह किसी अन्य कर्त्ता के

[1] पर-पक्षे विचार जन्य-ज्ञान-कर्मणो ब्रह्मणो विचार-कर्मत्वायोगात्, अपरोक्ष-वृत्ति-व्याप्यस्य फल-व्याप्यत्व-नियमाच्च। —वही, पृ० ९५।

[2] पर 'भामती' के अनुसार 'जिज्ञासा' शब्द का प्रमुख अर्थ है 'ज्ञात करने की इच्छा,' किन्तु, चूँकि ज्ञात करने की इच्छा केवल ऐसे विषय के सम्बन्ध मे हो सकती है जो सदिग्ध है (ज्ञातु इच्छा हि सदिग्धविषये निर्णयाय भवति), इसलिये इसका लक्ष्यार्थ है, तर्कपूर्ण विचार-विमर्श (विच), जो किसी निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचने के लिये आवश्यक होता है।

[3] तस्माद् वेदान्तादिनाऽपात-प्रतीते ब्रह्मणि सगुण-निगुणाल्पगुणत्वादिना विप्रतिपत्तेर्जिज्ञास्यत्वम्।

—तात्पर्य-चन्द्रिका, पृ० १०९।

द्वारा निर्धारित किया जाता है तो ऐसा निश्चय ही 'अविद्या' के कारण होता है।[1] जहाँ तक 'अविद्या' स्वरूपत आत्मा मे उपस्थित कही जाती है, वह सत् है (अविद्यादिक च स्वरूपेणाम–सम्बन्धित्वेन सद् एव)। अत 'बुद्धि,' इन्द्रियाँ, शरीर और बाह्य विषय ईश्वर के नियन्त्रण मे स्वरूपत यथार्थ अस्तित्व रखते है, किन्तु जब उनमे अविद्या-वश आत्मीयता समझी जाती है, तब अध्यास एव भ्रम होता है (अविद्यादि-वशाद्-आत्मीयतया अध्यास्यन्ते)। अध्यास इस बात मे निहित नही होता कि उनका कोई अस्तित्व नही है, इसके विपरीत वे वस्तुत सत् हैं, तथा दु ख उनका एक लक्षण है। अध्यास इस तथ्य मे निहित होता है कि जो स्पष्टतया शरीरादि ही का है उसे आत्मा का समझ लिया जाता है। जब अविद्या के कारण ऐसा मिथ्या तादात्म्य स्थापित हो जाता है, तब जीव स्वय को उनसे प्रभावित समझ लेता है और जो वस्तुत उनके परिवर्तन हैं उनसे वह स्वय पीडित प्रतीत होता है, और, इस प्रकार राग व द्वेष के वशीभूत होकर पुनर्जन्म लेता है तथा ईश्वर की उपासना के अतिरिक्त स्वय को पूर्णत मुक्त नही कर पाता। पर जो शकर एव उनके अनुयायियो की भाँति 'माया' के सिद्धात मे विश्वास रखते हैं उनके अनुसार दु ख स्वय मे अस्तित्व नही रखता तथा स्वरूपत मिथ्या है (दु खादि स्वरूपेणापि मिथ्या)। शकर का कथन है कि हम आत्मन् का अनात्मन् से कई ढग से तादात्म्य स्थापित करते है, ऐसा सत्य हो सकता है, किन्तु इस तथ्य से यह कैसे सिद्ध होता है कि अनात्मन् मिथ्या है? उसका यथार्थ अस्तित्व हो सकता है और फिर भी अविद्यावश उसका आत्मन् के साथ तादात्म्य स्थापित किया जा सकता है। यदि केवल इस तथ्य से कि अनात्मन् का आत्मन् के साथ मिथ्या तादात्म्य स्थापित होता है अनात्मन् मिथ्या सिद्ध हो जाता है, तो दूसरी ओर आत्मन् के अनात्मन् के साथ मिथ्या तादात्म्य से यह सिद्ध हो जाना चाहिये कि आत्मन् भी मिथ्या है।[2] जिस प्रकार बद्ध आत्मन् यथार्थ है, उसी प्रकार आत्मन् को बाधने वाले विषयादिक भी यथार्थ हैं, अविद्या-वश उनके मिथ्या तादात्म्य का स्थापन बधन की शृ खला है, तथा यह शृ खला भी यथार्थ है, और ईश्वर-प्रसाद से प्राप्त ज्ञान के द्वारा ही इसका निवारण हो सकता है।

[1] तस्य परायतत्वावभासो विद्या-निमित्तको भ्रम। —न्याय-सुधा, पृ० २६।

[2] अत्र हि प्रमातृ-प्रमाण-प्रमेय-कर्त-कर्म-कार्य-भोक्तृ-भोग-लक्षण व्यवहार-त्रयस्य शरीरेन्द्रियादिषु अह्-ममाध्यास पुर सरत्वप्रदर्शनेन व्यवहार-कार्य-लिंगकमुनुमानम् व्यवहारान्यथानुपपत्तिर्वाध्यासे प्रमाण उक्तम्। न चानेनान्त करणशरीरेन्द्रिय-विषयाना तद्धर्माणा दु खादीना च मिथ्यात्व सिध्यति स्वरूप-सतामपि तादात्म्य तत्सम्बन्धित्वाभ्यामारोपेणैव व्यवहारोपपत्तेर्। न च आरोपितत्वमात्रेण मिथ्यत्व, आत्मनोऽपि अन्त करणादिषु आरोपितत्वेन मिथ्यात्व-प्रसगात्। —वही।

शकर-मत के द्वारा निर्देशित यह विचार भी गलत है कि जीव के स्वतत्र कर्त्ता होने अथवा अपने अनुभवो को भोगने का प्रत्यय 'अहकार' मे अन्तर्निहित है, क्योकि 'अहकार' का प्रत्यय वस्तुत आत्मा का विषय होता है तथा वह सुषुप्ति की अवस्था मे भी विद्यमान रहता है, जबकि आत्मा के अतिरिक्त कुछ भी अभिव्यक्त नही होता और हमे ज्ञात है कि उक्त अवस्था का अनुभव है–"मैं सुखपूर्वक सोता हूँ" । अत यह अह-प्रत्यय अथवा अहकार वस्तुतः आत्मा का विषय है ।[1]

यदि सब कुछ मिथ्या है तो फिर जिन श्रुतियो की सहायता से शकर ऐसा सिद्ध करने का प्रयास करेंगे वे भी मिथ्या हो जायेंगी । शकरवादियो द्वारा इस आपत्ति का यह उत्तर दिया गया है कि जो मिथ्या है वह भी अपना मिथ्यात्व एव किसी अन्य वस्तु की सत्यता प्रदर्शित करने मे सहायक हो सकती है, जैसे एक अर्जित प्रत्यक्षीकरण (उदारहणतया 'सुरभि चदन' की अवस्था मे) की अवस्था मे दृष्येन्द्रिय गध एव रग दोनो को प्रकट कर सकती है । किन्तु इस उत्तर का प्रत्युत्तर स्वभावत यह प्रश्न उठाता है कि क्या मिथ्या श्रुतियाँ अथवा अन्य प्रमाण वस्तुत अस्तित्व मे हैं अथवा नही है यदि हैं तो निर्विशेण अद्वैतवाद समाप्त हो जाता है, क्योकि उनके अस्तित्व का अर्थ होगा द्वैतवाद की अनिवार्य स्वीकृति । दूसरी ओर यदि उनका सर्वथा अस्तित्व ही नही है तो वे कुछ भी सिद्ध नही कर सकते । शकर का यह उत्तर गलत है कि मिथ्या भी सत्य को सिद्ध कर सकता है, जैसे, शून्यो के निकट एक रेखा (इकाई) विविध सख्याओ को सूचित कर सकती है, क्योकि वह रेखा एक शब्द मे आए हुए वर्णमाला के चिह्नो की भाँति होती है तथा उनकी भाँति 'सकेतित' सख्याओ का प्रत्याह्वान करा सकती है, अतएव यह मिथ्या नही है (रेखापि वर्णे पदामीव अर्थे सकेतिते त स्मारयतीति नो किंचिद् अत्र मिथ्याऽस्ति) ।[2]

न यह माना जा सकता है कि दु खादि बधन यथार्थ नही है, क्योकि वह 'साक्षिन्' के अनुभव के प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा सत्य अनुभूत होता है ।[3] उसकी असत्यता अथवा

[1] अह-प्रत्ययस्य आत्म-विषयत्वात् । 'न्याय-सुधा', पृष्ठ २७ ।

वह एक ही रूप, 'अह', के दो शब्दो मे भेद भी स्थापित करती है, यद्यपि एक तो 'अव्यय' शब्द है और दूसरा 'अस्मद्' शब्द का कर्त्तावाचक एक वचन है । पूर्वोक्त का प्रयोग तो 'प्रकृति' के विकास-क्रम मे उत्पन्न एक सत्ता का निर्देश करने के लिये किया जाता है, जबकि पश्चादुक्त आत्मा का निर्देश करता है ।

[2] यहाँ शकर एव उनके अनुयायियो द्वारा दिये गए इस प्रकार के कई अन्य उदाहरणो का उल्लेख किया गया है तथा इसी ढग से उनका खण्डन किया गया है ।

[3] दु खादि-बन्ध-सत्यताया साक्षि-प्रत्यक्षमेव उपन्यस्तम् ।

—वही, पृष्ठ ३० ।

मिथ्यात्व प्रतिपक्षी द्वारा सिद्ध नहीं की जा सकती, क्योंकि उसके अनुसार 'निर्विशेष' है, किन्तु कुछ भी सिद्ध करने के प्रत्येक प्रयास में जिसे सिद्ध करना है और जिसके द्वारा वह सिद्ध किया जाता है, उन दोनों के मध्य द्वैत होता है तथा एक निर्विशेष सत्ता प्रमाण बन सकती है यह उस निर्विशेष सत्ता द्वारा स्थापित नहीं किया जा सकता, क्योंकि इसमें 'दुष्ट चक्र' का दोष हो जायगा। यदि जगत मिथ्या है तो जिन प्रमाणों के द्वारा ऐसा स्थापित किया जा सकता है वे भी इस कथनानुसार मिथ्या होंगे और तब यह कथन स्वयं कैसे सिद्ध किया जा सकेगा?

जैसाकि अभी कहा जा चुका है, विचार-विमर्श में प्रविष्ट होने के कारण प्रति-पक्षीगण को भी 'प्रमाणों' (व्यवहरति) की सत्यता स्वीकार करनी पड़ेगी, क्योंकि उनके बिना कोई विचार-विमर्श (कथा) नहीं किया जा सकता, और यदि 'प्रमाण' सत्य माने जाते हैं तो जो इनके द्वारा सत्य सिद्ध किया जाता है (प्रमेय अथवा व्याव-हारिक) वह भी सत्य ही होगा।[1] इस सम्बन्ध में जयतीर्थ श्रीहर्ष के 'खण्डन-खण्ड-खाद्य' के प्रारम्भिक भाग में निहित विचारों का उल्लेख करते हैं जहाँ यह कहा गया है कि यह निःसन्देह सत्य है कि कोई भी विचार-विमर्श तार्किक प्रमाणों की यथार्थता की स्पष्ट अस्वीकृति से आरम्भ नहीं किया जाता, पर साथ ही यह भी आवश्यक नहीं है कि किसी विचार-विमर्श को आरम्भ करने से पूर्व किसी प्रमाण की सत्यता स्वीकार की जाय। जो विचार-विमर्श प्रारम्भ करते हैं वे प्रमाणों की सत्यता अथवा असत्यता विषयक किसी भी पूर्व-विचार के बिना ऐसा करते हैं, वे समस्त प्रमाणों के चरम सत् अथवा असत् की ओर ध्यान नहीं देते, वरन् विचार-विमर्श ऐसे प्रारम्भ कर देते हैं मानो उस समय इस प्रकार के प्रश्न पर विचार करना आवश्यक नहीं है।[2] किसी विचार-विमर्श में केवल एक अस्थायी समझौते (समय-बन्ध) अथवा विचार-विमर्श हेतु युक्तियों एवं प्रमाणों के कतिपय नियमों की स्वीकृति की आवश्यकता होती है, क्योंकि उसके लिये इतना ही यथेष्ट है। इन अवस्थाओं में यह आवश्यक नहीं है कि हमें स्वयं प्रमाणों की सत्यता अथवा असत्यता, अस्तित्व अथवा अनस्तित्व के स्वरूप पर विचार करना चाहिये।[3] अतः 'प्रमाणों' के चरम अस्तित्व एवं सत्यता को अंगीकार किये बिना भी विचार-विमर्श करना सम्भव है और वह केवल इस पारस्परिक अस्थायी

---

1 व्यवहारिक व्यवहार-विषयो दृष्टादि। —वही, पृ० ३१।

2 न ब्रूमो वयं न सन्ति प्रमाणादीनि इति स्वीकृत्य कथारम्भेति किं नाम सन्ति न सन्ति प्रमाणादीनि इत्यस्यां चिन्तायां उदासीनै यथा स्वीकृतैस्तैर्भवता व्यवह्रियन्ते तथा व्यवहारिभिरेव कथा प्रवर्त्यताम्। —वही, पृ० ३२।

3 तच्च व्यवहार-नियम-बन्धादेव—स च प्रमाणेन तर्केण च व्यवहर्तव्यम् इत्यादि-रूप, न च प्रमाणादीनां सत्तापि इत्थम् एव तुभ्यम् अंगीकर्तुम् उचिता, तादृश-व्यवहार-नियम-मात्रेणैव कथा-प्रवृत्ते। —वही।

समझौते के आधार पर कि मानो उनका अस्तित्व है तथा वे सत्य हैं। इसलिये यह कहना त्रुटिपूर्ण है कि जो प्रमाणो के अस्तित्व मे विश्वास नही रखते वे वैध ढग से उचित विचार-विमर्श मे प्रविष्ट नही हो सकते। 'माया' सिद्धात के समर्थको के हितो की रक्षा के हेतु उपर्युक्त विधि का उल्लेख करने के पश्चात् जयतीर्थ कहते हैं कि एक विचार-विमर्श मे चाहे कैसा भी पारस्परिक समझौता क्यो न हो, यह एक निर्विवाद तथ्य है कि यदि प्रमाणो का अस्तित्व नही है तो ऐसी असत् सत्ताओ के द्वारा कुछ भी सिद्ध नही किया जा सकता। या तो 'प्रमाणो' का अस्तित्व है अथवा नही है, कोई मध्यम मार्ग नही है। यदि उन्हे सत् नही स्वीकृत किया जाय तो वे कुछ भी सिद्ध नही कर सकते। आप यह नही कह सकते कि आप 'प्रमाणो' के अस्तित्व अथवा अनस्तित्व के सम्बन्ध मे उदासीन हैं और फिर भी एक निष्क्रिय की भाँति विचार-विमर्श मे प्रवृत्त हो जायेंगे, क्योकि हमारे विचारो का रूप ही ऐसा है कि या तो उनको सत् मानना पडेगा या नही। आप उनके सत् अथवा असत् के सम्बन्ध मे अपना निर्णय स्थगित नही रख सकते और साथ ही विचार-विमर्श करने के लिये उनका प्रयोग नही कर सकते।[1] आप विचार-विमर्श प्रारम्भ करने से पूर्व उनके सम्बन्ध मे विचार भले ही न करें, किन्तु, जब आप विचार-विमर्श कर रहे होते है तब इस सम्बन्ध में प्रश्न सरलता से उठाया जा सकता है और आपको उसे स्वीकार करना पडेगा अन्यथा विचार-विमर्श को त्यागना पडेगा। पारस्परिक समझौते द्वारा 'प्रमाणो' से विनिमय करने का अर्थ है उनके अस्तित्व को पहले ही से स्वीकार कर लेना।[2]

शकरवादी प्राय तीन प्रकार की सत्ताओ का कथन करते हैं, 'पारमार्थिक', 'व्यावहारिक' एव 'प्रातिभासिक'। जगताभास (जगत-प्रपच) की यह व्यावहारिक सत्ता न तो सत् है और न असत् है (सदसद्-विलक्षण)। श्रुतियाँ इसे मिथ्या कहती हैं, क्योकि यह सत् नही है और फिर भी चूंकि यह पूर्णत असत् नही है अत उसके अतर्गत पाये जाने वाले प्रमाणादि स्वय उसके मिथ्यात्व तथा चरम सत्ता के निरपेक्ष सत्-स्वरूप को सिद्ध कर सकते हैं।[3] ऐसी मान्यता मे वास्तव मे कुछ बल होता यदि यह सिद्ध हो सकता कि 'जगत-प्रपच' न तो सत् है और न असत्, पर ऐसा नही किया

[1] सत्वासत्वे विहाय प्रमाण-स्वरूपस्य बुद्धौ आरोपयितुमशक्यत्वेन उदासीनस्य तत्-स्वीकारानुपपत्तै। —'न्याय-सुधा', पृ० ३४।

[2] प्रमाणैर व्यवहर्तव्यम् इति च नियम-वन्धन प्रमाकरणमावस्य नियमान्तर्भावान् नियत-पूर्व-रूप करणत्वम् प्रमाणानाम् अनादाय न पर्यवस्यति। —वही, पृ० ३४।

[3] तत्र व्यवहारिकस्य प्रपचस्य सदसद्विलक्षणस्य सद्-विलक्षणत्वाद् उपपन्न श्रुत्यादिना मिथ्यात्व-समर्थनम् असद्-विलक्षणत्वात् तद्-अन्तर्गतस्य प्रमाणादे साधकत्व च इति। —वही, पृ० ३५।

जा सकता, क्योंकि असत् सत् के अभाव के अतिरिक्त और कुछ भी नही है (तस्य सत्ता भावाव्यतिरेकात्)। अत जो सत् से भिन्न है वह असत् होना चाहिये तथा जो असत् से भिन्न है वह सत् होना चाहिये, यहां कोई मध्यम मार्ग नही है। श्रुतियां भी यह नही कहती कि 'जगत-प्रपच' का ऐसा स्वरूप है जो सत् एव असत् से भिन्न (सदसद्-विलक्षण) हो।

'सद्-विलक्षण' वाक्यांश के अर्थ के सम्बन्ध मे अनेक अर्थो एव उनके खण्डन का निर्देश करने के पश्चात् जयतीर्थ इस वैकल्पिक व्याख्या का सुझाव देते है कि उक्त वाक्यांश का अर्थ हो सकता है 'सत्ता-सामान्य मे वैलक्षण'। किन्तु प्रतिपक्षी द्वारा निश्चय ही यह अर्थ स्वीकार नही किया जा सकता, क्योंकि एक सामान्य सत्ता को स्वीकार करने का तात्पर्य है उन विभिन्न विशेष सत्ताओ को स्वीकार करना जिनसे सामान्यीकरण किया जा सके।[1] एक शकरवादी द्वारा यह स्वीकार नही किया जा सकता तथा जहां तक स्वय जयतीर्थ का सम्बन्ध है वे विशेष सत्ताओ से पृथक् किसी सामान्य सत्ता को स्वीकार नही करते (द्रव्याद्यतिरिक्त-सत्व-सामान्यस्यैव अनगीकारात्)। शकरवादी कहते है कि इस जगत्-प्रपच की अनिर्वचनीयता इस तथ्य से स्पष्ट है कि वह सम्यक् ज्ञान से अतत नष्ट हो जाता है तथा मध्ववादियो द्वारा भी यह स्वीकार किया जाता है कि यह जगत-प्रपच सम्यक् ज्ञान द्वारा नष्ट हो जाता है एव यह जगत-प्रपच नष्ट होने योग्य है। इस आपत्ति का जयतीर्थ यह उत्तर देते हैं कि जब मध्ववादी यह कहते है कि जगत् प्रभु के द्वारा नष्ट कर दिया जाता है, तो यह उसी अर्थ मे हैं जिस अर्थ मे एक मुद्गर के प्रहार मे एक घट को धूल मे परिणत कर दिया जाता है।[2] परन्तु हमारे मत मे 'प्रकृति' के सम्बन्ध मे ऐसा विनाश भी सम्भव नही है तथा यह विनाश एक शकरवादी द्वारा समझे जाने वाले 'ज्ञान' के द्वारा 'बाध' से सर्वथा भिन्न है। क्योंकि, जैसाकि प्रकाशात्मन् अपने 'विवरण' मे लिखते हैं, बाध' का अर्थ यह है कि ज्ञान के द्वारा 'अज्ञान' अपने समस्त कार्यो सहित बाधित हो जाता है (अज्ञानस्य स्वकार्येण वर्त्तमानेन प्रविलीनेन वा सह ज्ञानेन निवृत्तिर्बाध.)। मध्ववादियो के अनुसार 'सम्यक्ज्ञान' के द्वारा 'बाध' किसी ऐसी वस्तु के सम्बन्ध मे होता है जिसके बारे मे पहले 'अन्यथा ज्ञान' था। 'सदसद्विलक्षण' जैसी किसी वस्तु का अस्तित्व सम्यक्-ज्ञान के द्वारा बाधित वस्तु के अनुरूप नही माना जा सकता, सम्यक्-ज्ञान के द्वारा किसी वस्तु के सम्बन्ध मे केवल आपके दोषपूर्ण ज्ञान का 'बाध' हो सकता है। शुक्ति-रजत का उदाहरण कुछ भी सिद्ध नहीं कर सकता, क्योंकि हम यह

[1] सत्ता सामान्यागिकारे च सद्-भेदो दुर्वारैव, न ह्येकाश्रय सामान्यमऽस्ति।

—वही, पृ० ३८

[2] मुद्गर-प्रहारादिना घटस्यैव ईश्वरस्य ज्ञानेच्छा-प्रयत्न-व्यापारैर्विनाशैव।

—वही, पृ० ३९।

स्वीकार नही करते कि शुक्ति-रजत जैसी कोई ऐसी वस्तु है, जिसका अस्तित्व था और जो सम्यक्-ज्ञान के द्वारा विनिष्ट हो गई, क्योकि वास्तव मे उसका कभी कोई अस्तित्व था ही नही। न केवल शुक्ति-रजत के सबध मे बल्कि 'आकाश' आदि के सबध मे भी यह कथन सर्वथा गलत है कि वह 'सदसद्‌विलक्षण' है।

भ्रम का अर्थ है एक वस्तु को जैसी वह है उससे भिन्न समझना (अन्यथा-विज्ञानम् एव भ्रांति)। शुक्ति-रजत 'अन्यथा-विज्ञान' अथवा 'अन्यथा-ख्याति' का सरल उदाहरण है तथा इसमे 'सदसद्‌विलक्षणत्व' अथवा 'ज्ञान-निवर्त्यत्व' जैसी कोई वस्तु नही है, क्योकि उसका अस्तित्व ही नही है। यहाँ यह आपत्ति उठाई जा सकती है कि यदि उसका अस्तित्व नही होता तो हमे उसका प्रत्यय (प्रतीति) प्राप्त नही हो सकता था, कोई भी व्यक्ति ऐसी वस्तु का प्रत्यय प्राप्त नही कर सकता जिसका अस्तित्व ही न हो, किन्तु शुक्ति-रजत का अपरोक्ष प्रत्यक्षीकरण होता है। इसका उत्तर यह है कि प्रतिपक्षी भी यह स्वीकार नही करता कि ऐसी कोई सहवर्त्तिता है कि जिस वस्तु का अस्तित्व न हो उसका कोई प्रत्यय प्राप्त नही किया जा सकता, क्योकि जब प्रतिपक्षी किसी वस्तु को 'असद्-विलक्षण' अथवा असत् से भिन्न कहता है, तब उसमे 'असत्' का प्रत्यय होना चाहिये, क्योकि यदि कोई व्यक्ति किसी वस्तु (यथा, घट) को किसी अन्य वस्तु (यथा, पट) से भिन्न ज्ञान करना चाहता है तो इससे पूर्व इस भिन्नता को ज्ञात हो जाना चाहिये कि वह वस्तु (एक घट) क्या है?[1] यहाँ पुन यह ज्ञान-मिमासा सम्बधी समस्या खडी होती है कि क्या असत् का ज्ञान प्राप्त करना सम्भव है। इस प्रकार यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि 'क्या मनुष्य के मस्तक पर सीग हैं? वाक्य किसी अर्थ को सूचित करता है, और यदि वह ऐसा करता है तो वह अर्थ किसी सत् सत्ता का है अथवा असत् सत्ता का? वह सत् सत्ता का अर्थ नही हो सकता, क्योकि उस अवस्था मे हमे वास्तव मे सीग दिखाई पडने चाहिये, सीग की असत् सत्ता का प्रत्यय होना चाहिये, अतएव यह स्वीकार करना पडता है कि हम असत् सत्ताओ का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। यह नही कहा जा सकता कि यह सत्ता असत् नही है वरन् केवल 'अनिर्वचनीय' है, क्योकि, यदि शश-शृ ग अथवा मानव-शृ ग जैसी सत्ताओ को भी असत् नही माना जाना चाहिये तो फिर शुक्ति-रजत को किससे भिन्न समझा जाना चाहिये? क्योकि 'असद्-विलक्षण' का कुछ अर्थ स्वीकार करना पडेगा, 'असत्' का अर्थ 'अनिर्वचनीय' नही हो सकता, उस दशा मे शुक्ति रजत, जिसे 'असत्' से विलक्षण कहा जाता है,

---

[1] यो यद्‌विलक्षण प्रत्येति स तत्-प्रतीतिमान्
यथा घट-विलक्षण पट इति प्रतीतिमान्
देवदत्तो घट-प्रतीतिमान् इत्यनुमानात्।

—'न्याय-सुधा,' पृ० ५७।

वर्णनीय हो जायगी।[1] 'असत्' न केवल ज्ञान का विषय बन सकता है बल्कि वह एक क्रिया का कर्त्ता अथवा कर्म भी हो सकता है। यथा जब यह कहा जाता है कि 'घट' उत्पन्न किया जा रहा है, 'घटो जायते' तो यह वाक्य असत् घट को सूचित करता है जो 'जायते' क्रिया का कर्त्ता है, क्योंकि बाद मे यह प्रदर्शित किया जायगा कि शकर का वह सिद्धान्त गलत है जिसके अनुसार कारणता के व्यापार के पूर्व भी कार्यों का पूर्व अथवा समकालिक अस्तित्व रहता है (सत्-कार्यवाद)। अत चूंकि 'असत्' का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है, इसलिये यह आपत्ति अमान्य है कि शुक्ति-रजत असत् नही हो सकती क्योकि वह ज्ञात होती है।

किन्तु आगे एक यह आपत्ति उठाई जाती है कि यद्यपि यह अस्वीकृत नही किया जाता है कि असत् को ज्ञात किया जा सकता है, तथापि यह अस्वीकृत किया जाता है कि असत् अपरोक्ष रूप से प्रत्यक्ष तथा सत् रूप मे भासित नही हो सकता (अपरोक्षतया सत्वेन च), मानो एक व्यक्ति एक मनुष्य के मस्तक पर उसी प्रकार सींग देखे जिस प्रकार वह उन्हे गाय के सिर पर देखता है। किन्तु शुक्ति रजत की दशा मे जो कुछ प्रत्यक्ष किया जाता है वह सत् के रूप मे अपरोक्षत प्रत्यक्ष किया जाता है, अत शुक्ति रजत असत् होनी चाहिये। इसके उत्तर मे यह कहा जा सकता है जो व्यक्ति शुक्ति-रजत को असत् न मानकर 'अनिर्वचनीय' मानते है उनको 'इदम्' और 'रजत' के तादात्म्य का आभास स्वीकार करना पडेगा (इद-रजतयो)। शकरवादियो के अनुसार भ्रम किसी वस्तु का उस वस्तु मे आभास है जो वैसी नही है (अतस्मिंस्तद् इति प्रत्यय इति)। निश्चय ही यह 'अन्यथा-ख्याति' (यथार्थ से भिन्न आभास) नही है, क्योकि भ्रम का आधार (भ्रामक रजत के 'अधिष्ठान' के रूप मे शुक्ति) स्वरूप से मिथ्या नही है, बल्कि अपने रजतमय आभास के रूप मे मिथ्या है अथवा मिथ्या आभास से सबधित होने के रूप मे (ससृष्ट रूप) मिथ्या है, किन्तु मिथ्या आभास (अध्यस्त) 'स्वरूप' से भी मिथ्या है और प्रेक्षक के सम्मुख विषय से सम्बन्धित होने के रूप मे भी मिथ्या है, 'माया' सिद्धान्त के समर्थक ऐसा स्वीकार करते है। 'अन्यथा-ख्याति' मत के समर्थको के विचार मे शुक्ति और रजत दोनो यथार्थ हैं, तथा केवल शुक्ति का रजत से एव रजत का शुक्ति से तादात्म्याभास मिथ्या है।[2] मिथ्या अथवा असत् का यह आभास 'अपरोक्ष' होता है, जैसा कि अनुभव से ज्ञात होता है तथा यथार्थ सत्ता से युक्त होता है, क्योकि वर्ना कोई भी उससे प्रवृत्त नही होता (सत्वेना-प्रतीतो-प्रवृत्त्यनुपपत्तेश्च)। जबतक भ्रम का निवारण नही हो

---

[1] निरुपाख्याद् इति चेत् तर्हि तद्-वैलक्षण्य नाम सोपाख्यानत्वम् एव।
—वही, पृ० ५८।

[2] अन्यथा-ख्याति-वादिभिर् अधिष्ठानारोप्ययोर् उभयोर् अपि
ससृष्ट-रूपेणैव असत्व स्वरूपेण तु सत्वम् इत्यगीकृतम्। वही, पृ० ५८।

जाता तबतक असत् रजत का 'इद' के साथ यह साहचर्य प्रेक्षक के सम्मुख यथार्थ रजत के प्रत्यक्षीकरण से लेशमात्र भी भिन्न नही होता। प्रतिपक्षी ऐसा कहेगे कि यह एक मिथ्या और असत् साहचर्य (अन्यथात्व यद्यसत् स्यात्), नही है, जैसाकि मध्ववादी मानते हैं, किन्तु यह समझना कठिन है कि उनका इस प्रकार की आपत्ति से क्या तात्पर्य है, क्योकि रजत का शुक्ति से ऐसा साहचर्य यथार्थ (सत्) नही हो सकता, क्योकि यदि वह ऐसा होता तो वह केवल भ्रम (भ्राति) की अवस्था मे ही क्यो भासित होता, जिसमे प्रथम प्रत्यक्षीकरण बाधित हो जाता है, जैसे 'यह रजत नही है' वाक्य मे पुन, जो यह सोचते है कि भ्रम की अवस्था मे रजत 'अनिर्वचनीय' होती है, उनसे यह पूछा जा सकता है कि जो अनिर्वचनीय रूप मे भासित होती है उसका स्वरूप क्या है ? क्या वह असत् अथवा मिथ्या के रूप मे भासित होती है ? ऐसा नही हो सकता, क्योकि फिर कोई भी उसे असत् अथवा मिथ्या जानकर उसके सबध मे कष्ट नही उठायेगा और न उसे उठाने का प्रयत्न करेगा। अत यह स्वीकार करना पडेगा कि वह सत् के रूप मे भासित होती है। यह हमारे भ्रम के अनुभव के अनुकूल है ('यह रजत') उसकी ओर आकृष्ट होने के लिये रजत के अस्तित्व की प्रतीति से रहित उसकी कोरी प्रतीति से यथेष्ट नही होती। परन्तु उसका यथार्थ अस्तित्व नहीं है, क्योकि तब वह अनिर्वचनीय नही हो सकती, यदि वह असत् है तो यह स्वीकार करना पडेगा कि असत् अपरोक्ष प्रत्यक्ष अनुभव मे भासित होता है तथा सत् से युक्त प्रतीत होता है। पर प्रतिपक्षी यह कह सकते हैं कि यह उनकी समझ मे परिस्थिति जैसी है उसका सही विश्लेषण नही है। क्योकि उनके मत मे शुक्ति मे यथार्थ 'इद' तथा रजत के साथ उसका ससर्ग उतना ही अनिर्वचनीय है जितनी कि अनिर्वचनीय रजत स्वय है, अतएव रजत के आभास मे रजत अनिर्वचनीय है और इसीलिये उनका परस्पर सम्बन्ध भी अनिर्वचनीय है। शुक्ति मे निहित सत्ता रजत के साथ अनिर्वचनीय ढग से सम्बन्धित होती है। इसका उत्तर यह है कि ऐसा मत 'अनवस्था' नामक गम्भीर दोष से युक्त है। कारण जब यह कहा जाता है कि 'इद' एव 'रजतता' का पारस्परिक 'ससर्ग' तथा शुक्ति की सत्ता का रजत के साथ ससर्ग दोनो अनिर्वचनीय हैं, तो यह पूछा जा सकता है कि उनको अनिर्वचनीय कहने का ठीक-ठीक तात्पर्य क्या है ? वह साधारण प्रापचिक अनुभव (व्यावहारिक) के स्वरूप की नही है क्योंकि मिथ्या रजत किसी व्यावहारिक उपयोग की नही होती। यदि वह मिथ्या (प्रातिभासिक) है तो क्या वह उसी रूप मे भासित होती अथवा वह ऐसी भासित होती है मानो वह 'व्यावहारिक' स्वरूप की हो ? यदि वह प्रातिभासित रूप मे भासित होती तो कोई भी व्यक्ति उसे मिथ्या समझकर उससे धोखा नही खाता तथा उसे उठाने के लिये नीचे झुकने का कष्ट नही उठाता। यदि वह ऐसी भासित होती मानो वह व्यावहारिक स्वरूप की हो, तो वह वस्तुत ऐसी नही हो सकती क्योकि फिर वह मिथ्या नही हो सकती थी। यदि वह व्यावहारिक स्वरूप की न होते हुए भी वैसी

भासित होती है, तो पुरानी बात स्वीकार करनी पडती है कि अपरोक्ष प्रत्यक्षीकरण मे असत् सत् के रूप मे भासित हो सकता है। यदि व्यावहारिक अनुभव के किसी विषय के रूप मे रजत के इस आभास को अनिर्वचनीय मान लिया जाय तो उसके सम्बन्ध मे पुन इसी प्रकार के प्रश्न पूछे जा सकते है तथा यह श्रेणी-क्रम अनन्त तक चलता रह सकता है, यह बीज और पौधे निर्दोष अन्योन्याश्रय से भिन्न चक्रक दोष को सच्चे उदाहरण बन जायेगे,क्योंकि यहाँ जब तब पूर्ववर्त्ती श्रेणी का एक निश्चित उत्तर सतोषजनक ढग से न दे तब तक अनुवर्त्ती श्रेणी का हल नही निकाला जा सकता तथा स्वय उसका हल इसी प्रकार उसके पूर्ववर्त्ती श्रेणी के हल पर निर्भर करता है तथा उसका हल किसी अन्य पर, और यह क्रम अनन्त तक चलता रहेगा, अतएव किसी भी स्तर पर कोई हल प्राप्त होना सम्भव नही है।[1] अत यह पुरना मत स्वीकार करना पडता है कि मिथ्या एव असत् भी यथार्थ एव सत् के रूप मे भासमान हो सकता है तथा जगत-प्रपच को 'अनिर्वचनीय' नही मानना चाहिये।

ब्रह्म-सूत्र १, १, २ की व्याख्या

द्वितीय 'सूत्र' 'जन्माद्यस्य यत ' का शाब्दिक अनुवाद है जिससे इसकी उत्पत्ति, आदि। इस 'सूत्र' पर शकर के भाष्य का आशय सक्षेप मे निम्नलिखित है 'उत्पत्ति आदि' का अर्थ है उत्पत्ति, स्थिति और विनाश। इस अति विशाल, नियम-बद्ध एव विविधता से युक्त जगत-प्रपच की उत्पत्ति, स्थिति व विनाश उस चरम कारण ईश्वर से होता है तथा न तो 'परमाणु' और न जड एव 'प्रकृति' उसका कारण हो सकते हैं। यह सूत्र ईश्वर के अस्तित्व के पक्ष मे एक अनुमान के रूप मे अभिप्रेत नही है, बल्कि ब्रह्मन् के स्वरूप के सम्बन्ध मे उपनिषद् पाठो के आशय का वर्णन मात्र है,[2] क्योंकि ब्रह्मन् के स्वरूप का अतिम ज्ञान हमारे ज्ञानेन्द्रियो की सीमा से परे होने के कारण, उपनिषद्-पाठो के अर्थ के सम्यक् अवबोध से ही प्राप्त हो सकता है।

मध्व के 'भाष्य' एव 'अनुव्याख्यान' पर टीका करते समय जयतीर्थ इस 'सूत्र' की व्याख्या करने मे मध्व का अनुसरण करते हैं। यह 'सूत्र' 'ब्रह्मन्' का सजातीय प्राणियो अर्थात् 'जीवो' तथा विजातीय जड पदार्थो से विभेदीकरण करने के अभिप्राय से ब्रह्मन् का 'लक्षण' बताता है। तात्पर्य यह है कि जिस सत्ता से जगत् की उत्पत्ति आदि होती है वह ब्रह्मन् है और महत्वपूर्ण श्रुति-पाठ कहते हैं कि जगत् ब्रह्मन् से उत्पन्न हुआ था।[3]

[1] 'न्याय-सुधा,' पृ० ५९।

[2] जन्मादि सूत्र नानुमानोपन्यासार्थं किं तर्हि वेदान्त वाक्य-प्रदर्शनार्थम्।

[3] जयतीर्थ इस 'सूत्र' की एक अन्य व्याख्या का उल्लेख करते हैं—'जन्म आद्यस्य

यह बताया जा चुका है कि 'सूत्र' मे 'जन्मादि' का अर्थ शकर ने 'सृष्टि', 'स्थिति' एव विनाश ('लय' या 'भग') लगाया तथा उन्होने यहाँ यास्क द्वारा 'निरुक्त' मे निर्देशित अस्तित्व-मय पदार्थो (भाव-विक) की छ अवस्थाओ का तीन अवस्थाओ मे ही समावेश किया, यथा उत्पन्न होना, स्थिति मे रहना, विकसित होना, परिवर्तित होना, क्षय होना तथा विलय होना, क्योकि विकास और परिवर्तन का 'जन्म' के अन्तर्गत समावेश हो जाता है तथा क्षय का 'लय' मे। परन्तु मध्व 'जन्मादि' पद मे आठ विभिन्न पदार्थो का समावेश करते है, उनके अनुसार वे हैं 'सृष्टि' 'स्थिति' सहार 'नियम', 'ज्ञान', 'अज्ञान', 'बन्ध' तथा 'मोक्ष'।[२] इन समस्त गुणो की सत्ता 'ब्रह्मन्' नाम से निर्देशित गुणो के पूर्णत्व को लक्षित करती है। वह एक-मात्र सत्ता जिसमे उपर्युक्त सभी आठ गुण स्थित रहते हैं 'ब्रह्मन्' कहलाती है।

हिरण्यगर्भस्ययतस्तद् ब्रह्म'। 'यत ' शब्द द्वारा निर्देशित ब्रह्म के अर्थ के सम्बन्ध मे 'न्याय सुधा' मे तथा अन्य स्थानो पर उल्लिखित मतो का 'तात्पर्य-चन्द्रिका' विवेचन करती है। 'ब्रह्मन्' शब्द के अश 'बृह' के कई 'रूढ' अर्थ हैं, जैसे 'जाति', 'जीव', 'कमलासन' अथवा 'ब्रह्मा'। किन्तु यह शब्द यहाँ 'रूढ' अर्थ मे प्रयुक्त नही हुआ है बल्कि व्युत्पत्यात्मक अर्थ मे जो उस सत्ता को सूचित करता है जिसमे गुणो का पूर्णत्व हो, क्योकि इसी अर्थ मे इस 'सूत्र' तथा उसके पूर्ववर्त्ती 'सूत्र' के सम्बन्ध मे निर्देशित उपनिषद्-पाठ सार्थक बनते है। पुन , अन्य पाठो के आधार पर, जिनमे उसको (जिससे समस्त वस्तुओ की उत्पत्ति होती है) समुद्र मे स्थित बताया गया है, 'ब्रह्मन्' का अर्थ यहाँ विष्णु होता है (यथा 'समाख्या श्रुति' मे द्यावापृथिवा पर मम योनिरप्सु अन्त समुद्रे), क्योकि केवल उसमे ही सर्व गुणो का पूर्णत्व होता है। यह लक्षण 'रूढ' अर्थो जैसे 'जाति' या 'जीव' मे से किसी पर लागू नही होगा और इसीलिये यद्यपि 'रूढ' अर्थ व्युत्पत्यात्मक अर्थ (यौगिक) से प्रवल होता है, तथापि यहाँ पाश्चादुक्त अधिमान्य हैं 'ब्रह्म-शब्दस्य जीवे रूढत्वेऽपि बाधक सद्भावात् तद् ब्रह्म इति श्रुत्युक्त ब्रह्म विष्णुएव' (तत्व-प्रकाशिका)। यहाँ यह भी कहा जा सकता है कि 'तत्व-प्रकाशिका' 'तात्पर्य-चन्द्रिका' व अन्य मध्व-रचनाओ के अनुसार यह माना जाता है कि यद्यपि साधारणतया ब्रह्म का 'रूढ' अर्थ जीव होता है, तथापि पण्डितो के लिये इस शब्द का सदा रूढ अर्थ विष्णु होता है। इस प्रकार साधारण 'रूढ' अर्थ एव विद्वद्-रूढ' अर्थ मे भेद स्थापित किया गया है तथा पश्चादुक्त को अधिमान्यता दी गई है', 'विदुषा ब्रह्म-शब्देन विष्णु-व्यक्ति-प्रतीते'।

—तात्पर्य-चन्द्रिका, पृ० १२०।

[२] मध्व का 'अनुभाष्य' या 'ब्रह्म-सूत्र' १, १, २ मध्व अपने पक्ष मे 'स्कन्द पुराण' से एक अवतरण आप्त वचन के रूप मे उद्धृत करते है—

उत्पत्ति-स्थिति सहार-नियतिर्ज्ञानमवृत्ति
बन्ध-मोक्ष च पुरुषादयस्मान् स हरिर् एकराट्।

सामान्यत दो प्रकार की परिभाषाओ मे परस्पर विभेद किया जाता है, अर्थात् 'स्वरूप-लक्षण' और 'तटस्थ-लक्षण'। 'पच-पादिका-विवरण' के लेखक प्रकाशात्मन् ब्रह्मन् की इस परिभाषा को पश्चादुक्त प्रकार की बताते हैं, क्योकि केवल 'माया' के साहचर्य मे ही ब्रह्मन् जगत-प्रपच की उत्पत्ति आदि का कारण कहा जा सकता है। वह स्वरूप से विशुद्ध 'आनन्द' रूप है जो अपने स्वरूप मे विशुद्ध 'ज्ञान' से एक-रूप है।[1] पर मध्व और उनके अनुयायी इस 'सूत्र' मे बताये हुए गुणो को स्वरूप-लक्षण मानते हैं तथा यह नही स्वीकार करते कि 'आनन्द' एव 'जीव' के सार-तत्व किसी भी अर्थ मे गुणो के अतिरिक्त कुछ अन्य है, और उस दशा मे वे 'ब्रह्मन्' से तादात्म्य रखने वाले सार-तत्व नही हो सकते जैसाकि एक 'स्वरूप-लक्षण' के लिये आवश्यक है, क्योकि 'आनन्द' भी किसी अन्य गुण के समान एक गुण ही है, और यदि 'आनन्द' एक स्वरूप-लक्षण माना जा सकता है तो इस जगत का कारण होने का गुण भी स्वरूप-लक्षण माना जा सकता है।[2] यदि ब्रह्मन् का कारण होना उसका तटस्थ-लक्षण है तो, वह अपनी शुद्धता मे 'आनन्द' भी नही हो सकता, चाहे 'आनन्द को एक जाति प्रत्यय के अर्थ मे लिया जाय, एक 'अनुकूल वेदना' माना जाय, 'परम-प्रेमास्पद' समझा जाय, अथवा दु ख के विपरीत बताया जाय, क्योकि यदि 'आनन्द' का स्वरूप इनके जैसा है, तो वह स्वरूपत सोपाधिक लक्षणो से सम्बन्धित होना चाहिए (सोपाधिकत्वम्)। इसी प्रकार 'ज्ञान' भी किसी न किसी अर्थ की अभिव्यक्ति करता है तथा स्वरूपत अपने से बाह्य वस्तु से सम्बंधित होना चाहिये (अर्थ प्रकाशात्मकत्वेन सोपाधिकमेव), क्योकि ज्ञान का ज्ञाता एव ज्ञेय से अपृथक् सम्बन्ध होता है (ज्ञानस्य ज्ञातृ-ज्ञेय-सापेक्षत्वात्)। 'पच-पादिका-विवरण' मे कहा गया है कि जो ज्ञान ब्रह्मन् का स्वरूप-लक्षण है वह सर्व-प्रकाशक विज्ञान है जो विषयो पर निर्भर होने अथवा उनसे अपृथक् सम्बन्ध रखने की उपाधियो से सर्वथा रहित है।[3] किन्तु यह तथ्य कि वह ज्ञान सर्व-प्रकाशक है, उसकी शक्ति-सम्पन्नता को सूचित करता है तथा यह शक्ति अनिवार्यत उस विषय से सम्बन्धित होनी चाहिये जिसके प्रति वह प्रभावशाली है। इसके अतिरिक्त यदि कोई शक्ति स्वरूप-लक्षण मानी जा सकती है तो जगत् को उत्पन्न करने की शक्ति तथा उसे अन्य प्रकार से प्रभावित करने की शक्ति (जिसका इस 'सूत्र' मे उल्लेख किया गया

[1] पच-पादिका-विवरण, पृ० २२२–३।

[2] आनन्द लक्षणमिति चेत् तर्हि जगत्-कारण लक्षणमास्तु।

—तात्पर्य-चन्द्रिका, पृ० १४०।

[3] अनेन सर्वज्ञ शब्देन सर्वावभास-क्षण विज्ञप्ति-मात्रमादित्यादि—
प्रकाशवदविषयोपाधिक विज्ञानमेव ब्रह्म-स्वरूप लक्षणम्।

—पच-पादिका-विवरण, पृ० २१०।

है) भी एक स्वरूप-लक्षण मानी जा सकती है।[1] यह आपत्ति मान्य नही है कि किसी वस्तु का 'स्वरूप' स्वय से भिन्न किसी वस्तु के सबध द्वारा अभिव्यक्त नही किया जा सकता, क्योकि किसी अन्य वस्तु से सर्वथा असबधित एव सबधो से रहित वस्तु ज्ञात नही की जा सकती (स्वरूपस्य स्व-वेद्यत्वात्)। प्रतिपक्षियो द्वारा आगे यह कहा जाता है कि ब्रह्मन् के जगत के कारण होने का 'तटस्थ-लक्षण' किसी मकान को एक अस्थाई साहचर्य (जैसे उसकी छत पर बैठे हुए कौए) के द्वारा निर्देशित करने के सदृश, एक अन्तर्निहित व आन्तरिक लक्षण (अनन्वयी) नही होता, किन्तु 'आनन्द' के सादृश एक स्नरूप-लक्षण वस्तु का अन्तर्निहित एव आन्तरिक अग (कार्यान्वयी) होता है। पर इस प्रकार की आपत्ति ब्रह्मन् के कारणत्व आदि लक्षणो को तटस्थ-लक्षण बताकर बहिष्कृत नही कर सकती, क्योकि हम ब्रह्मन् को स्वरूपत जगत के 'कारण' के रूप मे उन्ही अशो मे ज्ञात करना चाहते हैं जिन अशो मे अन्य किसी लक्षण के रूप मे। ब्रह्मन् का स्वरूप-लक्षण जगत की उत्पत्ति आदि के चरम कारण के रूप मे उसकी गुणो की पूर्णता है तथा उसके यह गुण किसी भी अर्थ मे उसके 'आनन्द' रूपी स्वरूप से कम अनिवार्य नही हैं। अग्नि मे जलाने की शक्ति के सादृश जगत की सृष्टि आदि करने की यह शक्तियाँ ब्रह्मन् के स्वरूप से सहव्यापक हैं। व्यास तीर्थ के कथनानुसार यह वस्तुत आश्चर्य का विषय है कि शकरवादी स्वरूप एव तटस्थ लक्षणो के सम्बन्ध मे इतने लम्बे विवेचन मे प्रवेश करते हैं, क्योकि समस्त लक्षणो का अर्थ है वस्तु को उसके प्रसिद्ध असाधारण धर्मों के द्वारा विदित कराना।[2] किन्तु, चूंकि शकरवादी पूर्णत निर्विशेष ब्रह्मन् मे विश्वास करते हैं अत उनको उसके लक्षण बताने का क्या अधिकार है ? समस्त लक्षणो को ज्ञात गुणो के आधार पर अग्रसर होना पडता है।[3] 'लक्षण' चाहे 'स्वरूप' हो अथवा 'तटस्थ' हो, असाधारण विशिष्ट गुणो की गणना के द्वारा ही उसे अग्रसर होना पडेगा, और चूंकि प्रतिपक्षियो का ब्रह्मन् गुणो से रहित है इसलिये उसका कोई लक्षण नही बताया जा सकता।

रामानुज ने इस 'सूत्र' की व्याख्या मे कहा था कि 'सूत्र' मे उल्लिखित ब्रह्मन् के विशिष्ट गुण एव शक्तियाँ ब्रह्मन् ही के हैं क्योकि वह अन्तर्यामिन् है, परन्तु उपनिषद

[1] सामर्थ्यस्य शक्ति रूपत्वता, विषय-निरूप्यत्वाच्च,
जगज्जननादादि-सामर्थ्यस्यैव स्वरूप लक्षणत्वोपपत्तेश्च।

—तात्पर्य-चन्द्रिका, पृ० १४१।

[2] प्रसिद्धस्य असाधारण-धर्मस्य लक्षणत्वेन, और, असाधारण-धर्मो हि लक्षणम् परिकीर्यते।

—तात्पर्य-चन्द्रिका, पृ० १४०, १४३।

[3] स्वरूप वा तटस्थ वा लक्षण भेदक मत
सजातीयान् विजातीयात् तच्चाद्वैति-मते कथम्। —वही, पृ० १४३।

उसे बहिर्यामिन् के रूप मे उसके विशिष्ट स्वरूप-लक्षणो मे भी परिभाषित करते है तथा उसको सत्य, ज्ञान एव अनत कहते है (सत्य-ज्ञानम् अनन्त ब्रह्म), इन लक्षणो से उसकी जीवो एव जड पदार्थों से भिन्नता स्थापित होती है। किन्तु व्यासतीर्थ निर्देश करते हैं कि मध्व ने अपने 'अनुव्याख्यान' मे लक्ष्यार्थ से इस मत का निषेध किया है, जहां उन्होंने ब्रह्मन् की कारणता को स्पष्ट रूप से उसका आन्तरिक स्व-लक्षण माना है।[1] व्यास तीर्थ कहते है कि रामानुज-मत की प्रनिरक्षा मे यह आग्रह किया जा सकता है कि जैसे घट का विशेष आकार उसका अन्य सभी वस्तुओ से विभेदीकरण करता है, और फिर भी उसमे गध का होना उसका मृत्तिका के रूप मे स्व-लक्षण होता है, उसी प्रकार यद्यपि कारणता आदि ब्रह्मन् का अन्य विषयो से विभेदीकरण करते है, तथापि सत्य, ज्ञान, अनन्त के रूप मे उसका स्वरूप ही उसका जीवो एव जड पदार्थो से विभेदीकरण करता है। पर व्यास तीर्थ का तर्क है कि यह त्रुटिपूर्ण है, क्योकि एक घट का विशेष आकार उसका मृत्तिका से नही बल्कि पट इत्यादि से विभेदीकरण करता है, एक मृत्तिका का घट स्वय मृत्तिका है, किन्तु जो विशेष आकार एक मृत्तिका-घट का अन्य वस्तुओ (जैसे पट आदि) से विभेद करता है वह उसी तथ्य के द्वारा यह भी प्रदर्शित करता है कि वह (घट) उनसे (पट आदि) भिन्न जाति का है। यहां भी जो कारणता ब्रह्मन् के जीवो आदि मे विभेदीकरण करती है वही यह भी बताती है कि वह (ब्रह्मन्) उनसे (जीवो आदि) भिन्न स्वरूप का है। इसलिये ब्रह्मन् का उत्पत्ति आदि का कारण होना उसका स्वरूप-लक्षण है। ब्रह्मन् न केवल इन गुणो से सम्पन्न है बल्कि वास्तव मे उसके गुण अनन्त है, तथा उनका सत्व उसका स्वरूप-लक्षण है (अनन्त-गुण-सत्वम् एव ब्रह्मणो लक्षणम्)।[2]

जिन दो प्रमुख वेदान्त-पाठो द्वारा शकरवादी अपने अद्वैत-सिद्धात की स्थापना करने का प्रयत्न करते है, वे हैं 'वह तू है' (तम् त्वम् असि) और 'ब्रह्म सत्य ज्ञानम् अनन्तम् है' (सत्य ज्ञानम् अनतम् ब्रह्म)। मध्व का आग्रह है कि चूंकि इनकी प्रत्यक्ष व्याख्या (मुख्यार्थ) भेद के आधार पर की जा सकती है, अत अभेद के आधार पर उनकी अप्रत्यक्ष एव दूरस्थ व्याख्या (लक्षण) करना उचित नही है।[3] 'न्याय-सुधा' सकेत करती हे कि अद्वैतवादी व्याख्या से यह कठिनाई उत्पन्न होती है कि 'निर्गुण' का 'सगुण' (जैसे जीव) के साथ कैसे तादात्म्य हो सकता है, निर्गुण स्वय मे निर्धारित

[1] अस्योद्भवादि हेतुत्व साक्षाद् एव स्व-लक्षणम्। —वही।

[2] 'न्याय-सुधा' पृ० १०७।

[3] भेदेनैव तु मुख्यार्थ-सम्भवे लक्षण कुत। 'अनुव्याख्यान' पृ० ५ 'ननुअभेदमुपादाय सूत्र-लक्षण वा आश्रयणीय-भेदमुपादाय मुख्य-वृत्तिर् न इति सदिह्यते, वय तु ब्रूम, द्वितीय एव पक्ष श्रेयान्। 'न्याय-सुधा' पृ० १०१।

नही किया जा सकता, (निर्गुणस्यैव निरूपयितुमशक्यत्वात्)।[1] यदि यह 'निर्गुण ब्रह्म' शकरवादियो द्वारा स्वीकृत 'सगुण' ब्रह्म अथवा ईश्वर से सर्वथा भिन्न है, तो द्वैत उत्पन्न हो जायगा, यदि उनका सम्बन्ध 'अनिर्वचनीय' माना जाय तो उसके विरोध मे वही आलोचना लागू होगी जो प्रथम 'सूत्र' मे अनिर्वचनीय के विरुद्ध की गई है।[2] पर यदि यह आग्रह किया जाय कि उपर्युक्त अवतरणो मे उल्लिखित एकत्व अथवा तादात्म्य विशुद्ध स्व-प्रकाश चैतन्य के रूप मे ब्रह्मन् तथा 'जीव' की प्रमुख सत्ता को निर्मित्त करने वाले उसी चेतन तत्व के सम्बन्ध मे प्रतिपादित किया गया है, तो यह समझना कठिन हो जाता है कि उपनिषद् स्वप्रकाश चैतन्य को प्रकाशित करने का दुःसाहस कैसे कर सकते हैं।[3] इसके अतिरिक्त यह आपत्ति उठाई जा सकती है कि यदि ब्रह्मन् विशुद्ध चैतन्य के अतिरिक्त कुछ भी नही है तो उपनिषदो द्वारा प्रतिपादित 'जीव' के साथ उसका 'एकत्व' ब्रह्मन् से भिन्न होने के कारण मिथ्या है, क्योकि 'एकत्व' शुद्ध चैतन्य नही है, और यदि 'एकत्व' मिथ्या है तो द्वैत सत्य हो जाता है। यदि 'एकत्व' शुद्ध चैतन्य से एकरूप होता तो शुद्ध चैतन्य के स्व-प्रकाशत्व के साथ 'एकत्व' का भी स्व-प्रकाशत्व होता तथा 'एकत्व' की अभिव्यक्ति के लिये उपनिषदो अथवा किसी अन्य वस्तु की सहायता की आवश्यकता नही होती।

ब्रह्मन् के सबध मे 'सत्य,' 'ज्ञानम्' एव 'अनत' सज्ञाओ को लागू करने के प्रसग मे एक अन्य महत्वपूर्ण प्रश्न खडा होता है। क्या ब्रह्मन्, जिस पर यह समस्त गुण लागू किये गये हैं, स्वय मे एक सरल एकत्व है, अथवा वह अनेक गुणो—सत्य, ज्ञान, अनन्त का एक समिश्र है, जिनके विभिन्न स्वार्थ हैं तथा जो समानार्थक नही है? शुद्ध 'चैतन्य' एक है किन्तु वे सज्ञाएँ अनेक हैं। हम एक 'चैतन्य' की स्वय मे पाये जाने वाले अनेक गुणो के साथ सह-अस्तित्व रखते हुए कैसे सकल्पना कर सकते हैं? एक चैतन्य के एकत्व मे इन गुणो की अनेकता कैसे अन्तर्निहित रहती है?[4] अपने

---

[1] वही, पृ० १०२।

[2] 'साक्षी चेत् केवलो निर्गुणश्च' (श्वे० ४, ११) जैसे उपनिषदो के अवतरणो मे 'निर्गुण' शब्द को इस कारण से एक रूपान्तरित अर्थ दिया जा सकता है कि इस वाक्य के प्रसग मे भी उसका कठोर प्रत्यक्ष अर्थ लगाना सम्भव नही है, क्योकि स्वय इस अवतरण मे ब्रह्म को न केवल निर्गुण कहा गया है, वरन् 'साक्षी' (अपरोक्ष द्रष्टा) भी कहा गया है तथा यह स्पष्टतया एक 'गुण' है। यह सम्भव नही है कि ब्रह्मन् को एक साथ 'गुण' सम्पन्न और निर्गुण कहा जाय।

—'न्याय-सुधा,' पृ० १०२।

[3] स्वप्रकाश-चैतन्यात्मक च शास्त्र-प्रतिपाद्य चेति व्याहतम। —वही, पृ० १०३।

[4] चैतन्यमेक सत्यनत्वादीन्यअनेकानि इति सख्या-वैलक्षण्यमित्यादि भेदकार्याणि चावगम्यन्ते।

—वही, पृ० १०६।

'अनुव्याख्यान' मे इस प्रश्न का जो उत्तर मध्व ने दिया है और जिसकी जयतीर्थ ने आगे व्याख्या की है, वह यह है कि ब्रह्मन् के एकत्व मे कोई विशेष सद्गुण (अतिशय) है जो भेद का प्रतिनिधित्व करता है और उसके उद्देश्य की पूर्ति करता है। ऐसा हमे स्वीकार करना पडेगा, इस कठिनाई को हल करने का अन्य कोई उपाय नही है तथा यही एकमात्र हल शेष रहता है (गत्यन्तराभावादर्थापत्या)। यह विशेष सद्गुण जो एकत्व का बलिदान किये बिना अनेकत्व को धारण करने व एकत्व से उसका सामजस्य बनाये रखने मे उपयोगी होता है, मध्वो के द्वारा 'विशेष' कहा जाता है, यह 'विशेष' केवल ब्रह्मन् मे ही नही अपितु अन्य सभी वस्तुओ मे अस्तित्व रखता है। उदाहरणार्थ, एक पट अपनी श्वेतता मे भिन्न नही है, क्योकि वे दोनो एक अविभाज्य एकत्व का निर्माण करते हैं। अत यह स्वीकार करना पडता है कि पट मे ऐसा एक विशेष सद्गुण, एक 'विशेष' विद्यमान है जिसके द्वारा वह स्वय मे एकरूप रहकर भी उन गुणो की अनेकता को अभिव्यक्त करता है जिनके साथ वह निश्चय ही एकत्व का निर्माण करता है। ये 'विशेष' अनन्त सख्या के पदार्थों मे अनन्त सख्या मे विद्यमान रहते है, यद्यपि इन 'विशेषो' के स्वरूप मे कोई आन्तर भेद नही होता। प्रत्येक एकत्व मे उतने ही 'विशेष' होते है जितने गुणो के माध्यम से वह स्वय को अभिव्यक्त करता है तथा इनमे से प्रत्येक 'विशेष' जिस गुण से सम्बन्धित होता है उसके अनुसार अन्य 'विशेषो' मे भिन्न होता है, किन्तु इन 'विशेषो' को वस्तु से अपने सम्बन्ध के लिये अन्य 'विशेषो' की आवश्यकता नही पडती, अतएव 'अनावस्था' दोष उत्पन्न नही हो पाता। इसलिये प्रत्येक वस्तु मे केवल एक ही 'विशेष' नही होता, वरन् उतने ही 'विशेष' होते है जितने विभिन्न गुणो का उसमे एकीकरण होता है।[1]

अत प्रथम दो 'सूत्रो' द्वारा प्राप्त निष्कर्ष यह है कि द्वितीय 'सूत्र' मे जिस ब्रह्मन् की परिभाषा दी गई है वही मुमुक्षुओ के लिये जिज्ञासा का विषय है।

ब्रह्म-सूत्र १, १, ३–४ की व्याख्या

शकर 'शास्त्र-योनित्वात्' (उसके शास्त्र-योनि होने के कारण) 'सूत्र' मे 'शास्त्र-योनि' समास का दो प्रकार से प्रतिपादन करते हुए इस 'सूत्र' की दो व्याख्याए प्रस्तुत

[1] तेप्युक्त-लक्षण-विशेषा अशेषतोऽपि वस्तुषु प्रत्येकमन्ता सन्त्यतो नोक्त-दोषावकाश, अनन्त इति उपलक्षणम्, यत्र यावन्तो व्यवहारास्तत्र तावन्तो विशेषा इति ज्ञातव्यम्। —वही, पृ० १०६।

इस प्रसग मे यह ध्यान देने की बात है कि मध्वो को 'विशेषो' को स्वीकार करने की इस स्थिति मे लगभग विवश होकर आना पडा था, क्योकि वे 'न्याय-वैशेपिक' के 'समवाय' नामक सम्बन्ध को 'ब्रह्म-सूत्र' द्वारा त्याज्य होने के कारण स्वीकार नही कर सकते थे।

करते है—उक्त यौगिक का प्रथम अर्थ है 'शास्त्रो का कारण' तथा द्वितीय है वह जिसकी अभिव्यक्ति का शास्त्र कारण स्रोत अथवा 'प्रमाण' है। 'प्रथम अर्थ इस बात पर बल देता है कि ब्रह्मन् न केवल जगत् की उत्पत्ति आदि का कारण होने से वरन् वेदो की अभिव्यक्ति का कारण होने से भी सर्वज्ञ है, क्योकि एक सर्वज्ञ सत्ता के अतिरिक्त कोई भी वेदो का स्रोत नही हो सकता था, जो मानवी बुद्धि के लिये अथाह ज्ञान के महानतम सग्रह हैं। द्वितीय अर्थ का यह निर्देश है कि केवल वेद ही हमारे लिये यह सिद्ध कर सकते है कि ब्रह्मन् जगत की उत्पत्ति आदि का कारण है।[1]

मध्वो द्वारा द्वितीय अर्थ स्वीकार किया गया है तथा प्रथम अर्थ के विरोध मे वे इस आधार पर आपत्ति उठाते हैं कि ब्रह्मन् का वेदो का स्रोत होना उसकी उस सर्वज्ञता मे तनिक भी वृद्धि नही करता जो प्रथम 'सूत्र' मे वर्णित उसके जगत की उत्पत्ति आदि के कारण होने मे अन्तर्निहित है।[2] जयतीर्थ, व्यास तीर्थ व अन्य मध्व के 'भाष्य' एव 'अनुव्याख्यान' के टीकाकार मध्व के स्पष्ट कथनो का अनुसरण करते हुए विस्तारपूर्वक यह युक्ति देते है कि 'सूत्र' मे आये हुए 'शास्त्र' शब्द का अर्थ 'ऋक्', 'सामन्' व 'यजुस्' वेद है न कि 'शैवागम्', जिनके अनुसार जगत की उत्पत्ति आदि का कारण शिव है।[3] मध्व के टीकाकार इस तथ्य पर बल देने का प्रयास करते हैं कि केवल अनुमान ही ब्रह्मन् को जगत की उत्पत्ति आदि का कारण सिद्ध करने मे असमर्थ है।

---

[1] शास्त्रादेव प्रमाणाज्जगतो जन्मादि-कारण ब्रह्म अधिगम्यते।
—शकर का 'भाष्य', १, १, ३।

[2] कथ च अनन्त-पदार्थकस्य प्रपचस्य कर्तृत्वैव न स्फुट तदेक-देश-वेद-कारणत्वेन स्फुटीभविष्यति। सर्वज्ञम्। जयतीर्थ आगे तर्क करते हैं कि ऐसी कोई सहवर्त्तिता नही है कि वेदो के कर्तृत्व से सर्वज्ञता का निष्कर्ष निकाला जा सके। इसके अतिरिक्त, यदि वेदो के कर्तृत्व का अर्थ है इन्द्रियानुभव अथवा अनुमान द्वारा ज्ञात तथ्यो को सूचित करने के लिये की गई साहित्यिक रचना, तो यह स्वीकार करना पडेगा कि वेद भी किसी अन्य साधारण पुस्तक की भाँति रचे गये हैं (पौरुषेय) और यदि कर्तृत्व का अर्थ है केवल उच्चारण, जैसाकि एक अध्यापक के द्वारा किया जाता है, तो उसका तात्पर्य यह हो सकता है कि कदाचित् वेदो के अन्तर्विषय का पूर्ण ज्ञान भी उच्चारण-कर्त्ता को नही है। 'न्याय-सुधा, पृ० १११ १२।

[3] मध्वो ने जिन अन्य शास्त्रों को आप्त वचन के रूप मे स्वीकार किया वे हैं 'पचरात्र', 'महाभारत' व 'रामायण' न कि 'साख्य', 'योग' अथवा 'पाशुपत'। इस प्रकार मध्व अपने 'भाष्य' मे कहते हैं 'ऋग्-यजु-सामाथर्वश्च भारत पच-रात्रकम्, मूल-रामायण चैव शास्त्राणीत्यभिधीयते।' शास्त्र अस्वीकृत करने पडेंगे। 'पचरात्र' और वेदो से पृथक सहमति है, अतएव 'सूत्र' मे 'शास्त्र' शब्द 'पचरात्र' का उल्लेख

'सूत्र' १ १ ४–शकर यहाँ मीमासको की एक आपत्ति की कल्पना करते हैं कि वेदो का अभिप्राय ब्रह्मन् की स्थापना करना नही हो सकता क्योंकि वे सदा किसी कार्य-विशेष के सम्बन्ध मे विधि-निषेध ही मे अभिरूचि रखते हैं। वे इस आपत्ति का खण्डन यह कहकर करते है कि उपनिषदो के सम्यक् पाठ-अध्ययन से प्रकट होता है कि उनका प्रमुख अभिप्राय विशुद्ध ब्रह्मन् की स्थापना करना है तथा उसका किसी कार्य के अनुष्ठान से कोई सम्बन्ध नही है।

मध्व के मत मे इस 'सूत्र (तत् तु समन्वयात्', किन्तु वह सम्यक् समन्वय के द्वारा') का तात्पर्य यह है कि सर्व 'शास्त्र' विष्णु के रूप मे ब्रह्मन् को चरम कारण मानने मे एकमत हैं न कि शिव अथवा किसी अन्य देवता को जैसाकि अन्य लोगो का मत है। 'मीमासा' की आपत्ति एव स्वय शकर के मत को उसी आधार पर अस्वीकृत किया गया है जिसका विवेचन प्रथम 'सूत्र' मे किया जा चुका है।[1]

'ब्रह्म-सूत्रों' के अन्य महत्वपूर्ण अधिकरणों की एक व्यापक समीक्षा

५-११ 'सूत्रो' मे समाविष्ट 'अधिकरण' मे साख्य के इस कल्पित दावे के विरोध मे कि उपनिषदो मे ब्रह्मन् को नही बल्कि 'प्रकृति' को चरम कारण माना गया है, शकर निम्नलिखित युक्ति प्रस्तुत करते है वे कहते हैं कि 'प्रकृति' का उपनिषदो से सामजस्य नही बैठता, क्योकि वे 'ईक्षति' का कथन करते हैं (ईक्षतेर्नाशब्दम्),[2] तथा 'ईक्षति' केवल एक चेतन कर्त्ता के सम्बन्ध मे ही सत्य हो सकता है। सर्व-प्रकाशक नित्य चैतन्य होने के कारण ब्रह्मन् के प्रति सर्वज्ञता एव 'ईक्षति' का प्रयोग उचित माना जा सकता है। मूल-पाठ के 'ईक्षति' शब्द की अन्यथा व्याख्या नही की जा सकती, क्योकि एक चेतन कर्त्ता के प्रति उसका उल्लेख और भी सबल हो जाता है जब उसे 'आत्मन्' कहा जाता है, एक ऐसा शब्द जिसका 'चेतन कर्त्ताओ के लिये प्रयोग सुविदित है[3] तथा यह निश्चित है कि 'आत्मन्' शब्द का अर्थ 'प्रकृति' नही हो सकता, क्योकि

करता है, अत केवल 'पचरात्र' की सत्यता की घोषणा के द्वारा वेद, जो उससे सहमत हैं, सत्य माने गये हैं, किन्तु अन्य जो कुछ भी उससे असहमत है अस्वीकृत किया गया है। इस प्रकार मध्व इस 'सूत्र' पर अपने 'भाष्य' मे कहते हैं 'वेद-पचरात्रयोरैक्याभिप्रायेण पच-रात्रस्यैव प्रामाण्यमुक्तम्।'

[1] दे० तात्पर्य-चन्द्रिका (१ १ ४ पर), पृ० २०१-४।

[2] उल्लिखित उपनिषद् का अवतरण है 'तदैक्षत बहु स्याम्', आदि।
—'छादोग्य' ६, २ ३।

[3] गुणश्चेत् नात्मा-शब्दात्, 'ब्रह्म-सूत्र' १ १ ७ देखिये, अनेन जीवेन आत्मना अनुप्रविश्य (छादोग्य, ६, ३ २)।

उसे मोक्ष का उपदेश दिया जाता है ।[1] उसके अतिरिक्त, सम्पूर्ण अध्याय इसी ढग से समाप्त हो जाता है तथा जिस अर्थ मे 'आत्मन्' आदि का प्रयोग हुआ है उसमे आगे कोई सशोधन नही किया गया है, जैसाकि हुआ होता, यदि यह 'आत्मन्' मोक्ष के उपदेश से विसगत अर्थ रखने के कारण बाद मे अस्वीकृत कर दिया गया होता ।[2] साथ ही, उपर्युक्त अवतरणो मे उल्लिखित कारण को उसी पाठान्तर मे अतिम प्रलय-स्थान बताया गया है जिसमे सभी वस्तुओ का लय होता है ।[3] इसके अतिरिक्त, सर्व वेदान्त पाठो[4] मे इस प्रकार की व्याख्या पर पूर्ण सहमति है तथा उपनिषदो के स्पष्ट कथन भी उपलब्ध हैं (श्रुतत्वाच्च, ब्रह्म-सूत्र १ १ ११) जो यह घोषणा करते हैं कि ईश्वर जगत का चरम कारण है ।[5] अत शकर के अनुसार इस अधिकरण का अभिप्राय यह है कि इन 'सूत्रो' के अनुसार ब्रह्मन् चरम कारण है, न कि 'प्रकृति' ।

मध्व और उनके अनुयायी साख्य सिद्धात के खण्डन का उपरोक्त अधिकरण मे कोई उल्लेख नही पाते, किन्तु केवल इस तथ्य का कथन पाते है कि ब्रह्मन् 'शास्त्रो' के द्वारा अवर्णित नही है, क्योकि वे स्वय आदेश देते है कि उनका प्रत्यक्षीकरण करना चाहिये ।[6] यदि ब्रह्मन् का 'शास्त्रो' द्वारा वर्णन नही हो सके तो उसके प्रति विचार-विमर्श करने की सम्भावना के उनके उल्लेख मे कोई अर्थ नही होगा । यह केवल निम्न एव सगुण आत्मा का ही उल्लेख नही करता, वरन् उच्चतम आत्मा, ब्रह्मन् का उल्लेख करता है, क्योकि यह कहा गया है कि उस पर मोक्ष निर्भर करता है तथा यह

---

[1] तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात् । 'वही', १ १ ७, उल्लिखित मूल पाठ भी देखिये । छादोग्य, ६ १४ २ ।

[2] हेयत्व-वचनाच्च । 'वही', १ १ ८ ।

[3] स्वाप्ययात्, 'वही', १ १ ९ 'छादोग्य' भी ६ ८ १ ।

[4] गीता-सामान्यात् । 'वही', १ १ १० ।

[5] श्वेताश्वतर, ६ ९ ।

[6] ब्रह्म-सूत्र, १ १ ५ यह नियम की एक सर्वथा भिन्न व्याख्या है तथा निश्चय ही कम युक्ति-सगत नहीं है । शकर की व्याख्या के विरोध मे उठाई गई आपत्ति यह है कि उनका साख्य के लिये यह उल्लेख कि वह वेदो मे असम्बद्ध (अशब्द) है, साख्य-मतावलम्बियो को स्वीकार नही है तथा उपनिषदो (यथा श्वे० ४,५१) मे निश्चय ही ऐसे अवतरण हैं जिनको साख्य के प्रति स्पष्ट निर्देश मानना पडेगा । इसके अतिरिक्त, यदि ब्रह्मन् 'प्रमाणो' के द्वारा अग्राह्य है और अवर्णनीय है, तो उसके अस्तित्व का कोई प्रमाण उपलब्ध नही होगा, वह शश-शृग के सदृश होगा ।

भी कहा गया है कि महाप्रलय के समय समस्त वस्तुओं का अन्तिम लय उसी मे होता है, उपनिषद्-पाठों मे 'निर्गुण' ब्रह्मन् का भी निश्चित रूप से वर्णन किया गया है।

छठे अधिकरण (सूत्र १२–१६) मे शकर 'तैत्तिरीय उपनिषद्' के अनेक अवतरणो तथा अन्य उपनिषदो की कल्पित आपत्तियो की तुलना के द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयास करते है कि 'आनन्दमय' शब्द (तैत्तिरीय, २, ५) मे परमात्मन अथवा ब्रह्मन् का उल्लेख करता है, मध्व और उनके अनुयायियो का तर्क है कि 'आनन्दमय' शब्द केवल विष्णु ही का उल्लेख करता है, न कि किसी अन्य देवता का। इस 'अधिकरण' के अन्य सभी 'सूत्रों' की व्याख्या इस टीका के समर्थन मे दिये गये प्रासगिक निर्देशों एव तर्कों के रूप मे की गई है।[1]

सातवें अधिकरण (सूत्र २०, २१) मे शकर एक अवतरण (छादोग्य, १, ६, ६, ७, ८) के अर्थ का विवेचन करते है तथा इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि सूर्य-मडल और चक्षु मे स्थित जिस पुरुष का उल्लेख किया गया है वह परब्रह्म है। किन्तु मध्व एक सर्वथा भिन्न अवतरण का एक सर्वथा भिन्न प्रमग के सम्बन्ध मे उल्लेख करते है

---

[1] 'न्याय-सुधा' का सकेत है कि शकार का भाष्य इस अमान्य परिकल्पना पर आधारित है कि उपनिषदो मे दो प्रकार के ब्रह्मन् का उल्लेख आया है, 'अविद्या' से आच्छादित ब्रह्मन् तथा विशुद्ध ब्रह्मन्। उपनिषद् के अवतरणो (वे जो पूर्वोक्ति का निर्देश करते हैं) मे मे कुछ तो उपासना व तज्जन्य भौतिक अभ्युदय के हेतु बताये जाते हैं और कुछ क्रम-मुक्ति की प्राप्ति के हेतु कहे जाते है (क्रम-मुक्त्-यर्थानि) इत्यादि। जयतीर्थ कहते है कि यह सिद्धान्त पूर्णत गलत है, क्योकि यह मानना सर्वथा अप्रामाणिक है कि ब्रह्मन् दो प्रकार का होता है (ब्रह्मणो द्वैरूपस्य अप्रामाणिकत्वात्), क्योकि सर्व वेदान्त-पाठ समस्त गुणो के निधान नारायण का निर्देश करते हैं, किन्तु कुछ उसको सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता, सर्व-नियत्रक क्षमया, सौन्दर्य आदि से सम्पन्न बताते हैं, कुछ उसे पाप, दु ख, सामान्य भौतिक शरीरो (प्राकृत-भान्तिकर-विग्रह-रहितत्व) से रहित होने के रूप मे नकारात्मक गुणो से सम्पन्न बताते है, तथा अन्य उसका अनिर्वचनीय एव वाणी व विचार से अतीत के रूप मे वर्णन करते हैं (उसका गूढ व रहस्यमय स्वरूप बताने के लिये) पुन अन्य समस्त गुणो को छोडकर उसे एक बताते है, और अन्य उसे सबकी आत्मा कहते हैं (सर्वात्मक), किन्तु ये सब 'परम पुरुष' विष्णु के ही विभिन्न विवरण है, तथा किसी प्रकार से दो भिन्न प्रकार के ब्रह्मन् का निर्देश नही करते। केवल इस भ्रान्त धारणा के कारण (कि ब्रह्मन् केवल एकात्मक स्वरूप का है) शकर, जिनको वेद के ज्ञाता पूर्व गुरु पथ-निर्देश के लिये उपलब्ध नही थे, इन अवतरणो की इस प्रकार की व्याख्या करते हैं (ततो व्याकुलबुद्धयो गुरु-सम्प्रदाय-विकल अश्रुत-वेद-व्याख्यातार सर्वत्रापि वेद-रूपतामनु-सदधाना वेद छिन्दन्ति)। —'न्याय-सुधा,' पृ० १२४।

तथा वे यह मानते हैं कि उस अवतरण मे उल्लिखित अन्तर्स्थित पुरुष परम प्रभु नारायण है।[1] आठवें अधिकरण (सूत्र २२) मे शकर 'छादोग्य,' १, ६, १ का विवेचन करते हैं और इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि 'आकाश' शब्द का अर्थ आकाश-तत्व नही है वरन् परब्रह्म है। मध्व भी इस 'सूत्र' द्वारा निर्देशित इसी अवतरण को लेते हैं तथा इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं, किन्तु उनके लिए परब्रह्म का अर्थ सदा विष्णु होता है। नवें अधिकरण (सूत्र २३) मे शकर छादोग्य १, ११, ४, ५ का विवेचन करते हैं तथा यह निष्कर्ष निकालते है कि वहाँ 'प्राण' शब्द ब्रह्मन् का निर्देश करने के लिये प्रयुक्त किया गया है न कि साधारण 'प्राण' के लिये जो 'वायु' का एक विकार है। पर मध्व 'तैत्तिरीय आरण्यक'[2] के एक अन्य अवतरण मे आये हुए 'प्राण' शब्द के प्रयोग के सम्बध मे इसी निष्कर्ष पर पहुँचते है। दसवें अधिकरण (सूत्र २४–२७) मे शकर 'छादोग्य' ३, १३, ७ का विवेचन करते हैं, और यह निष्कर्ष निकालते है कि उसमें 'ज्योति' शब्द का अर्थ ब्रह्मन् है न कि साधारण प्रकाश। मध्व अपने 'अनु-व्याख्यान' से इस अधिकरण का विवेचन नही करते है, अपने 'भाष्य' मे वे इसी निष्कर्ष पर एक सर्वथा अन्य पाठ के सम्बन्ध मे पहुँचते है। पच्चीसवा 'सूत्र' जो शकर के अनुसार दसवें अधिकरण मे समाविष्ट होता है, मध्व के द्वारा एक पृथक् अधिकरण के रूप मे माना गया है, जिसमे 'छदस्' शब्द का तात्पर्य 'गायत्री' का अर्थ (छादोग्य, ३, १२, १ 'गायत्री वा इद सर्व भूतम्,' 'गायत्री ही यह सब है') विष्णु है न कि उस नाम का छन्द अथवा उस छन्द को निर्मित करने वाले अक्षरो का सयोजन। आगामी तथा प्रथम भाग के प्रथम अध्याय के अन्तिम अधिकरण की शकर द्वारा व्याख्या 'कौशीतकि' ३, १, २, ३ का उल्लेख करके की गई है, जिसमे 'प्राण' शब्द ब्रह्मन् का निर्देश करता है और किसी अन्य वायु की धारा का नही। परन्तु मध्व इस अधिकरण मे 'ऐतरेय' मे आये हुए अनेक अवतरणो का उल्लेख करते हैं जिनमे 'प्राण' शब्द का प्रयोग हुआ है तथा यह मानते है कि पाठगत तुलनाओ से यह स्पष्ट होता है कि उन अवतरणो मे यह शब्द विष्णु का उल्लेख करता है न कि साधारण वायु अथवा आत्माओ इत्यादि का।

शकर और मध्व दोनो के अनुसार प्रथम भाग के द्वितीय अध्याय मे कुल मिलाकर सात अधिकरण या विषय है। पहले अधिकरण मे मध्व कुछ वैदिक अवतरणो का

[1] मध्व के अनुसार 'तैत्तिरीय' के निम्नलिखित अवतरण के सबध मे यह सदेह उत्पन्न हो जाता है कि उसमे 'अन्त प्रविष्ट' शब्द परमात्मा का निर्देश करता है अथवा किसी अन्य प्राणी का 'अन्त -प्रविष्ट विज्ञानन्ति देवा।'

—तैत्तिरीय आरण्यक, ३, २, ५।

[2] तद् वै त्व प्राणोऽभव, महान् भगति, प्रजापते, भुज· करिष्यमान, यद्देवान् प्राणादन्नेति। —वही।

उल्लेख करते हुए यह स्थापित करने का प्रयास करते हैं कि वे सर्व गुणो के पूर्णत्व के चरम-विन्दु के रूप मे नारायण का निर्देश करते हैं।[1] यद्यपि वह दूरस्थ रहकर भी समस्त वस्तुओं की समस्त शक्तियो को प्रेरित करने की क्षमता रखता है, तथापि वह अपनी लीला (लीलया) से सब स्थानो पर उपस्थित रहता है तथा सर्व वस्तुओ की मुकुलित प्राय शक्तियो की अध्यक्षता करता है। आगे यह सकेत किया गया है कि अनुवर्ती अवतरण सर्वव्यापी ब्रह्मन् का 'जीवो' अथवा आत्माओ से विभेदीकरण पूर्वोक्त को कर्म-कारक तथा पश्चादुक्त को कर्त्ता-कारक मे इस प्रकार रखकर करते हैं कि कोई सदेह नही रहता कि सर्व-व्यापकत्व आदि गुणो के उल्लेख ब्रह्मन् के प्रति किए गए है, न कि 'जीवो' के प्रति।[2] किन्तु शकर इस अधिकरण द्वारा सकेतित एक सर्वथा भिन्न पाठ (छादोग्य ३, १४, १) का निर्देश करते है तथा पाठगत तुलनाओ के विवेचन के पश्चात् इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि उक्त अवतरण ईश्वर का निर्देश करता है, न कि 'जीवो' का। दूसरे अधिकरण मे मध्व 'बृहदारण्यक' १, २, ५ के सम्वन्ध मे यह सदेह करते है कि 'अत्ति' शब्द विष्णु के विनाशकारी कर्तृत्व का निर्देश करता है अथवा अदिति और पूर्वोक्त का पक्ष ग्रहण करते है, तथा कहते है कि विष्णु प्राय अदिति नाम से भी पुकारा जाता है।[3] किन्तु शकर यह मानते है कि उक्त अधिकरण

[1] 'ऐतरेय आरण्यक,' ३, २, ३।

[2] वही।

[3] 'अनुव्याख्यान' पर अपनी 'न्याय-सुधा' मे जयतीर्थ द्वारा इस अधिकरण मे कुछ रुचिपूर्ण बातो पर ध्यान दिया गया है। इस प्रकार जयतीर्थ कहते हैं कि एक आपत्ति यह उठाई जा सकती है कि ईश्वर जगत का स्रष्टा व विनाशक होने के फलस्वरूप नित्य है, किन्तु 'क्रिया' अनित्य है तथा ईश्वर मे दो विरोधी गुण किस प्रकार स्थित हो सकते है (नित्यानित्ययो कथमभेद स्यात्)? इस आपत्ति का उत्तर यह है कि ईश्वर मे क्रियाए भी स्थिर होती है (न केवलमीश्वर स्थिर अपितु स तदीय-विशेष-धर्मोऽपि क्रिया-रूप स्थिर) और ऐसा सम्भव नही है क्योकि सर्व क्रियाए 'परिष्पन्द' स्वरूप होनी चाहिए इसका कोई प्रमाण नही है—ईश्वर मे परिष्पन्द अस्तित्व कदाचित् नही हो। पुन, ईश्वर मे परिष्पन्दनो के नित्य अस्तित्व की स्वीकृति रर कोई आपत्ति नही उठाई जा सकती। जैसे परिष्पन्दन अथवा क्रिया अनेक क्षणो तक सतत अस्तित्व के फलस्वरूप सयोगादि उत्पन्न कर सकती है, वैसी ही नित्य अस्तित्व रखने वाला परिष्पन्दन अथवा क्रिया विशेष क्षणो मे सयोग एव वियोग उत्पन्न कर सकती है (यथा अनेक-काल-वर्तिन्यपि क्रिया कदाचित् सयोगादि आरभते न यावत् सत्वम् तथा नित्यापि कदाचित् सयोगादि-द्यारभता को विरोध)। सर्व क्रियाए अव्यक्त ढग से 'शक्ति' के रूप मे ईश्वर मे नित्य अस्तित्व रखती है तथा जब वह व्यक्त होती हैं (व्यक्ति तभी ऊर्जा के यथार्थ

'कठ' १, २, २४ से सम्बध रखता है तथा यह निष्कर्ष प्राप्त करते हैं कि उसमे निर्देशित 'भक्षक' ईश्वर है न कि 'जीव' अथवा 'अग्नि'।[1] मध्व और शकर दोनो के अनुसार तीसरा अधिकरण 'कठ' १, ३, १ से सम्बध रखता है तथा उसमे निर्देशित दो कर्त्ता मध्व के अनुसार ईश्वर के दो रूप हैं, पर शकर के अनुसार वे 'जीव' और ईश्वर हैं। मध्व अपने विचार मे इस अधिकरणसम्बधी जो सबसे अधिक महत्वपूर्ण विषय है उस पर वल देना चाहते हैं, अर्थात् यह कि उपनिषद्-पाठो के सम्मिलित प्रमाण के आधार पर' ब्रह्म' और 'जीव' सर्वथा भिन्न हैं।[2] चौथे अधिकरण मे मध्व 'छादोग्य,' ४, १५ के एक अवतरण का निर्देश करते हैं जहाँ उस पुरुष के सम्बन्ध मे सदेह उत्पन्न होता हुआ प्रतीत होता है जो चक्षु मे दिखाई पडता है, अर्थात् यह पुरुष 'अग्नि' है अथवा विष्णु है तथा मध्व पाठगत आधार पर यह निष्कर्ष निकालते हैं कि वह विष्णु है।[3] पाचवा अधिकरण शकर एव मध्व दोनो के अनुसार 'बृहदारण्यक' ३, ७, १, २ का निर्देश करता है जहा जगत के एक 'अन्तर्यामिन्' का उल्लेख आया है तथा वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि यह 'अन्र्यामिन्' विष्णु (शकर के अनुसार ईश्वर) अथवा 'जीव' है। इस अधिकरण के 'सूत्रो' मे से एक (शरीरश्चोभयेऽपि हि भेदेनैनम् अधीयते) यह स्पष्टतया सकेत करता है कि 'बृहदारण्यक' ३, ७, २२ के दोनो परिशोधित पाठो (कण्वो एव माध्यदिनो के अनुसार) मे आत्मन् (शारीर) स्पष्टतया अन्तर्यामिन् से

रूपान्तर एव कार्य के सम्पादन घटित होते हैं (शक्ति-रूपेण स्थिर स यदा व्यज्यते, तदा व्यवहारलम्बनम्), 'व्यक्ति' केवल 'शक्ति' की एक अवस्था विशेप है (व्यक्ति-शब्देन शक्तेर् एव अवस्थाविशेप विवक्षित-त्वात्)। इस सम्बन्ध मे जयतीर्थ यह सिद्ध करने के लिये भी एक लम्बे तर्क एव विवेचन मे सलग्न होते है कि 'कर्म' प्रत्यक्ष देखे जाते है न कि केवल अनुमान के द्वारा ज्ञात किये जाते है (प्रत्यक्षाश्रित कर्म प्रत्यक्षमेव)।

[1] 'तात्पर्य-चन्द्रिका, शकर की व्याख्या पर आपत्ति उठाती है तथा निर्देश करती है कि 'सूत्र' मे आया हुआ 'चराचर' शब्द निर्देशित पाठ मे उल्लिखित नही किया गया है, और पाठ मे 'आदेन' शब्द का अर्थ सहार (महार्य) होना चाहिये। मध्व अपने मत के समर्थन मे 'स्कान्द' एव 'ब्रह्मवैवर्त' पुराणो को उद्धृत करते है।

[2] मध्व अपने मत के समर्थन मे 'ब्रह्म-पुराण,' 'पैंगी-श्रुति,' 'भाल्लवेय-श्रुति' आदि को उद्धृत करते है। परन्तु शकर किसी प्रतिपक्षी (आक्षेप्तृ) से सघर्ष करते हुए प्रतीत होते है जिसके मत मे उस अवतरण मे निर्देशित दो कर्त्ता न तो 'बुद्धि' और 'जीव' ही मानते है, और न जीव और ईश्वर।

[3] जयतीर्थ अपनी 'न्याय-सुधा' मे इस अधिकरण मे यह निर्देश करते है कि ईश्वर द्वारा नियमनादि के व्यापार गुण तथा उसके नित्य नियत्रक बने रहने की आवश्यकता का विचार भी ईश्वर ने किया है।

उसके अज्ञान अथवा भावावेगो के कारण भ्रमो के घटित होने से कोई रोक नही सकता। जगत विशुद्ध व परिवर्तनशील ब्रह्मन् पर एक मिथ्या आरोपण है :

विवर्तस्तु प्रपचोऽयम् ब्रह्मणो परिणामिण
अनादि–साधनोद्भूतो न सारूप्यमपेक्षते।

हाँ, व्यासतीर्थ शकर की इस व्याख्या से सहमत नही हो सकते तथा अन्य उपनिषद्-पाठो के आधार पर एव वहाँ एक मकडी के रूप मे दी गई सृष्टि-रचना की सादृश्यता के आधार पर (न कि रज्जु-सर्प की सादृश्यता के आधार पर, जैसाकि 'विवर्त' की अवस्था मे होगा) भी यह तर्क देने का प्रयत्न करते है कि यह स्वीकार करना चाहिये कि यहाँ सगुण विष्णु का उल्लेख किया गया है।[1] सातवाँ अधिकरण 'छादोग्य' ५ ११ से सम्बधित माना गया है तथा यह सदेह उत्पन्न होता है कि उसमे प्रयुक्त 'वेश्वानर' शब्द अग्नि का उल्लेख करता है अथवा विष्णु का, प्रासगिक अवतारणो की तुलना के आधार पर मध्व पश्चादुक्त के पक्ष मे निर्णय लेते है (शकर ईश्वर को अधिमान्यता देते हैं)।[2]

प्रथम भाग के तृतीय अध्याय का पहला अधिकरण 'मुण्डक' २ ११ ५ का निर्देश करता बताया गया है तथा मध्व के अनुसार 'स्वर्ग एव पृथ्वी का निवासस्थान (द्यु-म्व्-आयायतन) विष्णु का उल्लेख करता है न कि रुद्र का। शकर के अनुसार वह ईश्वर का निर्देश करता है और 'प्रकृति', 'वायु' अथवा 'जीव' का नही।[3] दूसरा अधिकरण 'छादोग्य' के कुछ अवतरणो (जैसे ७ २३, २४, ७ १५ १) से सम्बधित कहा गया है, जहाँ 'प्राण' को महान् बताया गया है और मध्व एव शकर के क्रमश यह निष्कर्ष हैं कि यह 'प्राण' का अर्थ विष्णु और ईश्वर है। तीसरा अधिकरण

---

[1] इस अधिकरण मे जयतीर्थ 'अनुव्याख्यान' के विवेचनो का अनुसरण करते हुए अभावात्मक योग्यताओ की यथार्थता पर विचार-विमर्श करते हैं तथा यह तर्क देते है कि अन्यत्व के रूप मे अभाव का द्रव्यात्मक बल होता है। अत 'अदृश्य' आदि ब्रह्मन् की योग्यताएँ उसके यथार्थ गुण है।

[2] इस अधिकरण (१ २ २६) के नियम २६ के सबध मे शकर एक स्वय द्वारा स्वीकृत पाठ (पुरुपमपि चैनमधीयते) से एक भिन्न पाठ की ओर ध्यान दिलाते है (पुरुपविधमपि चैनमधीयते)। पश्चादुक्त पाठ मध्व द्वारा स्वीकृत किया गया है।

[3] इस अधिकरण के प्रथम नियम के उपसहारात्मक भागो मे शकर 'अपर आह' के रूप मे किसी अन्य व्याख्याकार के मत का उल्लेख करते है। उसकी पहिचान करना कठिन है, शकर के किसी भी टीकाकार द्वारा इस सम्बन्ध मे कोई सकेत नही किया गया है।

'बृहदारण्यक' ३ ८, ७, ८ से सम्बधित कहा गया है, जहाँ 'अक्षर' शब्द का अर्थ मध्व के अनुसार विष्णु और शकर के अनुसार ब्रह्मन् कहा गया है, न कि 'वर्णमाला का चिह्न' जो भी साधारणतया उस शब्द का अर्थ होता है। मध्व के अनुसार चौथा प्रकरण 'छादोग्य' ६ २ १ का निर्देश करता है तथा यह माना गया है कि वहाँ सत् शब्द विष्णु का निर्देश करता है और 'प्रकृति' का नही, क्योकि उसी 'प्रसग' मे 'ऐक्षत' (प्रत्यक्ष किया गया) शब्द प्रयुक्त हुआ है। शकर के मत मे यह अधिकरण 'प्रश्न०' ५ २ ५ का निर्देश करता है। अपनी 'तात्पर्य-चन्द्रिका' मे व्यासतीर्थ पाठ-गत आधार पर इसका विरोध करते है।[1] पाँचवे अधिकरण का निर्देश 'छादोग्य' ८ १ १ के प्रति कहा गया है तथा वहाँ प्रयुक्त 'आकाश' शब्द का उल्लेख विष्णु के प्रति बताया गया है।[2] छठा अधिकरण 'मुण्डक' से सम्बधित बताया गया है और वहाँ निर्देशित प्रकाश ब्रह्मन् का प्रकाश कहा गया है तथा कोई अन्य प्रकाश अथवा आत्मन् नही। सातवे अधिकरण का निर्देश 'कठ' २ ४ १३ के प्रति कहा गया है और मध्व मानते है कि वहाँ प्रयुक्त 'ईश्वर' शब्द वायु का नही बल्कि ईश्वर का सकेत करता है। पर शकर का विचार है कि कठिनाई उस वाक्य के एक अन्य शब्द अर्थात् 'पुरुष' के सम्बध मे उत्पन्न होती है, जिसका अर्थ उसके अनुसार ईश्वर है और 'जीव' नही है। आठवें अधिकरण का अभिप्राय यह स्थापित करना है कि देवताओ को भी परा विद्या का अधिकार है। दसवें अधिकरण का सकेत 'कठ' २ ६ २ की ओर बताया गया है और यह माना जाता है कि जिस 'प्राण' का वहाँ जगत को कम्पायमान करने वाले के रूप मे उल्लेख आया है वह न तो मेघगर्जन है और न पवन है, वरन् ईश्वर है। मध्व के अनुसार ग्यारहवा अधिकरण 'बृहदारण्यक' ४ ३ ७ का निर्देश करता है और यह माना गया है कि वहाँ प्रयुक्त 'ज्योति' शब्द विष्णु का उल्लेख करता है और 'जीव' का नही। किन्तु शकर के विचार मे यह अधिकरण 'छादोग्य' ८ १२ ३ का निर्देश करता है और वे यह मानते है कि वहाँ प्रयुक्त 'ज्योति' शब्द का अर्थ ब्रह्मन् है सूर्य-मण्डल नही है। बारहवें अधिकरण का निर्देश 'छादोग्य' ८ १४ १ के प्रति कहा गया है तथा वहाँ प्रयुक्त 'आकाश' शब्द का उल्लेख मध्व के अनुसार तो विष्णु के प्रति बताया गया है और शकर के अनुसार ब्रह्मन् के प्रति। मध्व के अनुसार तेरहवा अधिकरण 'बृहदारण्यक' ४ ३ १५ का निर्देश करता हैं और यह माना गया हैं कि इस

[1] 'तात्पर्य-चन्द्रिका' पृ० ६१०-१२। इस अधिकरण के प्रथम नियम मे शकर किसी अन्य व्याख्या के मत को उद्धृत करते हैं, जिसका उन्होने खण्डन करने का प्रयास किया है।

[2] इस अधिकरण के 'सूत्र' १९ मे शकर किसी अन्य व्याख्याता द्वारा दी गई 'छादोग्य' ८ ११ की व्याख्या का उल्लेख करते है। वे इस 'सूत्र' मे 'ब्रह्म-सूत्र' की एक से अधिक व्याख्या का भी उल्लेख करते हैं।

अवतरण मे 'असग' शब्द विष्णु का उल्लेख करता है और जीव का नही। परन्तु शकर के विचार मे यहाँ 'बृहदारण्यक' ४ ३ ७ का निर्देश किया गया है तथा 'विज्ञान-मय' (चैतन्य-स्वरूप) ब्रह्मन् का उल्लेख किया गया है, जीव का नही।

प्रथम भाग का चतुर्थ अध्याय सात अधिकरणो मे विभक्त है। इनमे से पहला अधिकरण 'कठ' १ ३ ११ मे 'अव्यक्त' के सम्भाव्य अर्थ का विवेचन करता है तथा शकर मानते है कि उसका अर्थ 'मानव शरीर' है, जबकि मध्व कहते है कि उसका अर्थ विष्णु है न कि साख्य की 'प्रकृति'।[1] दूसरा अधिकरण, जिसमे तीन 'सूत्र' है, शकर के अनुसार 'श्वेताश्वर' ४ ५ का निर्देश करता है, जो यह मानते हैं कि उसका उल्लेख अग्नि, आप व पृथ्वी के भौतिक सिद्धान्तो के प्रति किया गया है, न कि 'प्रकृति' के प्रति,[2] मध्व के अनुसार यह इस तथ्य पर बल देने के उद्देश्य से पूर्व अधिकरण का एक विस्तरण किया गया है कि अन्य शब्दो की भाति (चमस आदि) 'अव्यक्त' का अर्थ यहाँ विष्णु है, न कि 'प्रकृति'।

किन्तु मध्व के मत मे दूसरा अधिकरण सूत्र १, ४, ६ से प्रारम्भ होता है, न कि १, ४, ८ से, जैसाकि शकर का मत है। मध्व के अनुसार दूसरा अधिकरण

[1] 'अव्यक्त' शब्द जिसका प्रयोग साधारणतया सूक्ष्म स्वरूप होने के कारण 'प्रकृति' का निर्देश करने के लिये किया जाता है, वहुत उपयुक्तता से ब्रह्मन् का निर्देश करने के लिये भी प्रयुक्त किया जा सकता है जो सबसे सूक्ष्म है तथा जो इस सूक्ष्मता के कारण 'प्रकृति' का चरम 'आश्रय' है। शकर द्वारा दी गई 'अव्यक्त' की वह व्याख्या अमान्य है जिसके अनुसार 'अव्यक्त' का अर्थ है—शरीर के सूक्ष्म भौतिक कारण, क्योकि यदि 'अव्यक्त' का प्रत्यक्ष अर्थ छोड दिया जाय तो इसमे कोई आपत्ति नही हो सकती कि वह साख्य की 'प्रकृति' का उल्लेख करे। यह कल्पित साख्य युक्ति सत्य नही है कि विचाराधीन अवतरण मे समाविष्ट कथन (कि 'अव्यक्त' 'महत्' से श्रेष्ठ (परा) है और पुरुष 'अव्यक्त' से श्रेष्ठ है) तभी सत्य हो सकता है जबकि यहाँ 'अव्यक्त' का अर्थ 'प्रकृति' हो, क्योकि 'प्रकृति' के सर्व गुण ईश्वर पर निर्भर करते है, अत जो गुण 'प्रकृति' पर लागू किये जा सकते है वे उसके स्वामी ईश्वर पर भी लागू किये जा सकते हैं (प्रधानाविगत-परावरत्वादि-धर्माणा भगवद् आधीनत्वात्)। —तत्व-प्रकाशिका, पृ० ६७।

इस अधिकरण मे शकर द्वारा पठित 'सूत्र' 'वदतीति चेन्न प्राज्ञो हि प्रकरणात् (१, ४, ५) का मध्व द्वारा दो 'सूत्रो' मे विभाजन कर दिया गया है, 'वदतीति चेन् न प्राज्ञो हि' और 'प्रकरणात्' जिनकी क्रमश १, ४, ५ व १, ४, ६ के रूप मे गणना की गई है।

[2] 'अजमकन् लोहित-शुल्क-कृष्णम्, आदि।

—श्वेताश्वतर, ४, ५।

१, ४, ६ तथा १, ४, १० तक सीमित है तथा वह 'वसन्ते वसन्ते ज्योतिपा यज' से आरम्भ होने वाले एक अवतरण का निर्देश करता है, जो अन्य विद्वानो के अनुसार 'ज्योतिष्टोम' का निर्देश करता है, मध्व का मत है कि यहाँ प्रयुक्त 'ज्योतिप' शब्द 'ज्योतिष्टोम' यज्ञ का उल्लेख नही करता है, वरन् विष्णु का उल्लेख करता है। मध्व एव शकर दोनो के अनुसार तीसरे अधिकरण मे सूत्र १२, १३ व १४ का समावेश होता है तथा वे दोनो यहाँ एक ही अवरण, अर्थात् 'बृहदारण्यक' ४, ४, १७ का निर्देश करते है, शकर के विचार मे वह सांख्य के पच्चीस पदार्थों का नही बल्कि 'पच वायु' का उल्लेख करता है, किन्तु मध्व का मत है कि वह विष्णु का उल्लेख करता है। उसका कदाचित् पाच गुणो, यथा 'चक्षुष्ट्व' 'प्राणत्व' आदि के अस्तित्व के कारण 'पच-जना' कहा गया है। शकर के अनुसार चौथा अधिकरण यह मत अभिव्यक्त करता है कि यद्यपि उपनिपदो मे अनेक भासमान विरोधी कथन हैं, तथापि स्रष्टा के स्वरूप के सबध मे कोई विवाद अथवा विरोध नहीं है। पर मध्व का मत है कि इस अधिकरण का अभिप्राय यह स्थापित करना है कि वे सब वस्तुओं के नाम, यथा 'आकाश' 'वायु' आदि, जिनसे सृष्टि-रचना हुई है, विष्णु का उल्लेख करते है। मध्व यह तर्क देते है कि 'समन्वय-सूत्र' (१, १, ४) का अभिप्राय यह है कि उपनिपदों मे सर्व शब्द केवल विष्णु और विष्णु ही का उल्लेख करते है, तथा इसी तर्क के अनुसार यह सिद्ध हो जाना चाहिये कि ये शब्द ('आकाश' आदि) जो एक भिन्न अर्थ लिये हुए प्रतीत होते है, केवल विष्णु और विष्णु ही का उल्लेख करते है। हाँ, ये युक्तियाँ लगभग सदा पाठगत स्वरूप की होती हैं। इस प्रकार मध्व अपने इस तर्क के समर्थन मे यहाँ 'बृहदारण्यक' ३, ७, १२ आदि को उद्धृत करते हैं। पाचवा अधिकरण, जिसमे मध्व के अनुसार १, ४, १६ (शकर के अनुसार १, ४, १५), २३ (१, ४, २४ शकर के अनुसार) का समावेश होता है का अभिप्राय यह है कि इस तथ्य से कोई कठिनाई उत्पन्न नही होती कि जिन शब्दो का उपनिपदो मे अभिप्रेत अर्थ विष्णु है उनके साधारण भाषागत प्रयोग मे सर्वथा भिन्न अर्थ होते है। किन्तु शकर इस अधिकरण की गणना १, ४, १५ से १८ तक करते है, और यह मानते है कि वह 'कौशीतकि ब्राह्मण' ४, १९ का निर्देश करता है तथा जिस सत्ता को ज्ञात करने का उसमे उल्लेख आया है वह जीवन नही है, वरन् ईश्वर है, इसका अपनी 'तात्पर्य-चन्द्रिका' मे व्यासयति द्वारा 'सूत्र' के प्रसग के आधार पर विरोध किया जाता है, जिसके अनुसार यह न्यायसगत नही है कि इसी अध्याय मे तनिक पूर्व उपसहार के रूप मे की गई टिप्पणी के पश्चात् अवतरणो के अर्थो का उल्लेख किया जाय।[1] छठा अधिकरण जिसमे शकर के मत मे १, ४, १९ से २२ का समावेश होता है 'बृहदारण्यक' ४, ५, ६ का निर्देश करता है तथा इस निष्कर्ष

---

[1] 'तात्पर्य-चन्द्रिका' पृ० ८२१। इस अधिकरण की शकर द्वारा दी गई व्याख्या के विरोध मे अन्य आपत्तियाँ भी उठाई गई हैं।

पर पहुँचता है कि वहाँ 'आत्मन्' शब्द ब्रह्मन् का उल्लेख करता है, न कि 'ससार' चक्र को सहन करने वाले 'जीव' का। पर मध्व के विचार मे छठा अधिकरण (१, ४, २४ से २८) पाठगत विवेचनो के पश्चात् इस निष्कर्ष पर पहुचता है कि वे शब्द भी जो स्त्रीलिंग मे है, यथा 'प्रकृति' आदि विष्णु ही का निर्देश करते हैं, क्योकि सर्व-वस्तुओ की उत्पत्ति विष्णु से होती है, अत उसके लिए स्त्रीलिंग शब्दो के प्रयोग पर कोई आपत्ति नही उठाई जा सकती। किन्तु शकर के लिये सातवा अधिकरण १, ४, २३-२७ (शकर की गणना के अनुसार) से प्रारम्भ होता है और इसमे वे यह सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि ब्रह्मन् जगत का न केवल निमित्त कारण है वरन् 'उपादान कारण' भी है। इसके विरोध मे मध्व की सुस्पष्ट आपत्तिया यह हैं कि यदि जगत के निमित्त कारण और उपादान कारण एक ही होते तो एक घट के सम्बन्ध मे भी ऐसा ही हो सकता था, कोई यह मान सकता था कि कुम्भकार एव मृत्तिका एकरूप हैं। 'भामती' के विरोध मे भी छुट-पुट आपत्तियाँ उठाई गई हैं, जो यह मान लेती है कि यहा उपादान कारण का अर्थ है 'भ्रम का अधिष्ठान' (भ्रमाधिष्ठान)। परन्तु शकर के अनुसार एक आठवा अधिकरण भी है जिसमे १, ४ के अन्तिम 'सूत्र' का ही समावेश होता है, और जो मध्व के सातवें अधिकरण के अनुरूप है। मध्व के मत मे इस अधिकरण का आशय यह है कि 'असत्' अथवा 'शून्य' जैसे शब्द भी विष्णु का निर्देश करते हैं, क्योकि उसी के सकल्प से 'असत्' अथवा 'शश-शृग' भी अपना स्वरूप बनाये हुए हैं। किन्तु शकर के मत मे इस अधिकरण का अर्थ यह है कि अब तक तो खडन के प्रयत्न केवल साख्य-सिद्धान्त के विरोध मे किये गये थे, क्योकि उस सिद्धान्त का वेदान्त के सिद्धान्तो मे कुछ सादृश्य इस रूप मे था कि वह कारण एव कार्य की एकता को स्वीकार करता है तथा उसको देवल और अन्य विधि-प्रदाताओ ने आशिक रूप से मान्यता दी थी—पर न्याय वैशेषिक जैसे अन्य दार्शनिक सिद्धान्तो के खडन की कोई आवश्यकता नही है क्योकि वे वेदान्त से अत्यधिक दूर हैं।

द्वितीय भाग के प्रथम अध्याय मे तेरह अधिकरणो का समावेश होता है। सम्पूर्ण अध्याय मे अन्य सम्प्रदायो के विचारको की स्वीकृत रचनाओ के दृष्टिकोण से उठाई गई सभी आपत्तियो का खडन किया गया है। मध्व के मत मे पहले अधिकरण का उद्देश्य पाशुपत आदि उन अन्य सम्प्रदायो के अनुयायियो के आक्षेपो का खडन करना है, जो यह अस्वीकार करते हैं कि विष्णु जगत् का चरम कारण है।[1] किन्तु इन मतो को कोई मान्यता नही दी जा सकती क्योकि इनके उपदेशो वेदो के उपदेशो के

[1] मध्व के अनुसार यह अधिकरण प्रथम तीन 'सूत्रो' से निर्मित है, पर शकर प्रथम दो 'सूत्रो' के लिये एक अधिकरण बनाते हैं तथा तीसरे 'सूत्र' के लिये अन्य अधिकरण बनाते हैं (एतेन योग प्रत्युक्त) तथा वे केवल इतना ही कहते हैं कि प्रथम अधिकरण मे साख्य के विरोध मे दी गई युक्तियाँ योग का भी खडन करती हैं।

अनुकूल नही है, ऐसे सभी सिद्धान्त अप्रामाण्य हैं। वेद 'पचरात्र' नामक 'स्मृति' अथवा पाशुपतो या योग के परम्परागत स्मृति-लेखो का, कुछ भागो के अतिरिक्त, कोई समर्थन नही करते। परन्तु शकर के अनुसार यह अधिकरण इस मत का खण्डन करता है कि वैदिक पाठो की व्याख्या साख्य-मत के अनुसार करनी चाहिये क्योंकि साख्य हमारे आदर के योग्य कतिपय परम्परागत स्मृति-लेखो का प्रतिनिधित्व करता है, यदि साख्य को व्याख्या के लिये आदर्श मान लिया जाय तो साख्य से अधिक आदर योग्य अन्य स्मृतियो, यथा, मनु एव 'गीता' आदि से विरोध उत्पन्न हो जायगा। साख्य इस कारण से आदर के योग्य माना जाता है कि वह कपिल के मत का प्रतिनिधित्व करता है, किन्तु इस बात का कोई प्रमाण नही है कि उपनिषदो मे जिन महर्षि कपिल की प्रशसा की गई है ये वही है, और यदि ऐसा नही है तो साख्य का उक्त आदर के लिये अधिकार विलुप्त हो जाता है।

मध्व के दूसरे अधिकरण (शकर का तीसरा) का आशय यह माना गया है कि जिस प्रकार कोई व्यक्ति पाशुपत-पात्रो की प्रामाणिकता पर सदेह कर सकता है उसी प्रकार किन्ही विशेष परिस्थितियो मे कतिपय वैदिक यज्ञो की निष्फलता के कारण किसी को वेदो की प्रामाणिकता मे सदेह करने का अधिकार नहीं हो सकता, क्योंकि वेद नित्य एव अपौरुषेय हैं अतएव वे अन्य पाठो से भिन्न हैं। वेदो का प्रामाण्य स्वय उन्ही के आधार पर स्वीकार करना पडता है, वह किसी अन्य पाठ के सदर्भ से सर्वथा स्वतत्र और निरपेक्ष है।[1] ऐसी परिस्थिति मे यदि किसी यज्ञ का उचित अनुष्ठान होने पर भी अभीष्ट फल की प्राप्ति नही होती है तो यह समझना चाहिये कि अनुष्ठान मे कुछ दोष थे।[2] शकर के तीसरे अधिकरण (सूत्र ४-१०) की मुख्य बातें है :

---

[1] मध्व यहाँ निम्नलिखित पाठ का एकमात्र प्रामाण्य पाठ के रूप में उल्लेख करते है जिसको वे अपने 'भाष्य' (२, १, ५) मे 'भविष्य-पुराण' से उद्धृत करते है :

ऋग्-यजुस्सामाथर्वाश्च मूल-रामायण तथा
भारत पच-रात्र च वेद इत्येव शब्दित,
पुराणानि च यानीह वैष्णवा निविदो विदु:
स्वत -प्रामाण्यमेतेषा नात्र किंचिद् विचार्यते।

यह आपत्ति उठाई जा सकती है कि जड एव अशुद्ध जगत की उत्पत्ति विशुद्ध चैतन्यमय शुद्ध ब्रह्मन् से नही हो सकती थी तथा जगत् के अशुद्ध होने का यह भेद वेदो मे भी स्वीकृत किया गया है, किन्तु यह एक वैध आपत्ति नही है, क्योकि उपनिषद् यह स्वीकार करते हैं कि अग्नि, पृथ्वी आदि के समान जड विषयो की भी चेतना कर्त्ताओ अथवा देवताओ द्वारा अध्यक्षता की जाती है तथा चेतन कर्त्ताओ के केश, नाखून आदि की उत्पत्ति एव सजीव कीडो की निर्जीव गोबर आदि से उत्पत्ति के उदाहरण यह प्रदर्शित करते हैं कि ब्रह्मन् से जड जगत की उत्पत्ति असम्भव नही है, विशेषत जब उपनिपदो का ऐसा कथन है। यह आपत्ति नही हो सकती कि इससे कारणो के सह-अस्तित्व अथवा पूर्व-अस्तित्व के सिद्धान्त (सत्कार्यवाद) को क्षति पहुँचाती है, क्योकि वर्तमान अवस्था मे तथा उत्पत्ति से पूर्व भी जगत् का पारमार्थिक सत्य उसके ब्रह्म-स्वरूप के अतिरिक्त अन्य किसी मे निहित नही है। प्रलय की अवस्था मे सर्व वस्तुओ का ब्रह्मन् मे लय हो जाता है तथा सृष्टि के समय मुक्तात्माओ के अतिरिक्त सर्व वस्तुए उसी प्रकार ससार-चक्र मे प्रविष्ट हो जाती हैं जैसे, स्वप्न के पश्चात् जाग्रत अवस्था मे तथा ब्रह्मन् मे, जगत् के ऐसे विलय उसे अशुद्ध नही बना सकते, जैसे एक मायावी अपनी माया-सृष्टि से प्रभावित नही होता अथवा जैसे घट आदि के मृत्तिका-आकार अपने उपादान मिट्टी मे परिणत होने पर उसे प्रभावित नही कर सकते। इसके अतिरिक्त इस प्रकार की आपत्तियाँ आक्षेपको अर्थात् साख्यवादियो के विरोध मे भी खडी की जा सकती हैं। पर चूंकि अनुभव के द्वारा इन जटिल समस्याओ का समाधान सम्भव नही है अत अनुमान के द्वारा भी उन्हे हल नही किया जा सकता, क्योकि एक अनुमान का चाहे कितना ही प्रबल आधार क्यो न हो, एक चतुर तर्क-शास्त्री तब भी उसमे त्रुटि निकाल सकता है। फलत इस विषय मे हमे पूर्णत वैदिक पाठो पर ही निर्भर रहना पडेगा।

मध्व का तीसरा अधिकरण (सूत्र ६, ७) यह आपत्ति उठाता है कि वेद विश्वसनीय नही हैं क्योकि वे असम्भव कथन करते है, यथा, मृत्तिका बोली (मृद् अब्रवीत्), इस आपत्ति का यह उत्तर देकर खडन किया जाता है कि इस प्रकार की चेतन क्रियाओ के उल्लेख उनके अध्यक्ष देवताओ (अभिमान देवता) के प्रति किये गये हैं। मध्व के चौथे अधिकरण (सूत्र ८ से १३) का अभीष्ट वेदो के अन्य कल्पित असम्भव कथनो को खडित करना है, यथा वह कथन जो 'असत्' से उत्पत्ति के सम्बन्ध मे है, यह माना गया है कि यदि उत्तर मे यह कहा जाय कि एक ऐसा 'असत्' हो

है। शकर का तीसरा अधिकरण 'सूत्रो' ४–११ से निर्मित है। किन्तु मध्व के अधिकरण इस प्रकार हैं दूसरा अधिकरण, 'सूत्र' ४, ५ तीसरा अधिकरण 'सूत्र' ५, ६, ७ चौथा अधिकरण 'सूत्र' ८–१३, तेरहवा शकर के पाठ का बारहवा है। शकर का चौथा अधिकरण केवल इस 'सूत्र' से निर्मित है।

सकता है जिनसे वैदिक कथनों के बल पर उत्पत्ति सम्भव है (यद्यपि यह सुविदित है कि सर्व प्रकार के असत् से उत्पत्ति असम्भव है, यथा शश-शृग) तो उस दशा मे प्रलय की अवस्था पूर्ण असत् की अवस्था होगी (सर्वासत्व), तथा यह असम्भव है क्योकि सर्व प्रकार की उत्पत्ति पूर्व सत् की अवस्था से प्रकट होती हुई देखी जाती है और सर्व प्रकार के विनाश की किसी अवशेष मे परिसमाप्ति होनी चाहिये।[1] इन आपत्तियो का यह उत्तर दिया गया है कि इन प्रश्नो का निर्णय तर्क के आधार पर नही किया जा सकता, जिसका प्रयोग सर्व प्रकार के निष्कर्षो को न्यायोचित ठहराने के लिये किया जा सकता है। शकर का चौथा अधिकरण केवल सूत्र १२ से निर्मित है, जिसका कथन है कि उन अन्य विचार-सम्प्रदायो की आपत्तियो की भी इसी प्रकार उपेक्षा की जा सकती है जिनको सामान्यत मान्यता नही दी जाती है।

शकर का पाचवा अधिकरण, (सूत्र २, १, १३) उनके द्वारा यह सकेत करता हुआ माना गया है कि यह आपत्ति कि भोक्ता और भोग्य का तादात्म्यीकरण नही किया जा सकता, अतएव उसी ढग से ब्रह्मन् को जगत का उपादान कारण नही माना जा सकता, तर्क-सगत नही है, क्योकि तादात्म्य के होते हुए भी कतिपय कल्पित उपाधियो के कारण ठीक उसी प्रकार आपात्त भेद हो सकते हैं जिस प्रकार समुद्र एव तरगो मे तादात्म्य होने पर भी कई दृष्टिकोण से वे भिन्न माने जा सकते हैं। किन्तु मध्व के अनुसार इस अधिकरण का अर्थ यह है कि वे पाठ जो 'जीव' एव ब्रह्मन् के एकत्व का कथन करते हैं उनको जल मे जल के साधारण मिश्रण की सादृश्यता के आधार पर समझना चाहिये। यहां यद्यपि जल का इस अर्थ मे भेद-रहित मिश्रण हो गया है कि दोनो को पृथक् नही किया जा सकता तथापि दोनो एक नही बने हैं क्योकि कम से कम जल की मात्रा मे अभिवृद्धि हो गई है। इससे यह सकेत मिलता है कि यद्यपि 'जीव' ब्रह्मन् मे अपृथक् रूप से विलीन हो जाता है तथापि दोनो मे ऐसा कुछ भेद रहना चाहिये कि एक का दूसरे के साथ पूर्ण तादात्म्य नही हो सकता।[2]

छठा अधिकरण, जो शकर और मध्व के अनुसार 'सूत्र' १४-२० से निर्मित है, शकर की मान्यता के अनुसार कारण एव कार्य, ब्रह्मन् एव जगत के तादात्म्य का कथन करता है तथा यह मानता है कि आपात भेद श्रुति-पाठ एव युक्तियो द्वारा निश्चित रूप से कथन करता है जिसमे केवल मृत्तिका ही घट आदि के रूप मे अपने सर्व परिणमनो

[1] सत् उत्पत्ति सशेष-विनाशश्च हि लोके दृष्ट। —मध्व-भाष्य, २, १, १०।

[2] व्यासतीर्थ द्वारा यह निर्देश किया गया है कि शकर की व्याख्या कल्पित 'पूर्वपक्ष' और 'सिद्धान्त' दोनो की दृष्टि से त्रुटिपूर्ण है। 'विवर्त' मत के अनुसार समुद्र एव तरगो तथा फेन (फेन-तरग-न्याय) का उदाहरण स्वीकृत नही किया जा सकता।
—तात्पर्य-चन्द्रिका, पृ० ८७२।

मे सत् मानी गई है। अत केवल ब्रह्मन् ही (मृत्तिका की भाँति) सत् है और जगत् उसकी उपज (घट आदि की भाँति) माना गया है। अनेक उपनिषद्-पाठ ऐसे है जो नानात्व को सत् मानने वालो को फटकारते हैं। किन्तु यह भी साधारण अनुभव के विरोध मे प्रतीत होता है तथा एकमात्र समझौता सम्भव यही है कि जगत का नानात्व तभी तक अस्तित्व रखता है जब तक कि उसका आभास होता है, परन्तु जब ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त हो जाता है, तब यह मिथ्या आभास जगने पर स्वप्न-अनुभवो के समान विलीन हो जाता है। पर जगत् के इस मिथ्या अनुभव से भी तथा श्रुतियो से सत्य ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है, क्योकि मिथ्या भय से सत्य मृत्यु घटित हो सकती है। साधारण अनुभव का 'व्यावहारिक' जगत् तभी तक अस्तित्व रखता है जब तक कि आत्मन् की ब्रह्मन् के साथ तादात्म्य की अनुभूति नही की जाती, पर जब एक बार यह अनुभूति हो जाती है, तब जगत का मिथ्या आभास विलीन हो जाता है। कारण एव कार्य का तादात्म्य इस तथ्य से भी दृष्टिगोचर होता है कि जब उपादान कारण (यथा मृत्तिका) अस्तित्व मे होता है तभी कार्य (यथा घट) अस्तित्व मे रहता है। २ १ १८ मे 'सत्कार्यवाद' के पक्ष मे कई अन्य युक्तियाँ दी गई हैं। किन्तु मध्व इस अधिकरण की एक भिन्न प्रकार से व्याख्या करते हैं। ब्रह्म स्वय ही स्वतत्र उपकरणो अथवा अन्य उपसाधनो की सहायता के बिना जगत् की सृष्टि करता है, क्योकि समस्त उपसाधन एव उपकरण अपनी शक्ति के लिये उस पर निर्भर करते है। शकर की व्याख्या के विरोध मे युक्ति देते हुए व्यासतीर्थ कहते हैं कि मिथ्या जगत का ब्रह्मन् के साथ अभेद स्थापित नही किया जा सकता (अनृतस्य विश्वस्य सत्य-ब्रह्माभेदायोगात्)। इसके अतिरिक्त, 'अभेद' उस अर्थ मे नही लिया जा सकता जिस अर्थ मे उसे 'भामती' लेती है, अर्थात्, 'अभेद' के अर्थ मे नही वरन् केवल 'भेदाभाव' के अर्थ मे, क्योकि 'भेदाभाव' और 'अभेद' एक ही वस्तु है (भेदाभावे अभेदध्रनूयात्)। साथ ही, यदि कोई 'भेद' नही है तो एक को सत्य तथा दूसरे को अमृत नही कहा जा सकता (भेदाभावे सत्यानृत-व्यवस्थायोगाच् च)। इसलिये भेद और अभेद दोनो को स्वीकार करना ही उचित होगा। यह नही कहा जा सकता कि 'अनन्यत्व' और ब्रह्मन् पर आरोपण एक ही हैं (ब्रह्मण्यारोपितत्वम्)। इन सब युक्तियो के द्वारा व्यासतीर्थ यह कहना चाहते हैं कि यदि उपनिषद् ब्रह्मन् और जगत् के अभेद की घोषणा करते भी है, तो ऐसा अभेद न केवल शकर के स्वीकृत मत के विरोध मे जाता है कि जगत मिथ्या एव असत्य है अतएव ब्रह्मन् के साथ उसका अभेद स्थापित नही किया जा सकता, अपितु उनकी यह व्याख्या भी अमान्य है कि 'अभेद' का अर्थ है मिथ्या 'आरोप', क्योकि कोई भी यह नही समझता कि शुक्ति का उस पर आरोपित मिथ्या रजत से अभेद है। यह मानने का कोई अधिकार नही है कि अधिष्ठान के ज्ञान मे अनिवार्यत आरोपित वस्तु का ज्ञान भी समाविष्ट होता है, अतएव पूर्वोक्त को पश्चादुक्त का तत्व नहीं माना जा सकता तथा मृत्तिका के ज्ञान मे घट आदि के ज्ञान मे उसके घट के रूप

मे आकार के ज्ञान का समावेश होता है।[1] जयतीर्थ अपनी 'न्याय-सुधा' मे इस अधिकरण मे मध्व सम्प्रदाय के कारणता के सिद्धान्त का भेदाभेद-सिद्धान्त के रूप मे प्रतिपादन करते है, जिसके अनुसार कार्य का एक प्रकार से कारण के साथ अभेद है तथा अन्य प्रकार से भेद है। इस प्रकार यह सिद्धान्त दोनो अतियो का विरोध करता है— न्याय मे प्रतिपादित कारण एव कार्य का पूर्ण भेद तथा शकर अथवा साख्य द्वारा प्रतिपादित कारण एव कार्य का पूर्ण भेद तथा शकर अथवा साख्य द्वारा प्रतिपादित उनका पूर्ण अभेद। वे यह तर्क देते है कि यदि कार्य का पूर्व अस्तित्व एव कारण के साथ अभेद होता तो, उस (कारण) का भी अपने कारण मे पूर्व अस्तित्व होगा और इस प्रकार यह क्रम तबतक चलता रहेगा जबतक कि हम मूल कारण पर नही पहुँच जाते। अब, चू कि मूल कारण की कभी उत्पत्ति नही होती अथवा विनाश नही होता, अत' पट, घट आदि साधारण वस्तुओ की भी कभी उत्पत्ति अथवा विनाश नही हो सकता था तथा आत्मन् जैसी नित्य सत्ताओ मे और घट जैसी अनित्य सत्ताओ मे कोई अतर नही हो सकता था एव कारणता-सम्बधी व्यापार भी निरर्थक होते। इसके अतिरिक्त, यदि कार्य (यथा पट) का कारण (यथा तनु) मे पूर्व अस्तित्व हो तो वह दृष्टिगोचर होना चाहिये। यदि किसी दृष्टिगोचर न होने वाली वस्तु का अस्तित्व स्वीकार किया जाता है तो खर-विपाण का अस्तित्व भी स्वीकार करना पडेगा। यदि कार्य (यथा पट) का पूर्व अस्तित्व होता तो उसको अभी उत्पन्न नही किया जा सकता था, पुन, कार्य का कारण से बहुत भेद होता है, क्योकि कार्य के नष्ट होने पर भी कारण शेप रहता है, कारण अनेक होते हैं, पर कार्य एक होता है तथा दोनो की उपयोगिता आभास आदि मे भी बहुत अन्तर होता है। कभी-कभी यह आग्रह किया जाता है कि कार्य की उत्पत्ति का अर्थ उसकी अभिव्यक्ति (व्यक्ति) है और उसके विनाश का अर्थ उसकी 'अव्यक्ति' है। तब इस 'व्यक्ति' एव 'अव्यक्ति' का अर्थ होगा प्रत्यक्षीकरण (उपलब्धि) और अप्रत्यक्षीकरण (अनुपलब्धि)। इसका तात्पर्य यह होगा कि जो वस्तु एक समय विशेप मे प्रत्यक्ष की जाती है वह उसी समय उत्पन्न की जाती है। यदि कार्य का पूर्व अस्तित्व था तो उसको उस समय प्रत्यक्ष क्यो नही किया गया था? यदि प्रत्येक वस्तु की उत्पत्ति का आभास होने पर उसका अस्तित्व अनिवार्य हो तो उस दशा मे यह पूछा जा सकता है कि क्या कार्य के आभास से पूर्व उसकी 'अभिव्यक्ति' का भी अस्तित्व था? यदि हाँ, तो वह उस समय दृष्टिगोचर होनी चाहिये थी, यदि उस अभिव्यक्ति के लिये भी अन्य अभिव्यक्ति की आवश्यकता पडती है तथा उसके लिये अन्य की, तो अनवस्था-दोप हो जाता है। जयतीर्थ द्वारा मान्य कारणता के प्रत्यय का दृष्टिकोण यह है कि यदि उत्पत्ति के कारण का अस्तित्व

[1] मृत्तत्वाज्ञानेऽपि तत्सस्थान-विशेपत्व-रूप घटत्वा-ज्ञानेन घटस्तत्वतो न ज्ञाता इति व्यवहारात्। —'तात्पर्य-चन्द्रिका' पृ० ८७९।

है तो उत्पत्ति होती है और यदि विनाश के यथेष्ट कारण का अस्तित्व है तो उत्पत्ति होती है तथा यदि विनाश के यथेष्ट कारण का अस्तित्व है तो विनाश होता है। एक 'खर-विषाण' की उत्पत्ति नही होती है क्योकि उसकी उत्पत्ति का यथेष्ट कारण नही है तथा 'आत्मन्' का विनाश नही होता क्योकि उसके विनाश का भी यथेष्ट कारण नही है।[1]

शकर का सातवा अधिकरण (सूत्र २१-२३) इस आपत्ति का उत्तर इस प्रकार देता है कि यदि ब्रह्मन् और 'जीव' मे अभेद है तो यह बात विचित्र है कि ब्रह्मन् स्वय को जरा-मरण आदि के वशीभूत करे अथवा स्वय को इस शरीर के कारागृह मे बन्दी बनाये। इस आपत्ति के उत्तर मे यह निर्देश किया गया है कि स्रष्टा और जीव एक समान नही है क्योकि पश्चादुक्त अज्ञान के कारण केवल सौपाधिक अस्तित्व का प्रतिनिधित्व करते हैं, अत एक ही ब्रह्मन् के अस्तित्व के दो रूप है—ब्रह्मन् एव 'जीव'। मध्व के अनुसार इस अधिकरण का अभिप्राय ईश्वर के स्रष्ट होने के पक्ष मे तथा स्वय जीवो को स्रष्टा मानने वाले मत के विपक्ष मे विवेचन का उपक्रम करना है। उनके अनुसार यह अधिकरण 'सूत्रो' २१-२६ से निर्मिन है, किन्तु शकर के अनुसार वह 'सूत्रो' २४ व २५ से निर्मित है, जिनका उनके मत मे यह अर्थ है कि विविध शक्तियो के अस्तित्व के कारण यह सम्भव है कि एक ब्रह्मन् से अनेकात्मक सृष्टि उत्पन्न हो। पुन शकर के अनुसार 'सूत्र' २६-२८ से नवें अधिकरण का निर्माण होता है जिसका आशय यह स्थापित करना है कि शरीर-रहित ब्रह्मन् से इस जगत की उत्पत्ति सम्भव है। मध्व के लिये आठवाँ अधिकरण उनकी गणना के अनुसार २८ वें 'सूत्र' से आरम्भ होता है और ३२ वें तक विस्तृत। मध्व के अनुसार इस अधिकरण का उद्देश्य विष्णु के सर्व-स्रष्टात्व के विरोध मे दी गई युक्तियो का खण्डन करना है। इस प्रकार वह इस आपत्ति का खण्डन करता है कि यदि ब्रह्मन् बिना किसी उपकरण के सृष्टि-रचना करता तो एक तिनके आदि की रचना मे उसका सम्पूर्ण अस्तित्व अन्तर्ग्रस्त हो जाता। ईश्वर मे विविध प्रकार की शक्तियाँ होने के कारण सब कुछ सम्भव है। शकर के अनुसार 'सूत्र' ३०-३१ से दसवा अधिकरण बनता है और वे यह स्थापित करते हैं कि ब्रह्मन् मे सर्व शक्तियाँ हैं तथा वह इन्द्रियो की सहायता के बिना प्रत्येक कार्य को सम्पन्न कर सकता है। 'सूत्रो' ३३ व ३४ (शकर की गणना के अनुमार ३२ और ३३) से एक नवीन अधिकरण बनता है जो यह स्थापित करता है कि यद्यपि उसकी (ब्रह्मन् की) समस्त कामनाएँ पूर्ण हैं तथापि वह सर्व प्राणियो के कल्याण के हेतु केवल लीला ही लीला मे इस जगत की सृष्टि करता है। इस अधिकरण की शकर द्वारा दी गई

[1] यम्य च विनाश-कारण विद्यते तत् सदापि निरुच्यते, न च खर-विषाण जन्मनि आत्म विनाशे वा कारणमस्ति इति तयोर्जनन-विनाशाभाव ।

—'न्याय-सुधा' पृ० ३०२।

व्याख्या का आशय भी यही है। 'सूत्र' ३४-३६ से निर्मित दसवां अधिकरण यह स्थापित करता है कि ईश्वर द्वारा मानवों को प्रदान किये गए पुरस्कार एव दण्ड मानवों के सद्‌गुणों एव पापों के अनुसार ईश्वर द्वारा नियमित किये जाते है तथा वह ऐसा अपनी इच्छा से स्वय को न्याय के सिद्धान्त मे दृढ बनाये रखने के लिये करता है, अतएव वह किसी प्रकार से अपने कार्यो मे मानवी 'कर्मो' द्वारा नियन्त्रित नही कहा जा सकता, और न वह किसी के प्रति पक्षपात अथवा क्रूरता के लिये दोषी ठहराया जा सकता है। शकर द्वारा दी गई इस अधिकरण की व्याख्या का भी यही आशय है। प्रस्तुत अध्याय इस तथ्य के कथन से समाप्त होता है कि विष्णु सर्व-सद्‌गुणों से पूर्ण (सदा-प्राप्त-सर्व-सद्‌गुणम्) होने के कारण सर्वथा अधिक्षेपातीत है।

द्वितीय भाग के द्वितीय अध्याय मे, जो भारतीय चिंतन के अन्य सम्प्रदायों के मतों के खण्डन के लिये प्रयुक्त हुआ है, मध्व और शकर बहुत सीमा तक सहमत हैं। केवल बारहवें अधिकरण के सम्बन्ध मे कोई यथार्थ मतभेद उत्पन्न होता है, जिसकी शकर भागवत-सम्प्रदाय के मतों के खण्डन के रूप मे व्याख्या करते हैं। मध्व और उनके अनुयायी 'पचरात्र' की प्रामाणिकता को न्यायोचित ठहराने का प्रयास करते है तथा तदनुसार इस अधिकरण की व्याख्या करते हैं, पर शकर उसकी भागवत-सम्प्रदाय के खण्डन के रूप मे व्याख्या करते हैं।

द्वितीय भाग का तीसरा अध्याय एक ऐसे अधिकरण से प्रारम्भ होता है जिसमे 'आकाश' की उत्पत्ति की सम्भावना के सम्बन्ध मे विवेचन आरम्भ किया गया है, क्योंकि इस विषय पर उपनिषद्-पाठों के दो विरोधी समूह उपलब्ध हैं। मध्व के अनुयायी दो प्रकार के 'आकाश' मे विभेद करते है, विशुद्ध शून्य के रूप मे 'आकाश' तथा तत्व के रूप मे 'आकाश' उनके अनुसार उपनिषद् पाठों मे केवल पश्चादुक्त की ही उत्पत्ति का उल्लेख है, पर पूर्वोक्त का नित्य के रूप मे वर्णन किया गया है। दूसरे, तीसरे, चौथे, पाँचवें एव छठे अधिकरणों का सम्बन्ध 'वायु', 'सत्' अथवा ब्रह्मन्, अग्नि एव पृथ्वी की उत्पत्ति से है तथा यह माना गया है कि केवल ब्रह्मन् ही उत्पत्ति-रहित है और अन्य प्रत्येक वस्तु उससे उत्पन्न हुई है। ये अधिकरण मध्व और शकर मे प्राय एक समान ही हैं। सातवा अधिकरण मध्व के अनुसार यह स्थापित करता है कि विष्णु न केवल जगत का स्रष्टा है वरन् उसका सहारक भी है। किन्तु शकर के अनुसार इस अधिकरण का कथन यह है कि तत्वों की क्रमिक उत्पत्ति स्वय उनकी उत्पादन शक्ति के कारण नही होती, बल्कि स्वय ईश्वर की उत्पादन शक्ति के कारण होती है। आठवाँ अधिकरण यह मानता है कि तत्वों का विनाश जिस क्रम से उनकी उत्पत्ति हुई थी उसके प्रतिलोम क्रम मे घटित होता है। मध्व इस अधिकरण का यही अर्थ स्वीकार करते हैं। नवाँ अधिकरण मध्व के अनुसार यह विवेचन करता है कि क्या यह सत्य है कि विनाश के सब उदाहरण उनकी उत्पत्ति के प्रतिलोम क्रम मे

घटित होने चाहियें तथा इसका स्वीकारात्मक निर्णय दिया जाता है, एक यह आपत्ति कि चूंकि 'विज्ञान' की उत्पत्ति 'मनस्' से होती है और फिर भी पश्चादुक्त का विनाश पहले होता है, इसलिये इन दोनो का अपवाद मानना चाहिये सही नही है, क्योकि वास्तव मे 'विज्ञान' की उत्पत्ति 'मनस्' से नही होती। 'मनस्' के पदार्थ और 'अन्त-करण' के रूप मे दो अर्थ होते हैं तथा 'विज्ञान' शब्द के अर्थ भी 'पदार्थ' एव 'अववोध' होते हैं। जहाँ 'विज्ञान' की 'मनस्' से उत्पत्ति बताई गई है वहाँ उसका केवल सामान्य ढग से 'अवबोध' के अर्थ मे प्रयोग किया गया है जिसकी 'आलोचन' से उत्पत्ति होती है, किन्तु शकर अपनी व्याख्या मे इस अधिकरण को केवल १६ वे 'सूत्र' से निर्मित मानते हैं (जबकि मध्व इस अधिकरण मे १५ वें और १६ वें 'सूत्रो' का समावेश करते हैं) और कहते हैं कि इन्द्रिय-शक्तियो की उत्पत्ति से तत्वो के उत्पत्ति-क्रम मे कोई वाधा उपस्थित नही होती। मध्व के दसवे अधिकरण अर्थात् १७ वें 'सूत्र' के अनुसार यह माना गया है कि विष्णु का कोई विनाश सम्भव नही है। शकर के अनुसार यह अधिकरण अर्थात् १६ वा 'सूत्र' यह स्थापित करता है कि जन्म एव मृत्यु का कथन केवल शरीर के लिये किया जा सकता है आत्मन् के लिये नही। ग्यारहवें अधिकरण (शकर के अनुसार १७ वा 'सूत्र') का अर्थ यही है कि 'जीव' का जन्म केवल एक विशेप अर्थ मे ही सत्य है, क्योकि वस्तुत 'जीव' का न जन्म होता है और न मरण होता है। १८ वें और १९ वें 'सूत्रो' से निर्मित ग्यारहवा अधिकरण मध्व के अनुसार यह मत प्रस्तुत करता है कि सभी जीवो की उत्पत्ति ईश्वर से हुई है। मध्व के अनुसार वारहवा अधिकरण ('सूत्र' २०-२७) 'जीवो' के माप का विवेचन करता है। उनके अनुसार इस अधिकरण के मत मे जीव आकार मे परमाणवीय है और सर्वव्यापि नही है। एक स्थान मे रहकर भी वह सम्पूर्ण शरीर को अनुप्राणित कर सकता है, ठीक उसी प्रकार जैसे एक दीपक अपने गुण प्रकाश के द्वारा एक कमरे को प्रकाशित कर सकता है, क्योंकि एक द्रव्य अपने गुण के कारण परिव्याप्त हो सकता है।[1] मध्व के अनुसार तेरहवा अधिकरण (२७ वा 'सूत्र') जीवो की अनेकता का कथन करता है। चौदहवा अधिकरण ('सूत्र' २८-२९) यह प्रदर्शित करता है कि ब्रह्मन् और 'जीव' मे भेद है। मध्व का पन्द्रहवा अधिकरण यह वताता है कि यद्यपि जीव ईश्वर से उत्पन्न होते हैं तथापि उनका विनाश नही होता। जीव ब्रह्मन् के प्रतिविम्ब के सदृश है, अतएव वे तव तक स्थित रहने चाहियें जव तक ब्रह्मन् स्थित है और इसलिये वे नित्य होने चाहियें। जिन 'उपाधियो' के द्वारा ये प्रतिविम्ब सम्भव होते हैं वे दो प्रकार की होती हैं, 'वाह्य' तथा 'स्वरूप'। 'वाह्य' उपाधि का

[1] जीवतीर्थ द्वारा यहाँ प्रकाश के स्वरूप के सम्बन्ध मे एक विवाद खडा किया जाता है और यह निश्चय किया जाता है कि प्रकाश एक गुण के स्वरूप का है न कि द्रव्य के स्वरूप का।

विनाश हो जाता है, किन्तु स्वरूप उपाधि का नाश नही होता।[1] इस प्रकार जीवो का ब्रह्मन् से एक साथ ही ऐक्य भी है और भिन्नता भी है, वे अपने अस्तित्व के लिये ईश्वर पर निर्भर करते हैं तथा स्वरूप मे उसके समान है। सोलहवा अधिकरण जीवो के चित् एव विशुद्ध आनन्द स्वरूप की स्थापना करने का प्रयास करता है, किन्तु वे गुण केवल मोक्ष की अवस्था मे ही ईश्वर के प्रसाद से अपनी पूर्णता मे अभिव्यक्त होते है तथा हमारी साधारण अवस्थाओ मे वे मानो 'अविद्या' से आच्छादित रहते है।[2] सत्रहवा अधिकरण 'जीव' के कार्य की स्वतन्त्रता एव ईश्वर के चरम कर्त्तृत्व मे सामजस्य स्थापित करने का प्रयत्न करता है। ईश्वर ही 'जीवो' से उनके पूर्व 'कर्मों' के अनुसार कार्य करवाता है, जो 'अनादि' है। अत यद्यपि ईश्वर ही सब 'जीवो' से उनके समस्त कार्य करवाता है, तथापि वह अपने निर्देशन मे उनके पूर्व 'कर्मों' से सचालित होता है। अठारहवा अधिकरण यह स्थापित करने का प्रयास करता है कि यद्यपि 'जीव' ईश्वर के अश है तथापि वे उसी अर्थ मे अश नही है जिस अर्थ मे अश-अवतार, मत्स्य-अवतार आदि है, क्योकि जहाँ पश्चादुक्त 'स्वरूपाश' है वहाँ पूर्वोक्त स्वरूपाश नही है (जीवानामस्वरूपाशत्वम्), क्योकि यद्यपि वे अश है तथापि ईश्वर से भिन्न हैं। उन्नीसवा अधिकरण यह कहता है कि 'जीव' ईश्वर के प्रतिबिम्ब मात्र हैं।

पर शकर के मत मे इन 'सूत्रो' से सर्वथा भिन्न व्याख्याओ की प्राप्ति होती है। इस प्रकार बारहवा अधिकरण (सूत्र १८) यह कथन करता है कि सुषुप्ति मे भी चैतन्य होता है तथा उस अवस्था मे ज्ञान का अभाव इस कारण से होता है कि उसमे कोई ऐसा विषय नही होता जिसका ज्ञान प्राप्त किया जा सके (विषयाभावाद् इयम् अचैतयमानता न चैतन्याभावात्)। तेरहवा अधिकरण (सूत्र १९-३२) उनके मतानुसार इस प्रश्न का विवेचन करता है कि क्या उन पाठो को देखते हुए जिनमे आत्मन् के पलायन का कथन किया गया है, हमे आत्मन् को परमाणुवीय मानना चाहिये अथवा क्या उसे सर्वव्यापक मानना चाहिये? तथा वे आत्मन् के सर्व-व्यापकत्व के पक्ष मे निर्णय लेते है क्योकि उसका ब्रह्मन् मे तादात्म्य है। चौदहवा अधिकरण ('सूत्र' ३३-३९) मनस् इन्द्रियो आदि के सम्भाव्य कर्तृत्व पर विचार करने के उपरान्त उसको अस्वीकृत करता है तथा आत्मन् के कर्त्तृत्व के पक्ष मे निर्णय लेता है, और यह मानता

[1] जीवोपाधिर्द्विधा प्रोक्त स्वरूप बाह्यैव च,
बाह्योपाधिर्लय याति मुक्तावन्यस्य तु स्थिति। —'तत्व-प्रकाशिका' पृ० ११९।

[2] एव जीव-स्वरूपत्वेन मुक्ते पूर्वमपि सतो ज्ञानानन्देन ईश्वर-प्रसादे-नाभिव्यक्ति-निमित्तैन आनन्दी भवति, प्रागभिव्यक्तत्वेनानुभवाभावप्रसगात्।
—वही, पृ० १२०।

है कि 'बुद्धि' एव इन्द्रियाँ केवल उपकरण एव उपसाधन हैं। फिर भी पन्द्रहवें अधिकरण ('सूत्र' ४०) मे शकर आत्मन् के इस कर्तृत्व को यथार्थ नही वरन् ज्ञानेन्द्रियो, बुद्धि आदि की उपाधियो की उपस्थिति मे मिथ्या स्थापित करने का प्रयास करते हैं (उपाधि-धर्माध्यासेनैव आत्मन कर्तृत्व न स्वाभाविकम्)। सोलहवे अधिकरण ('सूत्र' ४१–४२) मे शकर इस तथ्य को स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं कि ईश्वर व्यक्तियो को उनके पूर्व 'कर्म' के अनुसार अपने कार्यो को करने मे सहायता प्रदान करता है। सत्रहवा अधिकरण (सूत्र ४३–५३) शकर की व्याख्यानुसार इस मत का कथन करता है कि जीवो के परस्पर भेद और जीवो एव ब्रह्मन् के भेद को केवल प्रतिबिम्ब, अवकाशिक परिसीमाओ आदि के सादृश्य के आधार पर ही समझा जा सकता है, क्योकि यथार्थ मे वे एक ही हैं तथा केवल सीमाकारक उपाधियो की उपस्थिति के द्वारा ही उनमे भेद का आभास होता है।

चतुर्थ अध्याय के प्रथम भाग का पहला अधिकरण शकर एव मध्व दोनो के अनुसार ब्रह्मन् से 'प्राणो' के उद्गम का वर्णन करता है।[1] मध्व का दूसरा अधिकरण जिसमे शकर के पाठ के तीसरे 'सूत्र' का समावेश होता है, ब्रह्मन् से 'मनस्' की उत्पत्ति का विवरण देता है। चौथा 'सूत्र' जिससे मध्व के तीसरे अधिकरण का निर्माण होता है, यह मानता है कि 'वाक्' भी ब्रह्मन् से उत्पन्न होती है, यद्यपि जब 'वाक्' का प्रयोग वेदो के लिये किया जाता है तब हम उसकी नित्यता का कथन सुनते हैं। पाचवें और छठे 'सूत्र' जिनसे चौथा अधिकरण निर्मित होता है, 'प्राणो' की सख्या के सम्बन्ध मे विभिन्न पाठो के आशय का विवेचन करते हैं तथा यह मानते हैं कि वे सख्या मे बारह हैं। सातवें 'सूत्र' से निर्मित मध्व का पाचवा अधिकरण इस मत का कथन करता है कि 'प्राण' स्वरूपत परमाणवीय हैं और सर्वव्यापक नही हैं, अतएव उनके ब्रह्मन् से उत्पन्न होने के विचार के प्रति कोई आपत्ति नही हो सकती। छठे अधिकरण को निर्मित करने वाले 'सूत्र' ८ और ९ ब्रह्मन् से 'प्राणो' की उत्पत्ति का प्रदर्शन करते है। सातवें अधिकरण को निर्मित करने वाले 'सूत्र' १० और ११ यह प्रदर्शित करते हैं कि 'मुख्य प्राण' भी अपनी उत्पत्ति एव स्थिति के लिये ब्रह्मन् पर निर्भर करते हैं। १२वें 'सूत्र' से निर्मित आठवें अधिकरण मे यह माना गया है कि मुख्य 'प्राण' की 'वृत्तियाँ' सेवको के समान हैं, अत उनके व्यापार भी वास्तव मे ब्रह्मन् से व्युत्पन्न होते हैं। १३वें 'सूत्र' से निर्मित नवा अधिकरण 'प्राण' के 'परमाणवीय' स्वरूप के लिये दिये गये पाठगत प्रमाणों की पुनरावृत्ति करता है। सूत्रो १४-१६ से निर्मित दसवा अधिकरण इस मत का कथन करता है कि इन्द्रियाँ ब्रह्मन् के उपकरण हैं यद्यपि एक

---

[1] यह अधिकरण शकर के अनुसार केवल 'चार सूत्रों' से निर्मित है, और मध्व के अनुसार प्रथम तीन 'सूत्रो' से। इनमें से तीसरा 'सूत्र' (प्रतिज्ञानुपरोधाच्च) शकर द्वारा दिये गये 'ब्रह्म-सूत्रो' के पाठ में अनुपस्थित हैं।

दूरस्थ ढग से वे 'जीव' के भी उपकरण मानी जा सकती है। १७वें से १९वे सूत्रो द्वारा निर्मित ग्यारहवा अधिकरण इस मत का कथन करता है कि तेरहवे अथवा 'मुख्य प्राण' के अतिरिक्त अन्य सब बारह 'प्राण' इन्द्रियाँ ही है। इनमे तथा 'मुख्य प्राण' मे अन्तर यह है कि इन अन्य प्राणो का कार्य यद्यपि मुख्यतया ब्रह्मन् पर निर्भर करता है तथापि वह 'जीव' के प्रयत्न की भी अपेक्षा रखता है (ईश्वर-परवशा हि इन्द्रियाणा प्रवृत्तिर् जीव-प्रयत्नापेक्षैव), किन्तु 'मुख्य प्राण' का व्यापार किसी भी प्रकार से जीवो के प्रयत्न की अपेक्षा नही रखता (मुख्यप्राणस्य प्रवृत्तिर् न पुरुष-प्रयत्नापेक्षया। बारहवा अधिकरण (२०वा 'सूत्र') यह प्रदर्शित करता है कि हमारे सब शरीरो की व्युत्पत्ति भी ब्रह्मन् से होती है। अतिम अधिकरण इस मत का प्रतिपादन करता है कि हमारे शरीर एक तत्व से नही बल्कि पाच तत्वो से निर्मित हैं।

परन्तु शकर के अनुसार इस अध्याय को नौ अधिकरणो मे विभक्त करना चाहिये जिसमे से प्रथम का विवरण पहले ही दिया जा चुका है। दूसरे अधिकरण सूत्र (५–६) का यह मत है कि इन्द्रियाँ ग्यारह हैं न कि सात, जैसाकि सात 'प्राणो' की सादृश्यता के आधार पर कुछ विद्वान् मानते है। तीसरे अधिकरण (७वें 'सूत्र') का कथन है कि इन्द्रियाँ सर्व-व्यापक नही हैं, जैसाकि साख्य के अनुयायी मानते है, किन्तु परमाणुवीय स्वरूप की है। चौथे अधिकरण (८वें 'सूत्र') का कथन है कि अन्य किसी भी 'प्राण' की भाँति 'मुख्य प्राण' ब्रह्मन् का विकार है। पाचवें अधिकरण (सूत्र ९–१२) का कथन है कि 'प्राण' केवल 'वायु' नही है बल्कि उसका पाच प्रकार का आत्मगत विकार है और उसके सामान्य कार्य-व्यापार की व्याख्या पृथक्-पृथक् 'प्राणो' के व्यक्तिगत कार्यों के उल्लेख द्वारा उचित रूप से वैसे नही की जा सकती जैसे एक पिंजरे की गति की व्याख्या उसमे बन्द पक्षियो के सम्मिलित प्रयत्न के आधार पर की जा सकती हैं, क्योकि 'प्राणो' के कार्य किसी भी प्रकार से सम्मिलित प्रतीत नहीं होते। जिस प्रकार इच्छा, कल्पना आदि मनस् की पाच अवस्थाए होती हैं, उसी प्रकार पाच 'प्राण' मुख्य 'प्राण' के विकार मात्र हैं। छठे अधिकरण (१३वें 'सूत्र') का कथन है कि यह मुख्य 'प्राण' स्वरूप मे परमाणुवीय है। सातवें अधिकरण ('सूत्र' १४–१६) का कथन है कि प्राणो के कार्य-व्यापार मे उनकी अध्यक्षता कतिपय देवताओ द्वारा की जाती है, और फिर भी वे जीवो के उपभोग के लिये ही होते हैं। आठवें अधिकरण ('सूत्र' १७-१९) का कथन है कि इन्द्रियाँ (कर्मेन्द्रियाँ एव ज्ञानेन्द्रियाँ) मुख्य 'प्राण' के विभिन्न 'तत्वान्तर' हैं। नवें अधिकरण (सूत्र २०–२२) का कथन है कि 'जीव' स्रष्टा नही है, स्रष्टा तो ईश्वर ही है।

जाते हैं, अर्थात्, परमात्मन्, लक्ष्मी, जीव, अव्याकृतकाश, प्रकृति, तीन गुण, महत्, अहकार, बुद्धि, मनम्, इन्द्रिय, भूत, मात्र, अविद्या, वर्ण, अधकार, वामना, काल एव प्रतिविम्व ।

मध्व के गुण स्वरूप मे वैसे ही हैं जैसेकि वैशिपिको के गुण, किन्तु उनमे शम, कृपा, तितिक्षा, वल, भय, लज्जा, गाम्भीर्य, सौन्दर्य, शौर्य, औदार्य आदि मानसिक गुणो का समावेश अपरिहार्य माना गया है, अतएव गुणो मे न केवल सहतिवादी साख्य के चौवीस गुणो का समावेश होता है वरन् अनेक अन्य गुणो का भी ।

'कर्म' वे हैं जो प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से 'पुण्य' अथवा 'पाप' की ओर ले जाते हैं । कोई भी कर्म नैतिक दृष्टि से पूर्णत उदासीन नही होते, ऊर्ध्वमुखी गति आदि जिन कर्मों को हम 'उदासीन कर्म' मान सकते हैं वे भी अप्रत्यक्ष रूप से पुण्य अथवा पाप के कारण होते है । 'कर्मो' का सामान्यत तीन वर्गो मे विभाजन किया जाता है—'विहित' अर्थात् शास्त्र द्वारा व्यादिष्ट, निपिद्ध, अर्थात् उसके द्वारा वर्जित तथा 'उदासीन' अर्थात् उसके द्वारा अनवेक्षित । पश्चादुक्त कर्म 'परिष्पन्द' स्वरूप के होते हैं तथा परिष्पन्द केवल पाच प्रकार का ही नही होता, जैसाकि वैशेपिक मानते हैं, अपितु अनेक अन्य प्रकार का भी होता है ।[1] ईश्वर मे विद्यमान सृष्टि, प्रलय आदि के कर्म नित्य होते हैं और उसके स्वरूपभूत होते हैं (स्वरूपभूता), उसमे सृष्टि और प्रलय के विरोधी कर्म स्थित रह सकते हैं, पर शर्त यह है कि जव एक व्यक्त रूप मे हो तव दूसरा अव्यक्त रूप से रहे ।[2] अनित्य वस्तुओ मे स्थित कर्म अनित्य होते हैं और इन्द्रियो द्वारा उनका अपरोक्ष प्रत्यक्षीकरण किया जा सकता है ।

आगामी प्रश्न आता है 'जाति' अथवा सामान्य प्रत्ययो के सम्वन्ध मे, जिन्हे न्याय-वैशेपिक एक ओर नित्य मानते हैं । मध्व-सम्प्रदाय मे इनको केवल 'जीवो' के समान नित्य द्रव्यो मे ही नित्य माना जाता है, किन्तु अनित्य द्रव्यो मे उनको नाशवान माना जाता है तथा जिन व्यक्तियो मे वे स्थित होते हैं उन तक ही विशिष्ट रूप से परिसीमित माने जाते है । नाशवान व्यक्तियो मे ऐसे कोई जाति-प्रत्यय नही

---

[1] यहाँ सहतिवादी वैशेपिक मत का वर्णन किया गया है जिसके अनुसार कर्म पाच प्रकार का होता है, यह माना गया है कि वह वैशेपिक मत जिसके अनुसार साधारण सरलरेखीय गति (गमन) से वृत्तीय गति (भ्रमण) अथवा अन्य प्रकार की गतियो की प्राप्ति की जा सकती है आपत्तिजनक है, क्योकि वृत्तीय गति सरलरेखीय गति की उपजाति नही है, अतएव 'कर्म' का पाच वर्गों मे किया गया वैशेपिक वर्गीकरण भी अपर्याप्त माना गया है ।

[2] सृष्टि-काले सृष्टि-क्रिया व्यक्त्यात्मना वर्तते, अन्यदा तु शक्त्यात्मना एव सहार-क्रियापि । —'मध्व-सिद्धान्त-सार,' पृ० ४ ।

होते जो उन व्यक्तियो के नष्ट हो जाने के पश्चात् भी शेष रहते हैं। इस मत के विरोध मे एक यह आपत्ति उठाई जाती है कि यदि स्थायी जाति-प्रत्ययो के अस्तित्व को स्वीकार न किया जाय तो 'व्याप्ति' का निरूपण करना असम्भव हो जायगा और फलत: अनुमान भी असम्भव होगा। मध्व की ओर से यह उत्तर दिया जाता है कि अनुमान 'सादृश्य' के आधार पर सम्भव होता है तथा उसके लिये नित्य जाति-प्रत्ययो की स्वीकृति आवश्यक नही है और यही बात शब्दो के अर्थ के निरूपण के सम्बन्ध मे भी लागू होती है। जब कुछ विषयो को एक विशेष नाम से सम्बोधित किया जाता है तो उस नाम के द्वारा उन अन्य वस्तुओ को भी सबोधित किया जा सकता है जो उस नाम से मूलत. सम्बधित पूर्व विषयो से अत्यधिक साम्य रखती हो।[1] 'जाति' (सामान्य-प्रत्यय) एव 'उपाधि' (सीमित करने वाली अवस्था) मे भी यह अन्तर बताया जाता है कि पश्चादुक्त तो वह है जो अपने निरूपण के लिये किसी अन्य प्रमुख प्रत्यय के निरूपण पर निर्भर करती है, जबकि पूर्वोक्त वह है जिसका निरूपण अपरोक्ष होता है तथा किसी अन्य प्रत्यय के निरूपण पर निर्भर नहीं करता।[2] उदाहरणार्थ, गाय का सामान्य प्रत्यय (गोत्व) तत्काल एव अपरोक्ष रूप मे ज्ञात किया जाता है, किन्तु 'प्रमेयत्व' का सामान्य-प्रत्यय केवल उन वस्तुओ के पूर्व ज्ञान के द्वारा ही ज्ञात किया जा सकता है जो प्रमा के विषय हैं। इसलिये प्रमेयत्व का सामान्य-प्रत्यय 'उपाधि' कहा जाता है और पूर्वोक्त 'जाति' कहा जाता है। आगे यह आपत्ति उठाई जाती है कि यदि एक जाति के सर्व व्यक्तियो मे एक ही समय मे विद्यमान एक नित्य सामान्य प्रत्यय के विरोध मे आपत्ति की जाय, तो यही आपत्ति सादृश्य की स्वीकृति के विरोध मे भी उठाई जा सकती है जो एक ही समय मे अनेक व्यक्तियो मे स्थित माना जाना चाहिये। इसके उत्तर मे यह कहा गया है कि मध्व-दर्शन मे दो अथवा तीन व्यक्तियो के मध्य मे सादृश्य का सम्बध उस प्रकार से सम्बधित अनेक व्यक्तियो मे एक समान स्थित माना जाता है, किन्तु उनमे से किसी एक व्यक्ति मे पूर्णत स्थित नही माना जाता। जब दो अथवा तीन समरूप कहे जाने वाले पदो का अस्तित्व होता है तब सादृश्य का सम्बन्ध एक द्विपक्षीय अथवा त्रिपक्षीय सम्बध के समान

---

[1] अनुगत-धर्मं विनापि सादृश्येन सर्वत्र व्याप्त्यादिग्रहणसम्भवात् धूम एतत्सदृशम् च वह्निव्याप्तम् इत्येवं अनेन व्याप्ति-ग्रह 'एकरूप धर्मों के आधार के बिना भी 'व्याप्ति' का निरूपण सादृश्य के आधार पर सम्भव है, यथा, यह धूम्र है और इसके सदृश वस्तुएं वह्नि से सम्बन्धित हैं, इत्यादि।'

—मध्व-सिद्धान्त सार, पृ० ६।

होता है जो उन परस्पर आश्रित पदो के मध्य वर्तमान रहता है,[1] अत अनेक पदो के मध्य का सादृश्य-सम्बन्ध एक नही होता वरन् एक अथवा दूसरे पद के दृष्टिकोण के अनुसार अनेक होता है। अ का ब के साथ सादृश्य ब का अ के साथ सादृश्य से भिन्न होता है (भिन्नभिन्न सादृश्यम् इति सिद्धम्)।[1]

अब हम मध्व सम्प्रदाय के 'विशेष' के सिद्धान्तो को लेते है। वह मानता है कि प्रत्येक द्रव्य उसमे पाए जाने वाले प्रत्येक गुण से सम्बन्धित असख्य विशेषो से निर्मित होता है। इस प्रकार जब गुणों और उनके द्रव्यो के सम्बन्ध के प्रति प्रश्न खडा होता है, यथा, घट से रग आदि का सम्बन्ध, तब यदि कोई गुण द्रव्य से एक रूप होता तो उस गुण के विनाश का अर्थ होता द्रव्य का विनाश तथा द्रव्य एव गुण का निर्देश करने वाले शब्द पर्यायवाची होते, किन्तु ऐसा नही है, साथ ही साथ यह कठिनाई भी इसी मान्यता के आधार पर हल की जा सकती है कि प्रत्येक गुण के आश्रय के अनुरूप विशिष्ट 'विशेष' होते है। 'विशेषो' एव उनके द्रव्य के यथातथ सम्बध के प्रति मतभेद है—कुछ के अनुसार उनका द्रव्य के साथ 'अभेद' होता है, कुछ के अनुसार 'भेद' होता है और कुछ के मत मे 'भेद' और 'अभेद' दोनो होते है (भेदाभेद)। गुणो एव द्रव्य के सबध के प्रति चाहे कोई भी मत स्वीकार किया जाय, विरोध से बचने के लिये 'विशेष' के सिद्धान्त को स्वीकार करना पडेगा। इस प्रकार प्रत्येक द्रव्य मे जितने दृष्टिकोणो अथवा गुणो की व्याख्या करना अभीष्ट होता है उनके अनुरूप अगणित 'विशेष' होते है, किन्तु प्रत्येक 'विशेष' के लिये आगे और 'विशेष' नही होते, क्योकि ऐसा मानने मे अनवस्था दोष उत्पन्न हो जायेगा। ईश्वर के विविध बाह्य गुणो की सतोषजनक व्याख्या करने के लिये उसमे नित्य 'विशेषो' को स्वीकार करना अनिवार्य है। विभु नित्य 'आकाश' के साथ घट आदि सान्त विषयो के सयोग की सम्भावना की व्याख्या करने के लिये 'आकाश' मे विशेषो के अस्तित्व को स्वीकार करना आवश्यक है।[2] उपर्युक्त से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'विशेषो' की स्वीकृति केवल उन अवस्थाओ मे आवश्यक होती है जहाँ दो सत्ताओ, यथा, द्रव्य और गुणो आदि के अभेद और भेद की व्याख्या अन्यथा सतोषजनक ढग से नही की जा सकती। इन अवस्थाओ के लिये 'विशेषो' का सिद्धान्त कुछ ऐसे कल्पित विशेषो अथवा अवयवो को प्रस्तावित करता है जिनके उल्लेख से सम्पूर्ण द्रव्य का उल्लेख किये बिना गुण के सयोग की व्याख्या की जा सके। किन्तु यह बात परमाणुओ मे 'विशेष' के अस्तित्व के

---

[1] एक-निरूपितापरस्वीकरण-अनित्वेन त्रि-विक्रम-न्यायेन तत्स्वीकारात्, प्रतियोगित्वानुयोगित्वादिवत्। —वही, पृ० ६।

[2] अतो गगनादि-विभु-द्रव्यस्य घटादिना सयोग तदभावोभय-निर्वाहको विशेषोऽनन्यगत्या स्वीकरणीय। —वही, पृ० ८।

सम्बन्ध में लागू नहीं होती, क्योंकि परमाणुओं में अवयवों की सत्ता स्वीकार की जा सकती है, तथा किसी 'विशेष' की मान्यता के बिना भी उनके अन्य परमाणुओं के साथ संयोग की सरलतापूर्वक व्याख्या की जा सकती है। किसी अन्य वस्तु की तुलना में एक परमाणु लघुतम इकाई माना जा सकता है, किन्तु यह कोई कारण नहीं है कि वह स्वयं अपने अवयवों की अपेक्षा महत्तर स्वीकार नहीं किया जाना चाहिये। यदि परमाणुओं के अवयव नहीं होते तो उनका दसों ओर से परस्पर संगठन सम्भव नहीं होता।[1] इसलिये परमाणुओं में 'विशेषों' को स्वीकार करने वाले वैशेषिक मत को अस्वीकृत करना पड़ेगा। यहाँ यह स्मरण रखना समीचीन होगा कि वैशेषिकों के अनुसार एक ही 'भूत' के परमाणुओं में तथा जीवों में भी ऐसे विशिष्ट अन्तर होते हैं कि उनका योगियों द्वारा एक दूसरे से विभेदीकरण किया जा सकता है। स्वयं परमाणुओं में स्थित इन अंतिम भेदों को कणाद सम्प्रदाय के विचारक 'विशेषों' की संज्ञा देते हैं। 'विशेष' की यह अवधारणा और उसकी उपयोगिता मध्व-सम्प्रदाय में पाई जाने वाली विशेष की अवधारणा से भिन्न है।[2]

न्याय-वैशेषिक सम्प्रदाय में स्वीकृत 'समवाय' का सम्बन्ध मध्व-सम्प्रदाय द्वारा प्रायः उन्हीं कारणों से अस्वीकृत किया जाता है जिनके आधार पर 'ब्रह्म-सूत्रों' पर लिखित शंकर के 'भाष्य' में उसको अस्वीकृत किया गया है। न्याय-वैशेषिक का मत है कि कार्य में कारण की तथा द्रव्य में गुणों की अभिव्यक्ति स्पष्टतः एक सम्बन्ध के स्वरूप की होती है और चूंकि यह सम्बन्ध 'संयोग' का संबंध नहीं होता इसलिये वह एक पृथक् सम्बन्ध अर्थात् 'समवाय' का सम्बन्ध होना चाहिये। किन्तु इसी प्रकार स्वयं 'समवाय' (यथा, 'इह तन्तुषु पटसमवाय' वाक्य में) भी किसी अन्य वस्तु में किसी संबंध से स्थित प्रतीत हो सकता है, अतएव उसको सम्बन्धित करने के लिये अन्य सम्बन्धों की आवश्यकता पड़ सकती है। यदि ऐसे अन्य सम्बन्धों की श्रेणी के बिना भी समवाय का सम्बन्ध उसी रूप में सम्बन्धित हो सकता है जिस रूप में गुण और द्रव्य सम्बन्धित होते हैं, तो उस प्रकार का सम्बन्धत्व अथवा 'विशिष्टता' 'समवाय' के सब उद्देश्यों की पूर्ति कर सकता है। इस प्रकार हमें 'सम्बन्धित' अथवा 'विशिष्ट' को 'गुण' एवं 'द्रव्य' तथा उनके परस्पर सम्बन्ध से पृथक् व भिन्न पदार्थ के

रूप मे स्वीकार करना पडता है।[1] इसी कारण 'अशी' सम्बन्धो या अशो अथवा दोनो से भिन्न एक पृथक् पदार्थ माना गया है।

एक पृथक् पदार्थ के रूप मे 'शक्ति' चार प्रकार का अस्तित्व रखती है (१) ईश्वर मे स्थित रहस्यमय अथवा 'अचिन्त्य-शक्ति' के रूप मे, (२) 'कारण-शक्ति' अथवा 'सहज-शक्ति' जो स्वभावत· सर्व वस्तुओं मे स्थित रहती है और जिसके द्वारा वे सर्व प्रकार के परिवर्तनो को उत्पन्न कर सकती है, (३) किसी वस्तु मे एक नवीन प्रक्रिया के द्वारा उत्पन्न की गई एक शक्ति जिसे 'आधेय-शक्ति' कहा जाता है, यथा, एक मूर्ति मे 'प्रतिष्ठा' सम्वन्वी कर्मकाण्डीय प्रक्रियाओं द्वारा उत्पन्न की गई शक्ति और (४) शव्दो की महत्वपूर्ण शक्ति (पाद-शक्ति)। अभाव तीन प्रकार के वताये गये हैं-(१) उत्पत्ति होने से पूर्व अभाव (प्रागाभाव), (२) नष्ट होने के पश्चात् अभाव (ध्वसाभाव), (३) अन्यत्व के रूप अभाव मे (अन्योन्याभाव), यथा, एक 'जग' का एक घट मे अभाव होता है और एक घट का एक 'जग' मे। अत यह अभाव भेदो से एक रूप है जो सर्व वस्तुओं के स्वरूप माने जाते है।[2] जव वस्तुओ का विनाश हो जाता है तव उनके भेदो का भी विनाश हो जाता है। किन्तु ईश्वर एव जीवो, जीव एव जीव, अजीव एव अजीव, अजीव एव ईश्वर तथा अजीव एव जीवो के मध्य पच-भेद सर्व नित्य होते हैं, क्योकि नित्य वस्तुओ के भेद नित्य होते है और अनित्य वस्तुओ के भेद अनित्य होते है।[3] चौथे प्रकार का अभाव, 'अत्यन्ताभाव' वह अभाव है जो शश-शृ ग के समान असम्भव सत्ताओ मे पाया जाता है।

इस सम्प्रदाय मे ईश्वर अथवा परमात्मन् अनन्त गुणो का पूर्णत्व माना जाता है। वह उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय, नियत्रण, ज्ञान, वन्धन, मोक्ष और 'आवृत्ति' का कर्त्ता है। वह सर्वज्ञ है और सर्व शव्द अपने व्यापकतम एव प्रमुख अर्थ मे उसका ही उल्लेख करते हैं। वह समस्त भौतिक पदार्थो, जीवो एव 'प्रकृति' से भिन्न है तथा उसका शरीर ज्ञान एव आनन्द से निर्मित है और पूर्णत स्वतत्र है यद्यपि उसके विविध रूप हो सकते

---

[1] विशिष्ट विशेषण-विशेष्य-तत्सम्वन्धातिरिक्तमवश्य अगीकर्त्तव्यम्।
—'मध्व-सिद्धान्त-सार' पृ० ११।

[2] भेदस्तु सर्व वस्तूना स्वरूप नैजमव्ययम्। —वही, पृ० २०।

[3] किन्तु जयतीर्थ अपनी 'न्याय-सुधा' १ ४ ६ (अधिकरण, पृ० २२२) मे यह मानते है कि भेद (चाहे वे नित्य वस्तुओ मे हो अथवा अनित्य वस्तुओ मे हो) नित्य होते हैं। 'न च कदापि पदार्थानामन्योन्य-तादात्म्यमस्ति इति अनित्यानामपि भेदो नित्येव इत्याऽहु। पद्मनाभ तीर्थ भी अपनी 'सन्-न्याय-रत्नावली' अथवा 'अनुव्याख्यान' मे इसी विषय पर ठीक यही मत रखते है (१ ४ ६) विनाशिनोऽपि घटादेर धर्म-रूपो भेद पर वाद्यम्युपगतघटत्वादि-जातिवन्नित्योऽभ्युपगन्तव्य।'

हैं (यथा 'वासुदेव', 'प्रद्युम्न' आदि मे) तथापि उसके ऐसे सर्व रूप उनके समस्त गुणो की पूर्ण अभिव्यक्ति होते हैं।

जीव स्वभावत अज्ञान, दुख, भय आदि दोषो से मलिन होते हैं तथा वे रूपान्तर के चक्र के वशीभूत होते है। वे मुख्यत तीन प्रकार के होते हैं—अर्थात् वे जो 'मुक्ति-योग्य' होते है, यथा, देवगण जैसे ब्रह्मा, वायु आदि, अथवा नारद आदि जैसे ऋषि, पितृ, अथवा अम्बरीष जैसे सम्राट, अथवा अग्रगण्य मानव, ये अग्रगण्य जीव ईश्वर का सत्, चित्, आनन्द एव आत्मन् के रूप मे चिन्तन करते हैं। केवल द्वितीय वर्ग के जीव पुनर्जन्म के वशीभूत होते हैं और स्वर्ग के सुखो एव पृथ्वी एव नरक के दुखो का उपभोग करते हैं। दानवो, प्रेतो आदि के समान जीवो का तृतीय वर्ग होता है। इन जीवो मे से प्रत्येक जीव अन्य प्रत्येक जीव से भिन्न होता है तथा मोक्ष मे भी जीव अपने-अपने पुण्यो, योग्यताओ, इच्छाओ आदि मे एक दूसरे से भिन्न होते हैं।

अब हम अव्यक्त आकाश पर विचार करेंगे, जो सृष्टि और प्रलय काल मे एक रूप रहता है (अव्याकृत आकाशो दिग्-रूप)। हाँ, यह 'भूत' के रूप मे 'आकाश' से भिन्न है जिसे 'भूताकाश' कहा गया है और जो 'तमस्' अहकार की उपज है तथा सीमित है। दिक् के रूप मे 'आकाश' शून्यत्व एव नित्य है।[1]

मध्व-सम्प्रदाय मे 'प्रकृति' को भी भौतिक जगत के उपादान-कारण के रूप मे स्वीकार किया गया है।[2] काल इसकी प्रत्यक्ष उपज है तथा अन्य सर्व वस्तुओ की उत्पत्ति इसके उन क्रमिक परिवर्तनो के द्वारा होती है जो 'महत्' आदि पदार्थो से प्रारम्भ होते है। 'प्रकृति' को यहां एक 'द्रव्य'[3] के रूप मे स्वीकार किया गया है और मध्व-सम्प्रदाय मे इसे 'माया' नामक ईश्वर की सहचरी के रूप मे माना गया है यद्यपि यह 'दोष-युक्त' 'जड' एव 'परिणामी' कही गई है तथापि वह ईश्वर के पूर्ण नियन्त्रण मे होने के कारण उसकी इच्छा अथवा शक्ति मानी जा सकती है (हरेर् इच्छाथवा बलम्)। यह 'प्रकृति' जगत के लिये सर्व बन्धनो का कारण होती है (जग बन्धा-त्मिका)।[4] सर्व प्राणियो के 'लिंग-शरीर' इस 'प्रकृति' के उपादान से निर्मित होते है। यह तीन गुणो की भी जननी है (गुणत्रयाद्युपादान-भूता)। यह माना जाता

और ज्ञान के रूप मे 'बुद्धि' वैसे ही 'मनस्' भी दो प्रकार का माना गया है, पदार्थ के रूप मे 'मनस्' और इन्द्रिय के रूप मे 'मनस्'। इन्द्रिय के रूप मे वह नित्य एव अनित्य दोनो है। वह ईश्वर, लक्ष्मी, ब्रह्मा तथा अन्य सर्व जीवो मे उनके स्वरूप (स्वरूप-भूतम्) अथवा आत्मन् के रूप मे नित्य होता है। ईश्वर, ब्रह्मा, जीवो आदि मे अनित्य 'मनस्' पाच प्रकार का होता है, 'मनस्,' 'बुद्धि,' 'अहकार,' 'चित्त' और 'चेतन' जो 'मनस्' की वृत्तिया अथवा व्यापार भी माने जा सकते है। इनमे से 'मनस्' वह है जिसके कारण 'सकल्प' और 'विकल्प' होते है। 'बुद्धि' वह है जिसके कारण किसी निश्चय पर आने का व्यापार होता है निश्चयात्मिका बुद्धि। 'अहकार' वह है जिसके व्यापार के द्वारा असत् को 'सत्' समझ लिया जाता है (अस्वरूपे स्वरूप मति), और स्मृति का कारण 'चित्' है। इन्द्रिया बारह हैं, जिनमे पाच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाच कर्मेन्द्रियाँ 'मनस्' और 'साक्षीन्द्रिय' का समावेश होता है, तथा 'बुद्धि,' 'मनस्' के अन्तर्गत ली जाती है। इन्द्रियो पर दो दृष्टिकोणो से विचार किया गया है, अर्थात्, उनकी प्रबल 'तेजस्' सामग्री के दृष्टिकोण से, तथा इन्द्रियाँ होने के दृष्टिकोण से। अपनी सामग्री के विकास-क्रम मे उत्पन्न पदार्थ होने के नाते वे नाशवान है, किन्तु इन्द्रियो के रूप मे वे ईश्वर तथा सर्व प्राणियो मे नित्य है। इन इन्द्रियो के शारीरिक अवयव सर्व नाशवान प्राणियो मे नाशवान ही होते है। अत प्रज्ञा (साक्षी) अपरोक्ष रूप मे सुख और दुख, अज्ञान, काल एव दिक् का प्रत्यक्षीकरण कर सकती है। इस 'साक्षी' के द्वारा विभिन्न ज्ञानेन्द्रियो से प्राप्त ध्वनियो, रगो आदि की ज्ञानेन्द्रिय-सामग्री का अपरोक्ष प्रत्यक्षीकरण किया जाता है। ज्ञानेन्द्रियो के क्षेत्र से अतीत सर्व वस्तुओं का ज्ञात अथवा अज्ञात रूप मे 'साक्षी' द्वारा अतर्ज्ञान प्राप्त किया जाता है। वस्तुत

द्वारा लिखित टीका मे इसका समर्थन किया गया है। यह 'कठ' १-३-१० के अनुकूल भी है। किन्तु 'मध्व-सिद्धान्त-सार' मे मध्व के 'भाष्य' मे उद्धृत एक अवतरण मे कहा गया है कि 'विज्ञान-तत्त्व' (जो सभवत 'बुद्धि-तत्त्व' ही है) 'महत्-तत्त्व' मे उत्पन्न होता है तथा उससे फिर 'मनस्' उत्पन्न होता है, और मनस् मे इन्द्रिया उत्पन्न होती है, इत्यादि।

'साक्षी-ज्ञान' को अत प्रज्ञात्मक ज्ञान का एक विशेष साधन मानना और विशेषत काल एव दिक् के प्रत्यक्षीकरण के लिये उसे अपरिकार्य मानना, मध्व-दर्शन का एक महत्व-पूर्ण विशिष्ट लक्षण है। शकर वेदान्त मे 'साक्षी' अनिर्वाच्य 'ब्रह्म'–ज्योति के रूप मे स्वीकार किया गया है जो 'अज्ञान' से आच्छादित हो सकता है, यद्यपि स्वय 'अज्ञान' अपने यथार्थ स्वरूप, अविद्या के रूप मे 'साक्षी' द्वारा प्रकट किया जाता है।[1] मध्व मानते है कि 'साक्षी' की अत प्रज्ञा के द्वारा एक व्यक्ति अपने इन्द्रिय-ज्ञान तथा 'अहम्' के रूप मे अपने आत्मन् की सत्यता का निरीक्षण करता है। इस मत के अनुसार आत्मन् का प्रत्यक्षीकरण मनस् की क्रिया के कारण अथवा मानसिक अनुभव (मनोनुभव) के कारण नही होता, क्योकि यदि ऐसा होता तो एक व्यक्ति मनस् की क्रिया अथवा मानसिक व्यापार के फलस्वरूप स्वय अपने आत्मन् पर भी सदेह कर सकता था, किन्तु ऐसा कभी नही होता, अतएव यह स्वीकार करना पडता है कि आत्मन् का प्रत्यक्षीकरण 'साक्षी' नामक किसी अन्य अन्त प्रज्ञा के कारण होता है। इस प्रकार 'साक्षी' हमे सदा दोष रहित एव निश्चित सत्यो पर पहुँचाता है, किन्तु जहाँ कही ज्ञान मे विवेक-जन्य क्रिया होती है तथा दोष की सम्भावना होती है, तो वह मानसिक अनुभव के कारण उत्पन्न माना जाता है।[2]

मध्ववाद मे 'तन्मात्राओ' को पाच स्थूल 'भूतो' की सूक्ष्म सामग्री के रूप मे स्वीकार किया जाता है। यह ध्यान रखना चाहिये कि 'अहकार' और 'बुद्धि' तत्व

---

[1] यत्-प्रसादादविद्यादि स्फुरत्येव दिवा-निशतनप्यपह्नुतेऽविद्या नाज्ञानस्यास्ति दुष्करम्।

—अद्वैत-ब्रह्म-सिद्धि, पृ० ३१२।

जैसाकि यह रचना भी सकेत करती है, 'शकर वेदान्त' मे 'साक्षी' के स्थान के सम्बन्ध मे चार मत हैं। इस प्रकार 'तत्व-शुद्धि' मानती है कि वह ब्रह्म की ज्योति है जो मानो 'जीव' मे अभिव्यक्त होती है, 'वेदान्त-प्रदीपिका' मानती है कि वह ईश्वर है जो सर्व जीवो मे स्वय को अभिव्यक्त करता है, 'वेदान्त-कौमुदी' मानती है कि वह केवल ईश्वर का एक रूप है, एक तटस्थ सत्ता है जो जीव की समस्त क्रियाओ मे एकरूप रहती है तथा प्रत्यक्ष एव अपरोक्ष रूप मे अनुभूत होती है, किन्तु वह उसको आच्छादित करने वाली 'अविद्या' भी है। 'कूटस्थ-दीप' उसे 'जीव' मे शुद्ध चैतन्य की एक अपरिवर्तनशील ज्योति मानता है जो सर्व अवस्थाओ मे एक समान रहती है अतएव 'साक्षी' कहलाती है।

[2] 'ननु क्वचिद् व्यभिचारि स्यात् दर्शन मानस हि तत्।' 'अनुव्याख्यान' एव स देवदत्तो गौरो न वा परमाणु गुरुत्वाधिकरण न वा इति सशयो मानस।

—मध्व-सिद्धान्त-सार पृ० ७४।

एक प्रकार के सूक्ष्म भौतिक पदार्थ माने जाते हैं जिन्हें निश्चित 'परिमाण' युक्त राशियों के रूप में समझा जा सकता है।[1]

'अविद्या' एक अभावात्मक 'द्रव्य' है जो ईश्वर की इच्छा से हम सबके स्वाभाविक चैतन्य को आच्छादित कर देती है।[2] किन्तु कोई एक सामान्य 'अविद्या' नहीं होती जो विभिन्न व्यक्तियों में प्रकट होती है। अतः वह हमारे वैयक्तिक अज्ञान का निर्देश करती है, न कि एक सामान्य सत्ता का, जो अधिकांश भारतीय दर्शनों में पाई जाती है, इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति की अपनी विशिष्ट प्रातिस्विक 'अविद्या' होती है।

'काल' का सर्वव्यापी आकाश (अव्याकृत आकाश) से सह-अस्तित्व होता है, तथा वह 'प्रकृति' के उपादान से सीधा उत्पन्न होता है, अतः 'प्रकृति' से व्युत्पन्न अन्य पदार्थों से अधिक प्राथमिक अस्तित्व रखता है।[3] वह स्वयं में अस्तित्व रखता है (स्वगत) और दिक् के समान अन्य समस्त वस्तुओं का 'आधार' है, तथा वह सर्व विषयों की उत्पत्ति का सामान्य कारण है।

'अन्धकार' भी एक पृथक् 'द्रव्य' माना जाता है न कि केवल प्रकाश का अभाव। 'जीवों' का निर्देश करने के लिये 'प्रतिबिम्ब' का एक नवीन प्रत्यय प्रस्तुत किया गया है, जो ईश्वर से पृथक् कोई अस्तित्व नहीं रख सकते, तथा जो इसकी इच्छा से स्वतन्त्र किसी प्रकार से व्यवहार नहीं कर सकते, और इच्छा एवं भावना से युक्त चेतन सत्ताएं

[1] मनु-बृहस्पत्यादयस्तु अहङ्कारात्परिमाणतो हीनेन मनस्त्वेन स्वोचित-परिमाणे परिमित-देश-पर्यन्तमवस्थितम् विष्णु पश्यन्ति सोम-सूर्य तु बुद्धि-तत्वत्परिमाणतो हीनेन मनस्त्वेन परिमित-देश-पर्यन्त अवस्थित विष्णु पश्यत वरुणादयस्तु आकाश-वायु-आदि भूत· क्रमेण परिमाणतो दशाहीने· परिमित-देश-पर्यन्तम स्थित विष्णु योग्यतानुसारेण पश्यन्ति।

'सन्-न्याय-रत्नावली' और 'मध्व-सिद्धान्त-सार,' पृ० ४६०।

[2] अत परमेश्वर एव सत्त्वादि-गुणमय-अविद्या विरोधित्वेन अविद्यया स्वाधीनया प्राकृत्या अचिन्त्याभूतया स्वशक्त्या जीवस्य स्वप्रकाशम् अपि स्वरूप चैतन्यमप्याच्छादयति।

—'जिज्ञासा' विषय पर 'न्याय-सुधा'।

[3] यह आपत्ति मान्य नहीं है कि यदि काल 'प्रकृति' के उपादान से निर्मित होता है तो फिर 'महत्' आदि का विकास कहाँ से होगा, क्योंकि काल केवल 'प्रकृति' के कुछ अंशों से ही विकसित होता है, तथा उसके अन्य अंशों से अन्य पदार्थों का विकास होता है: 'सर्वत्र व्याप्ताना कतिपय-प्रकृति-सूक्ष्माणा कालोपादानत्वम्, कतिपयाना महद्-आद्य-उपादानत्वा कतिपयाना च मूल-रूपेण अवस्थानम्।'

—मध्व-सिद्धान्त-सार, पृ० ६४।

होने के कारण अनिवार्यत उनके समान हैं, यद्यपि वे प्रतिविम्ब हैं, तथापि दर्पण मे साधारण प्रतिविम्बो की भांति नाशवान नही हैं, वरन् नित्य हैं (प्रतिविम्बस्तु विम्बादिना भूतसत्-सदृग ।[1]

मध्व-दर्शन न्यूनाधिक न्याय-वैशेपिक की भाँति ही 'गुणों' को स्वीकार करता है, उनमे परस्पर अन्तर तनिक भी दार्शनिक महत्व के नहीं है। जो उल्लेख योग्य है उनका अनुवर्ती परिच्छेदो मे उल्लेख कर दिया जायगा।

प्रमाण (सत्य ज्ञान के साधन)

'प्रमाण' का लक्षण बताते हुए कहा गया है कि 'प्रमाण' वह है जो किसी ज्ञान के विषय को अपने यथार्थ रूप मे ग्राह्य बनाने (यथार्थ प्रमाणम्) ।[2] 'प्रमाण' का कार्य-व्यापार इसमे निहित है कि वह अपरोक्ष (साक्षात्) अथवा परोक्ष (असाक्षात्) रूप मे ज्ञान की उत्पत्ति के द्वारा किसी वस्तु को ज्ञान का विषय बनाता है (ज्ञान-जननद् वाव ज्ञेयता-सम्पादकत्वेन) ।[3] एक 'प्रमाण' के दो कार्य-व्यापार होते हैं, अर्थात् (१) किसी वस्तु को ज्ञान का विषय बनाना (ज्ञेय-विषयीकरण), तथा (२) उस वस्तु की ज्ञेयता का सम्पादन करना (ज्ञेयता-सम्पादन)। जहां तक किसी वस्तु को ज्ञान का विषय बनाने के कार्य-व्यापार का सम्बन्ध है, सर्व 'प्रमाण' उसका प्रत्यक्ष सम्पादन करते है, केवल द्वितीय कार्य-व्यापार के सम्बन्ध मे 'केवल' और 'अनु' नामक दो प्रकार के 'प्रमाणों' मे यह अन्तर होता है कि केवल पूर्वोक्त ही उसका अपरोक्ष रूप में सम्पादन करता है, और केवल पश्चादुक्त ही उसका परोक्ष रूप मे सम्पादन करता है (परम्परा-क्रम) ।[4] इन दो कार्य-व्यापारो से एक 'प्रमाण' का 'प्रमाता' (ज्ञाता) तथा 'प्रमेय' (ज्ञेय) से अन्तर स्पष्ट हो जाता है, क्योंकि न तो ज्ञाता और न ज्ञेय ज्ञान के निमित्त कारण कहे जा सकते हैं, यद्यपि वे किसी अर्थ मे कारणो के रूप मे स्वीकार किये जा सकते हैं, तथा न वे किसी वस्तु को ज्ञान का विषय बनाने के कारण होते हैं। हमारा ज्ञान किसी भी रूप मे एक ज्ञान के विषय मे रूपान्तर नही करता, किन्तु जब

[1] 'पदार्थ-सग्रह,' पृ० १६३।

[2] मध्व द्वारा अपने 'प्रमाण लक्षण' मे दी हुई प्रमाण की परिभाषा का जयतीर्थ अपनी 'प्रमाण-पद्धति' मे यह विस्तरण करते हैं—ज्ञेयमनतिक्रम्य वर्तमान यथावस्थितमेव ज्ञेय यद्विपयीकरोति नान्यथा तत्प्रमाणम्। (पृ० ८)।

[3] जनार्दन द्वारा 'प्रमाण-पद्धति' पर लिखी गई। —'जयतीर्थ-विजय-टिप्पणी।

[4] वही। और भी 'केवल विपयस्य ज्ञेयत्व ज्ञानमुपावितया करण तु तज्जनकतया सम्पादयन्ति इत्येतावन्त विशेपमाश्रित्य केवलानुप्रमाण-भेद समर्थित ।'
—न्याय-सुधा, २, १, २ (पृ० २४६)।

एक वस्तु का ज्ञान उत्पन्न होता है तब तक वैसी ही रहती है। सत्यता (यथार्थता), जिसका अर्थ है ज्ञान की अपने विषय के साथ यथार्थ अनुरूपता, कुमारिल के मत से ज्ञान मे ही पाई जाती है (ज्ञानस्यैव मुख्यतो यथार्थत्वम्)। ज्ञान के साधन इन्द्रिय प्रत्यक्ष रूप मे उस आधार पर सत्य (यथार्थ) कहे जा सकते है कि वे यथार्थ ज्ञान के जनक होते है (यथार्थ-ज्ञान-जनक-यथार्थ)।[1] किन्तु फिर भी यह परिभाषा प्रमाणों पर भी उचित रूप से लागू होती है, क्योंकि वे भी उस अर्थ मे 'यथार्थ' है कि वे भी विषय की ओर ठीक उसी प्रकार उन्मुख होते हैं जिस प्रकार उस विषय का ज्ञान। इन्द्रियाँ भी ऐसे सम्यक् विषय की ओर उन्मुख होती है जिसका उन्हे सम्यक् ज्ञान होता है, उनका कार्य क्षेत्र ज्ञान के विषय के क्षेत्र अथवा विस्तार अनुरूप होता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि 'प्रमाण' दो प्रकार का होता है। यथार्थ ज्ञान के रूप मे प्रमाण (केवल प्रमाण) तथा ज्ञान के 'साधन' के रूप मे 'प्रमाण' (अनु प्रमाण)। यह 'केवल प्रमाण' पुन दो प्रकार का होता है—'चैतन्य' के रूप मे और 'वृत्ति' के रूप मे। इस चैतन्य का जयतीर्थ द्वारा उत्तम 'मध्यम' एव 'अधम' (उत्तम-मध्यमाधम), [illegible] के रूप मे वर्णन किया गया है, वृत्ति भी प्रत्यक्ष, अनुमान व 'आगम' के रूप मे तीन प्रकार की होती है। 'अनु प्रमाण' भी प्रत्यक्ष अनुमान व आगम के रूप मे तीन प्रकार का होता है। एक प्रश्न यह खड़ा होता है कि क्या 'प्रमाण' पद का प्रयोग किसी ऐसे सत् ज्ञान के लिये किया जा सकता है, जिसमे सयोग से सत्यता घटित हो गई हो (काकतालीय) तथा सत् ज्ञान की उचित प्रक्रिया द्वारा प्राप्त न की गई हो। इस प्रकार, उदाहरण के लिए, एक व्यक्ति केवल कल्पना के आधार पर यह कह सकता है कि उसके मित्र की जेब मे पाच शिलिंग है, तथा यह ज्ञान वस्तुत इस तथ्य के अनुरूप हो सकता है कि उस मित्र की जेब मे पाच शिलिंग हैं, किन्तु यद्यपि यह ज्ञात सत् है, तथापि, इसे 'प्रमाण' की सज्ञा नही दी जा सकती, क्योंकि यह स्वय वक्ता के निश्चित ज्ञान से फलित नही हुआ है, बल्कि उसने केवल एक कल्पना की थी जो एक प्रकार का सशय मात्र है (वक्तुर् ज्ञानस्य सशयत्वेन अप्रसगात्)।[2] यह बात उस अवस्था मे भी लागू होती है जहाँ कोई व्यक्ति एक भ्रामक 'हेतु' के आधार पर अनुमान का निर्माण करता है, यथा भ्रम से भाप अथवा वाष्प को धूम्र समझकर उससे अग्नि का अनुमान लगाना।

'प्रमाण' की ज्ञान के विषयो के साथ अनुरूपता (यथार्थ) के रूप मे की गई इस परिभाषा का मूल्य इस तथ्य मे पाया जाता है कि उसमे पूर्व सत्य अनुभाव की 'स्मृति' का भी सत्य ज्ञान के रूप मे समावेश हो जाता है, जबकि भारतीय दर्शन के अन्य अधिकाश तन्त्रो की प्रवृत्ति अपनी परिभाषा का निर्माण इस ढग से करने की होती है कि स्मृति

---

[1] वही।

[2] वही, पृ० २५०।

को प्रयोजनपूर्वक 'प्रमाण' गिने जाने के अधिकार से वंचित रक्खा जा सके।[1] शालिकनाथ द्वारा अपनी 'प्रमाण-पंचिका' में स्मृति को 'प्रमाण' की परिभाषा से बहिष्कृत करने के लिये दी गई युक्ति इस तथ्य पर आधारित है कि स्मृति एक ऐसा ज्ञान है जो केवल पूर्व ज्ञान के संस्कारों से उत्पन्न होता है (पूर्वविज्ञान-संस्कार-मात्रज ज्ञानम्)। इसी कारण वह केवल पूर्व ज्ञान पर ही निर्भर करता है एवं अनिवार्यतः पूर्व अनुभव का उल्लेख नहीं कर सकता।[2] वे पहचान (प्रत्यभिज्ञा) का स्मृति से अपवर्जन करते हैं क्योंकि प्रत्यभिज्ञा की मूल आत्त-सामग्री में प्रत्यक्ष इन्द्रिय-सम्पर्क का समावेश होता है, तथा वे एक ही वस्तु के 'धारावाहिक ज्ञान' का भी अपवर्जन करते हैं, क्योंकि यद्यपि उसमें स्मृति का समावेश होता है तथापि उसमें प्रत्यक्ष इन्द्रिय-सम्पर्क का भी समावेश होता है, किन्तु 'प्रमाण' की परिभाषा से स्मृति का अपवर्जन केवल इन्द्रिय-सम्पर्क से असम्बद्ध शुद्ध स्मृति तक ही सीमित है। अभिप्राय यह है कि जो ज्ञान केवल पूर्व ज्ञान पर निर्भर करता है अथवा उसी से उत्पन्न होता है वह हमारे ज्ञान में प्रत्यक्ष रूप से योगदान नहीं देता, अतएव वह 'प्रमाण' नहीं है।

जिस कारण से जयतीर्थ स्मृति के समावेश का आग्रह करते हैं वह यह है कि स्मृति भी ज्ञान के विषय के अनुरूप हो सकती है अतएव उसे वैध रूप से 'प्रमाण' कहा जा सकता है। यह हो सकता है कि जब मैं एक विषय का स्मरण करता हूँ वह कदाचित् तबतक विद्यमान न हो अथवा उसका अस्तित्व समाप्त हो गया हो, किन्तु इससे 'प्रमाण' के रूप में स्मृति की सत्यता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, क्योंकि यद्यपि स्मृति का विषय स्मृति के उत्पत्ति-काल में अस्तित्व में नहीं है तथापि स्मृति के द्वारा निर्देशित अनुभव के समय उसका अस्तित्व अवश्य था। यदि यह युक्ति दी जाय कि चूँकि स्मृति-काल में विषय उसी अवस्था में नहीं होता जिस अवस्था में वह अनुभव-

[1] यहाँ जयतीर्थ 'अनधिगतार्थ-गन्तृ प्रमाणम्' तथा 'अनुभूति प्रमाणम्' के रूप में मीमांसा द्वारा दी गई परिभाषाओं का उल्लेख करते हैं। प्रथम तो कुमारिल की की परिभाषा का उल्लेख करती है और द्वितीय प्रभाकर की। कुमारिल 'प्रमाण' की यह परिभाषा देते हैं (जैसाकि 'श्लोक-वार्तिक' के 'चोदना-सूत्र' ८० में पाया जाता है) कि प्रमाण वह दृढ़ ज्ञान (दृढ विज्ञानम्) है जो उत्पन्न हो (उत्पन्नम्) तथा अन्य ज्ञान से असम्बद्ध हो (नापि ज्ञानान्तरेण संवादम् ऋच्छति)। द्वितीय परिभाषा प्रभाकर की है जो शालिकनाथ की 'प्रकरण पंचिका' में उद्धृत की गई है, पृ० ४२ 'प्रमाणम् अनुभूति'।

[2] स्मृतिर्हि तदित्युपजायमाना प्राची प्रतीतिमनुरुध्यमाना न स्वातन्त्र्येण अर्थं परिच्छिनत्ति इति न प्रमाणम्।

—प्रकरण-पंचिका, पृ० ४२।

काल में था, इसलिये स्मृति सत्य होती है, तो उस दशा में अनुमान अथवा शब्द पर आधारित भूत अथवा भविष्य विषयक सर्व ज्ञान असत्य हो जाएगा क्योंकि अनुमित भूत एवं भविष्य की घटनाएँ अनुभव काल में तत्कालिक विद्यमान न हों। यदि यह युक्ति दी जाय कि पूर्व ज्ञान का विषय अपनी अवस्था परिवर्तित कर लेता है अतएव अपनी सम्पूर्णता में स्मृति के विषय के रूप में निर्देशित नहीं किया जा सकता तो इस युक्ति से सर्व 'प्रमाणों' की सत्यता नष्ट हो जाती है, क्योंकि किसी भी वस्तु को उसकी सम्पूर्णता में सर्व प्रमाणों का विषय नहीं बनाया जा सकता। यह भी आपत्ति नहीं उठाई जा सकती कि यदि वस्तु अपनी अवस्था परिवर्तित नहीं करती है तो स्मृति को उसका ऐसी वस्तु के रूप में परिग्रहण करना चाहिये जिसने अपनी अवस्था परिवर्तित नही की है। यह भी मान्य नहीं है, क्योंकि स्मृति किसी विषय का इस रूप में परि-ग्रहण नहीं करती है मानो उसने अपनी अवस्था परिवर्तित न की हो, बल्कि इस रूप में कि 'उस काल में वह वैसी थी' (तदानीं तद्दशा इति)। स्मृति इस प्रश्न के सम्बन्ध मे सर्वथा उदासीन होती है कि इस विषय ने अपनी अवस्था परिवर्तित की है अथवा नही। चूंकि स्मृति यथार्थ वस्तुगत तथ्यों के अनुरूप होती है अतः उसे सत्य मानना पड़ता है तथा वर्तमान परिभाषा की यह विशिष्टता है कि उसमें स्मृति का एक सत्य 'प्रमाण' के रूप में समावेश होता है, जैसा अन्य दर्शन-तन्त्रों में नही किया गया है। 'प्रमाण' के रूप में स्मृति की सत्यता इस तथ्य से सिद्ध हो जाती है कि लोग अपने समस्त व्यवहारो मे उसका सत्य ज्ञान के रूप मे प्रयोग करते है तथा मनुष्यों द्वारा केवल सत्य ज्ञान का उल्लेख किया जाता है (लोक-व्यवहार)। प्रत्यक्षादि प्रमाणों की सत्यता को सिद्ध करने का सार्वभौम लोक-व्यवहार की चरम साक्ष्य के अतिरिक्त अन्य कोई साधन नही है।[1]

इसके अतिरिक्त, मनु के पुनीत लेखनो की प्रामाणिकता भी वेदो के संस्मृत अभिप्राय पर आधारित है और इसलिये वे 'स्मृति' कहलाते हैं।[2] पुन, यह युक्ति भी सही नही है कि स्मृति मे कोई सत्यता नही है क्योंकि उससे हमे किसी फल की प्राप्ति नही होती (निष्फला), क्योंकि सत्यता अनुरूपता की विशुद्धि पर निर्भर करती है, फलदायकता पर नही। सत्यता का अभाव (अप्रामाण्य) इन्द्रियों के दोष अथवा तज्जन्य व्याघात (बाधक प्रत्यय) से स्पष्ट हो जाता है। यह भी ध्यान रखने की बात है कि स्मृति सर्वथा निष्फल नही होती, जैसे, सुखमय बातो की स्मृति सुखद होती है तथा सस्कारो को भी सबल बनाती है (सस्कार-पटन)। पुन, यह युक्ति दी जाती

[1] न ह्यस्ति प्रत्यक्षादि-प्रामाण्य-साधकमन्यद् लोक-व्यवहारात्।
—'न्याय-सुधा', २ १ २ 'अधिकरण', पृ० २५१।

[2] ते हि श्रुत्यादिनानुभूतार्थं स्मृत्वा तत्-प्रतिपादकम् ग्रन्थमारचयति।
—वही, पृ० २५२।

है कि 'प्रमाण' वही कहा जा सकता है जिसमे किसी नवीन वस्तु के ज्ञान का समावेश हो, अतएव स्मृति मे नवीन ज्ञान का समावेश न होने के कारण उसे 'प्रमाण' नही गिना जा सकता। यदि यह अपेक्षित है कि एक ज्ञान का विषय 'प्रमाण' हो तो नित्य सत्ताएँ, जिनके सम्बन्ध मे कोई नवीन ज्ञान नही हो सकता, 'प्रमाण' की विषय नही हो सकती। यदि नवीन ज्ञान सम्बन्धी आवश्यकता ज्ञान के विषयो के प्रति नही किन्तु केवल ज्ञान की विधि अथवा प्रक्रिया के प्रति उल्लेख करती है ऐसा माना जाय, तो किसी विषय के धारावाहिक प्रत्यक्षीकरण मे समाविष्ट ज्ञान (धारावाहिक ज्ञान) 'प्रमाण' नही माना जा सकता। हाँ, बौद्ध दार्शनिक यह उत्तर दे सकते है कि प्रत्येक नवीन क्षण मे एक नवीन विषय उत्पन्न होता है जिसका प्रत्यक्षीकरण किया जाता है। साख्य यह मान सकते है कि प्रत्येक नवीन क्षण मे सर्व विषय एक नवीन परिवर्तन अथवा 'परिणाम' के भागी होते हैं, किन्तु एक मीमासक क्या उत्तर देगा ? उसके अनुसार विषय (यथा, घट) समस्त क्रमिक क्षणो मे एक समान बना रहता है। यदि यह युक्ति दी जाय कि क्रमिक क्षणो मे स्थायी किसी विषय के ज्ञान मे प्रति क्षण एक नवीन काल-तत्व का समावेश होता है तथा इस तथ्य के बावजूद कि ज्ञान का विषय क्रमिक क्षणो मे स्थायी बना हुआ है उक्त काल-तत्व की नवीनता मे ही ज्ञान की नवीनता निहित हो सकती है, तो यही युक्ति स्मृति के पक्ष मे भी दी जा सकती है, क्योकि वह वर्तमान काल मे विषयो को अभिव्यक्त करती है तथा अतीत काल मे घटित अनुभव के प्रति सकेत करती है (स्मृतिरपि वर्तमान-तत्-कालतया अनुभूतम अर्थम तीतकालतावगाहते)। जयतीर्थ मानते है कि 'प्रामाण्य' तथा इस आवश्यकता मे कि विषय साहचर्य के द्वारा अथवा साहचर्य एव किसी व्याघाती उदाहरण के अभाव के द्वारा पूर्व काल मे अनुपार्जित हो (अनधिगतार्थ), कोई अनिवार्य सम्बन्ध बताना सम्भव नही है, क्योकि प्रथम आधार पर तो 'प्रामाण्य' से सम्बन्ध रखने वाली अन्य कई वस्तुओ को 'अनधिगत' मानना पडेगा, जो वे नही है और द्वितीय आधार पर कम से कम 'धारावाहिक ज्ञान' की स्थिति मे लागू नही होता। क्योकि धारावाहिक ज्ञान मे क्रमिक क्षणो मे नवीन ज्ञान न होने के बावजूद भी उनको 'प्रमाण' माना जाता है।

यदि यह आपत्ति की जाय कि एक 'प्रमाण' का यह व्यापार कैसे हो सकता है कि वह पूर्व ज्ञात विषय को हमे ज्ञात करवाये (अधिगतम् एवार्थम् अधिगमयता प्रमाणेन पिष्ट पिष्ट स्यात्), तो इस आपत्ति का अर्थ क्या है ? इसका यह अर्थ नही हो सकता कि एक ज्ञात विषय के सम्बन्ध मे आगे कोई ज्ञान उत्पन्न नही हो सकता, क्योकि न तो ज्ञान, ज्ञान से विरोध मे होता है और न ज्ञान का अभाव ज्ञान को उत्पन्न करने वाली अवस्थाओ का भाग होता है। एक ज्ञात विषय के द्वितीय ज्ञान की उत्पत्ति के विरोध मे निष्फलता के आधार पर उठाई गई आपत्ति का पहले ही से उत्तर दिया जा चुका है। न यह कहा जा सकता है कि एक 'प्रमाण' किसी अन्य वस्तु पर अथवा अन्य

ज्ञान पर आधारित नही होना चाहिये, क्योकि यह आक्षेप अनुमान पर भी लागू होगा जिसे सब विद्वान 'प्रमाण' के रूप मे स्वीकार करते है। अत 'प्रमाण' की परिभाषा इस प्रकार दी जानी चाहिये कि उसमे स्मृति का समावेश किया जा सके। चलरिशेषाचार्य 'प्रमाण' मे स्मृति के समावेश के समर्थन मे एक अज्ञात श्रुति-पाठ को उद्धृत करते है।[1] जयतीर्थ उन सकारात्मक तर्कों का, जो उनके अनुसार 'प्रमाण' मे स्मृति के समावेश का समर्थन करते है, सक्षिप्त कथन करते हुए कहते हैं कि स्मृति सत्य (यथार्थ) होती है। जब एक विषय एक समय विशेष एव स्थान विशेष मे एक निश्चित स्वरूप लिये हुए चेतना मे भासित होता है तथा वास्तव मे उस काल और स्थान मे उसी स्वरूप का होता है, तब यह ज्ञान सत्य अथवा यथार्थ होता है। स्मृति हमे ठीक इसी प्रकार का ज्ञान देती है, 'उस समय वह ऐसा था।' यह तथ्य नही है कि उस समय वह ऐसा नही था। स्मृति अपरोक्ष रूप से 'मनस्' द्वारा उत्पन्न की जाती है और 'सस्कारो' के माध्यम से उसका विषय से सम्पर्क होता है। सस्कारो के द्वारा मनस् विषय विशेष के सम्पर्क मे आता है (सस्कारस् तु मनसस् तद्-अर्थ-सन्निकर्ष-रूप एव)। यह आक्षेप किया जा सकता है कि स्मृति द्वारा निर्देशित विषय कई परिवर्तनो को सहन करने तथा मध्यान्तर मे अपने पूर्वावस्थागत अस्तित्व को समाप्त कर देने के कारण, वर्तमान स्मृति अपने विषय का परिग्रहण नही कर सकती, इसका उत्तर यह है कि उक्त आक्षेप मे कुछ बल अवश्य होता है यदि मनस् से किसी अन्य साधन की सहायता के बिना विषय के परिग्रहण की आशा की जाती, किन्तु ऐसी बात नही है। जिस प्रकार ज्ञानेन्द्रिया केवल वर्तमान काल मे क्रियाशील होने पर भी प्रत्यभिज्ञा की प्रक्रिया को सस्कारो की सहायता से कर सकती है, उसी प्रकार यह स्वीकार किया जा सकता है कि मनस् भी सस्कारो की सहायता से उस विषय का निर्देश कर सकता है जिसने अपनी पूर्व अवस्था मे परिवर्तन कर लिया है।[2]

'प्रमाण' के प्रत्यय को भारतीय दर्शन मे एक अति महत्वपूर्ण विषय माना जाता है। 'प्रमाण' शब्द मुख्यतया दो भिन्न अर्थों मे प्रयुक्त किया जाता है, (१) असत्य अथवा भ्रामक सज्ञान से भिन्न एक सत्य मानसिक क्रिया के अर्थ मे और (२) उन

[1] स्मृति प्रत्यक्षमैतिह्यमनुमान चतुष्टयम्
प्रमाणमिति विज्ञेय धर्माद्यर्थे मुमुक्षुभि। —प्रमाण-चन्द्रिका, पृ० ४।

[2] सस्कार-सहकृतम् मन अननुभूतामपि निवृत्त-पूर्वावस्था विषयीकुर्वत स्मरणम् जनयेत् इति को दोष, वर्त्तमान विषयाणि अपि इन्द्रियाणि सहकारि सामर्थ्यात् कालान्तर-सम्बन्धितामपि गोचरयन्ति, यथा सस्कार-सहकृतानि सोयमित्यतीत-वर्तमानत्व विशिष्टविषयप्रत्यभिज्ञा-साधनानि प्राकृतेन्द्रियाणि मनोवृत्ति-ज्ञान जनयन्ति।

—'प्रमाण पद्धति', पृ० २४।

साधनो अथवा परिस्थितियो की सस्थिति के अर्थ मे जो ज्ञान की उत्पत्ति करते है। पश्चादुक्त अर्थ मे 'प्रमाण' का विवरण प्रथम भाग के पृ० ३३०-२ मे दिया जा चुका है। ज्ञान के साधनो के रूप मे 'प्रमाण' की व्याख्या के सम्वन्ध मे परस्पर विरोधी मत इस कारण से पाये जाते है कि विविध दर्शन तन्त्र ज्ञान के स्वरूप एव उद्गम के सम्वध मे विभिन्न दृष्टिकोण अपनाते है। इस प्रकार न्याय-दर्शन कारणो की ऐसी सस्थिति के रूप मे 'प्रमाण' की परिभाषा करता है जो ज्ञान ('उपलब्धि' अथवा 'प्रमा') को उत्पन्न करती है। स्मृति के कारणो को 'प्रमाण' से केवल इस शाब्दिक आधार पर अपवर्जित किया जाता है कि लोग 'स्मृति' शब्द का प्रयोग सस्कार-जन्य ज्ञान (सस्कार-मात्र-जन्मन) का निर्देश करने के लिये करते है तथा उसका 'प्रमा' अथवा सत्य ज्ञान से विभेद करते है, जो अपने विपयो के अनुरूप होता है।[1]

किन्तु जैन दार्शनिक विपय की अभिव्यक्ति के निर्देश (अर्थोपदर्शकत्व) को 'प्रमा' मानते है, तथा इस वात मे उनका वौद्ध-मत से अन्तर है जो विषय की वास्तविक प्राप्ति के रूप मे 'प्रमा' की परिभाषा करते है (अर्थ-प्रापकत्व)।[2] यद्यपि ज्ञान के घटनाकाल मे किए गए प्रयास के द्वारा तथा तदनुसार विपय की प्राप्ति की जा सकती है, तथापि ज्ञान का व्यापार केवल उसके द्वारा अभिव्यक्त विपय के निर्देश मे ही निहित होता है।[3]

---

[1] प्रमा-साधन हि प्रमाण न च स्मृति प्रमा लोकाधीनावधारणो हि शब्दार्थ-सम्बध, लोकश्च सस्कार मात्र-जन्मन स्मृतेकान्यामुपलब्धिमर्थाव्यभिचारिणी प्रमामाचष्टे तस्मात् तद्-धेतु प्रमाणमिति न स्मृति-हेतु-प्रसग ।

—तात्पर्य-टीका, पृ० १४।

[2] प्रवृत्ति-मूला तूपादेयार्थ-प्राप्ति र्न प्रमाणाधीना तस्या पुरुषेच्छाधीन प्रवृत्ति-प्रभवत्वात्। —प्रमेय-कमल-मार्तण्ड, पृ० ७।

[3] यद्यप्य अनेकस्यात्ज्ञान-क्षणात् प्रवृत्तौ अर्थ-प्राप्तिश्तथापि पर्यालोच्यमानस्र्थ-प्रदर्शकत्वमेव ज्ञानस्य प्रापकत्व नान्यत्। —वही।

यहाँ वौद्धो के विरोध मे की गई टीका न्यायपूर्ण नही है, क्योकि 'प्रवर्तकत्व' का अर्थ उनके लिये 'प्रदर्शकत्व' भी है, यद्यपि उनके विचार मे 'प्रमाण-व्यापार' के द्वारा सूचित क्रिया-श्रेणी की परिसमाप्ति तभी होती है जबकि विषय (अर्थ) वस्तुत प्राप्त हो जाता है। प्रत्यय अथवा 'विज्ञान' तो केवल विषय को प्रकट करता है, तथा जब विषय की अभिव्यक्ति हो जाती है तब प्रयत्न प्रारम्भ किया जाता है और विपय की प्राप्ति की जाती है। विपय की वास्तविक प्राप्ति केवल इसी अर्थ मे महत्वपूर्ण है कि वही अन्त मे निश्चित करता है कि 'विज्ञान' सही है अथवा नही, क्योकि जब 'विज्ञान' के ठीक अनुरूप विषय की उपलब्धि हो जाती है तब 'विज्ञान' सही कहा जा सकता है।

—'न्याय-विन्दु-टीका,' पृ० ३, ४।

अत जैन दार्शनिको के अनुसार 'प्रमा' 'स्वार्थ-परिच्छित्ति' अथवा विषय के मान-चित्रण के समतुल्य है, और उसका तात्कालिक साधन अथवा 'प्रमाण' वह ज्ञान की आत्मगत आन्तरिक चमक है जो उक्त वस्तुगत 'अर्थ-परिच्छित्ति' अथवा विषयो के निर्धारण को उत्पन्न करती है।[1] हाँ, 'स्वार्थ-परिच्छित्ति' 'ज्ञान' का व्यापार मात्र प्रतीत होती है अतएव एक अर्थ मे उससे एकरूप है, तथा इस प्रकार 'प्रमाण' ज्ञान से एकरूप है। किन्तु चूँकि यहाँ वस्तुगत निर्देशन को 'प्रमा' का सार-तत्व माना गया है, अत 'ज्ञान' अथवा ज्ञान की आन्तरिक अभिव्यक्ति उसका साधन अथवा 'प्रमाण' माना गया है, और न्याय-दर्शन द्वारा मान्य ज्ञान की उत्पत्ति के वाह्य भौतिक साधनो अथवा उप-साधनो को वहिष्कृत कर दिया गया है। ज्ञान की आत्माभिव्यक्ति ही तत्काल वस्तुगत निर्देशन एव वस्तुगत निर्धारण को उत्पन्न करती है, तथा अन्य उपसाधनो की संस्थिति ('साकल्य' अथवा 'सामग्री') केवल ज्ञान के माध्यम से ही उसको उत्पन्न कर सकती है।[2] अत केवल ज्ञान ही सवसे प्रत्यन्त एव तात्कालिक पूर्व-साधन माना जा सकना है (साधकतम)। ऐसे ही कारणो से जैन-दार्शनिक सांख्य-मत को अस्वीकृत करते हैं जिसके अनुसार 'प्रमाण' इन्द्रियो का व्यापार है (ऐन्द्रिय वृत्ति) तथा प्रभाकर मत को भी अस्वीकृत करते हैं जिसके अनुसार 'प्रमाण' ज्ञान के व्यापार मे ज्ञाता द्वारा अचेतन-स्तर पर की गई प्रक्रिया है।[3]

इस सम्वध मे इस वात पर ध्यान देना रुचिकर है कि धर्मोत्तर द्वारा स्पष्ट किया गया वौद्ध-मत, जैन-मत के निकटतम आ गया है क्योकि उसमे 'प्रमाण' एव 'प्रमाण-फल' का 'ज्ञान' मे एकीकरण कर दिया गया है। इस प्रकार धर्मोत्तर के अनुसार 'प्रमाण' का अर्थ है विषय के प्रभाव से उत्पन्न प्रत्यय और विषय का सादृश्य, तथा प्रत्यय अथवा 'ज्ञान' को 'प्रमाण-फल' कहा गया है, यद्यपि ज्ञान तथा उसे उत्पन्न करने वाले विषय का सादृश्य स्वय उस ज्ञान के व्यतिरिक्त नही है।[4] यह सादृश्यता

[1] अन्य-निरपेक्षतया स्वार्थ-परिच्छित्तिसाधकमत्वाद् ज्ञानमेव प्रमाणम्।
—प्रमेय-कमल-मार्तण्ड, पृ० ५।

[2] न्याय-दर्शन के 'प्रमाण' सम्बन्धी 'सामग्री'—सिद्धान्त के खण्डनार्थ जैन-युक्तियो के लिये देखिये। —प्रमेय-कमल-मार्तण्ड, पृ० २—४।

[3] एतेनेन्द्रिय-वृत्ति प्रमाणमित्यभिदधान सांख्य प्रत्याख्यात एतेन प्रभाकरोऽप्यर्थं तथात्व-प्रकाशको ज्ञातृ-व्यापारोऽज्ञानरूपोऽपि प्रमाणमिति प्रतिपादयन् प्रतिव्यूढ. पतिपत्तव्य। —वही, पृ० ६।

[4] यदि तर्हि ज्ञानम् प्रमिति रूपत्वात् प्रमाण-फलम् किं तर्हि प्रमाणमित्याह, अर्थेन सह यत् सारूप्य अस्य ज्ञानस्य तत् प्रमाणमिह ननु ज्ञानादव्यतिरिक्त सादृश्यम् तथा च सति तदेव ज्ञान प्रमाणम् तदेव प्रमाणफलम्।
—'न्याय-विन्दु-टीका,' पृ० १८।

'प्रमाण' कही जाती है क्योकि इसी सादृश्यता के कारण अनुभव के विषय-विशेष का निर्देश सम्भव होता है, नीलत्व का ज्ञान प्रत्यय की लित्व से सादृश्यता के कारण ही सम्भव होता है।

'यथार्थ-प्रमाणम्' के रूप मे मध्व द्वारा दी गई 'प्रमाण' की परिभापा का अर्थ है–वह जिसके द्वारा एक विपय अपने यथार्थ स्वरूप मे ज्ञात किया जाता है। उसको उत्पन्न करने वाला साधन वाह्य इन्द्रिय-सम्पर्क इत्यादि हो सकता है जिसे यहाँ 'अनुप्रमाण' कहा गया है और जो न्याय-दर्शन की 'सामग्री' के अनुरूप है, तथा 'साक्षी' की अत.प्रज्ञा के अान्त प्राज्ञ की 'सामग्री' के अनुरूप है, तथा 'साक्षी' की अत प्रज्ञा के आन्त प्राज्ञ व्यापार का प्रयोग (केवल प्रमाण), जो आत्मन् से एकरूप है। इस प्रकार वह प्रभाकर व जैनो के आत्मनिष्ठ दृष्टिकोण एव न्याय के वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण का सामजस्य है।

स्वतः–प्रामाण्य

'मध्व-दर्शन मे 'स्वत प्रामाण्य' सिद्धान्त का अर्थ है 'साक्षी' द्वारा उस ज्ञान को सत्य समझना जिसे वह दोपो अथवा अन्य वाधाओ से अप्रतिरुद्ध होकर ग्रहण करे।[1] 'साक्षी' एक वुद्धिमान एव चेतन प्रत्यक्षकर्त्ता है जो दिक् एव दूरत्व का अन्त -प्रज्ञात्मक प्रत्यक्ष कर सकता है, और जब दूरत्व इतना होता है कि उससे यह सशय उत्पन्न हो जाय कि उसके दोप ने कदाचित् प्रत्यक्षीकरण के स्वरूप को प्रभावित कर दिया हो, तो वुद्धिमान अन्त प्राज्ञ कर्त्ता त्रुटि के भय से अपना निर्णय स्थगित कर लेता है, और तव 'सशय' नामक स्थिति उत्पन्न हो जाती है।[2] अपने 'तर्क-ताण्डव' मे व्यासयति 'तत्व-निर्णय' के टीकाकार की भाषा मे इस आशय को यह कहकर अभिव्यक्त करते हैं कि 'साक्षी' ही ज्ञान एव उसकी प्रमाणिकता दोनो को ग्रहण करने की क्षमता रखता है, तथा प्रतिरुद्ध होने पर भी वह अपनी क्षमता वनाये रखता है किन्तु उसका प्रयोग नही करता।[3] जव प्रामाणिकता के प्रति भ्रम होता है (प्रामाण्य-भ्रम), तव 'साक्षी'

---

[1] दोपाद्यप्रतिरुद्धेन ज्ञान-ग्राहक-साक्षिणा
स्वतस्त्व ज्ञानमानत्वनिर्णीति-नियमो हि न। –'युक्ति-मल्लिका' १, ३११।

[2] यतो दूरत्व-दोपेण स्व-गृहीतेन कुण्ठित,
न निश्चिनोति प्रामाण्य तत्र ज्ञान-ग्रहेऽपि स्व देशस्थ-विप्रकर्षो हि दूरत्व
स च साक्षिणावर्ग हितु शक्यते यस्मादाकाशव्याकृतो ह्यसौ।
–वही, १ ३१३, ३१४।

[3] साक्ष्येण ज्ञान तत्प्रामाण्य च विपयीकर्तुं क्षम,
किन्तु प्रतिवद्धो ज्ञानमात्र गृहीत्वा तत्-प्रामाण्य-ग्रहणाय न क्रमते।
–'तर्क-ताण्डव,' पृ० ७।

निष्क्रिय बना रहता है और मनस् अपने आसक्ति आदि भावावेगो से प्रभावित होने के कारण कु-प्रत्यक्ष कर बैठता है, तथा फलत भ्रामक प्रत्यक्ष उत्पन्न होता है। अपने ज्ञान की प्रामाणिकता को ग्रहण करने की 'साक्षी' द्वारा प्रक्रिया तभी सम्भव होती है जबकि कोई ऐसा प्रतिरोध न हो जिसके कारण 'मनस्' के भ्रामक प्रत्यक्षो के द्वारा उसकी प्रक्रिया मे हस्तक्षेप हो। अत यद्यपि भ्रम एव सशय उत्पन्न हो सकते है, तथापि यह असम्भव है कि ज्ञान का अनुभव करते समय साक्षी उसी काल मे अपने दोष-रहित समस्त प्रकृत व्यापारो मे उसकी प्रामाणिकता का भी प्रत्यक्ष न करे, अन्यथा किसी अवस्था मे कोई निश्चितता सम्भव नही होगी। इसलिये जहाँ कही भी विक्षोभ-जनक प्रभाव हो वह 'साक्षी' की 'सहज शक्ति' को प्रभावित करता है, और उस अवस्था मे मनस् द्वारा सशय एव मिथ्या प्रत्यक्षीकरण उत्पन्न किये जाते है। किन्तु जहाँ कही भी कोई विक्षेप-जनक प्रभाव सक्रिय नही होते है, वहाँ 'साक्षी' ज्ञान एव उसकी प्रामाणिकता को भी ग्रहण कर लेता है।[1]

मीमासा और वेदान्त मे ज्ञान के स्वत -प्रामाण्य की समस्या का सक्षिप्त विवेचन पहले ही से इस ग्रन्थ के प्रथम भाग मे किया जा चुका है।[2] जिस विधि से हम मे, किसी ज्ञान की प्रामाणिकता का प्रत्यय उदय होता है अथवा हमारे द्वारा ज्ञान किया जाता है (स्वत -प्रामाण्य-ज्ञाप्ति) और हम अपनी चेतना की प्रामाणिकता के प्रति जागरूक होते है तथा जिस विधि से उक्त प्रामाणिकता वस्तुगत आधार के स्वरूप के कारण स्वत उत्पन्न होती है (स्वत प्रामाण्योत्पत्ति), उनमे विभेदीकरण किया गया है। पूर्वोक्त का सम्बन्ध इस आत्मगत एव स्वत स्फूर्त अन्त -प्राज्ञ विश्वास से है कि हमारे प्रत्यक्ष अथवा अनुमान सत्य है, पश्चादुक्त का सम्बन्ध उस सिद्धान्त से है जा वस्तुनिष्ठ ढग से इस मत का समर्थन करता है कि जिन अवस्थाओ ने ज्ञान को उत्पन्न किया है वे उसकी उत्पत्ति के द्वारा ही उसकी सत्यता को प्रमाणित करती है। 'स्वत -प्रामाण्य' मे 'प्रामाण्य' शब्द का प्रयोग 'प्रमात्व' अथवा सत्य के नैश्चित्य के अर्थ मे किया गया है।

ज्ञान-मीमासा सम्बन्धी स्थिति मे भेद के अनुसार हमारे ज्ञान की प्रामाणिकता के आत्मगत सप्रत्यक्ष का स्वरूप भी भिन्न होता है। इस प्रकार प्रभाकर के अनुयायी

इस पर टीका करते हुए राघवेन्द्रयति लिखते हैं 'प्रमाणस्य सहज-शक्ति-विपयत्व प्रतिबन्धस्थले योग्यता अस्ति।

[1] मनसा क्वचिदप्रमायामपि प्रामाण्य ग्रहेण सर्वत्र तेनैव प्रामाण्य-ग्रहणे अस्वरस-प्रसगेन प्रमारूपेपु गृहीत-तत्-तत्-प्रामाण्ये अस्वरस्य नियमेन यथार्थस्य प्रामाण्य-ग्राहकस्य साक्षिणो अवश्यमपेक्षितत्वात्। —'भाव-विलासिनी' पृ० ५०।
('युक्ति मल्लिका' पर सुरोत्तमतीर्थ द्वारा रचित)।

[2] भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग १, पृ० २६८ टि० ३७२–५, ४८४।

ज्ञान को स्वय-प्रकाशक मानते है, जिसका अर्थ यह है कि ज्ञान के प्रकाशन के किसी भी क्षण मे ज्ञान के विषय एव ज्ञाता के प्रकाशन का समावेश होता है। इस मत के अनुसार किसी भी प्रकार की ज्ञातता (ज्ञान-ग्राहक), यथा 'मैं घट के प्रति चेतन हूँ,' स्वय मे इस नैश्चित्य का भी समावेश करती है कि उक्त ज्ञातता अन्य किसी वस्तु की अपेक्षा के विना सत्य है (ज्ञान-ग्राहकातिरिक्तानपेक्षत्वम्)। पर कुमारिल के अनुयायी 'ज्ञान' को अनुभवातीत एव अतीन्द्रिय मानते है जो केवल सज्ञान की मानसिक अवस्था (ज्ञातता) यथा, 'मैं घट के प्रति चेतन हूँ,' मे अनुमित किया जा सकता है तथा इस मत के अनुसार चूंकि मानसिक अवस्था ही एकमात्र ज्ञात वस्तु है, अत ज्ञान उससे अनुमित किया जाता है और उससे सलग्न प्रामाणिकता उक्त अनुमान के फलस्वरूप ही ज्ञात की जा सकती है। चूंकि एक विशेष प्रकार की 'ज्ञातता' होती है, अत सत्य ज्ञान होना चाहिये। जब अनुमान होता है तब ज्ञान से सम्बन्ध प्रामाणिकता केवल आभासी ही हो सकती है, इसलिये वह विशेष प्रकार की 'ज्ञातता' के आधार पर किये गये अनुभव पर आश्रित रहती है (यावत्-स्वाश्रयानुमिति-ग्राह्यत्वम्)। इस मत के अनुसार जब हम एक विषय के भासित होने पर उसे ज्ञात करते हैं तब उससे उत्पन्न परिस्थिति का विश्लेषण यह है कि वह ज्ञान का एक स्थायी इकाई के रूप मे विभेदीकरण करता है जो उचित इन्द्रिय-सम्पर्क आदि के साहचर्य के विशेष-विशेष प्रकार की ज्ञातता को उत्पन्न करता है जिनमे विशिष्ट एव विशेष 'विषयता' (अथवा 'कर्मता') समाविष्ट रहती है, यथा 'मैं एक घट को ज्ञात करता हूँ।' इस मत मे विषयता ज्ञान की उपज होने के कारण ज्ञान से एकरूप नही हो सकती। यह ध्यान मे रखना चाहिये कि 'विषयता' एक रहने पर भी (यथा, 'भूमि पर एक घट' तथा 'घट पर भूमि' एकरूप नही है, यद्यपि घट एव भूमि से सम्बधित विषयता एक समान ही है) सम्बन्ध-भेद के कारण उक्त विषयता के स्वरूप मे महत्वपूर्ण अन्तर हो सकते है। ऐसी अवस्थाओ मे यह मत प्रस्तुत किया जाता है कि विषयता ज्ञान से भिन्न होती है, ज्ञान 'नित्य' सत्ता हैं, विषयता एक समान रहने पर भी सम्बन्धो का भेद (प्रकारता) ज्ञातता के स्वरूप मे भेद उत्पन्न कर सकता है, अत प्रत्येक 'ज्ञातता' का अर्थ होता है अपने विशिष्ट सम्बन्धो सहित प्रत्येक विशिष्ट 'ज्ञातता' केवल यह 'ज्ञातता' ही साक्षात् एव तत्काल प्रत्यक्ष की जाती है। इसलिये ज्ञान एक अनुभवातीत सत्ता है जो इन्द्रिय गम्य नही बन सकता (अतीन्द्रिय), परन्तु केवल ज्ञातता को अनुकूलित करने वाले एक तत्व के रूप मे अनुमित किया जा सकता है। ज्ञातता की उत्पत्ति उसकी प्रामाणिकता के प्रत्यय तथा उसको अनुकूलित करने वाले 'ज्ञान' की प्रामाणिकता को उत्पन्न करती है।[1]

---

[1] गगेश की 'भाट्ट-चिन्तामणि' पृ० १६–१८। किन्तु जैसाकि मथुरानाथ 'प्रामाण्यवाद' पर 'तत्व-चिन्तामणि' की अपनी टीका (पृ० १४४) मे सकेत करते हैं, अनुमान 'इय ज्ञातता घटत्ववति घटत्व-प्रकारक-ज्ञान-जन्या घटत्ववति घटत्व-प्रकारक-ज्ञातता-

परिवर्तित होती हुई ज्ञातता की अवस्थाओं से भिन्न 'ज्ञान' के अनुभवातीत अस्तित्व को स्वीकृत करने की आवश्यकता कदाचित् 'ज्ञान' के रूप मे एक ऐसी नित्य आत्मनिष्ठ सत्ता की व्यवस्था करने की इच्छा से उत्पन्न होती है जो स्वयं मे तटस्थ रहकर अन्त-तोगत्वा ज्ञातता की सर्व अवस्थाओं को निर्धारित कर सके। मीमांसा के एक अन्य महत्वपूर्ण व्याख्याकार मुरारि मिश्र के मत मे वस्तुनिष्ठ ज्ञान (यथा, घट का ज्ञान) के पश्चात् स्व-निष्ठ आत्म-चेतना उत्पन्न होती है जो विषय के ज्ञान को आत्मन् से सम्बधित करती है (अनुव्यवसाय), और यही 'अनुव्यवसाय' ज्ञान के अन्तिम रूप को निर्धारित करता है जिसके फलस्वरूप उसकी प्रामाणिकता का अन्तर्ज्ञान उपलब्ध होता है।[1] प्रभाकर, कुमारिल एव मुरारि मिश्र के इन तीनों प्रकार के 'स्वत -प्रामाण्य' को समाविष्ट करने के लिये गगेश द्वारा अपनी 'तत्त्व-चिन्तामणि' मे एक व्यापक परिभाषा निम्न प्रकार से दी गई है किसी ज्ञान की प्रामाणिकता (उस अवस्था के अतिरिक्त जहाँ ज्ञान का मिथ्यात्व ज्ञात होता है, यथा, रजत का यह ज्ञान मिथ्या है) उसकी ज्ञान-ग्राहक सामग्री के सम्पूर्ण सगठन के द्वारा सूचित की जाती है, तथा केवल उसी के द्वारा सूचित की जाती है।[2] इस परिभाषा के मूल्य का विवेचन करते हुए व्यासतीर्थ उसकी शब्द-रचना मे कई दोष बताते है तथा यह कहकर उसकी आलोचना करते हैं कि 'स्वत -प्रामाण्य' सिद्धात की परिभाषा देते समय इस शर्त का आरोपण करना दोषपूर्ण है कि ज्ञान उसी 'सामग्री' के द्वारा सूचित किया जाना चाहिये जो उसकी प्रामाणिकता को उत्पन्न करती है, क्योकि यह शर्त तो 'परत प्रामाण्य' सिद्धात मे भी पूरी हो जाती है, क्योकि उसके अनुसार भी किसी ज्ञान की प्रामाणिकता को सूचित करने वाली 'सामग्री' वही होती है जो उस ज्ञान की उत्पत्ति को सम्भव बनाती है।[3] व्यासतीर्थ

त्वात्' के रूप का नही होता है, बल्कि 'अहं ज्ञानवान् ज्ञाततावत्वान्' के रूप का होता है।

[1] ज्ञानस्यातीन्द्रियतया प्रत्यक्षा-सम्भवेन स्व-जन्य-ज्ञातता-लिंगकानुमितिसामग्री स्व-निष्ठ-प्रामाण्य-निश्चयिता इति भाट्टा ज्ञातता च ज्ञाता इति प्रतीतिसिद्धो ज्ञानो-अजन्य-विषय-समवेत प्राकट्यापरनामा अतिरिक्त-पदार्थ विशेषः।

—'तत्व-चिन्तामणि' के 'प्रमाण-वाद-रहस्य' पर मथुरानाथ, पृ० १२६ (एशियाटिक सोसायटी का सस्करण)।

[2] तदप्रामाण्य-ग्राहक-यावज्ज्ञान-ग्राहक-सामग्री-ग्राह्यत्वम्। —वही, पृ० १२२।

किन्तु 'ज्ञान-ग्राहक-सामग्री' तीन मीमासा-मतो मे भिन्न-भिन्न है अर्थात् प्रभाकर-मत मे स्वय प्रकाश ज्ञान, भाट्ट-मत मे अनुमान, तथा 'अनुव्यवसाय' के रूप मे आत्म-चेतना मुरारि मिश्र के मत मे।

[3] तथा च यावति प्रामाण्यविषयिका सामग्री तद्-ग्राह्यत्व स्वतस्त्वमित्युक्त स्यात्, तथा च एतादृशस्वतस्त्वस्य परतस्त्वपक्षया सत्वात् सिद्धसाधनम्।

—'तर्क-ताण्डव,' पृ० १२।

द्वारा प्रस्तावित 'स्वत -प्रामाण्य' की परिभाषा गगेश द्वारा अपनी 'तत्व-चिन्तामणि' में दी गई दूसरी वैकल्पिक परिभाषा से सहमत है वह ज्ञान को उत्पन्न करने वाली सामग्री को स्वीकार करने की आवश्यकता का परित्याग करती है, उसके अनुसार ज्ञान की स्वत प्रामाणिकता उसका वह लक्षण है जो किसी ऐसे ज्ञान के द्वारा ग्रहण नही किया जाता है जिसका विषय वह सामग्री हो जिसकी प्रामाणिकता ग्रहण की जाती है, अर्थात्, वही ज्ञान जो किसी विषय को ग्रहण करता है उसी क्रिया के द्वारा, किसी अन्य व्यवहित प्रक्रिया मे प्रविष्ट हुए विना, उसकी प्रामाणिकता को भी ग्रहण कर लेता है।[1] हम देखेंगे कि यह मत 'स्वत -प्रामाण्य' सम्बन्धी भाट्ट एव मिश्र मतो से भिन्न है, क्योंकि भाट्ट मत के अनुसार स्वत -प्रामाण्य की उस ज्ञान के प्रति अभिपुष्टि की जाती है जो केवल अनुमित किया जा सकता है तथा एक-एक विशिष्ट ज्ञातता (यथा, 'मैं इस घट को ज्ञात करता हूँ') सहित अपरोक्ष रूप मे ग्रहण न किया गया हो, और मिश्र मत मे स्वत -प्रामाण्य की अभिपुष्टि केवल ऐसे 'अनुव्यवसाय' के फलस्वरूप ही की जाती है, जो ज्ञातता का आत्मन् के साथ साहचर्य स्थापित करता है (यथा, 'मैं ज्ञात करता हूँ')।[2]

व्यासतीर्थ इस मत पर वल देते हैं कि दोषो एव शकाओ की अनुपस्थिति मे (दोष-शकादिना अनास्कन्दित) किसी वस्तुगत तथ्य की आत्मगत अनुभूति अपनी प्रामाणिकता स्वय लिये हुए होती है। वे निर्देश करते हैं कि यह कहना सही नही है कि विषय के वृहत्तर पृष्ठ से इन्द्रिय-सम्पर्क तज्जन्य ज्ञान की प्रामाणिकता का कारण माना जाना चाहिये, क्योंकि यह सुविदित है कि ऐसे इन्द्रिय-सम्पर्क के वावजूद भी यदि कु-निरीक्षण को उत्पन्न करने वाले 'दोष' वर्तमान हो तो त्रुटि हो सकती है। अत यह मानना कही अधिक उपयुक्त है कि स्वय 'ज्ञान-सामग्री' से ही ज्ञान की प्रामाणिकता उत्पन्न होनी है। इन्द्रिय-सम्पर्क तभी लाभप्रद होता है जवकि ज्ञान की उत्पत्ति मे शकाए तथा अन्य प्रतिरोध हो, किन्तु वह स्वय ज्ञान की प्रामाणिकता को उत्पन्न नहीं करता।[3] दोषो का अभाव भी ज्ञान की प्रामाणिकता का कारण नही है, क्योंकि

[1] तज्-ज्ञान-विषयक-ज्ञानाजन्य-ज्ञान-विषयत्वमेव स्वतस्तम्।
—वही, पृ० १५ और 'तत्व-चिन्तामणि' पृ० १२२।

[2] व्यासतीर्थ द्वारा स्वीकृत 'स्वत -प्रामाण्य' की उपर्युक्त परिभाषा 'तत्व-चिन्तामणि' मे एक ऐसी परिभाषा के रूप मे दी गई है जिसमे मीमासा की तीनो शाखाओ के मतो मे सामान्य सहमति है (मत-त्रय-साधारण), उसमे 'तद्-ज्ञान-विषयक' शब्द की 'ज्ञानानुवन्धिविषयताश्रय' के रूप मे एक विशिष्ट व्याख्या का समावेश होता है। (देखिये—मथुरानाथ की टीका, पृ० १४४)।

[3] 'तर्क-ताण्डव' पृ० ८३—९०।

दोषों का अभाव तो केवल एक निषेधात्मक तत्त्व है जो निःसंदेह सहायक है किन्तु किसी भी प्रकार से स्वतः-प्रामाण्य की उस स्वाभाविक अनुभूति का निर्माणकारी तत्त्व नहीं है, जो ज्ञान की सामग्री से तत्काल एवं स्वाभाविक उत्पन्न होती है।[1] दोषों की उपस्थिति में भी संयोग हो सकता है।[2] किन्तु सदा भ्रामक ज्ञान दोषों की उपस्थिति में संशय उत्पन्न होता है, क्योंकि उस दशा में ज्ञान का विषय हमारे समक्ष विद्यमान नहीं होता, तथा उससे वास्तविक इन्द्रिय-सम्पर्क नहीं होता। इस मत से माध्व भी 'परतः-अप्रामाण्य' के सिद्धान्त को मानते हैं, जिसका उनके मतानुसार यह अर्थ है कि अप्रामाणिक ज्ञान के समस्त उदाहरण ज्ञान की सामग्री से भिन्न अन्य कारणों (अर्थात् 'दोषों') से उत्पन्न होते हैं।[3] इस प्रसंग में व्यासराज अपनी 'युक्ति-मल्लिका' में यह निर्देश करते हैं कि दोषाभाव ज्ञान की सामग्री का विशेष लक्षण होने के कारण स्वयं में प्रामाणिक ज्ञान (प्रमा) का एक स्वतन्त्र कारण नहीं माना जा सकता। सामान्य अवस्थाओं में किये गये प्रत्यक्षीकरण के अधिकांश उदाहरणों में हमें सत्य ज्ञान प्राप्त होता है, तथा केवल विशेष परिस्थितियों में ही संशय होता है और तभी उसकी आवश्यकता प्रतीत होती है। यदि ज्ञान के प्रत्येक स्तर में उसकी प्रामाणिकता के सम्बन्ध में शंका होती, तो 'अनवस्था' दोष उत्पन्न हो जाता, अतएव हम किसी ज्ञान की प्रामाणिकता एवं निश्चितता की कदापि अनुभूति नहीं कर पाते।[4] व्यासतीर्थ न्याय के सदृश मत में पाये जाने वाले अनवस्था दोष पर भी बल देते हैं, जहाँ ज्ञान की प्रामाणिकता अनुवर्ती बाह्य परीक्षण द्वारा निश्चित की जाती है (परतस्त्वानुमान) वे निर्देश करते हैं कि हमारे ज्ञान की प्रामाणिकता का निश्चय हमें कार्य में प्रवृत्त करता है (प्रामाण्य-निश्चयस्य प्रवर्तकत्वम्)।[5] पर, यदि प्रत्येक ज्ञान की प्रामाणिकता का अन्य ज्ञान के द्वारा परीक्षण करना पड़े तो स्वभावतः अनवस्था दोष उत्पन्न हो जाता है।[6] किन्तु 'साक्षी' अपनी अवस्थाओं, अपने सुख-दुःख को साक्षात् एवं तत्काल ज्ञात करता है, तथा ज्ञान के ऐसे संदेहरहित स्वतः-प्रामाण्य उदाहरणों में संशय की कोई सम्भावना नहीं रहती।

---

[1] दोषाभावस्यापेक्षितत्वेऽपि प्रमा-जनन-शक्ति सहाया। —वही पृ० ८८।

[2] उक्त हि विष्णु-तत्त्व-निर्णय-टीकाया दोषाभावोऽपि न प्रामाण्यकारणम्, यादृच्छिक-सवादादिषु सत्यऽपि दोषे प्रमा-ज्ञानोदयात्। —वही, पृ० ८९।

[3] वही, पृ० ९८। 'विष्णु-तत्व-निर्णय' भी, पृ० २।

[4] 'युक्ति-मल्लिका,' श्लोक० २४३–७०, तथा उस पर रचित सुरोत्तमतीर्थ की 'भाव-विलासिनी'।

[5] 'तर्क-ताण्डव,' पृ० ४१–६।

[6] वही, पृ० ४६–५०।

भ्रान्ति और संशय

ज्ञान के स्वत -प्रामाण्य का उपरोक्त विवेचन हममे स्वभावत मध्व के भ्रम-सिद्धान्त तथा भारतीय दर्शन के अन्य सम्प्रदायो द्वारा स्वीकृत अन्य भ्रम सिद्धान्तो को खडित करने की उसकी विधि के सम्बन्ध मे जिज्ञासा उत्पन्न करता है। मध्व-दर्शन मे किसी विषय के अन्यथा-ज्ञान को भ्रम कहा जाता है (अन्यथा-विज्ञानम् एव भ्रान्ति), और भ्रम का 'बाध' 'सम्यग्-ज्ञान' के उदय के द्वारा भ्रामक आकार के मिथ्यात्व को ज्ञात करने मे निहित होता है। इसका तात्पर्य यह है कि भ्रम वह ज्ञान है जिममे एक वस्तु अन्य वस्तु के रूप मे भासित होती है, जो असत् है वह सत् के रूप मे भासित होता है, तथा जो सत् है वह असत् के रूप मे भासित होता है।[1] भ्रम दोषो से प्रभावित इन्द्रियो द्वारा उत्पन्न किये जाते हैं। दोष केवल विरोध ही उत्पन्न नही करते, वे विषय का एक गलत प्रदर्शन भी उत्पन्न कर सकते हैं, अत वे न केवल अनिरीक्षण के लिए बल्कि कुनिरीक्षण के लिए भी उत्तरदायी होते हैं। अब बात यह है कि ज्ञान का विषय केवल वही हो सकता है जो किसी प्रकार उसकी उत्पत्ति को प्रभावित कर सके, शुक्ति के सम्बन्ध मे रजत के एक भ्रामक ज्ञान मे रजत असत् होने के कारण ज्ञान की उत्पत्ति मे कोई भाग नही ले सकती, अतएव वह ज्ञान का विषय नही बन सकती। इसके उत्तर मे जयतीर्थ कहते हैं कि एक असत् वस्तु भी ज्ञान का विषय बन सकती है। हम सभी अतीत की घटनाओ को अनुमित करते हैं तथा वस्तुओ का उन व्यक्तियो के सम्बन्ध मे उल्लेख करते हैं जिनका अस्तित्व दीर्घकाल से समाप्त हो चुका है। ऐसे उदाहरणो मे यह कहा जा सकता है कि असत् वस्तुओ ने ज्ञान को उत्पन्न नहीं किया है किन्तु उसको निर्धारित (निरूपक) किया है।[2] यह माना जा सकता है कि ऐसे निर्धारण के लिये उस वस्तु के तात्कालिक अस्तित्व को पूर्वगृहीत नही किया जाता, क्योंकि उसको ऐसे प्रत्यय, सकल्पना, अथवा ज्ञान तक सीमित समझा जा सकता है जिसके अनुरूप किसी वस्तुगत सत्ता की उपस्थिति अथवा अस्तित्व के प्रति कोई उल्लेख नही होता। यह आपत्ति उठाई जा सकती है कि एक विषय के दृष्टि-प्रत्यक्ष की अवस्था मे यह निश्चित है कि वह विषय द्वारा इन्द्रिय-सम्पर्क के माध्यम से उत्पन्न किया जाता है, परन्तु शुक्ति मे रजत के भ्रम की अवस्था मे रजत वस्तुत अनुपस्थित होती है, अतएव उसका कोई इन्द्रिय-सम्पर्क नही हो सकता, और फलत उसका कोई दृष्टि-प्रत्यक्ष सम्भव नही हो सकता। इस आपत्ति का यह उत्तर दिया गया है कि दुष्ट दृश्येन्द्रिय ही शुक्ति के सन्निकर्ष होने के कारण एक ऐसे सज्ञान को उत्पन्न करती

[1] 'न्याय-सुधा,' पृ० ४६।

[2] वही पृ० स० ४८।

है जो उसे सर्वथा असत् रजत के रूप मे प्रदर्शित करता है ।[1] जयतीर्थ कहते हैं कि यह युक्ति देना समीचीन नही है कि यदि एक विपय के विना ज्ञान हो सकता है, तो कोई भी ज्ञान विश्वसनीय नही हो सकता, क्योकि सामान्यत ज्ञान स्वत -प्रामाण्य होता है (औत्सर्गिक ज्ञानाना प्रामाण्यम्) । आत्मचेतन कर्त्ता (साक्षी) किसी अन्य प्रक्रिया अथवा कर्त्ता की मध्यस्थता के बिना प्रत्यक्षीकरण करता है और स्वय के प्रति मानसिक अवस्थाओ की प्रामाणिकता को प्रमाणित करता है। यह अपरोक्ष नैश्चित्य अथवा 'सत्य विश्वास' जिसकी हम चेतन प्रत्यक्षकर्त्ताओ के नाते उन सभी अवस्थाओ मे अनुभूति करते है जिनमे उत्पन्न ज्ञान कुनिरीक्षण अथवा अनिरीक्षण को जन्म देने वाले दोषो से अप्रभावित रहता है, ज्ञान की स्वत प्रामाणिकता समझा जाता है ।[2] एक भ्रामक प्रत्यक्ष की अवस्था मे (यथा, रजत के रूप मे शुक्ति) एक वस्तु का अन्य वस्तु के रूप मे आभास होता है, तथा उसका ऐसा होना अपरोक्ष रूप मे प्रत्यक्ष अथवा अनुभूत (अनुभव) किया जाता है, यदि शुक्ति को रजत के रूप मे प्रत्यक्ष नही किया जाता तो रजत को ढूढने वाला मनुष्य शुक्ति को उठाने के लिये क्यो झुकता ? रजत का भ्रामक प्रत्यक्ष आभास मे रजत के यथार्थ प्रत्यक्ष से भिन्न नही होता ।

शुक्ति-रजत के भ्रम के सम्बन्ध मे मीमासा-मत जिसके अनुसार वह रजत एव स्मृति की शुक्ति के प्रत्यक्ष तथा उनमे विभेद करने की असमर्थता से निर्मित होता है—के विरोध मे तर्क देते हुए जयतीर्थ कहते हैं कि ऐसे उदाहरणो मे रजत के आभास मे स्मृति के कोई लक्षण नही होते, तथा इस मिथ्या विश्वास से उत्पन्न क्रिया की व्याख्या केवल एक स्मृति-प्रतिमा एव एक दृश्य प्रत्यक्ष के भेद के अविवेक के द्वारा ही नही की जा सकती। दो वस्तुओ मे अविवेक को समाविष्ट करने वाला एक कोरा निषेध किसी व्यक्ति को किसी निश्चित वरण की प्रेरणा नही दे सकता। इसके अतिरिक्त, यदि कोई व्यक्ति स्मृति-प्रतिमा के यथा-तथ्य रूप एव प्रत्यक्ष के यथा-तथ्य रूप के प्रति चेतन है, तो यह कैसे हो सकता है कि उनका विभेद ज्ञात न हो ?

शकर सम्प्रदाय के द्वारा दी गई भ्रम की व्याख्या के विरोध मे जयतीर्थ आग्रह करते हैं कि यह मत भी सही नही है कि शुक्ति-रजत 'अनिर्वचनीय' है, क्योकि इस अनिर्वचनीय स्वरूप का अर्थ यह होगा कि वह न सत् है, न असत् है और न सदसद् है। इनमे से प्रथम एव अन्तिम विकल्पो को तो मध्व-मत के अनुसार भी स्वीकार किया जाता है। द्वितीय मत सही नही हो सकता, क्योकि यह अस्वीकार नही किया जा सकता कि असत् रजत का हमारे समक्ष उपस्थित होने का आभास हुआ था। यह

[1] शुक्तिका-सन्निकृष्ट दुष्टमिन्द्रिय नमेव अत्यन्तासद्रजतामेन अवग्राहमानम् ज्ञान जनयति । —न्याय-सुधा, पृ० ४८ ।

[2] वही, पृ० ४८ ।

उत्तर दिया जा सकता है कि उक्त आभास दोषों की उपस्थिति के कारण हुआ था, क्योंकि जो असत् था वह ज्ञान का विषय नही बन सकता था, तथा जैसाकि शकर के अनुयायी जानते हैं कि 'अधिष्ठान' 'इद' का ज्ञान एक सत्य अन्त करण-वृत्ति है, तो फिर कोई दोष कैसे हस्तक्षेप कर सकता है ?[1] यदि वह अनिर्वचनीय है तो फिर शुक्ति-रजत प्रत्यक्षीकरण के समय सत् और उसके पश्चात् असत् क्यो भासित होता है, तथा वह किसी भी काल मे अनिर्वचनीय भासित क्यों नही होती ? इसके अतिरिक्त शकरवादी के लिये यह व्याख्या करनी दुष्कर होगी कि असत् क्या है।

वादिराज अपनी 'युक्ति-मल्लिका' मे निर्देश करते है कि साधारण प्रत्यक्षीकरण मे आंख अपने सम्मुख एक सत्ता, 'इद' के सम्पर्क मे आती है, जिसे 'विशेष्य' माना जा सकता है, तथा 'विशेष्य' अथवा सत्ता के ग्रहण द्वारा 'घट' के रूप मे उसका लक्षण भी ग्रहण कर लिया जाता है, क्योकि एक का दूसरे के साथ तादात्म्य का सम्बन्ध होता है। किन्तु भ्रामक प्रत्यक्ष मे 'रजत' का लक्षण विशेष्य 'इद' से सम्बधित नही होता, अतएव 'इद' अथवा शुक्ति, से इन्द्रिय सम्पर्क के द्वारा रजत ज्ञात नही की जा सकती, अतएव उक्त भ्रामक ज्ञान की व्याख्या नही मानकर की जा सकती है कि वह दोषो की उपस्थिति के कारण उत्पन्न होता है। इसलिए यथार्थ ज्ञान एव भ्रामक ज्ञान की अवस्था मे 'ज्ञान-सामग्री' भिन्न-भिन्न होती है, पूर्वोक्त अवस्था मे तो सामान्य ज्ञान-सामग्री होती है, जबकि पश्चादुक्त अवस्था मे एक वाह्य प्रभाव, अर्थात् 'दोष' का प्रभाव होता है। 'दोष' का अभाव किसी ज्ञान-सामग्री का नैसर्गिक लक्षण होने के कारण सम्यग्ज्ञान का एक वाह्य कारण नहीं माना जा सकता।[2]

यह बताना आवश्यक है कि सम्यग्ज्ञान का दो अन्य प्रकार के ज्ञान, अर्थात्, भ्रामक ज्ञान (विपर्यय) एव 'सशय' से इस तथ्य के कारण विभेद होता है कि केवल वही निश्चित एव निष्कम्प कार्य को प्रवृत्त करने की योग्यता रखता है।[3] कुछ विद्वानो का कथन है कि सशय पाच प्रकार का माना जा सकता है।[4] प्रथम तो वस्तुओ के

[1] मायावादि मते अधिष्ठान-ज्ञानस्य अन्त करण वृत्तित्वेन् सत्यत्वान् न दोष-जन्यत्वम्।
—वही, पृ० ५५।

[2] युक्ति-मल्लिका, गुण-सौरभ, श्लोक ४६०–५००।

[3] अवधारणत्व च निष्कम्प-प्रवृत्ति-जनन-योग्यत्वम्।
जनार्दन की 'जयतीर्थ-विजय'
—प्रमाण-पद्धति पर एक टीका, पृ० १०।

[4] 'न्याय-सूत्र' १ १ २३ की व्याख्या करते हुए वात्स्यायन यह विचार प्रकट करते हैं कि सशय पाच प्रकार का होता है—अर्थात्, 'समान-धर्म,' 'अनेक धर्म,' 'विप्रतिपत्ति'

समान लक्षणो के निरीक्षण के कारण होता है, जैसे, कुछ दूरी पर एक मनुष्य जितना ऊचा पदार्थ देखकर कोई व्यक्ति एक वृक्ष के ठूठ और एक मनुष्य दोनो को स्मरण करने मे प्रवृत्त हो सकता है, तथा प्रत्येक के असाधारण धर्मों, अर्थात् वृक्ष के छेदो, रुक्ष व कठोर पृष्ठ आदि और मनुष्य के सिर, हाथो और पैरो की गति का विभेदीकरण करने मे असमर्थ होने के कारण वह स्वभावतः सशय कर सकता है कि 'क्या वह एक वृक्ष का ठूठ है अथवा एक मनुष्य है ?' दूसरे, एक व्यक्ति यह देखकर कि 'आकाश' का विशेष लक्षण (असाधारण धर्म) शब्द है, यह सशय कर सकता है कि क्या शब्द, शब्द के रूप मे नित्य है। तीसरे, यह देखकर कि साख्य और वैशेषिक मतो के अनुयायी इन्द्रियो के 'भौतिकत्व' के सम्बन्ध मे परस्पर विरोध (विप्रतिपत्ति) करते है, यह सशय हो सकता है कि इन्द्रियाँ भौतिक है अथवा नही। चौथे, जब एक कुए को खोदने के पश्चात् हमे जल प्राप्त होता है (उपलब्धि) तब यह सशय हो सकता है कि क्या वहाँ जल पहले से था तथा खोदने की प्रक्रिया से केवल प्रकट हुआ, अथवा क्या वह अस्तित्व मे नही था किन्तु खोदने की प्रक्रिया से उत्पन्न हुआ। पाचवें, ऐसी एक जनश्रुति हो सकती है कि अमुक वृक्ष मे एक प्रेत का निवास है, पर जब हम वहाँ जाते है और उसे नही देखते (अनुपलब्धि) तब यह सशय हो सकता है कि क्या प्रेत वस्तुत वहाँ था किन्तु स्वय को अदृश्य बना लेने की अपनी शक्ति के कारण वह देखा नही गया, अथवा क्या वह उस वृक्ष मे कोई अस्तित्व ही नही रखता था। परन्तु अन्य

'उपलब्धि' और 'अनुपलब्धि' के द्वारा उत्पन्न सशय, जिनमे से प्रथम दो तो समान एव असमान लक्षणो की वस्तुनिष्ठ घटनाए हैं तथा अन्तिम दो ज्ञान की उपस्थिति एव अनुपस्थिति की आत्मनिष्ठ अवस्थाए है। उनके द्वारा दिए गए उदाहरण वे ही हैं जो नीचे दिए गए हैं। किन्तु उद्योतकर उपरोक्त 'सूत्र' की व्याख्या केवल प्रथम तीन प्रकार के सशयो अर्थात् 'समानधर्मोपपत्ति' 'अनेकधर्मोपपत्ति' व 'विप्रतिपत्ति' के उल्लेख के रूप मे करते है ('न्याय-वार्तिक' पृ० ८७,९६-९)। कणाद अपने 'वैशेषिक-सूत्र' (२ २ १७, १८, १९, २०) मे सशय के दो प्रकार के होने का कथन करते हैं, आन्तरिक (यथा, जब कोई यह सदेह करता है कि ज्योतिषि की वे भविष्यवाणियाँ जो कुछ उदाहरणो मे सत्य पाई गई थी और अन्य उदाहरणो मे असत्य पाई गई थी, एक विशेष उदाहरण मे सत्य होने की सम्भावना रखती है अथवा नही) और बाह्य (यथा, जब कोई यह सदेह करता है कि उसके सम्मुख स्थिति ठूठ एक वृक्ष है अथवा एक मनुष्य है)। बाह्य सशय पुन दो प्रकार का होता है, (१) जब विषय सम्पूर्णता मे देखा जाता है, तथा (२) जब उसका केवल एक भाग ही देखा जाता है।

—'न्याय-कन्दली, पृ० १७५—६।

विद्वान चौथे और पाचवें, 'उपलब्धि' और 'अनुपलब्धि' सम्बधी प्रकारो को प्रथम प्रकार, अर्थात् समान धर्म (साधारण धर्म) के प्रत्यक्षीकरण मे समाविष्ट करते है तथा इस प्रकार केवल तीन प्रकार के सशय को ही मानते है।[1] किन्तु जयतीर्थ का विचार है कि 'असाधारण धर्म' एव 'विप्रतिपत्ति' सम्बधी, अन्य दो प्रकारो का भी प्रथम प्रकार मे समावेश किया जा सकता है, क्योकि एक असाधारण धर्म स्वय दो वस्तुओ के स्मरण को प्रेरित नही कर सकता जिससे सशय उत्पन्न होता है। यह जानना कि शब्द आकाश का असाधारण धर्म है, कोई ऐसे दो पदार्थो का स्मरण करना नही है जिनके मध्य सशय हो, तथा सशय के पूर्व दो पदार्थों का स्मरण होना आवश्यक है। साधारण धर्म भावात्मक अथवा अभावात्मक हो सकते है। इस प्रकार 'आकाश' मे एक तो ऐसे गुणो की श्रेणी होती है जो अनित्य वस्तुओ मे नही पाये जाते (नित्य-व्यावृत्वत्त-विशिष्टम् आकाश-गुणत्वम् और अनित्य व्यावृत्तत्व-विशिष्टम् आकाश गुणत्वम्)। यह सशय हो सकता है कि क्या शब्द, जो आकाश का एक असाधारण धर्म है, 'आकाश' के उन गुणो मे से है जो 'आकाश' एव नित्य वस्तुओ मे समान है, अथवा 'आकाश' अनित्य वस्तुओ मे समान हैं। अत यह सशय भी प्रथम प्रकार के सशयो, अर्थात् 'साधारण धर्म' के प्रत्यक्षीकरण से सम्बधित सशयो के अन्तर्गत आना चाहिये। मध्व के अनुयायी अपने 'विशेप' के सिद्धान्त के कारण एक ही वस्तु मे दो विरोधी गुणो की श्रेणियो के अस्तित्व पर सहमत हो सकते है। इसलिये परस्पर विरोधी मतो अथवा विप्रतिपत्तियो की स्थिति मे भी सशय भौतिक एव अभौतिक पदार्थो मे साधारण धर्मो के प्रत्यक्षीकरण के द्वारा उत्पन्न माना जा सकता है, अतएव एक व्यक्ति यह सशय कर सकता है कि इन्द्रियाँ कुछ गुणो मे भौतिक पदार्थो के समान होने के कारण भौतिक है अथवा अन्य गुणो मे अभौतिक पदार्थो के समान होने के कारण अभौतिक हैं। इसलिए मध्व-दर्शन के अनुसार सशय केवल एक प्रकार का ही होता है। जयतीर्थ कहते हैं कि वैशेपिक मत के अनुयायियो के विचार मे सशय और भ्रम (विपर्यय) के अतिरिक्त दो प्रकार का मिथ्या ज्ञान होता है, अर्थात् अनिश्चितता (अनध्यवसाय) और स्वप्न। अनध्यवसाय सशय से भिन्न नही हैं, क्योकि वह दो वस्तुओ के मध्य मे दोलन नही होता, बल्कि अनन्त सम्भावनाओ के मध्य मे होता है, यथा, यह वृक्ष कौनसा है ? जयतीर्थ कहते है कि उदाहरणो मे अनध्यवसाय को ज्ञान कहा ही नही जा सकता, वह तो जिज्ञासा-मात्र है, (सज्ञा-विषय जिज्ञासा-मात्र)। इस प्रकार, यद्यपि मैं यह जानता हूँ कि यह वृक्ष मुझे ज्ञात अन्य वृक्षो से भिन्न है, तथापि मैं उसका नाम नही जानता और उसके सबध मे जिज्ञासा करता हू। अधिकाश स्वप्न अवचेतन स्मृति-सस्कारो के कारण उत्पन्न होते

---

[1] जैसाकि पहले उल्लेख किया जा चुका है, यह 'न्याय-सूत्र' १-१-२३ पर उद्योतकर का मत है।

हैं, अत जहाँ तक उन सस्कारो का सबध है वे मिथ्या नही हैं। त्रुटि हमारी इस सकल्पना मे निहित है कि कोरी स्मृति-प्रतिमाए उस समय वास्तविक वस्तुगत अस्तित्व रखती हैं, अतएव यह अंश भ्रम (विपर्यय) समझा जाना चाहिये। 'सम्भावना' (जिसे 'ऊहाँ' भी कहते हैं) को भी एक प्रकार का भ्रम ही मानना चाहिये जिसमे कई वस्तुओ मे से एक की सम्भावना अधिक होती है (यथा, यह वहुत सम्भव है कि वह वही मनुष्य है जो मकान के बाहर खडा था')।[1]

उपरोक्त से यह स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ सशय को दोलन की एक मानसिक वृत्ति माना जाता है, दार्शनिक जिज्ञासा एव अनुसधान मे उसके महत्व, सशयवाद और समालोचना से उसके सम्बन्ध की पूर्णत उपेक्षा की जाती है। वात्स्यायन, उद्योतकर और कणाद के वर्गीकरण यहाँ कोई महत्व नही रखते। अतएव सशय को उसी रूप मे मानना अधिक उपयुक्त है जिस रूप मे जयतीर्थ ने माना है।

'भेद' की प्रतिरक्षा[2]

ईश्वर एव जीव का भेद हमारी ओर से हम प्रत्यक्ष करते है तथा ईश्वर की ओर से वह प्रत्यक्ष करता है। हमे ज्ञात है कि हम उससे भिन्न हैं तथा वह जानता है कि वह हमसे भिन्न है, क्योकि यद्यपि हम ईश्वर का प्रत्यक्षीकरण नही कर सकते हैं तथापि हम उसके सम्बन्ध मे हमारे भेद को प्रत्यक्ष कर सकते है, भेद को प्रत्यक्ष करने का यह अर्थ अनिवार्यत नही होता कि जिससे भेद प्रत्यक्ष किया जाता है उसका भी प्रत्यक्ष होना चाहिये, इस प्रकार, एक व्यक्ति एक पिशाच का प्रत्यक्ष किए बिना भी यह कह सकता है कि वह जानता है कि एक स्तम्भ एक पिशाच नही होता।[3]

पुन, ब्रह्मन् से जीवो के भेद को अनुमान द्वारा इस आधार पर भी प्रमाणित किया जा सकता है कि जीव दुःख व पीडा के विषय होते हैं, जो ब्रह्मन् नहीं है।[4]

---

[1] 'प्रमाण-पद्धति,' पृ० १०–१३, और उस पर लिखी गई 'जयतीर्थ-विजय' भी।

[2] इस परिच्छेद की सामग्री व्यासतीर्थ के 'भेदोज्जीवन' तथा श्रीनिवास की 'व्याख्या-शर्करा' से ली गई है।

[3] सप्रतियोगिक-पदार्थ-प्रत्यक्षे न प्रतियोगि प्रत्यक्ष तन्त्रम् स्तम्भ पिशाचो न इत्यादौ व्यभिचारात्।

—'भेदोज्जीवन,' पृ० १३।

[4] जीवो ब्रह्म-प्रतियोगिक-धर्मि-सत्ता-समान-सत्ताक-भेदाधिकरण ब्रह्मण्यनुसहित-दुःखा-नुसधातृत्वाद् व्यतिरेकेण ब्रह्मवत्।

—वही, पृ० १५।

और चूंकि ब्रह्मन् और जीव स्थायी नित्य सत्ताए है इसलिये उनका परस्पर भेद भी नित्य एव यथार्थ है। यह तर्क दिया जा सकता है कि दु ख की पीडा सोपाधिक आत्मन् को होती है न कि शुद्ध चैतन्य को, यह शुद्ध चैतन्य 'जीव' है, और चूंकि पीडा केवल जब तक होती है तब तक कि उपाधि रहती है, इसलिये उपाधि के तिरोहित होने पर भेद भी अततोगत्वा तिरोहित हो जाता है, अतएव वह यथार्थ नही हो सकता। परन्तु मध्वो द्वारा स्वरूप मे सीमित इन जीवो को मिथ्या नही माना जाता, अतएव उनके स्वरूप पर अवलम्बित भेद भी मिथ्या नही है। जीवो और ईश्वर के स्वरूप मे एक नित्य एव यथार्थ भेद होने के कारण, अर्थात् यह कि पूर्वोक्त दु ख को भोगते हैं पर पश्चादुक्त नही भोगता, दोनो मे कदापि अभेद नही हो सकता। जीव केवल 'जीवत्व' के जाति-प्रत्यय के उदाहरण मात्र है, जो पुन द्रव्य का एक उप-प्रत्यय है, और द्रव्य सत्ता का उप-प्रत्यय है। यदि जीवो मे रग आदि द्रव्य के गुण नही होते तथापि उनमे कम से कम एक, दो, तीन आदि के सख्यात्मक गुण होते हैं। यदि यह एक बार स्थापित हो जाता है तो उससे इस मत का शकर के मत से विभेद हो जायगा जिसके अनुसार जीव स्वय-प्रकाश चैतन्य है और जो भेद-रहित अद्वैतवाद को जन्म देता है। जीव को एक जाति-प्रत्यय के रूप मे मानने का अर्थ यह होगा कि विभिन्न जीव जाति-प्रत्यय के उदाहरण होने के नाते परस्पर समान भी हैं और भिन्न भी हैं (क्योकि प्रत्येक जीव अन्य सर्व जीवो एव ईश्वर से सख्या की दृष्टि से भिन्न पृथक् व्यक्ति है। शकर-सम्प्रदाय के अनुयायियो की मान्यता है कि जीवो मे कोई अन्तर भेद नही होता, तथा आभासी भेद 'अत करण' नामक तात्कालिक प्रभाव डालने वाली सत्ता के कारण उत्पन्न होता है, जो जीवो में प्रतिबिम्बित होता है तथा जीवो के स्वरूप मे आभासी भेद उत्पन्न करता है, यद्यपि यथार्थ मे ऐसा कोई भेद नही होता, किन्तु व्यासतीर्थ आग्रह करते है कि सत्य दूसरे पक्ष मे निहित है, तथा जीवो के भेद ही यथार्थ मे उनसे सम्बधित अत करणो एव शरीरो मे विभेद करते है। उपनिषद् भी इस मत के पक्ष मे है कि ईश्वर जीवो से भिन्न है, तथा व्यासतीर्थ यह प्रदर्शित करने का प्रयास करते है कि उपनिषद-पाठो के अद्वैतवादी आशय को सिद्ध करने का प्रयत्न असफल सिद्ध किया जा सकता है।[१]

किन्तु भेद की यह प्रतिरक्षा चित्सुख द्वारा अपनी 'तत्व-प्रदीपिका एव नृसिंहाश्रम मुनि द्वारा अपने 'भेद-धिक्कार' मे, अन्य विद्वानो द्वारा किये गये भेद के खडन की तुलना मे निर्बल प्रतीत होती है। चित्सुख भेद के प्रत्यय एव उसको सकल्पित करने की समस्त विभिन्न सम्भव विधियो मे सीधे प्रवेश करते हैं, वस्तुओ के 'स्वरूप' के रूप मे भेद, 'अन्योन्याभाव' के रूप मे भेद (यथा, घट पट नही है, पट एक घट नही

---

[१] वे 'द्वा सुपर्णा' आदि उपनिषद् पाठ का उल्लेख करते है।

अध्याय २८

मध्व का तर्कशास्त्र

प्रत्यक्ष

विषयो से यथार्थ अनुरूपता के रूप मे प्रमाण की परिभाषा पहले दी जा चुकी है, तथा यह भी बता दिया गया है कि वह दो वर्गों मे विभाजित किया जाता है 'केवल प्रमाण' और 'अनुप्रमाण'। 'केवल-प्रमाण' वह है जिससे ज्ञान के विषयो का अपरोक्ष एव तत्काल ज्ञान प्राप्त किया जाता है, वस्तुत वह अत प्रज्ञात्मक प्रक्रिया एव अतर्ज्ञान दोनो होता है। मध्व-सम्प्रदाय मे ऐसे चार प्रकार के अन्तर्ज्ञान, योगी-जनो का अन्तर्ज्ञान, साधारण व्यक्तियो (अयोगी-जनो) का अन्तर्ज्ञान।[1] ईश्वर का अतर्ज्ञान सदा सही, स्वतन्त्र, अनादि एव नित्य, पूर्णत स्पष्ट और सर्वार्थ-विषयक (सर्वार्थ-विषयकम्) होता है। लक्ष्मी का अन्तर्ज्ञान ईश्वर पर निर्भर होता है और उसके ज्ञान से स्पष्टता मे निम्न कोटी होता है, वह समान रूप से अनादि, नित्य, सही होता है, और स्वय ईश्वर के सम्पूर्ण विस्तार के अतिरिक्त सर्व वस्तुए उसकी विषय होती हैं।

'योग' के द्वारा प्राप्त विशेष रूप से दक्ष ज्ञान योगीजनो मे पाया जाता है, वह तीन प्रकार का होता है। प्रथम उन सरल योगीजनो (ऋजु-योगिन्) का ज्ञान होता है जो ब्रह्मत्व के अधिकारी होते है। इस प्रकार का ज्ञान ईश्वर एव लक्ष्मी के आशिक ज्ञान के अतिरिक्त सर्व वस्तुओ को ज्ञात करता है जब तक 'मुक्ति' प्राप्त नही हो जाती, यह ज्ञान 'योग' की वृद्धि के साथ-साथ अभिवृद्ध होता रहता है। ये योगीजन अन्य जीवो की तुलना मे ईश्वर के सम्बन्ध मे अधिक जानते है। इसके पश्चात् देवताओ का ज्ञान आता है (तात्विक-योगी-ज्ञानम्), जो योगीजनो के ज्ञान से निम्न होता है। इसके उपरान्त साधारण व्यक्तियो का ज्ञान आता है, और योग्यता के अवरोही क्रम के अनुसार इनके भी तीन वर्ग होते है, प्रथम वे जो मुक्ति के योग्य होते हैं, दूसरे वे जो पुनर्जन्म भोगते है, तीसरे वे जो और भी निम्नतर अस्तित्व रखते हैं। अन्त प्रज्ञा (केवल) के रूप मे'प्रमाण' का उस अन्त प्रज्ञा के साधन के रूप मे 'अनुप्रमाण' से विभेद करना चाहिये, जो तीन प्रकार का हो सकता है,

[1] ईश्वरज्ञान लक्ष्मीज्ञान योगिज्ञान अयोगिज्ञान चेति।

—न्याय-पद्धति, पृ० १६।

प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द (आगम)। किसी दोष-रहित ज्ञानेन्द्रिय के एक दोष-रहित विषय के साथ सम्पर्क को प्रत्यक्ष कहते हैं। विषय अत्यधिक दूरी, अत्यधिक समीपता, अत्यधिक लघुता, मध्य मे आने वाले अवरोध, अपने समान वस्तुओ के साथ मिश्रित होने, अभिव्यक्त होने, तथा अन्य वस्तुओ के सदृश होने (सादृश्य) के कारण दोषपूर्ण हो जाते हैं। ज्ञानेन्द्रियाँ दो प्रकार की होती हैं, ज्ञाता (साक्षी) की अन्त-प्रज्ञात्मक शक्ति जो उसी के स्वरूप की होती है, तथा गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, श्रवण एव 'मनस्' नामक साधारण ज्ञानेन्द्रियाँ, अन्त प्रज्ञात्मक शक्ति के विषय आत्म-स्वरूप एव उसके धर्म, अविद्या, 'मनस्' एव उसकी वृत्तियो, सर्व बाह्येन्द्रियो का ज्ञान, सुख-दु खादि, काल एव आकाश होते हैं।[1] 'दृश्येन्द्रिय रग-युक्त बडे पदार्थो का प्रत्यक्षीकरण करती है, और मनस् सर्व ज्ञानेन्द्रियो एव स्मरण-शक्ति का अधीक्षक होता है। 'मनस्' के जिन दोषो के कारण त्रुटियाँ होती है वे भावावेग एव आसक्तिया है तथा अन्य ज्ञानेन्द्रियो के दोष पाडु-रोग आदि जैसी व्याधियाँ, और शीशे आदि जैसे मध्यवर्ती माध्यम के विकर्षणात्मक प्रभाव होते है। साधारण ज्ञानेन्द्रियाँ 'मनस्' की वृत्तियो को उत्पन्न करती है। ज्ञानेन्द्रियाँ उन यन्त्रो की भाति होती हैं जो ज्ञान के विषयो से सम्पर्क स्थापित करते हैं। अन्त-प्रज्ञात्मक शक्ति भी अपने कार्य व्यापारो के कारण (वह अपने स्वरूप से एकरूप रहकर भी 'विशेप' के कारण पृथक् अस्तित्व भी रखती है) विषयो के सम्पर्क मे समझी जा सकती है। यद्यपि अन्तप्रज्ञात्मक शक्ति सदा ऐन्द्रिय-निरीक्षणो की सामग्री को सही-सही ज्ञात करने मे समर्थ होती है, तथापि यह आवश्यक नही है कि उसका निर्णय सदा वस्तुगत रूप से सत्य हो। ईश्वर एव योगी-जनो मे वह आत्मगत एव वस्तुगत दोनो रूपो मे तथ्यो के अनुरूप होती है, साधारण व्यक्तियो मे वह एक उदाहरण विशेप मे वस्तुगत अशो के अनुरूप हो सकती है अथवा नही भी हो सकती है, अथवा अन्य शब्दो मे, उसकी सामग्री वस्तुगत तथ्यो के अनुरूप हो सकती है अथवा नही भी हो सकती है, किन्तु वह ज्ञानेन्द्रियो द्वारा उपस्थित की गई सामग्री को ज्ञात करने मे सदा सही होती है।[2]

जयतीर्थ न्याय के अनुयायियो द्वारा मान्य छ प्रकार के सम्पर्क (सन्निकर्ष) की आवश्यकता का परिहार करते हैं।[3] ऐसा होना आवश्यक भी है क्योकि मध्व-दर्शन

[1] इन्द्रिय-शब्देन ज्ञानेन्द्रिय गृह्यते, तद् द्वि-विध प्रमातृ-स्वरूप प्राकृत च तत्र स्वरूपे-न्द्रिय साक्षीत्युच्यते, तस्य विषय आत्म-स्वरूप तद्-धर्म अविद्या-मनस्-तद्-वृत्तय-बाह्येन्द्रिय-ज्ञान-सुखादय कालव्याकृताकाशश्च।

—प्रमाण-पद्धति, पृ० २२।

[2] वही, पृ० २६।

[3] दे० भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग १ (प्रथम सस्करण), पृ० ३३८।

मे 'समवाय' सम्बन्ध को स्वीकार नही किया गया है, और न यह स्वीकार किया गया है कि वस्तुओ और उनके गुणो मे कोई भेद होता है (गुण-गुण्य्-अभेद)। इसलिए जयतीर्थ के अनुसार इन्द्रिय-सम्पर्क एक ही घटना के रूप मे सम्पन्न होता है, एक ओर तो इसलिये कि गुणो और वस्तुओ मे कोई भेद नही होता, दूसरी ओर इसलिये कि आत्मन् एव उसके धर्मो का अन्त प्राज्ञ सत्ता द्वारा अपरोक्ष प्रत्यक्ष किया जाता है तथा 'मनस्' के सम्पर्क की कोई आवश्यकता नही होती, अतएव न्याय के अनुयायियो द्वारा प्रस्तावित छ प्रकार के सम्पर्क को स्वीकार करने की कोई आवश्यकता नही होती।

पुन, हमे विदित ही है कि न्याय-दर्शन 'निर्विकल्प' और 'सविकल्प' ज्ञान मे विभेद करता है, इस दर्शन के अनुसार निर्विकल्प ज्ञान का अर्थ है विषय का स्वय मे ऐसा सरल सज्ञान जो आठ प्रकार के प्रत्ययात्मक विकल्पो से रहित हो अर्थात्, द्रव्य-विकल्प, यथा 'एक दड को रखने वाला' (द्रव्य-विकल्पो यथा दडी), गुण-विकल्प, यथा 'शुक्ल' (गुण-विकल्पो यथा शुक्ल), क्रिया-विकल्प, यथा 'वह जाता है' (क्रिया-विकल्पो यथा गच्छति), जाति-विकल्प, यथा 'गौ' (जाति-विकल्प ॱयथा गौ) विशेष-विकल्प, यथा 'परमाणुओ के चरम विशिष्ट लक्षण होते हैं जिनके कारण योगीजन एक परमाणु का अन्य परमाणु से विभेद करते हैं' (विशेप विकल्पो यथा विशिष्टः परमाणु), समवाय विकल्प, यथा, 'एक पट मे तन्तु' (समवाय-विकल्पो यथा, पट-समवायवन्तास्तन्तव), नाम-विकल्प, यथा 'देवदत्त नामक मनुष्य' (नाम-विकल्पो यथा देवदत्त), अभाव-विकल्प, यथा 'भूमि पर घट का अभाव है' (अभाव-विकल्पो यथा घटा भाववद् भूतलम्)। किन्तु जयतीर्थ कहते हैं कि निर्विकल्प और सविकल्प प्रत्यक्षो के इन विभेदो मे से एक को भी स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योकि वे 'विशेष' एव 'समवाय' नामक दो पदार्थो की मान्यता पर आधारित है, जो दोनो अमान्य है। किसी प्रत्यक्ष का नाम भी पश्चात् के क्षण मे क्रियाशील स्मृति के द्वारा ज्ञात किया जाता है तथा किसी सत्ता का अभाव स्वय उस सत्ता की स्मृति पर निर्भर करता है। यद्यपि ये सर्व प्रत्यय प्रत्यक्षीकरण के प्रथम क्षण मे उत्पन्न नही होते, तथापि चूंकि द्रव्य, गुण, क्रिया आदि जैसे कुछ प्रत्यय प्रत्यक्षीकरण के प्रथम क्षण मे ग्रहण किये जाते हैं, इसलिये 'निर्विकल्प प्रत्यक्ष' के अस्तित्व की कल्पना करने का कोई कारण नही है। समस्त प्रत्यक्ष सविकल्प होते है। न्याय का यह मत सही नही है कि किसी विषय की उपयोगिता अथवा अवाछनीयता की अनुभूति प्रत्यक्षीकरण के फलस्वरूप होती है, क्योकि इनकी उपलब्धि अनुमान द्वारा की जाती हैं।[1] जब एक मनुष्य एक काँटे से बचता है तब उसका कारण यह है कि वह अपने अतीत के अनुभव से यह निर्णय कर लेता है कि वह उसे दु ख पहुँचाएगा, जब वह किसी वाछनीय वस्तु की ओर प्रवृत्त

[1] 'न्याय-मजरी', पृ० ६७–७१।

होता है तो ऐसा वह अतीत मे उसके वाञ्छनीय होने की अनुभूति पर आधारित अनुमान से करता है।

अनुमान

अनुमान का कारण एक दोषरहित तर्क होता है (जिसके द्वारा उसकी सहवर्तिता के आधार पर किसी वस्तु का अभिनिश्चय किया जा सकता है)। जयतीर्थ द्वारा इस साहचर्य अथवा व्याप्ति के स्वरूप का अपृथक् व्याप्ति (अविनाभाव) के रूप मे वर्णन किया गया है। व्यासतीर्थ का 'तर्क-ताण्डव' मे आग्रह है कि इस अपृथक् व्याप्ति का अर्थ वस्तुत ऐसे अनुभव का बोध होना चाहिए जो आग्रह्य मान्यता अथवा उपपत्ति को प्रेरित करे (अनुपपत्ति)। जब एक विशेष देश-काल-सबध मे अनुभूत वस्तु किसी अन्य देश-काल-सबध मे अनुभूत अन्य वस्तु की मान्यता के अतिरिक्त असत्य हो, तब यह स्वीकार करना पडेगा कि उन दोनो मे स्थित सम्बन्ध एक 'व्याप्नि' सम्बन्ध है, जो पूर्वोक्त के आधार पर पश्चादुक्त के अनुमान को प्रेरित करता है।[1]

व्यासतीर्थ का आग्रह है कि अनुमान के इस मत का समर्थन मध्व ने अपने 'प्रमाण-लक्षण' मे भी किया है, जहाँ वे कहते है कि सत्य अनुमान के समस्त उदाहरणो मे अवशेष-विधि (परिशेष) आवश्यक विधि होती है।[2] किसी सत्य अनुभव के सबध मे अनुपपत्ति के कारण ही एक अनुमान की प्रक्रिया मे साध्य की आवश्यकता सिद्ध होती है।[3] जयतीर्थ ने अपनी 'प्रमाण-पद्धति' मे 'व्याप्ति' की वस्तुत· 'अविनाभाव' के रूप मे परिभाषा दी है, इस अपृथक् व्याप्ति का सभी उदाहरणो मे अभावान्वय, अर्थात् 'साध्य' अथवा अनुमित वस्तु के अभाव के सर्व उदाहरणो मे 'हेतु' के अभाव के रूप मे वर्णन नही किया जा सकता, क्योकि ऐसी स्थितियाँ भी होती है जिनमे ऐसे निषेधात्मक उदाहरणो के अभाव के बावजूद भी अनुमान सम्भव होता है, यथा, ध्वनि ज्ञेय होने के कारण वाच्य है, यहाँ कोई ऐसा निषेधात्मक उदाहरण उपलब्ध नही है जिसमे वाच्यता न हो, अत ऐसे 'केवलान्वयी' अनुमान के उदाहरणो मे व्याप्ति की उपरोक्त परिभाषा, जिसमे व्याप्ति के अभिनिश्चय के लिए निषेधात्मक उदाहरणो के अस्तित्व की आवश्यकता होती है, लागू नही होगी। हेतु और साध्य मे किसी प्रकार के

---

[1] यद्देश-काल सम्बन्धस्य यस्य यद् देश-काल सम्बन्धेन येन विनानुपपत्तिस्तस्यिव तेन सह व्याप्ति। —'तर्क-ताण्डव' (पा० लि०, पृ० १)

[2] परिशेपोऽर्थापत्तिरनुमानमित्यविशेष।
—'प्रमाण-लक्षण' और 'प्रमाण-लक्षण-टीका' पृ० २७।

[3] अनुमानमपि आवश्यकानुपपत्त्यैव गमकम्।
—'तर्क-ताण्डव' (पा० लि० पृ० २)।

अवकाशिक साहचर्य का भी व्याप्ति की एक अपरिहार्य अवस्था के रूप मे आग्रह नही किया जा सकता, क्योकि किसी प्रदेश के निचले भाग मे नदी मे वाढ के प्रत्यक्षीकरण के ऊपरी भागो मे वर्षा का अनुमान किया जा सकता है तथा यहाँ हेतु और साध्य मे कोई अवकाशिक समीपता नही है। अत अनुमान को निर्धारित करने वाली व्याप्ति का प्रमुख लक्षण एक अकाट्य अनुभव की अनुपपत्ति है जिसके कारण अनुमित वस्तु की मान्यता आवश्यक हो जाती है। इसी का 'साहचर्य-नियम' के रूप मे भी वर्णन किया गया है। अग्नि एव धूम के सुपरिचित उदाहरण मे अग्नि के अभाव के सर्व उदाहरणो मे धूम के अभाव के निरुपाधिक एव नियत साहचर्य के रूप मे जिस नियम का वर्णन किया गया है वह भी 'अनुपपत्ति' का ही एक उदाहरण है। यह नियम 'केवलान्वयी' अनुमान के उदाहरणो मे भी समान वल से लागू होगा, क्योकि वहाँ भी साध्य के असम्भव अभाव से हेतु की अयुक्ति उत्पन्न हो जाएगी, अतएव साध्य की मान्यता अनिवार्य सिद्ध हो जाती है।

व्यासतीर्थ गगेश द्वारा अपनी 'तत्व-चिन्तामणि' मे दी गई अनुमान की परिभाषा का विस्तार मे खडन करते हैं, जहाँ वे साध्य और हेतु के सह-अस्तित्व (सामानाधिकरण्य) के रूप मे व्याप्ति की व्याख्या करते है तथा साथ ही इस शर्त का उल्लेख करते हैं कि पूर्वोक्त के अभाव के प्रत्येक उदाहरण मे पश्चादुक्त का भी अभाव होता है। 'केवलान्वयी' अनुमान मे ऐसे निषेधात्मक उदाहरण उपलब्ध नही होते जिनमे हमे साध्याभाव के उदाहरणो मे हेत्वाभाव के उदाहरणो का भी परिचय हो सके (साध्याभाव-वदवृत्तित्वम्)। यदि यह कठिनाई नही होती तो गगेश प्रसन्नतापूर्वक सर्व साध्याभाव के उदाहरणो मे हेतु के निरुपाधिक एव नियत अभाव (साध्याभाव वदवृत्तित्वम्) के रूप मे 'व्याप्ति' की परिभाषा दे देते। किन्तु उपर्युक्त कठिनाई के कारण गगेश हेतु और साध्य के 'सामानाधिकरण्य' के रूप मे व्याप्ति की परिभाषा देने को वाध्य हो गए जिसमे हेतु की यह विशेषता भी वताई गई है कि वह उन सभी सम्भव अवस्थाओ के अभाव का निधान होता है जो 'साध्य' के साथ उसके समानाधिकरण को असिद्ध कर सके।[1] इस प्रकार की परिभाषा के निर्माण मे गगेश की सूझ इस तथ्य मे निहित है कि उनके विचार मे हेतु का साध्य मे सर्वव्यापी अस्तित्व ही पश्चादुक्त के पूर्वोक्त से अनुमान के लिये यथेष्ट होता है, पर शर्त यह है कि हेतु विशुद्ध हो तथा किसी अन्य उपाधि की उपस्थिति मे मिश्रित न हो। हेतु मे मिश्रित

---

[1] प्रतियोग्यसमानाधिकरण-यत्समानाधिकरणात्यन्ताभाव-प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्न यन्न भवति तेन सम तस्य सामानाधिकरण्य व्याप्ति।

—'तत्व-चिन्तामणि,' भाग २, पृ० १०० (१८८८ का सम्करण, विव्लियोथेका इण्डिका)।

करते है कि 'प्रमाण-लक्षण' और 'प्रमाण-लक्षण' पर अपनी टीका दोनो मे जयतीर्थ ने 'परिशेष ' एव 'अर्थापत्ति' का अनुमान मे समावेश किया है, क्योकि उनके विचार मे इनकी विधियाँ लगभग स्वय अनुमान की विधियाँ ही है।[1] किन्तु इससे केवल इतना ही सिद्ध होता है कि 'परिशेष' और 'अर्थापत्ति' भी अनुमान के प्रकार है, न कि यह कि उनमे समाविष्ट 'अनुपपत्ति' की विधि अनुमान के एकमात्र सम्भाव्य प्रकार के रूप मे स्वीकार की जानी चाहिये। यदि वे ऐसा सोचते तो वे निश्चय ही उसका उल्लेख करते तथा व्याप्ति की अपनी परिभाषा को 'साहचर्य नियम' तक सीमित नही रखते। चलरिशेषाचार्य जो श्रद्धापूर्वक जयतीर्थ के पद-चिह्नो का अनुसरण करते है और प्राय उनकी भाषा की भी पुनरावृत्ति करते है, जयतीर्थ के इस नियत साहचर्य की 'जहाँ धूम्र है वहाँ अग्नि है' के रूप मे व्याख्या करते हैं, किन्तु वे यह कहते है कि इस नियत साहचर्य का अर्थ केवल हेतु का साध्य से एक नियत सम्बन्ध-मात्र है (अत्र साहचर्य हेतो साध्येन सम्बन्ध-मात्र विवक्षितम्), न कि केवल एक ही स्थान मे उनका अस्तित्व (सामानाधिकरण्य)। यहाँ साहचर्य का अर्थ है साध्य के साथ अव्यभिचारी सम्बन्ध (अव्यभिचरित साध्य-सम्बधो व्याप्ति), और यही 'व्याप्ति' कहलाती है।[2] वे गगेश की 'व्याप्ति' की उपरोक्त परिभाषा का उल्लेख करते है, और यह निर्देश करते हैं कि व्याप्ति की यह परिभाषा अनुमान के उन उदाहरणो मे लागू नही होगी जहाँ कोई अवकाशिक साहचर्य न हो (यथा, नदी के निचले भागो मे पानी की बाढ से ऊपरी भागो मे वर्षा होने का अनुमान)।[3] ऐसे उदाहरणो के बल पर यह निर्देश करते हैं कि व्याप्ति की साहचर्य (सामानाधिकरण्य) के रूप मे परिभाषा नही दी जा सकती, किन्तु वह एक ऐसा अव्यभिचारी सम्बन्ध है जो विभिन्न स्थानो मे विद्यमान एक कारण एव कार्य के मध्य स्थित हो सकता है। इन उदाहरणो के बल पर चलरिशेषाचार्य साहचर्य से रहित व्याप्ति की सम्भावना (व्यधिकरण-व्याप्ति) के पक्ष मे तर्क देते हैं, अतएव व्याप्ति की एक अनिवार्य अवस्था के रूप मे साहचर्य के परित्याग का पक्ष-पोषण करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि व्यासतीर्थ ने इन कथनो से लाभ उठाया और चलरि शेषाचार्य के 'अव्यभिचारी सम्बन्ध' से सतुष्ट होने के स्थान पर

---

[1] अनुपपत्तेर्व्याप्तित्व च प्रमाण-लक्षणे परिशेषार्थापपत्ति अनुमाविशेषित्यत्रार्था-पत्तिरिवानुमानमपि आवश्यकानुपपत्त्यैव गमकमित्युक्तत्वात्।
—'तर्क-ताण्डव' (पा० लि० पृ० १–२)। 'प्रमाण-लक्षण-टीका' भी, पृ० ५–७।

[2] तुलना कीजिये 'विशेष-व्याप्ति' भाग मे गगेश द्वारा दी गई 'व्याप्ति' की वैकल्पिक परिभाषा से—'यत्सम्बन्धितावच्छेदक—रूपवत्त्व यस्य तस्य सा व्याप्ति ।
—तत्व-चिन्तामणि, भाग २, पृ० १५६।

[3] न तु समानाधिकरण्यमेव।
—'प्रमाण-चन्द्रिका' पृ० ८ अ।

इस 'अव्यभिचारी सम्बध' की 'अनुपपत्ति' नामक निश्चित सम्बन्ध के रूप मे व्याख्या की ।[1]

तर्क

अनुमान को उत्पन्न करने वाली मानसिक क्रिया के सघटक के रूप मे विद्यमान निर्धारक दोलन को 'तर्क' अथवा 'ऊह' कहते है ।[2] अपने 'न्याय-सूत्र' मे गौतम उसका वर्णन सत्य के ज्ञान की प्राप्ति की दृष्टि से किये गये तर्क के रूप मे करते है जिसमे यह निर्धारित करने का प्रयास समाविष्ट होता है कि किसी तथ्य मे एक धर्म-विशेष पाया जाता है, तथा यह प्रयास उक्त निर्धारण के हेतु से सम्बन्धित समुचित पृच्छा पर आधारित होता है । यथा, ज्ञाताओ के रूप मे आत्माओ के स्वरूप से सबधित सत्य को जानने की जिज्ञासा होती है कि क्या वे उत्पत्तिशील है अथवा उत्पत्ति-रहित है ? यदि वे उत्पत्तिशील होते तो समस्त उत्पत्तिशील वस्तुओं की भाँति विनाश के भागी होते, तथा अपने कर्म-फल का उपभोग नही करते । यदि वे उत्पत्तिरहित है

---

[1] 'प्रमाण-चन्द्रिका' पृ० ८ अ, ६ ।

[2] ऊहत्व च मानसत्व-व्याप्यो जाति-विशेष
'तर्कयामि' इत्यनुभव–सिद्ध । –'विश्वनाथ-वृत्ति' १, पृ० ४० ।

'न्याय-मजरी' (पृ० ५८६) मे जयन्त द्वारा भी 'तर्क' का 'ऊह' के अर्थ मे प्रयोग किया गया है । जयन्त कहते है कि 'ऊह' के रूप मे उसका व्यापार निर्बल विकल्प को निर्बल बनाने मे और फलत सबलतर विकल्प की सम्भावना को सबल बनाने मे, तथा इस प्रकार पश्चादुक्त विकल्प की निश्चितता के सत्य ज्ञान की उत्पत्ति मे सहायता देने मे निहित होता है । यहाँ 'तर्क' के अर्थ का 'अनुमान' से विभेद करना आवश्यक है, जो 'तर्क' का अर्थ 'ब्रह्म-सूत्र' २ १ १२ (तर्काप्रतिष्ठानात्   ) मे है, तथा तर्क-विज्ञान (आन्वीक्षिकी), जो चौदह विद्याओ मे से एक है (विद्या-स्थान), के रूप मे 'तर्क' के प्रयोग से भी उसका विभेद करना आवश्यक है । 'याज्ञवल्क्य-स्मृति' १ ३ 'न्याय मजरी' भी, पृ० ३–४ । साख्य के लिये ऊह शब्दो अथवा वाक्यो के अर्थ को निर्धारित करने के लिये मान्य भाषागत नियमो के प्रयोग की प्रक्रिया है, (युक्त्या प्रयोग-निरूपणमूह), वही, पृ० ५८८ । यहाँ 'ऊह' का लगभग 'अनुमान' के अर्थ मे प्रयोग किया गया है और इसलिये वह एक 'प्रमाण' है । किन्तु यहाँ 'न्याय' मे 'ऊह' अथवा 'तर्क' सम्यक्-ज्ञान एव सशय के बीच की दशा होती है । इस प्रकार जयन्त कहते है 'तदेष मीमासक-कल्प्यमानो नोह प्रमाण-व्यतिरेकमेति प्रमाण-सदेहदशान्तरालवर्ती तु तर्क कथितोऽत्र शास्त्रे' (पृ० ५६०) ।

घट-जन्य अन्य वस्तु से जन्य किसी भी वस्तु से भिन्न है), 'अनवस्था' दोष (यथा, यदि 'घट' नामक जाति-प्रत्यय समस्त घटो का उल्लेख करता है तो वह घट-जन्य वस्तुओं का उल्लेख नही कर सकता), 'प्रमाण-बाधितार्थक प्रसग' दोष (यदि धूम वह्नि के अभाव मे अस्तित्व रखता है, तो वह वह्नि-जन्य नही हो सकता अथवा यदि पर्वत वह्निमान नही होता तो वह धूमवान नही होता)।[1]

व्याप्ति-प्रत्यय के निर्माण मे 'तर्क' की प्रक्रिया की व्याख्या करते हुए मथुरानाथ कहते है कि जब कोई वह्नि के सर्व ज्ञात उदाहरणों मे धूम का अस्तित्व देखकर तथा वह्निरहित स्थानो मे धूम का अभाव देखकर भी यह निश्चय करे कि धूम वह्नि से उत्पन्न होता है अथवा नही, तब तर्क सर्व वैध सशयो के निवारण मे सहायक होता है। जैसाकि गगेश ने प्रदर्शित किया है, ऐसा 'तर्क' इस प्रकार अग्रसर होगा—या तो धूम वह्नि से उत्पन्न होता है अथवा वह उससे उत्पन्न नही होता है। इसलिये यदि धूम न तो वह्नि से और न निर्वाह्नि से उत्पन्न होता है, तो वह सर्वथा उत्पन्न नही हो सकता। किन्तु यदि यह शका हो कि क्या धूम निर्वाह्नि मे उत्पन्न होता है, अथवा वह कभी-कभी वह्नि के अभाव मे भी विद्यमान हो सकता है अथवा वह किसी 'हेतु' के बिना (अहेतुक) उत्पन्न होता है, तो हम मे से कोई भी क्रिया मे प्रवृत्त होने के लिए धूम के सर्व उदाहरणो मे वह्नि के अपृथक् अस्तित्व के प्रत्यय की प्राप्ति नही कर पाते

---

[1] प्रथम तीन मे से प्रत्येक के 'ज्ञप्ति' 'उत्पत्ति' एव 'स्थिति के निर्देशानुसार तीन प्रकार होते है। इस प्रकार 'आत्माश्रय' का त्रिविध उदाहरण होगा (१) एतद्-घट-ज्ञान यद्येतत-घट-जन्य स्यातेतद्-घट-भिन्न स्यात्, (२) घटोऽयम् यद्येतद् घटजनक स्यात्, एतद्-घट-भिन्न स्यात् (३) अय घटो यद्येद्घट-वृत्ति स्यात्, तथात्वेन उपलभ्येत। 'ज्ञप्ति' मे 'अन्योन्याश्रय' का उदाहरण अय घटो यद्येतद्-घट-ज्ञान-जन्य-ज्ञान-विषय स्यातेतद्-घट-भिन्न स्यात्। 'उत्पत्ति' मे 'चक्रक' का उदाहरण— घटोय यद्येतद्-घट-जन्य-जन्य-जन्य स्यात्तदा एतद्-घट-जन्य-जन्य भिन्न स्यात्। माधव, अपने 'सर्व-दर्शन-सग्रह मे पुरातन न्याय परम्परा का उल्लेख करते हुए, अन्य सात प्रकारो को जोड देते है, 'व्याघात,' 'प्रतिबन्धि-कल्पना' 'लाघव,' 'गौरव,' 'उत्सर्ग,' 'अपवाद,' 'वैजात्य'। किन्तु विश्वनाथ,—जिनकी सूची उपरोक्त से कुछ भिन्न है क्योकि वे 'व्याघात' को छोड देते है और 'प्रतिबन्धि कल्पना,' 'अपवाद' एव 'वैजात्य' के स्थान पर 'प्रथमो-पस्थितत्व' ,एव 'विनिगमन-विरह' को स्वीकार करते हैं—यह मानते है कि इनको 'तर्क' कहना उचित नही है, किन्तु वे 'तर्क' इसलिये कहलाते है कि वे सहकारी के रूप मे 'प्रमाणो' के सहायक होते हैं (प्रमाण-सहकारित्व रूप-साधर्म्यात् तथा व्यवहार)।

—'विश्वनाथ वृत्ति' १ १ ४०।

(सर्वत्र स्व-क्रिया-व्याघात)।[1] 'तर्क' नामक विचारधारा केवल तभी व्याप्ति-प्रत्यय के निर्माण मे सहायक हो सकती है जब अनेक विधानात्मक एव निषेधात्मक उदाहरणो का वस्तुत. निरीक्षण किया जा चुका है तथा एक अन्त कालीन निश्चितता प्राप्त हो चुकी है। अन्त कालीन निश्चितता प्राप्त हो जाने पर भी जब तक मन उपरोक्त 'तर्क' के द्वारा स्पष्ट नही हो जाता तब तक 'सशय-धारा' कदाचित् प्रवाहित हो सकती है।[2] गगेश कहते हैं कि यह आग्रह नही किया जा सकता कि उक्त विधि के द्वारा व्याप्ति-प्रत्यय के निर्माण के पश्चात् भी कदाचित् सशय उत्पन्न हो सकते हैं कि वह्नि धूम का कारण नही है अथवा धूम अहेतुक है, क्योकि यदि ऐसा होता तो आप धूम की इच्छा होने पर वह्नि को 'नियत' रूप से प्रज्वलित नही करते, अथवा क्षुधा-निवारण की इच्छा होने पर भोजन नही करते या अन्य लोगो तक अपने विचारो को पहुँचाने के लिये शब्दो का प्रयोग नही करते। इस प्रकार के नियत प्रयत्न स्वय यह प्रकट करते हैं कि इन अवस्थाओ मे कोई 'शका' नहीं होती, क्योकि यदि 'शका' होती तो यह प्रयत्न ऐसे नियत नही होते। यह सम्भव नहीं है कि आप इस शका मे रहते हुए भी कि वह्नि धूम का कारण है या नही नियत रूप से धूम की प्राप्ति के लिये वह्नि को प्रज्वलित करें। ऐसी अवस्थाओं मे शका का अस्तित्व धूम की इच्छा होने पर वह्नि को प्रज्वलित करने के आपके नियत प्रयास के व्याघात मे होगा, शकाओं को तभी तक स्वीकार किया जा सकता है जब तक उनका स्वक्रिया से व्याघात (स्वक्रिया-व्याघात) न हो।[3]

किन्तु श्रीहर्ष वेदान्त के दृष्टिकोण से युक्ति देते हुए शका निवारण मे 'तर्क' की योग्यता को अस्वीकृत करते हैं। उनका आग्रह है कि यदि यह कहा जाय कि 'तर्क' सभी उदाहरणो मे अनिवार्यत शकाओं का निवारण करता है तथा किसी विशेष व्याप्ति-प्रत्यय के निर्माण मे सहायक होता है, तो यह कथन स्वय किसी अन्य व्याप्ति-प्रत्यय पर आधारित होना चाहिये और वह किसी अन्य पर इस प्रकार 'अनवस्था' दोष उत्पन्न होता है। पुन, यह तथ्य कि हम वह्नि एव धूम के सार्वभौम साहचर्य को जानते हैं तथा अन्य किसी ऐसे तत्व को वह्नि मे सार्वभौम रूप मे स्थित नही देखते जिसका वह्नि से धूम के समान सार्वभौम साहचर्य हो, यह सिद्ध नहीं करता

[1] 'तर्क' के प्रति गगेश एव उस पर मथुरानाथ की टीका।
—तत्व-चिन्तामणि, भाग २, पृ० २१९-२८।

[2] वही, पृ० २२०, देखिये कामाख्यानाथ की टिप्पणी एव पृ० २२८ भी।

[3] तदैव ह्याशक्यते यस्मिन्न आशक्यमाने स्वक्रिया-व्याघातो न भवतीति, न हि सम्भवति स्वय वह्न्यादिक धूमादि-कार्य्यार्थं नियमत उपादत्ते तत्कारण तन्नेत्या-शक्यते च। —वही, पृ० २३२।

कि उसमे ऐसा कोई तत्व स्थित नही है जो वस्तुत धूम का कारण हो (यद्यपि आभासत वह्नि ही उसका कारण प्रतीत हो)। हमारा प्रत्यक्षीकरण केवल उन समस्त वस्तुओ के अस्तित्व अथवा अनस्तित्व को प्रमाणित कर सकता है जो दृष्टि-प्रत्यक्ष की साधारण अवस्थाओ मे दृष्टिगोचर हो, वह उन अवस्थाओ से अनियन्त्रित सत्ताओ के भाव अथवा अभाव के सम्बन्ध मे कुछ नही बता सकता अथवा हम केवल यही कह सकते है कि वह्नि के अभाव मे एक विशिष्ट प्रकार के धूम के अस्तित्व का अभाव होता है। हम यह नही कह सकते कि सभी प्रकार के धूम का अभाव होगा, क्योकि यह सम्भव है कि कोई अन्य प्रकार का कारण विद्यमान है जो ऐसे विशेष प्रकार के धूम को उत्पन्न करता है जिसका हम अबतक प्रत्यक्षीकरण नही कर पाये हैं, केवल अप्रत्यक्षीकरण यह सिद्ध नही कर सकता कि ऐसा विशेष प्रकार का धूम सर्वथा अस्तित्व नही रखता, क्योकि प्रत्यक्षीकरण केवल उन सत्ताओ पर लागू होता है जो प्रत्यक्षीकरण के योग्य हो तथा तत्सम्बन्धी अवस्थाओ से निर्धारित हो, अतएव उन सत्ताओ पर लागू नही किया जा सकता जो उन अवस्थाओ के अन्तर्गत नही लाई जा सकती।[1] 'तर्क,' जो कि 'स्वक्रिया-व्याघात' की मान्यता के द्वारा सशय का निराकरण करता है तथा जो इस प्रकार व्याप्ति का समर्थन करता है, स्वय व्याप्ति पर आधारित न होने के कारण स्वभावत अपने उक्त कार्य को करने मे असफल रहेगा, क्योकि यदि यह मान लिया जाय कि ऐसा आधारहीन 'तर्क' व्याप्ति की स्थापना करता है, तो यह स्वय एक 'व्याघात' होगा। उदयन ने कहा था कि यदि शका के अभाव के होते हुए भी आप यह मान लें कि भविष्य मे शका उत्पन्न हो सकती है तो ऐसा केवल अनुमान के कारण ही हो सकता है, अत अनुमान प्रामाणिक है। 'तर्क' के आधार मे स्थित व्याप्ति के सम्बन्ध मे किसी प्रकार की शकाओ को जताना आवश्यक नही है, क्योकि ऐसा करने से स्वक्रिया-व्याघात की उत्पत्ति होगी, क्योकि हम यह नही कह सकते कि हमे वह्नि के धूम के कारण होने मे विश्वास है और फिर भी हमे इसमे शका है। श्रीहर्ष ने इसका उत्तर यह कहकर दिया था कि जहाँ साहचर्य के व्यभिचार का अनुभव हो तो वहाँ उसी से व्याप्ति की मान्यता सशयपूर्ण हो जाती है, जब साहचर्य के व्यभिचार का कोई अनुभव न हो, तब अनिश्चित शकाओ का कोई अन्त नही हो पाता, क्योकि ऐसी अज्ञात शकाओ की समाप्ति तभी होती है जब साहचर्य के किसी विशिष्ट व्यभिचार की सूचना हो, अत किन्ही परिस्थितियो मे 'तर्क' के द्वारा शकाओ का

[1] तददर्शनस्य आपाततो हेत्वन्तर प्रयोज्यावान्तरजात्यदर्शनेन अयोग्यतया अविकल्प्यत्वादप्युपपत्ते, यदा तु हेत्वान्तर-प्रयोज्यो धूमस्य विशेषो द्रक्ष्यते तदासौ विकल्पिष्यते इति सम्भावनाया दुर्निवारत्वात्।

—श्रीहर्ष का 'खडन-खड-खाद्य,' पृ० ६८०।

निवारण नही किया जा सकता ।[1] विवाद मुख्यत इस बात पर है कि जहाँ श्रीहर्ष कल्पित शकाओ के कारण 'तर्क' मे विश्वास करने मे हिचकते हैं, वहाँ उदयन का विचार है कि यदि हम इतने निराशावादी हो जाएगे तो हमे अपनी समस्त क्रियाओ को स्थगित करना पडेगा । किन्तु उनमे से कोई भी सम्भावना के मध्यवर्ती मार्ग का विवेचन नही करता जो हमे क्रिया की ओर प्रेरित कर सके और फिर भी सिद्ध प्रामाणिक अनुमान के रूप मे स्वीकार न किया जा सके । पर वर्धमान उदयन के उपरोक्त श्लोक पर टीका करते हुए गगेश का उल्लेख करते है जिनके अनुसार 'तर्क' के द्वारा व्याप्ति-प्रत्यय का निर्माण नही हो सकता ।[2]

परन्तु व्यासतीर्थ का 'तर्क-ताण्डव' मे आग्रह है कि 'तर्क' व्याप्ति-प्रत्यय की एक अपरिहार्य अवस्था नही है । हम 'तर्क' की प्रक्रिया के बिना आप्त पुरुषो मे श्रद्धा के द्वारा अथवा पूर्व-जन्म के अनुभवो से प्राप्त वशगत सस्कारो के द्वारा अथवा सर्व-मान्य मत की सम्मति के द्वारा व्याप्ति के प्रत्यय की प्राप्ति कर सकते हैं । किन्तु वे वर्धमान के उपरोक्त कथनानुसार गगेश द्वारा मान्य 'तर्क'-सम्बन्धी मत से अधिकाश मे सहमत प्रतीत होते हैं क्योकि वे यह मानते है कि 'तर्क' प्रत्यक्ष रूप मे व्याप्ति की स्थापना मे सहायक नही होता । वे कहते है कि 'तर्क' हमे प्रत्यक्ष रूप मे

---

[1] उदयन का श्लोक निम्नलिखित था

शका चेदनुमास्त्येव न चेच्छका ततस्तराम्
व्याघातावधिराशका तर्क शकावधिर्मत ।

'कुसुमाजलि,' ३, ७ ।

श्रीहर्ष ने इसका उत्तर उदयन के शब्दो मे थोडा-सा परिवर्तन करके निम्न प्रकार से दिया—

व्याघातो यदि शकास्ति न चेच्छका ततस्तराम्
व्याघातावधिराशका तर्क शकावधि कुत ।

—'खडन-खड-खाद्य,' पृ० ६९३ ।

गगेश सुझाव देते हैं कि श्रीहर्ष मे 'व्याघात' शब्द का अर्थ साहचर्य का व्यभिचार है (सहानवस्थान-नियम), जबकि उदयन मे उसका अर्थ 'स्वक्रिया-व्याघात' है । किन्तु जैसाकि व्यासतीर्थ बताते हैं, उक्त शब्द को श्रीहर्ष मे भी पश्चादुक्त अर्थ मे लिया जा सकता है ।

—'तर्क-ताण्डव' (पा० लि०, पृ० २५) ।

[2] अत्रास्मत्पितृचरना, तर्को न व्याप्ति-ग्राहक किन्तु, व्यभिचार-ज्ञानाभावसहकृत सहचार-दर्शनम् ।

—प्रकाश, ३, पृ० २९ ।

व्याप्ति की स्थापना मे सहायता नहीं देता, क्योंकि साहचर्य के व्यभिचार के अभाव के ज्ञान से सापेक्ष तत्सम्बन्धी व्यापक अनुभव (भूयो-दर्शन) के द्वारा व्याप्ति का साक्षात् ग्रहण कर लिया जाता है।[1] वाचस्पति भी लगभग इसी मत को मानते है जब वे यह कहते हैं कि भूयो-दर्शन-जनित संस्कार की सहायता से इन्द्रिय ही व्याप्ति के स्वाभाविक सम्बन्ध को ग्रहण करती है।[2] व्यासतीर्थ कहते हैं कि उपाधियों के अभाव का निर्धारण जो कि 'तर्क' का एक व्यापार है, केवल कुछ प्रकार के अनुमान मे आवश्यक होती है, उसकी सदा अपेक्षा नहीं होती। यदि उसकी सदा आवश्यकता होती तो 'तर्क' समस्त व्याप्ति–प्रत्ययो के लिये अपेक्षित होने के कारण और व्याप्ति 'तर्क' का आधार होने के कारण 'अनवस्था' दोष की उत्पत्ति हो जायगी।[3] यदि साहचर्य के व्यभिचार का ज्ञान न हो तो साहचर्य के उदाहरणों से ही साक्षी तत्काल व्याप्ति के प्रत्यय का निर्माण कर लेता है।[4] इसलिये आवश्यकता केवल साहचर्य के व्यभिचार की शकाओ के निवारण की है (व्यभिचार-शंका-निवृत्ति-द्वार)। किन्तु ऐसी शकाए क्वचित् ही (क्वचित्कैव) खडी होती हैं, सदा नहीं, तथा इन कदाचित्क शकाओ की निवृत्ति के लिये कभी-कभी ही 'तर्क' के प्रयोग की आवश्यकता पडती है। यह युक्ति नही दी जा सकती कि शकाओं की सम्भावना सभी अवस्थाओ मे बनी रह सकती है अतएव सभी उदाहरणो मे 'तर्क' के प्रयोग की आवश्यकता होती है, क्योकि प्रश्न उठाया जा सकता है कि क्या ऐसी शकाएँ हमारे मन मे स्वय उत्पन्न होती हैं अथवा वे दूसरो के द्वारा उत्पन्न की जाती हैं ? प्रथम मान्यता के अनुसार हम अपने ही हाथो अथवा पैरो के प्रत्यक्षीकरण के सम्बन्ध मे शकाएँ कर सकते हैं, अथवा हम अपनी ही शकाओ के प्रति शकाए कर सकते हैं, जिससे शकाएँ भी अप्रामाणिक हो जाएँगी। यदि यह माना जाय कि अन्य विकल्पो के सुझाव से ही शकाएँ उदित होती है, तो यह स्वीकार करना पडेगा कि कई अवस्थाओ मे ऐसे विकल्पो का कोई सुझाव नही दिया जायगा अथवा उनमे से एक की सम्भावना का ऐसा प्रबल सुझाव दिया जा सकता है कि शकाओ के लिये कोई अवसर उत्पन्न न होगा। अत यह स्वीकार करना होगा कि अनेक उदाहरणो मे हमे कुछ कोटि के साहचर्य मे स्वाभाविक विश्वास होता है

[1] अपि च तर्को न साक्षाद् व्याप्ति-ग्राहक [भूयो-दर्शन-व्यभिचारादर्शन-सहकृत-प्रत्यक्षेणैव तद्-ग्रहणात्। —'तर्क-ताण्डव' (पा० लि०, पृ० २०)।

[2] भूयो-दर्शन-जनित-सस्कार-सहितमिन्द्रयमेव स्वाभाविक सम्बन्ध-ग्राहि।
—तात्पर्य-टीका।

[3] श्रीहर्ष की आपत्तियो का विवरण देते समय यह पहले ही बता दिया गया है।

[4] अदृष्टे व्यभिचारे तु साधक तदति स्फुट
ज्ञायते साक्षिणैवाद्धा मानवधो न तद् भवेत्।
—तर्क-ताण्डव, (पा० लि०, पृ० २१)।

जहाँ स्वय कोई शकाएँ उत्पन्न नही होती (स्व-रमिक विश्वासस्यावश्यकत्वान् न सर्वत शका),[1] कोई भी व्यक्ति आजीवन अविरल शका-धारा मे सक्रान्त नही देखा जाता (न चाविरल-लग्न-शका-धारा-अनुभूयते)। द्वितीय मान्यता के आधार पर भी कोई यह नही कह सकता कि सशय सदा उत्पन्न हो सकते है। धूम और वह्नि के सम्बन्ध मे कोई यह सुझाव नही दे सकता कि वह्नि मे भिन्न कोई अन्य सत्ता भी हो सकती है जो धूम का कारण है, क्योंकि यदि यह सत्ता इन्द्रिय-ग्राह्य होती तो उसका प्रत्यक्षीकरण हो जाता और यदि वह इन्द्रिय-ग्राह्य नही होती तो कोई प्रमाण नही दिया जा सकता था कि एक इन्द्रियों से अगोचर सत्ता का अस्तित्व है अथवा हो सकता है। क्योंकि यदि श्रीहर्ष सर्व वस्तुओ के प्रति इतने सशयपूर्ण हैं तो यह निर्देश किया जा सकता है कि 'अद्वैत' के पक्ष मे दिये गये प्रमाणो मे सहस्र दोष हो सकते है और द्वैतवादियो की युक्तियो मे सहस्र अच्छी बातें हो सकती हैं, अतएव इन शकाओ के फलस्वरूप आप स्वय अपने अद्वैत मत की स्थापना मे किसी निष्कर्ष पर नही पहुँच सकते।[2] यदि एक व्याप्ति मे निश्चय उत्पन्न होता है तो सशय की अनिश्चित सम्भावना-मात्र से व्याप्ति की सत्यता के सहज निश्चय का प्रतिबन्ध नही होता।[3] यदि आप स्वय क्षुधा-निवृत्ति के लिये भोजन करते है, तो आप यह नही कह सकते कि आप फिर भी शका करते हैं कि भोजन करना कदाचित् क्षुधा-निवृत्ति का कारण नही हो सकता। इसके अतिरिक्त, यह आग्रह करने से क्या लाभ होता है कि शकाओ की सम्भावना सदा बनी रहती है? क्या इसका तात्पर्य सर्व अनुमान अथवा समस्त व्याप्ति-प्रत्ययो की प्रामाणिकता को नष्ट करना है? अनुमान की उपयोगिता को स्वीकार करने का इच्छुक कोई भी व्यक्ति उसको स्थापित करने के साधन-व्याप्ति-प्रत्यय को नष्ट करने का नही सोच सकता। यदि व्याप्ति की स्थापना नही हो पाती तो वेदान्ती को पता लगेगा कि उन वैदिक अद्वैतवादी शब्दो के अर्थों को समझना सम्भव नही है जिनके द्वारा वह अद्वैतवाद को स्थापित करने का इच्छुक है। पुन., यदि अनुमान की प्रामाणिकता को स्थापित करना है तो ऐसा अनुमान के द्वारा ही किया जा सकता है, प्रत्यक्ष द्वारा नही। अनुमान के बिना वेदान्ती न तो किसी बात को स्थापित कर सकता था और न अपने प्रतिपक्षियो द्वारा उसके सिद्धान्तो के विरोध मे दिये गये कथनो का खण्डन कर सकता था। अत यह प्रतीत होगा कि श्रीहर्ष एक अनुमान को ऐसे स्थापित करना चाहते हैं मानो कल्पित शकाओ का कोई भय नही है

---

[1] तर्क-ताण्डव, पृ० २२-३।

[2] वही, पृ० २४।

[3] न हि ग्राह्य-सशय-मात्र निश्चय-प्रतिबन्धकम्, न च उत्पन्नस्य व्याप्ति-निश्चयस्य बलवद् बाधकमस्ति येन औत्सर्गिक प्रामाण्यमपोद्येत।

—वही, पृ० २४।

और फिर भी केवल कहने मात्र के लिये यह कहते है कि सर्व अनुमान मे शकाओ के अस्तित्व की सम्भावना बनी रहती है ।[1]

उपरोक्त विवेचन से जो मुख्य बाते फलित होती हैं वे यह हैं कि जबकि श्रीहर्ष यह युक्ति देंगे कि किसी व्याप्ति-प्रत्यय की प्रामाणिकता को खतरे मे डालने वाली शकाओ का तर्क निवारण नही कर सकता और जब नैयायिक यह मानेंगे कि व्याप्ति-प्रत्ययो से शकाओ को निवृत्त करने के अपने व्यापार के कारण 'तर्क' सर्व अनुमान-प्रक्रियाओ का एक तत्व है, वहाँ व्यासतीर्थ यह युक्ति देते हैं कि यद्यपि शका-निवारण मे 'तर्क' की योग्यता को स्वीकृत किया जाता है, तथापि चूंकि अनेक अनुमानो मे 'तर्क' की सहायता की अपेक्षा रखने वाली शकाए उत्पन्न ही नही होगी अत यह कहना सत्य नही है कि 'तर्क' सर्व अनुमानो मे एक अनिवार्य तत्व है ।[2] उपरोक्त कथन से ऐसा प्रतीत होगा कि 'तर्क' के यथार्थ व्यापार के सम्बन्ध मे न्याय-सम्प्रदाय मे कुछ सूक्ष्म मतभेद है । किन्तु सामान्य प्रवृत्ति 'तर्क' के व्यापार को शका-निवारण तक सीमित रखना है और इस प्रकार व्याप्ति-प्रत्यय के निर्माण मे सहायता देना है, परन्तु वह प्रत्यय रूप मे व्याप्ति-प्रत्यय को उत्पन्न नही करता (न तु व्याप्ति-ग्राहक) और न वह विशेष आगमनो को प्रकृति की एकरूपता के सामान्य सिद्धान्त के प्रयोग द्वारा सत्यापित करता है ।[3]

---

[1] वही, पृ० २५-३१ ।

[2] किन्तु यह नही कहा जा सकता कि न्याय अनुमान के सर्व उदाहरणो मे 'तर्क' की आवश्यकता का आग्रह करेंगे । प्राचीन न्याय-लेखक इस विषय पर स्पष्ट रूप से कुछ नही कहते, किन्तु विश्वनाथ अपनी 'मुक्तावली' मे कहते है कि तर्क केवल उन्ही उदाहरणो मे आवश्यक होता है जहाँ व्याप्ति-प्रत्यय के निर्माण मे सदेह हो । जहाँ स्वभावत कोई शकाएँ उत्पन्न नही हो वहाँ 'तर्क' की कोई आवश्यकता नही होती (यत्र स्वतैव शका नावतरति तत्र न तर्कापेक्षापीति) । 'मुक्तावली', १३७ ।

किन्तु 'मुक्तावली' १३७ पर अपनी 'टीका' मे दिनकर के विचार मे 'तर्क' दो प्रकार के होते हैं, सशय-परिशोधक एव व्याप्ति-ग्राहक (तर्कश्च द्विविधो सशय-परिशोधका व्याप्ति ग्राहकश्च) । पर यह ऊपर दिये गये वर्धमान के मत से प्रत्यक्ष विरोध मे है ।

[3] इस विषय पर 'हिन्दू रसायन-शास्त्र का इतिहास' (पृ० २६४) मे डा० पी० सी० राय द्वारा 'तर्क' के विषय मे डा० सील के सक्षिप्त उल्लेखो का विवरण सही शब्दो मे नही दिया गया है । वहाँ वे कहते है-'तर्क' अथवा 'ऊह' इस प्रकार, प्रकृति की एकरूपता एव कारणता के उन सिद्धान्तो के उपनय द्वारा विशेष आगमनो के सत्यापन एव न्याय-सगति की स्थापना को कहते हैं, जो स्वय 'भूयो-दर्शन' तथा एकरूपता अथवा कारणता के अगणित विशेष आगमनो के अभिनिश्चय पर निर्भर

अबतक व्यासतीर्थ ने 'तर्क' शब्द का प्रयोग 'न्याय' द्वारा स्वीकृत अर्थ मे किया है और उस अर्थ मे प्रयोग करते हुए उन्होंने यह प्रदर्शित किया है कि शकाओ का निवारण व्याप्ति-प्रत्यय के निर्माण के लिये अपरिहार्य नही है। किन्तु उनके अनुसार 'तर्क' साध्याभाव के कारण साधनाभाव के ज्ञान की अनिवार्य उत्पत्ति मे निहित है, इस दृष्टिकोण से देखने पर वह 'अनुमान' मे एकरूप हो जाता है। जयतीर्थ भी अपनी 'प्रमाण-पद्धति' मे कहते हैं कि 'तर्क' का अर्थ है किसी विशेष धर्म अथवा वस्तु (साधन) के प्रत्यक्षीकरण करने अथवा अगीकार करने पर किसी अन्य वस्तु (साध्य) की अनिवार्य मान्यता को स्वीकार करना (कस्यचिद् धर्मस्यागी कारेर्थान्तरस्यापादन तर्क)।[1] यह अगीकार करने पर कि पर्वत मे वह्नि नही है, हमे अनिवार्यत यह स्वीकार करना पडेगा कि उसमे धूम नही है, यह 'तर्क' है और 'अनुमान' भी है।[2] इस प्रकार 'तर्क' वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा एक परिकल्पना की मान्यता स्वभावत. निष्कर्ष की सत्यता को सिद्ध करती है। इसलिये यह एक 'प्रमाण' अथवा ज्ञान का प्रामाणिक साधन है और इसे सशय अथवा मिथ्या ज्ञान नही माना जाना चाहिये, जैसाकि कुछ न्याय-लेखको ने किया, अथवा जैसाकि अन्य न्याय-लेखको ने माना, इसे सशय और 'निर्णय' से भिन्न नही समझना चाहिये। इस प्रकार व्यासतीर्थ के अनुसार 'तर्क' का दोहरा व्यापार होता है, एक तो शकाओ के निवारक एव अन्य प्रमाणो के सहायक के रूप मे और दूसरा अनुमान के रूप मे। व्यासतीर्थ जो मुख्य बात उदयन (जो यह मानते है कि तर्क का उपयोग केवल अनिष्ट मान्यताओ का निवारण करना है) और वर्धमान (जो यह मानते है कि तर्क का उपयोग केवल साध्याभाव के सदेह का निवारण

करते है (भूयो-दर्शन-जनित-सस्कार-सहितमिन्द्रियमेव स्वाभाविक सम्बन्ध-ग्राहि वाचस्पति)। इस प्रकार 'तर्क' 'सदेह'—निवारण मे भी सहायक होता है।

'व्याप्ति' प्रत्यय के निर्माण-मार्ग को साफ करने मे उसके कार्य व्यापार पर . 'मार्ग-सावन-द्वारेण तर्कस्य ताव-ज्ञानार्थत्वमिह विवक्षितम्'। 'न्याय-मजरी' पृ० ५८६ देखिए। मथुरानाथ भी निर्देश करते है कि 'तर्क' का कार्य-व्यापार ऐसे आधारो को प्रदान करना है कि सशय उत्पन्न न हो सके, किन्तु वह 'व्याप्ति-ग्राहक' नही होता (तर्क शकानुतपत्ती प्रयोजक ——)।

—'तत्व-चिन्तामणि', भाग २, पृ० २४० पर मथुराराय।

[1] 'प्रमाण-पद्धति', पृ० ३६ अ। मन्मते तु अगीकृतेन साध्याभावेन सह अनगीकृतस्य साधनाभावस्य व्यापकत्व-प्रमा वा साध्याभावागीकार-निमित्तक-साधनाभावस्यागी-कर्त्तव्यत्वप्रमा वा तर्क्यतेऽनेन इति व्युत्पत्त्या तर्क।

—तर्क-ताण्डव (पा० लि० पृ० ७८)।

[2] पर्वतो निर्धूमत्वेनागीकर्तव्य निरग्निकत्वेनागीकृतत्वाद् ह्रदवदित्यत्नुमानमेव तर्क।

—वही, पृ० ८४।

करना है) के विरोध मे कहते है वह यह है कि यदि 'तर्क' धूम की उपस्थिति मे साध्य (वह्नि) के अभाव की मान्यता मे निहित भौतिक असगति अथवा तथ्यों की असम्भाव्यता की गणना नही करता है तो सदेह अथवा अनिष्ट मान्यताओ का भी निवारण नही होगा और यदि वह उनकी गणना करता है तो उससे नवीन ज्ञान की उत्पत्ति होती है, वह अनुमान से एकरूप है और स्वय एक 'प्रमाण' है ।[1] 'तर्क' एक निषेधात्मक अनुमान माना जा सकता है, यथा, 'यदि वह वह्नि से रहित होता तो वह धूम से रहित होता, किन्तु वह ऐसा नही है ।' इस प्रकार का निषेधात्मक अनुमान होने के नाते वह एक स्वतन्त्र अनुमान है और चूंकि उसका उपयोग एक सकारात्मक अनुमान को सुदृढ बनाने के लिये किया जा सकता है अत उस अवस्था मे उसे उसका एक अतिरिक्त आधार माना जा सकता है (प्रमाणानामनुग्राहक), जैसे प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञात वस्तु को पुन अनुमान द्वारा सुदृढ बनाया जा सकता है ।[2] जैसाकि पहले बताया जा चुका है अन्य उदाहरणो मे शका-निवारण का उसका उपयोग बना रहता है, किन्तु सर्वत्र उसमे निहित मूल सिद्धान्त है अन्य विकल्पो को असम्भव सिद्ध करने वाली अनिवार्य मान्यता (अन्यथानुपपत्ति), जो अनुमान का भी सिद्धान्त है ।[3]

व्याप्ति

सस्कृत मे 'व्याप्ति' शब्द एक सज्ञा है जिसकी व्युत्पत्ति 'व्याप्' धातु से हुई है। साध्य (यथा, वह्नि) धूम के सब उदाहरणो मे व्याप्त होता है, अर्थात्, साध्य का वृत धूम के वृत से छोटा नही होता है तथा उसको परिवेष्टित कर देता है, इसलिये साध्य 'व्यापक' कहलाता है और हेतु (यथा, धूम) 'व्याप्य' कहलाता है। इस प्रकार धूम एव वह्नि के उदाहरण मे उनमे अचूक सम्बन्ध (अव्यभिचारिता-सम्बन्ध) है, तथा पूर्वोक्त 'व्याप्य' कहलाता है और पश्चादुक्त 'व्यापक'। पर यह अव्यभिचारी-सम्बन्ध चार प्रकार का हो सकता है। प्रथमत , दोनो वृत्तो का सपात (समवृत्ति) हो सकता है और उस दशा मे हेतु को साध्य माना जा सकता है और उसे हेतु माने गए साध्य से अनुमित किया जा सकता है। इस प्रकार हम दोनो प्रकार से युक्ति दे सकते हैं, वह

---

[1] किं च परमते तर्कस्य किं विषय-परिशोधने उपयोग किं उदयनरीत्या अनिष्ट-प्रसजनत्व-मात्रेण उपयोग किं वा वर्द्धमानादि-रीत्या साध्याभाव-सदेह-निवर्त्तनेन ।

—वही, पृ० ९२ ।

[2] साधनानुमान विनैव यदि निरग्निक स्यात्तर्हि निर्धूम स्यात्तथा चाय निर्धूम इति तर्क-रूपानुमानेनैवाग्निसिद्धे । —वही, पृ० ९० ।

[3] साक्षादन्यथानुपपत्ति-प्रमापक-तर्क-विषय-कृत-विरोधस्य सत्वात् ।

—वही, पृ० ८९ ।

पाप-पूर्ण है क्योंकि वह वेदो मे वर्जित है और वह वेदो मे वर्जित है क्योंकि वह पाप-पूर्ण है, यहाँ दोनो वृतो मे 'समवृत्ति' है। दूसरे, जब एक वृत्त दूसरे से छोटा हो, जैसे धूम एव वह्नि के उदाहरण मे (न्यूनाधिक-वृत्ति), वह्नि का वृत्त धूम के वृत्त से बडा है अतएव हम धूम को वह्नि से अनुमित कर सकते है, पर वह्नि को धूम से नही—'व्याप्य' 'व्यापक' से छोटा है। तीसरे, जहाँ दोनो वृत परस्पर अपवर्जित हो (परस्पर-परिहारेणैव वर्तंते) यथा, 'गोत्व' का जाति-प्रत्यय और 'अश्वत्व' का जाति-प्रत्यय, जहाँ एक होता है वहाँ दूसरा नही होता। यहाँ अपवर्जन का सम्वन्ध है न कि 'व्याप्य' एव 'व्यापक' का सम्वन्ध। चौथे, जहाँ दोनो कभी तो परस्पर अपवर्जित होते हैं और फिर भी कभी-कभी उनमे समवृत्ति पाई जाती है, जैसे, भोजन स्त्रियो द्वारा पकाया जाता है, फिर भी पुरुष भी भोजन पकाते हैं, भोजन पकाने और पुरुषो मे परस्पर अपवर्जन है, यद्यपि कुछ पुरुष ऐसे हो सकते हैं जो भोजन पकाते है (अवचित् समाविष्ट अपि क्वचित् परस्पर-परिहारेणैव वर्तंते)। भोजन पकाने का वृत पुरुषो एव स्त्रियो मे विभक्त होता है। यहाँ भी पुरुषो और भोजन पकाने मे एक सम्वन्ध है, किन्तु वह अचूक (अव्यभिचारिता) नही है, अव्यभिचारी सम्वन्ध का अर्थ यह है कि जहाँ एक है वहाँ दूसरा भी होना चाहिये।

जब एक मनुष्य वह्नि एव धूम के अस्तित्व का निरीक्षण करता है, तब वह अपने मन मे सहज ही विचार करता है, 'क्या इसी स्थान मे वह्नि एव धूम साथ-साथ दृष्टिगोचर होते हैं, जबकि अन्य स्थानो मे और अन्य कालो मे एक की उपस्थिति दूसरे की उपस्थिति का अपवर्जन करती है, अथवा क्या वे साथ-साथ पाये जाते है,' फिर अनेक उदाहरणो का निरीक्षण करने पर वह पाता है कि जहाँ धूम है वहाँ वह्नि है और जहाँ वह्नि नही है वहाँ धूम नही है तथा कम से कम कुछ उदाहरणो मे वह्नि है किन्तु धूम नही है। इन निरीक्षणो के पश्चात् इस प्रकार के विचार उत्पन्न होते हैं—'चू कि, यद्यपि अनेक उदाहरणो मे वह्नि का धूम के साथ साहचर्य है और कम से कम कुछ उदाहरणो मे जहाँ धूम नही है वहाँ वह्नि पाई जाती है, इसलिये क्या धूम,—यद्यपि मुझे ज्ञात सब उदाहरणो मे वह वह्नि के साथ अस्तित्व रखता है, कभी उसके बिना अस्तित्व रखता है अथवा क्या वह सदा वह्नि से साहचर्य रखता है?' पुन यह विचार उत्पन्न होता है कि धूम का वह्नि से सम्वन्ध आर्द्र इंधन (आर्द्रेन्धन) द्वारा निर्धारित होता है, जिसे एक 'उपाधि' कहा जा सकता है, अर्थात् यदि यह उपाधि नही होती तो वह्नि का धूम से और धूम का वह्नि से निरपेक्ष साहचर्य होता। यह उपाधि धूम के सब उदाहरणो मे अस्तित्व रखती है किन्तु वह्नि के सब उदाहरणो मे नही।[1] जहाँ साहचर्य इस प्रकार की उपाधि मे निर्धारित नही होता, वहाँ वह सार्वभौम रूप मे पारम्परिक होता

---

[1] इसलिये यह उपाधि 'पर्वत मे धूम्र है चूँकि वहाँ अग्नि है' अनुमान को असत्य बना देगी।

है। कुछ ऐसे गुण हैं जो वह्नि और धूम मे उभयनिष्ठ है (यथा, वे दोनो प्रमेय हैं, यथा, प्रमेयत्वम्) और इनके द्वारा सम्बन्ध निर्धारित नही हो सकता। कुछ अन्य गुण हैं जो धूम अथवा वह्नि मे नही पाये जाते है तथा उनसे भी सम्बन्ध निर्धारित नही हो सकता। ईंधन की आर्द्रता की उपस्थिति-रूप उपाधि ही अपने अभाव से वह्नि को धूम से विलग कर सकती है, पर धूम को वह्नि से विलग नही कर सकती। यदि ऐसी कोई उपाधि होती जो वह्नि के सब उदाहरणो मे विद्यमान होती परन्तु धूम के सब उदाहरणो मे नही होती, तो धूम से वह्नि का अनुमान उतना ही दोषपूर्ण होता जितना वह्नि से धूम का अनुमान। अब, जहाँ तक हमने निरीक्षण किया है, ऐसी कोई उपाधि नही है जो वह्नि के सब उदाहरणो मे उपस्थित हो किन्तु धूम के सब उदाहरणो मे न हो, यह भय अवैध है कि कुछ ऐसी उपाधियाँ हैं जो हमारी इन्द्रियो के लिये अति सूक्ष्म हैं, क्योकि यदि वह अन्य प्रमाणो द्वारा न तो प्रत्यक्ष की जाती है और न ज्ञात की जाती है (प्रमाणान्तर-वेद्य), तो यह शका उत्पन्न नही हो सकती कि वह फिर भी किसी प्रकार अस्तित्व रख सकती है। अत जब हम सतुष्ट हो जाते हैं कि कोई उपाधियाँ नही हैं, तब नियत व्याप्ति के प्रत्यय का उदय होता है (अविनाभाव-प्रमिति)।[1] अत नियत व्याप्ति को ऐसे व्यापक अनुभव की सहायता से प्रत्यक्षीकरण द्वारा ग्रहण किया जाता है जिसके साथ उपसाधनो के रूप मे साहचर्य के अपवाद के ज्ञान का अभाव तथा उपाधियो के अभाव का निश्चय क्रियान्वित रहता है। जब एक बार धूम और अग्नि के परस्पर नियत सम्बन्ध को ग्रहण कर लिया जाता है, तब जहाँ धूम का प्रत्यक्षीकरण होता है वहाँ वह्नि को अनुमित किया जाता है।[2] व्याप्ति-प्रत्यय के निर्माण का यह वर्णन न्यूनाधिक न्याय-मत के समान ही प्रतीत होता है, वहाँ भी अपवाद के अभाव के ज्ञान के रहित साहचर्य का प्रत्यक्षीकरण व्याप्ति-प्रत्यय के निर्माण को प्रेरित करता है।[3]

---

[1] यहाँ व्यासतीर्थ कहते है कि उपाधियो के अभाव का अभिनिश्चय उन अधिकाश उदाहरणो मे आवश्यक होता है जहाँ उनके सम्भाव्य अस्तित्व के प्रति शकाएँ हो, किन्तु सर्व उदाहरणो मे उसकी अपरिहार्यता का आग्रह नही करना चाहिए, क्योकि उस दशा मे उपाधियो के अभाव का अभिनिश्चय व्याप्ति के निर्धारण पर आधारित होने के कारण तथा वह उपाधियो के अभाव के पूर्व अभिनिश्चय पर आधारित होने के कारण 'अनवस्था' दोष उत्पन्न हो जायगा। 'या तु पद्धतवुपाधि-निश्चयस्य सहकारित्वोक्ति सा तु उपाधि-शकास्थाभिप्राया न तु सार्वत्रिकाभिप्राया अन्यथा उपाध्याभावनिश्चयस्य व्याप्ति-सापेक्ष-तर्काधीनत्वेन-नवस्थापातात्।'
—'तर्क-ताण्डव' (पा० लि० पृ० २२)।

[2] 'प्रमाण-पद्धति', पृ० ३१–५।

[3] 'व्यभिचार-ज्ञान-विरह-सहकृत सहचार-दर्शन व्याप्ति-ग्राहकम्।'

अनुमान में ज्ञानमीमांसात्मक प्रक्रिया

न्याय का मत है कि जब धूम एव वह्नि के मध्य स्थित व्याप्ति-सम्बन्ध से परिचित कोई व्यक्ति एक पर्वत पर धूम देखता है तो वह व्याप्ति-सम्बध का स्मरण (व्याप्ति-स्मरण) करता है कि वह धूम वह्नि से नियत एव निरुपाधिक सम्बन्ध रखता है।[1] फिर दोनो प्रत्ययो का सम्बन्ध स्थापित होता है, अर्थात्, वह धूम, जिसका वह्नि से निरुपाधिक नियत सम्बन्ध है, पर्वत मे विद्यमान है। ज्ञान का यह तीसरा सश्लेषण ही हमे पर्वत मे वह्नि के अनुमान की ओर प्रेरित करता है। 'न्याय-सुधा' का अनुसरण करते हुए व्यासतीर्थ यह युक्ति देते हैं कि उपरोक्त मत उन सभी उदाहरणो मे सत्य हो सकता है जहाँ हेतु को बिना देखे व्याप्ति का स्मरण होता है वहाँ यह त्रिविध सश्लेषण स्वीकार नही किया जा सकता। किन्तु प्रभाकर यह मानते हैं कि समस्त अनुमान दो पृथक् तर्क-वाक्यो से अग्रसर होता है तथा सश्लेषण की कोई अपेक्षा नही रहती। दो तर्क-वाक्य है 'धूम वह्नि से व्याप्य है' और 'पर्वत वह्निमान है।' प्रभाकर का मत है कि चूंकि इन दो तर्क-वाक्यो मे निरूपित ज्ञान समस्त अनुमान से नियत एव निरुपाधिक रूप से पूर्व आना चाहिए, इसलिए यह विश्वास करने की कोई आवश्यकता नही है कि उनका सश्लेषण अनुमान का कारण है, क्योकि वस्तुत ऐसा कोई सश्लेषण घटित नही होता। परन्तु व्यासतीर्थ युक्ति देते हैं कि इस प्रकार का विश्लेषण अनुमान एव अन्य मानसिक प्रक्रियाओ, यथा प्रत्याह्वान आदि मे एक यथार्थ मनोवैज्ञानिक अवस्था होता है। इसके अतिरिक्त, यदि धूम (जिसके साथ वह्नि नियत रूप से उपस्थित पाई गई थी) और पर्वत मे अब देखे गये धूम की एकरूपता की दो तर्क-वाक्यो के सश्लेषण के द्वारा स्थापना नही की जाती तो न्याय-वाक्य मे चार पद हो

'तत्व-चिन्तामणि' पृ० २१०। जैसाकि पहले ही ऊपर वर्णन कर दिया गया है, व्याप्ति के प्रति वैध शकाए 'तर्क' द्वारा दूर की जा सकती है।

'न्याय-सुधा' का अनुसरण करते हुए व्यासतीर्थ 'उपाधि' की 'साध्य-व्यापकत्वे सति साधनाव्यापक उपाधिरिति' के रूप मे परिभाषा देते हैं, तथा वे 'साध्य-सम-व्याप्तत्वे सति साधनाव्यापक उपाधि' के रूप मे उदयन की परिभाषा और 'पर्यवसित-साध्य-व्यापकत्वे सति साधनाव्यापक उपाधि' के रूप मे गगेश की परिभाषा के प्रति आपत्ति उठाते हैं। किन्तु, जैसी कि ऊपर व्याख्या की जा चुकी है, इन विभिन्न परिभाषाओ द्वारा निर्दिष्ट अभिप्राय वही है। उक्त विभेद तार्किक अथवा दर्शन-सम्बधी होने के बजाय शाब्दिक एव पाण्डित्यपूर्ण अधिक है। 'उपाधि' पर समस्त विवेचन को देखिये व्यासतीर्थ के 'तर्क-ताण्डव' (पा० लि० पृ० ४४-६१) मे।

[1] 'अय धूमो वह्नि-व्याप्य' अथवा 'वह्नि-व्याप्य-धूमवान अयमिति'।

—न्याय-मत।

जाते, अतएव वह दोषपूर्ण हो जाता ।[1] पुन अनुमान से निहित विचार का मतलब इस प्रकार के सन्नेषण की अपेक्षा रखता है जिसके बिना दोनों तर्क-वाक्य सम्बन्ध-रहित पद स्थैतिक (निरुपयोग) बने रहेंगे और कोई अनुमान फलित नहीं होगा ।

अनुमान के सम्बन्ध में विभिन्न विचार

अनुमान तीन प्रकार का होता है–(१) कार्यानुमान–कारण का कार्य से अनुमान, यथा वह्नि का धूम से अनुमान, (२) कारणानुमान–कार्य का कारण से अनुमान, यथा वर्षा का घिरते हुए बादलों से अनुमान, (३) अकार्य–कारणानुमान–कारण-कार्य प्रकारों से एक भिन्न स्तर का अनुमान, यथा रस से रूप का अनुमान (रसं रूपस्य)। एक अन्य दृष्टिकोण से अनुमान दो प्रकार का होता है–(१) दृष्ट, जहाँ अनुमित पदार्थ 'प्रत्यक्ष-योग्य' होता है, यथा वह्नि का धूम से अनुमान, और (२) सामान्यतो-दृष्ट जहाँ वह 'प्रत्यक्ष-योग्य' नहीं होता (प्रत्यक्षायोग्य), यथा रूप के प्रत्यक्षीकरण से चक्षु-इन्द्रिय का अनुमान। 'दृष्ट' एव 'अदृष्ट' मे अनुमान का यह विभाजन एक अन्य दृष्टिकोण से भी किया जा सकता है। यथा, जब दो वस्तुओं के मध्य व्याप्ति के साक्षात् निरीक्षण के आधार पर अनुमान किया जाता है (यथा, वह्नि और धूम), तब वह 'दृष्ट' कहलाता है, किन्तु, जब एक अनुमान समानता अथवा सादृश्यता के आधार पर किया जाता है तब वह 'सामान्यतो-दृष्ट' कहलाता है, यथा यह अनुमान कि जैसे हल चलाना आदि, फसल की उत्पत्ति को प्रेरित करते हैं वैसे यज्ञ भी स्वर्गीय सुखों को उत्पन्न करते है क्योंकि उनमे यह सादृश्य है कि दोनो प्रत्यन के फल है। पुन अनुमान दो प्रकार का माना जा सकता है–(१)साधनानुमान–एक प्रमा से दूसरी प्रमा का अनुमान, यथा, वह्नि का धूम से, (२) दूषणानुमान–मिथ्या ज्ञान का अनुमान, यथा यह अपने निष्कर्ष को सिद्ध नही कर सकता क्योकि उसका अनुभव से व्याघात होता है। पुन कुछ विद्वान् मानते है कि अनुमान तीन प्रकार का होता है (१) उपस्थिति मे पूर्ण अन्वय के आधार पर (जहाँ व्यतिरेक का कोई उदाहरण सम्भव नही होता), (२) पूर्ण व्यतिरेक के आधार पर (जहाँ कोई वाह्य अन्वय का उदाहरण सम्भव नही होता), (३) सयुक्त अन्वय और व्यतिरेक के आधार पर, इस दृष्टिकोण से वह 'केवलान्वयी' (असम्भाव्य-व्यतिरेक), 'केवलव्यतिरेकि' (असम्भाव्य-अन्वय), और 'अन्वय-व्यतिरेकि' (सयुक्त अन्वय-व्यतिरेक) कहलाता है। इस प्रकार 'सब ज्ञेय पदार्थ वाच्य हैं' तर्क-

[1] एव च किंचित प्रमेय वह्नि-व्याप्य पर्वतश्च प्रमेयवान इति ज्ञान-द्वयमिव कश्चिद् धर्मो वह्नि-व्याप्य पर्वतश्च धूमवनिति विश-कलित परस्पर-वर्तनाभिज्ञ ज्ञान-द्वयमपि नानुमिति हेतु ।

—तर्क-ताण्डव, (पा० लि० पृ० ६८)।

वाक्य प्रथम प्रकार के अनुमान का एक उदाहरण है, क्योंकि कोई व्यतिरेक का उदाहरण सम्भव नही है जिसके सम्बन्ध मे हम यह कह सके कि यह एक ज्ञेय पदार्थ नही है तथा वाच्य भी नही है, 'सब प्राणवान शरीर आत्माओं से सम्पन्न होते है 'तर्क-वाक्य द्वितीय प्रकार के अनुमान का एक उदाहरण है। इसको केवल व्यतिरेक के उदाहरणों द्वारा ही सिद्ध किया जा सकता है, जैसे 'वे सब सत्ताए जा आत्माओं से सम्पन्न नहीं है प्राणवान नही है, 'क्योंकि उक्त तर्क-वाक्य मे समस्त अन्व के उदाहरणों का समावेश हो जाता है, इसलिए विचाराधीन तर्क-वाक्य के अतिरिक्त कोई अन्वय के उदाहरण उपलब्ध नही है। तृतीय प्रकार का एक साधारण प्रकार का अनुमान होता है जहाँ व्याप्ति की अनुभूति अन्वय एव व्यतिरेक दोनो प्रकार के उदाहरणो द्वारा होती है।

अनुमान दो प्रकार का और कहा गया है—पहला 'स्वार्थ' जहाँ व्याप्ति सहित हेतु का ज्ञान हमारे मन मे स्वतः उत्पन्न होता है, और दूसारा 'परार्थ' जहाँ उक्त ज्ञान अन्य लोगो की शिक्षा के लिए होता है। अनुमान के अवयवो के सम्बन्ध मे व्यासतीर्थ प्राचीन न्याय-लेखको (जरन्-नैयायिक) के दस-वाक्यो के मत, उत्तरवर्ती न्याय-लेखको[1] के पाँच वाक्यो के मत, मीमासा के तीन वाक्यों के मत और बौद्धो के उदाहरण एव उपनय-सम्बन्धी (उदाहरणो—पनयश्च) दो वाक्यो के मत का विवेचन करते हैं। व्यासतीर्थ का आग्रह है कि चूंकि इन सघटक वाक्यो का मूल्य व्यक्तियो को एक व्याप्ति-विशेष का स्मरण करवाने मे अथवा जो व्यक्ति उसे नही जानते थे उनमे एक जिज्ञासा उत्पन्न करवाने मे निहित है, इसलिये अनुमान जिन परिस्थितियो मे किया जा रहा है तदनुसार अथवा अनुमान करने वाले व्यक्ति की मन स्थिति के अनुसार केवल उतने ही वाक्यो की आवश्यकता होती है जितने उद्देश्य पूर्ति मे सहायक होते हैं—अतएव ऐसे उदाहरण हो सकते है जिनमे केवल प्रतिज्ञा हेतु एव उदाहरण ही आवश्यक होते हैं, ऐसे उदाहरण हो सकते हैं जिनमे केवल हेतु से सयुक्त प्रतिज्ञा की आवश्यकता होती है (अग्नि व्याप्त-धूमवान् पर्वतोऽग्निमानिति हेतुगर्भ-प्रतिज्ञा), अथवा, जब कुछ उदाहरणों मे विवाद में प्रतिज्ञा पूर्वगृहीत होती है, तब केवल हेतु ही आवश्यक होता है, इत्यादि।[2] इसलिये अनुमान के लिये आवश्यक सघटक वाक्यो की सख्या के सम्बन्ध मे कोई निश्चित नियम नही होता, परिस्थिति-विशेष पर भी निर्भर करता है कि दो, तीन अथवा अधिक वाक्यो की आवश्यकता है।

---

[1] जिज्ञासा-सशय-शक्य-प्राप्ति प्रयोजन-सशयनिरासा प्रतिज्ञा हेतुदाहरणोपनयनिगमनानि इति दशावयवा इति जरन्नैयायिका आहु।

—'तर्क-ताण्डव'।

[2] विवादेनैव प्रतिज्ञा-सिद्धौ कुत पर्वतोऽग्निमानिति प्रश्ने अग्नि-व्याप्त-धूमवत्त्वादिति हेतु-मात्रेण वा। —तर्क-ताण्डव (पा० लि०, पृ० १०)।

जयतीर्थ और व्यासतीर्थ दोनों तार्किक दोषों के विभाजन (उपपत्ति-दोष) पर एक लम्बा विवेचन करते हैं तथा तत्सम्बन्धी न्याय-विभाजन की आलोचना करते हैं, किन्तु उनका अधिक दार्शनिक महत्त्व न होने के कारण मुझ में उन्हें छोड़ देने की प्रवृत्ति होती है।[1]

शब्द

मध्व और उनके अनुयायियों ने केवल तीन प्रकार के प्रमाणों का स्वीकार किया अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमान एवं वेदों का साक्ष्य। अन्य तन्त्रों में स्वीकृत अन्य समस्त प्रमाण, जैसे 'अर्थापत्ति,' 'सम्भव' आदि केवल अनुमान के ही प्रकार बताये गये हैं।[2] वेदों में स्वतः स्वतन्त्र ज्ञान का बल है, ऐसा माना गया है। वे 'अपौरुषेय' और 'नित्य' हैं। वे ज्ञान के प्रामाणिक साधन हैं और फिर भी चूंकि उनकी प्रामाणिकता किसी मनुष्य की वाणी में व्युत्पन्न नहीं है, अतः उनको अपौरुषेय मानना चाहिये।[3] परन्तु यह सिद्ध करने का कोई प्रयास नहीं किया गया कि वेद प्रामाणिक ज्ञान के साधन हैं, पर चूंकि उनकी प्रामाणिकता पर किसी भी हिन्दू-सम्प्रदाय द्वारा सदेह नहीं किया गया था इसलिये उनको मान्य समझ लिया गया, और फिर यह युक्ति दी गई कि चूंकि वे किसी की वाणी से उत्पन्न नहीं हुए अतः वे अपौरुषेय एवं नित्य हैं। न्याय के इस मत के विरोध में कि वेदों का ईश्वर ने सृजन किया है उनकी अपौरुषेयता को स्थापित करने का प्रयास किया गया था। व्यासतीर्थ की युक्ति है कि एक सर्वज्ञ सत्ता को वेदों का रचयिता मानकर परोक्ष रूप से उनकी प्रामाणिकता मानने में तो उनकी अपरोक्ष प्रामाणिकता स्वीकार करना अच्छा है, क्योंकि यह निश्चित नहीं है कि ऐसे रचयिता भी मिथ्या कथनों के द्वारा मानव-जाति को छलने का प्रयास नहीं करेंगे। बुद्ध स्वयं ईश्वर के अवतार हैं लेकिन फिर भी उन्होंने जनता को मिथ्या उपदेशों से छला। परम्परा भी ईश्वर को वेदों का रचियता नहीं मानती। यदि उनकी सृष्टि हुई होती तो वे बौद्धों एवं जैनों के धर्म-शास्त्रों के समान ही होते। यदि धर्म-शास्त्रों के महत्व का निर्णय उनको मानने वालों की संख्या से किया जाता तो मुस्लिम धर्म-शास्त्रों का वरिष्ठ स्थान होता। ईश्वर को वेदों का महोपाध्याय माना जा सकता है क्योंकि वह उनका प्रथम वक्ता एवं उपदेशक है।[4] उसने उनकी सृष्टि नहीं

---

[1] देखिये 'प्रमाण-पद्धति,' पृ० ४८–७९ 'तर्क-ताण्डव'
(पा० लि० पृ० ११४ और आगे)।

[2] प्रमाण-पद्धति, पृ० ८६-९०।

[3] पौरुषेय-शब्दाप्रमाणकत्वे सति सप्रमाणकत्वात्।
—तर्क-ताण्डव (पा० लि०, पृ० १००)।

[4] ईश्वरोऽपि ह्य अस्मन्मते वेद सम्प्रदाय प्रवर्तकत्वान् महोपाध्यायैव।
—वही, पृ० १२२।

की तथा वह उनको नित्य स्मरण रखता है, अत शब्दो के वैदिक क्रम के नष्ट होने की कोई सम्भावना नही है। साधारणतया तथ्यों की प्रामाणिकता का दावा उनको अभिव्यक्त करने वाले शब्दो से अग्रिम होता है तथा पश्चादुक्त पूर्वोक्त पर आश्रित रहते हैं, किन्तु वेदो मे शब्द एव अवतरणों में एक ऐसी प्रामाणिकता होती है जो तथ्यो से अग्रिम है तथा उनसे स्वतत्र है। इस प्रकार मध्व-मत न्याय अथवा मीमासा मतो से असहमत होते हुए दोनो का सामजस्य करता है।

अध्याय २६

द्वैतवादियो और अद्वैतवादियो के मध्य विवाद

जगत के मिथ्यात्व पर व्यासतीर्थ, मधुसूदन और रामाचार्य

वेदान्तियो का आग्रह है कि जगत-प्रपंच मिथ्या है। किन्तु मिथ्यात्व के स्वरूप से सम्बन्धित विवेचन मे प्रविष्ट होने से पूर्व वेदान्तियो को मिथ्यात्व की परिभाषा देनी चाहिये। प्राचीन वेदान्तियो द्वारा पाँच प्रमुख परिभाषाएँ दी गई है, उनमे से पहली यह है कि मिथ्यात्व वह है जो सत् एव असत् दोनो का अत्यन्ताभाव हो (सत्त्वात्यन्ताभावत्वे सति असत्त्वात्यन्ता-भावत्व-रूप विशिष्टम्)।[1] किन्तु व्यासतीर्थ का आग्रह है कि चूंकि इनमे से एक दूसरे का निषेध है इसलिये दोनो का सयुक्त कथन विमध्य-नियम के विरुद्ध होगा अतएव आत्म-विरोधी होगा और असत् दोनो का पृथक् पृथक् स्वीकार किया जा सकता है, पर इस तथ्य मे यह स्थापित नही होता कि उनकी सयुक्त स्वीकृति की जाय (यथा, शश और शृ ग पृथक्-पृथक् अस्तित्व रखते है, पर शश-शृ ग का कही भी अस्तित्व नही होता)। इसका मधुसूदन यह उत्तर देते है कि विमध्य-नियम सत् और असत् के प्रत्येक उदाहरण मे लागू नही होता। इस प्रकार मिथ्या आभास जहाँ तक भासित होते है वे सत् है, और जहाँ तक उनका अनस्तित्व है वे असत् है, सत् का अपवर्जन हमे अनिवार्यत असत् पर नही ले जाता और इसका विलोम भी सत्य है। इसका 'तरगिणी' के लेखक द्वारा दिया गया प्रत्युत्तर यह है कि शकरवादी स्वय यह कहते है कि यदि एक वस्तु का अस्तित्व नही है तो वह भासित नही हो सकती, जिससे प्रदर्शित होता है कि वे स्वय विमध्य-नियम को स्वीकार करते है तथा जैसाकि तर्क-शास्त्र सत् और असत् के किसी भी एव प्रत्येक सम्बन्ध-विशेष के परीक्षण मे प्रचुर प्रदर्शन करता है उक्त नियम के बल को अस्वीकृत नही किया जा सकता। शकरवादियो द्वारा दी गई मिथ्यात्व की दूसरी परिभाषा यह है कि मिथ्यात्व वह है जिसके अस्तित्व का आभास होने पर भी उसका तीनो कालो मे निषेध किया जा सके (प्रति-पन्नोपाधु त्रैकालिक निषेध-प्रतियोगित्व)। इसका व्यासतीर्थ उत्तर

---

[1] 'न्यायमृत,' पृ० २२।

देते है कि यदि निषेध सत्य है तो यह सत्य वस्तु ब्रह्म के समतुल्य अस्तित्व रक्खेगी और इस प्रकार चरम अद्वैतवादी सिद्धान्त खण्डित हो जायगा (निषेधस्य तत्त्विकत्वे अद्वैत-हानि), यदि निषेध केवल एक सीमित रूप से (व्यावहारिक) असत्य अथवा सत्य है तो जगत-प्रपच सत्य हो जायगा। पुन , इस निषेध का वस्तुत अर्थ क्या है? तथाकथित आभास एक उपादान कारण से उत्पन्न बताए जाते है तथा वे प्रत्यक्षीकरण के समय सत् रूप मे प्रत्यक्ष किये जाते हैं, और यदि यह माना जाय कि फिर भी उनका कोई अस्तित्व नही है, तो काल्पनिक शश-शृ ग की भाँति वे सर्वथा असत् होने चाहिये। यदि यह माना जाय कि जगदाभास का शश-शृ ग आदि कल्पित सत्ताओ से यह भेद है कि वे पूर्ण-रूपेण अनिर्वचनीय है तो उत्तर यह है कि स्वय 'अनिर्वचनीय' पद उनके स्वरूप का वर्णन कर देता है। पुन , जो पूर्णत असत् है वह किसी प्रकार से ज्ञान मे भासित नही हो सकता (असत अ-प्रतीताव्), अतएव उसके प्रति उल्लेख करना अथवा उसे किसी भी प्रकार से किसी अन्य वस्तु से सम्बधित करना सम्भव नही है। शकरवादी स्वय यह मानते है कि जो असत् है वह ज्ञान मे भासित नही हो सकता (असन् चेन् न प्रतीयेत), और इस प्रकार वे स्वय असत् वस्तु के ज्ञान मे आभास-मात्र ही नही होती। फलत यदि ब्रह्मन् सदा ज्ञान मे अबाधित रहता तो उस आधार पर उसकी यथार्थता का अभिवचन नही किया जा सकता था। पुन यह सत्य नही है कि शश-शृ ग की भाँति सर्वथा असत् एव काल्पनिक वस्तुओ का निर्देश करने वाले शब्द कोई ज्ञान उत्पन्न नही करते, क्योकि वे भी एक प्रत्यय को उत्पन्न करते हैं, साधारण भ्रमो एव काल्पनिक वस्तुओ मे यह अन्तर है कि जहाँ साधारण भ्रमो का अधिष्ठान सत्य एव प्रामाणिक होता है, वहाँ काल्पनिक वस्तुओ का कोई अधिष्ठान नही होता। अत , चूँकि काल्पनिक वस्तुएँ भी चेतना की विषय बनाई जा सकती हैं, इसलिये वे ज्ञान मे असत् के रूप मे भासित होती हैं। वैदिक पाठ 'असत् ही प्रारम्भ मे अस्तित्व रखता था' (असदेव इदमग्र आसीत्) भी इस तथ्य की साक्ष्य देता है कि 'असत्' सत् के रूप मे भासित हो सकता है। फिर असत् की यह परिभाषा नही दी जा सकती कि वह मात्र 'सत्' तथा 'अनिर्वाच्य' से भिन्न होता है, क्योकि पश्चादुक्त को 'असत्' के प्रत्यय के द्वारा ही समझा जा सकता है तथा इसका विलोम भी सत्य है। इस प्रकार 'असत्' की यह परिभाषा दी जा सकती है कि वह उस सत् से भिन्न है जिसका सर्वत्र त्रिकाल मे निषेध कदापि नही किया जा सकता (सार्वत्रिक-त्रैकालिक-निषेध-प्रतियोगित्व-रूप-सदन्यस्यैव तत्वाच्च)। यदि 'अनिर्वाच्य' की यह परिभाषा दी जाय कि अनिर्वाच्य वह है जिसका त्रिकाल मे निषेध किया जा सकता है, तो वह स्वय असत् से एकरूप हो जाता है। असत् की भी यह परिभाषा नही दी जा सकती कि असत् वह है जो किसी व्यावहारिक उद्देश्य की पूर्ति नही कर सकता, क्योकि शुक्ति-रजत भी, जिसे असत् स्वीकृत किया जाता है, एक सभ्रान्त व्यक्ति मे उसे ग्रहण करने के प्रयास को उत्पन्न करने मे सहायक हो सकती है और इस प्रकार उसमे एक तरह की प्रवृत्ति-

जायगा तो अनवस्था दोष उत्पन्न हो जायगा, क्योंकि इस प्रकार के प्रश्न पूछे जा सकते है कि क्या निरपेक्ष यथार्थता निरपेक्ष रूप से निरपेक्ष है अथवा सापेक्ष रूप से निरपेक्ष है। पुन मिथ्यात्व की यह परिभाषा दी जाती है कि मिथ्यात्व वह है जो ज्ञान द्वारा ज्ञान-जन्य व्यापार से नष्ट हो सकता है। किन्तु व्यासतीर्थ ऐसी स्थिति को स्वीकार नही करते और कहते है कि अतीत की घटनाओं एव वस्तुओं का ज्ञान मिथ्या होने पर भी तथाकथित सम्यक्ज्ञान से नष्ट होने की प्रतीक्षा किये बिना स्वत ही नष्ट हो जाता है, यह अनुभव भी नही किया जाता है कि रजत शुक्ति के ज्ञान द्वारा नष्ट की जाती है। आगे यह आग्रह किया जाता है कि शुक्ति का सम्यक्-ज्ञान त्रुटि का निराकरण करता है, जो त्रुटि होने के नाते सत्य थी और उससे यह प्रदर्शित होता है कि ज्ञान न केवल मिथ्यात्व का निराकरण करता है वरन् सत्य वस्तुओं का भी निराकरण करता है और इस कारण से उपरोक्त परिभाषा मिथ्यात्व की एक सत्य परिभाषा नही हो सकती। इसके अतिरिक्त, जब एक भ्रम का निराकरण होता है तो यह निराकरण ज्ञान के व्यापार के कारण नही होता, किन्तु उसकी प्रत्यक्षनिष्ठ अपरोक्षता के कारण होता है (अपरोक्ष अध्यासम्प्रति ज्ञानस्य-अपरोक्ष-तया निवर्तकत्वेन ज्ञानत्वेन अनिवर्तकत्वाच् च)।[1] पुन, यदि मिथ्यात्व की यह परिभाषा दी जाय कि मिथ्यात्व वह है जो उस ज्ञान के द्वारा नष्ट किया जाता है जो मिथ्यात्व के उपादान कारण को ही नष्ट कर देता है (स्वोपादान अज्ञान-निवर्तक ज्ञान-निवर्त्यत्व), तो आपत्ति यह होगी कि यह परिभाषा अनादि भ्रम पर लागू नही होती।[2] इसी प्रकार यह माना जा सकता है कि मिथ्यात्व की इस परिभाषा का भी खण्डन किया जा सकता है कि मिथ्यात्व वह आभास है जिसकी उस स्थान मे प्रतीति होती है जहाँ उसका अभाव है (स्वात्यन्त अभावअधिकरणेव प्रतीत्यमानत्व), क्योंकि, जैसाकि पहले निर्देश किया जा चुका है हम अभाव को सापेक्षत यथार्थ अथवा मिथ्या माने तदनुसार ही कई आपत्तियाँ उठ खडी होती है। पुन, यदि मिथ्यात्व की यह परिभाषा दी जाय कि मिथ्यात्व वह है जो सत् और असत् दोनो से भिन्न है, तो चूंकि जैसाकि पहले ही बताया जा चुका है, असत् का अर्थ पूर्ण अभाव होता है, इसलिये आभास अथवा भ्रम की व्याख्या नही हो पायगी। यदि उसकी यह परिभाषा दी जाय कि मिथ्यात्व वह है जो ज्ञान के द्वारा नष्ट होता है, तो उससे उसकी अनित्यता सिद्ध होती है, किन्तु उसका मिथ्या स्वरूप सिद्ध नही होता (धी-नाश्यत्वे अनित्यता एव स्यात् न मृषात्मता)।[3]

मिथ्यात्व की इस परिभाषा के विरुद्ध, कि मिथ्यात्व वह है जो ज्ञान के द्वारा नष्ट किया जा सकता है, व्यासतीर्थ की आपत्ति के उत्तर मे मधुसूदन कहते है कि उक्त

[1] 'न्यायमृत', पृ० ३९ (ब)।

[2] वही, पृ० ४०।

[3] वही, पृ० ४१।

परिभाषा का वास्तविक अर्थ यह है कि वह सत्ता जो अपने कारण-पक्ष एव कार्य-पक्ष दोनो मे ज्ञान के उदय के कारण नष्ट हो जाती है मिथ्या होती है। यद्यपि घट कार्य-पक्ष मे लाठी के प्रहार से नष्ट हो जाता है, तथापि मृत्तिका के वर्त्तन के रूप मे अपने कारण-पक्ष मे नष्ट नही होता। शश-शृंग का कोई भी अस्तित्व नही होता, अत उसका अभाव ज्ञान के द्वारा उत्पन्न नही होता है। पुन, चूंकि शुक्ति-रजत चेतना मे भासित होती है और सम्यक् ज्ञान के उदय होने के तत्काल पश्चात् नष्ट हो जाती है, इसलिये उसका विलयन ज्ञान के कारण होना चाहिये। यह कहना भी गलत नही है कि मिथ्यात्व का ज्ञान के द्वारा ज्ञान-जन्य व्यापार से निषेध होता है, क्योकि उत्तर-वर्त्ती ज्ञान पूर्ववर्त्ती ज्ञान का ज्ञान-जन्य व्यापार से निषेध नही करता, अपितु अपनी उत्तरवर्त्तिता के कारण ऐसा करता है, अतएव मिथ्यात्व की यह परिभाषा, कि मिथ्यात्व वह है जिसका ज्ञान के द्वारा केवल ज्ञान-जन्य व्यापार से निषेध होता है, स्पष्ट रूप से उत्तरवर्त्ती ज्ञान द्वारा पूर्ववर्त्ती ज्ञान के निषेध के उस उदाहरण से पृथक् बनी रहती है जिसके प्रति उक्त परिभाषा का गलत ढग से विस्तार सम्भव माना गया था। पर यह निर्देश करना उचित होगा कि मिथ्यात्व का ज्ञान द्वारा निषेध परोक्ष रूप मे नही बल्कि साक्षात् एव तत्काल रूप से किया जाता है (वस्तुतस्तु साक्षात्कारत्वेन ज्ञान-निवर्त्यत्व विवक्षितम्)।[1]

इसका रामाचार्य यह उत्तर देते है कि स्वय मधुसूदन ही यह कहते है कि मिथ्यात्व की इस परिभाषा का, कि मिथ्यात्व वह है जिसका ज्ञान के द्वारा निषेध हो सके, अर्थ है ज्ञान के उदय के कारण किसी सत्ता की अवस्थिति का सामान्य विरह (ज्ञान-प्रयुक्त-अवस्थिति-सामान्य-विरह-प्रतियोगित्व ज्ञान-निवर्त्यत्व) (देखिये 'अद्वैत-सिद्धि', पृ० १६८ एव 'तरगिणी' पृ० २२)।[2] यह पूछा जा सकता है कि क्या अवस्थिति का विशेष्य 'सामान्य' शब्द है अथवा विरह है (अवस्थित्या सामान्य वा विशिष्यते विरह वा)। प्रथम-विकल्प का अर्थ होगा किसी सत्ता के कारण का ज्ञान के उदय के द्वारा निषेध, क्योकि 'अवस्थिति-सामान्य' शब्द का अर्थ कारण होता है। किन्तु उस दशा मे मिथ्यात्व की परिभाषा का उत्तरवर्त्ती ज्ञान द्वारा पूर्ववर्त्ती ज्ञान के निषेध के सम्बन्ध मे अवैध विस्तार हो जायगा, क्योकि उत्तरवर्त्ती ज्ञान पूर्ववर्त्ती ज्ञान की निरन्तर स्थिति के कारण को नष्ट करता है तथा उक्त परिभाषा अनादि 'अविद्या'

[1] ज्ञानत्व-व्याप्य-धर्मेण ज्ञाननिवर्त्यत्वमित्यपि साधु, उत्तर-ज्ञानस्य पूर्व-ज्ञान-निवर्तकत्व न ज्ञानत्वव्याप्यधर्मेण किन्तु इच्छादि-साधारणेनोदीच्यात्मविशेषगुणत्वेन उद्दीच्यत्वेन वेति न सिद्ध-साधनादि।

—'अद्वैत-सिद्धि' पृ० १७१–२।

[2] वही, पृ० १७८।

कोई रजत नही है,' तब निषेध अभाव का होता है, और उसके द्वारा आभास के मिथ्यात्व का निश्चित रूप से कथन किया जाता है (सा च पुरोवर्त्ति-रजतस्यैव व्यावहारिकमन्यन्तभावम् विपयी-करोति इति कण्ठोक्तमेव मिथ्यात्वम्), जबकि पूर्वोक्त उदाहरण मे मिथ्यात्व केवल लक्षित होता है (इद शाब्द-निर्दिष्टे पुरोवर्त्ति-प्रातीतिक रजत-शब्द-निर्दिष्ट-व्यावहारिक-रजत-अन्योन्य-अभाव-प्रतितेर आर्थिक मिथ्यात्वम्) ।[1] अब, रजते यदि जगत्-प्रपच का निषेध किया जाता है ('यहाँ कोई जगत्-प्रपच नही है') तब, चूंकि अन्य कही भी कोई जगत-प्रपच नही है, अत निषेध के द्वारा जगत-प्रपच का पूर्ण अभाव लक्षित होता है, अर्थात् जगत-प्रपच का वैसा ही अभाव है जैसा किसी काल्पनिक सत्ता का, यथा, शश-शृ ग होता है। इस आपत्ति का कि 'अनिर्वचनीय' के रूप मे जगदानुभव के पूर्ण अभाव और काल्पनिकता (तुच्छ) के रूप में पूर्ण अभाव मे अन्तर होता है, यह उत्तर है कि पश्चादुक्त का तो कही भी प्रातीतिक आभास भी नही होता, जबकि पूर्वोक्त बाधित न होने तक वस्तुत सत् के रूप मे भासित होता है (क्वचिद् अप्य उपाधौ सत्वेन प्रतीत्यनर्हत्वमत्यन्त असत्व यावद् बाधम् प्रतीतियोग्यत्व प्रातीतिक-सत्वम्)। इस सम्बन्ध में आगे यह भी ध्यान रखना चाहिये कि जो निषेध मिथ्यात्व को उत्पन्न करता है उसका निषेध की गई सामग्री के समान ही सम्बन्ध, उसके समान ही विस्तार व क्षेत्र होना चाहिए (येन रूपेण यद्-अधिकरणतया यत् प्रतिपन्न तेन रूपेण तन् निष्ठ-अत्यन्त-अभाव-प्रतियोगित्वस्य प्रतिपन्न-पदेन सूचित्वात्, तच्च रूप सम्बन्ध विशेषोऽवच्छेदक विशेषश्च) ।[2] इसके अतिरिक्त, शकरवादी अभाव को एक पृथक् पदार्थ के रूप मे स्वीकार नही करते, बल्कि अभाव को जिस आश्रय मे वह प्रकट होता है उसके निरपेक्ष स्वरूप से एकरूप मानते है। ब्रह्मन् मे कोई गुण नही होते, अतएव इसका यह अर्थ नही है कि उसका एक निषेधात्मक स्वरूप होता है, क्योकि, अधिक पृथक् निषेधो के कारण समस्त गुणो के निषेध का अर्थ केवल ब्रह्मन् का विशुद्ध स्वरूप होता है। अनन्तता आदि तथाकथित भावात्मक गुणो के आरोपो का अर्थ भी मिथ्यात्व एव सान्तता के विपरीत गुणो का अभाव होता है, जिससे अन्ततोगत्वा ब्रह्मन् के विशुद्ध स्वरूप के प्रति प्रत्यावर्तन लक्षित होता है आदि (अधिकरण अतिरिक्त-अभाव-अभ्युपगमेन उक्त-मिथ्यात्व-अभाव-रूप-सत्यत्वस्य ब्रह्म-स्वरूप-विरोधात्) ।[3]

रामाचार्य अपनी 'तरगिणी' में मधुसूदन के मत का खण्डन करते हुए कहते है कि 'प्रागभाव' के निषेध के अतिरिक्त अभाव के निषेध का अर्थ स्वीकार होता है, अतएव

---

[1] 'अद्वैत-सिद्धि,' पृ० १३०–१।

[2] 'अद्वैत-सिद्धि,' पृ० १५१।

[3] वही, पृ० १५६।

चूँकि कोई तीसरा विकल्प सम्भव नहीं है, इसलिये एक सत्ता के निषेध का निषेध के अनिवार्यतः स्वीकृत ही होता है। पुनः, मधुसूदन का यह कथन आधारहीन है कि भ्रम, मिथ्या रजत के यथार्थ रजत के रूप में भासित होने में निहित है, क्योंकि जिस उपादान कारण से मिथ्या रजत की उत्पत्ति हुई वह यथार्थ रजत के उपादान कारण से भिन्न होता है। मिथ्या रजत का अस्तित्व तभी समाप्त होता है जब मिथ्या रजत के उपादान कारण-रूप अज्ञान का निवारण करने वाले सत्य ज्ञान का उदय होता है (प्रातिभासिकस्य स्वोपादान-ज्ञान-निवर्तक-ज्ञान-विषयेणैव वा तादात्म्य प्रतीतेश्च) जहाँ एक ही उपादान कारण दो पृथक् आभासों को उत्पन्न करता है (यथा, पट एवं श्वेतता), वहाँ उनके तादात्म्य की प्रतीति हो सकती है। परन्तु, जब उपादान कारण सर्वथा भिन्न होते हैं तब उनसे उत्पन्न सत्ताओं के तादात्म्य की प्रतीति कदापि नहीं हो सकती।[1] पुनः, मधुसूदन द्वारा यह आग्रह किया गया है कि जिस निषेध के द्वारा मिथ्यात्व निर्मित होता है वह उन्हीं उपाधियों एवं सम्बन्धों से प्रतिबन्धित होना चाहिये जिनमें भावात्मक सत्ताएँ प्रतिबन्धित थी, किन्तु यह निरर्थक है, क्योंकि इस प्रकार का प्रतिबन्धन इस सत्य को चुनौती नहीं दे सकता कि अभाव के निषेध का अर्थ स्वीकृति होता है, जबतक कि विमध्य-नियम की परिधि से बचने के लिये किसी तीसरे विकल्प के अस्तित्व का कोई निश्चित प्रमाण नहीं दिया जाता।[2]

व्यासतीर्थ कहते हैं कि मिथ्यात्व की परिभाषा यथार्थता के पूर्ण निषेध के रूप में नहीं दी जा सकती, क्योंकि जबतक निषेध का अर्थ नहीं समझ लिया जाता तबतक यथार्थता का अर्थ ग्रहण नहीं किया जा सकता और इसका विलोम भी सत्य है। यहाँ विवाद का विषय यह है कि क्या शुक्ति-रजत का स्वरूप से निषेध किया जाता है अथवा उसकी यथार्थता का निषेध किया जाता है। पूर्वोक्त विकल्प इस आधार पर अस्वीकृत किया जाता है कि यदि उसको स्वीकार कर लिया जाय तो प्रत्यक्षकर्त्ता के सम्मुख शुक्ति-रजत के अस्तित्व की चेतना की व्याख्या करना कठिन हो जायगा, क्योंकि, यदि वह पूर्णतः असत् होती तो उसका साक्षात् प्रत्यक्षीकरण नहीं हो सकता था। किन्तु उतने ही बल से यह निर्देश किया जा सकता है कि दूसरा विकल्प भी अमान्य है, क्योंकि, जब शुक्ति-रजत का प्रत्यक्षीकरण किया गया था तब वह यथार्थ के रूप में प्रत्यक्ष किया गया था और यदि ऐसा है तो उस यथार्थता का कैसे निषेध किया जा सकता है? इसके उत्तर में यदि यह सुझाव दिया जाता है कि शुक्ति-रजत की यथार्थता केवल एक सापेक्ष यथार्थता है और एक निरपेक्ष यथार्थता नहीं है, तब यह निर्देश किया जा सकता है कि यदि एक बार यथार्थता के अंश को स्वीकार कर लिया

[1] 'न्यायामृत-तरंगिणी', पृ० १६ (अ)।

[2] 'तरंगिणी', पृ० २०।

सामने आती या भासती है तथा निरुद्ध असत् जिसे प्रायः शश-शृंग कहा जाता है, सद् किसी प्रकार के व्यावहारिक प्रयोजन की पूर्ति करने में असमर्थ होता है। पुनः मिथ्यात्व अथवा असत् की यह अन्य परिभाषा नहीं की जा सकती कि इसका प्रतिभास कहीं संभव नहीं होता, क्योंकि यदि ऐसा होता तो यह नहीं कहा जा सकता था कि मिथ्यात्व का निषेध मात्र उसके स्वरूप पर लागू होता है और न मिथ्यात्व का लक्षण मात्र मिथ्या माना जा सकता है, क्योंकि ऐसी स्थिति में मिथ्यात्व के पद की परिभाषित करना पर आधारित होगी, और उसके मिथ्याभाव विषय का कोई स्पष्टीकरण नहीं हो पायेगा, क्योंकि यदि भ्रमात्मक सत्ता, उसका अस्तित्व के रूप ज्ञात न होता रहता है तो इस प्रकार का ज्ञान ही मिथ्या कहना अर्थहीन होगा। ऐसी मान्यता का आशय यह भी होगा कि भ्रमात्मक अवस्था में भासित वस्तु का उसके आधार से भिन्न कोई वस्तु के रूप में विनिश्चय नहीं किया जाता है, यदि ऐसी वस्तु का इस प्रकार से कोई स्थिति है तथा व्यावहारिक प्रयोजन की पूर्ति कर सकती है और मिथ्या नहीं हो सकती है, तो सत और असत् में कोई भेद नहीं होगा यदि ऐसा होता तो सत् का अभाव असत् के समान ही यह भी कारण कहा जा सकता था। इस प्रकार पूर्ण असत की यह परिभाषा की जा सकती है कि पूर्ण असत् वह है जिसका सर्वत्र त्रैकालिक निषेध किया जा सकता है (सर्वत्र त्रैकालिक-निषेध-प्रतियोगित्व)। यह भी नही माना जा सकता है कि असत् इसीलिये पूर्ण निषेध का विषय नहीं बन सकता क्योंकि वह असत् है, जैसाकि आनन्दबोध ने 'न्याय-मकरन्द' में कहा गया है, क्योंकि, यदि एक पूर्ण निषेध का कोई विषय न भी हो सकता तो इसके लिये दिये गये इस कारण 'क्योंकि यह असत् है'—का स्वयं कोई विषय नहीं होगा, अतएव यह लागू नही होगा। इसके अतिरिक्त, जैसे भावात्मक सत्ताओं का निषेध किया जा सकता है, वैसे भावात्मक सत्ताओं का उल्लेख करने वाले विशिष्ट निषेधों का भी निषेध किया जा सकता है और इस प्रकार वे अपने अनुरूप स्वीकारात्मक अभिवचनों को प्रेरित कर सकते हैं। पुन, यह भी स्वीकार किया गया है कि विशिष्ट भावात्मक सत्ताए 'प्रागभाव' की स्थिति मे अपने अनुरूप निषेधों के निषेध द्वारा अस्तित्व मे आती हैं। इससे यह भी सिद्ध होता है कि नकार अथवा निषेध अपनी प्रक्रिया तथा निषेध के व्यापार के लिये अनिवार्यत भावात्मक गुणो अथवा सत्ताओ की अपेक्षा नही रखता। उक्त विवेचन का एकमात्र निष्कर्ष यह है कि यदि मिथ्यात्व का अर्थ ज्ञान मे भासित होने वाली किसी वस्तु का पूर्ण निषेध है तो उसका आशय यह है कि किसी भी सत्ता का अभिवचन नही किया जा सकता, क्योंकि मिथ्या अथवा सत्य का अभिवचन केवल ज्ञान मे भासित सत्ताओ पर लागू होगा तथा उस दशा मे ब्रह्मन् की सत्ता भी सोपाधिक हो जायगी, अर्थात् जहाँ तक वह ज्ञान मे भासित होती है। पुन, पूर्ण निषेध (सर्वत्र त्रैकालिक-निषेध-प्रतियोगित्व) का काल्पनिक सत्ताओ से विभेद नही किया जा सकता। और यदि जिगदाभास पूर्ण निषेध का विषय होता तो उसकी स्थिति काल्पनिक सत्ताओ से तनिक भी वरिष्ठ नही होती (यथा, शश-शृंग)।

मिथ्यात्व की परिभाषा के विरुद्ध व्यासतीर्थ की आपत्तियाँ यह है कि यदि मिथ्यात्व यथार्थ है तो उससे द्वैतवाद लक्षित होता है और यदि मिथ्यात्व मिथ्या है तो उससे जगत की यथार्थता की पुन स्वीकृति लक्षित होती है। इनके उत्तर मे मधुसूदन कहते हैं कि चूँकि निषेध स्वय (जहाँ तक उसके चरम अधिष्ठान का सम्बन्ध है) ब्रह्मन् से एकरूप है, इसलिये मिथ्यात्व की यथार्थता से द्वैतवाद लक्षित नही होता, क्योकि निषेध की यथार्थता से उस दृश्य-घटना की यथार्थता लक्षित नही होती जिसके निषेध का निषेध समस्त दृश्य-घटनाओ के निषेध द्वारा किया जा चुका है। उसमे केवल उतनी ही यथार्थता है जितनी समस्त दृश्य-घटनाओ के अधिष्ठान, ब्रह्मन् मे अन्तर्निहित है। पुन, मिथ्यात्व के मिथ्यात्व से जगदाभास की यथार्थता की स्वीकृति लक्षित नही होती, क्योकि शुक्ति-रजत के उदाहरण मे यद्यपि यह ज्ञात होता है कि न केवल वह मिथ्या था किन्तु, चूँकि उसका सर्वथा अस्तित्व ही नही था, वह कभी अस्तित्व नही रखता है एव कदापि अस्तित्व नहीं रक्खेगा, और उसके प्रति मिथ्यात्व का कथन भी मिथ्या है, इसलिये वस्तुत शुक्ति-रजत् की यथार्थ के रूप मे पुन. स्वीकृति नही की जाती। यह मानना गलत है कि मिथ्यात्व का मिथ्यात्व अथवा निषेध का निषेध सब दशाओ मे पुन स्वीकृति होता है, केवल उसी दशा मे निषेध का निषेध स्वीकृति होता है जब यथार्थता एव निषेध का एक ही स्तर होता है तथा उनका क्षेत्र एकरूप होता है, किन्तु, जब उनके अर्थ का क्षेत्र भिन्न होता है, तब निषेध के निषेध द्वारा एक स्वीकृति लक्षित नही होती। आगे यह निर्देश किया जा सकता है कि जब निषेध के निषेध द्वारा भावात्मक सत्ता की पुन स्वीकृति अभिप्रेत होती है, तब निषेध का निषेध स्वीकृति को प्रेरित करता है। पर, जब एक निषेध भावात्मक सत्ता एव निषेध (जो स्वय एक पृथक् सत्ता माना जाता है) दोनो का निषेध करता है, तब द्वितीय निषेध स्वीकृति को प्रेरित नही करता।[1] जगदाभास का निषेध शुक्ति-रजत के निषेध की भाँति जगदाभास की यथार्थता का स्वरूप मे (स्वरूपेण) निषेध होता है। यह तथ्य कि जगत् प्रपच 'अज्ञान' की एक उपज माना गया है तनिक भी यह लक्षित नही करता कि वह स्वरूपत मिथ्या नही हो सकता, क्योकि जो अपने स्वरूप से ही मिथ्या है वह मिथ्या ही रहेगा, चाहे वह उत्पन्न हो अथवा न हो। शुक्ति-रजत के निषेध ('यह रजत नही है') का अर्थ यह है कि शुक्ति-रजत वास्तविक रजत से अन्य है, अर्थात्, यहाँ निषेध अन्यत्व का है (अन्यो-अन्य-अभाव)। पर जब यह कहा जाता है कि 'यहाँ

[1] तत्र हि निषेधस्य निषेधे प्रतियोगि-सत्वमायाति, यत्र निषेधस्य निषेध-बुद्ध्या प्रतियोगिसाव व्यवस्थाप्यते, न निषेध-मात्र निषेध्यते, यथा रजते न इद रजतमिति ज्ञानान्तरमिद न अरजतमिति ज्ञानेन रजत व्यवस्थाप्यते। यत्र तु प्रतियोगि निषेध-योरुभयोरपि निषेधस्तत्र न प्रतियोगिमावम्।

—अद्वैत-सिद्धि, पृ० १०५–६।

पर लागू नही होगी। दूसरे शब्दो मे, अर्थात् यदि 'सामान्य' शब्द विशेष का विशेष्य हो, तो यह निर्देश किया जा सकता है कि अद्वैतवादी एक विशेष सत्ता के अभाव से भिन्न एक सामान्य अभाव (विरह) को स्वीकार नही करता। इसके अतिरिक्त, चू कि शुक्ति-रजत का स्वरूपत मिथ्या होने के नाते निषेध किया जाता है, इसलिए यह नही कहा जा सकता कि उसका सामान्य अभाव (अर्थात् सामान्य व काल दोनो रूपो मे) ज्ञान के उदय के कारण हुआ, क्योकि उसको सत् के रूप मे कभी अगीकार नही किया जाता है।[1] पुन, चू कि, जैसाकि रामाचार्य बता चुके है कि शुक्ति-रजत के अभाव और शश-शृ ग के अभाव मे कोई अन्तर नही होना चाहिये, इसलिये यदि शुक्ति रजत का अभाव ज्ञान के उदय के कारण बताया जाता है तो शश-शृ ग का अभाव भी ज्ञान के कारण कहा जा सकता है।

'स्वय अपने अभाव के आश्रय मे आभास' (स्वाश्रय-निष्ठ-अत्यन्त-अभाव-प्रतियोगित्व प्रतीयमानत्व) अथवा 'स्वय अपने अस्तित्व के आश्रय मे अभाव' (स्वाश्रय-निष्ठ-अत्यन्त-अभाव-प्रतियोगित्वम्) के रूप मे मिथ्यात्व की परिभाषा का समर्थन करते हुए मधुसूदन कहते है कि चू कि एक सत्ता के एक ही काल मे भाव और अभाव दोनो हो सकते है, अत उसके एक ही स्थान मे भाव और अभाव दोनो हो सकते है। इसका रामाचार्य यह उत्तर देते है कि यदि यह अगीकार कर लिया जाता है तो भाव और अभाव मे कोई भेद नही रहता तथा व्यावहारिक अनुभव मे कोई व्यवस्था नही रहती (तथा सति भावाभावयोर उच्छन्नकथा स्यात् इति व्यावहारिकयपि व्यवस्था न स्यात्), फलत द्वैतवाद और उसका अभाव अद्वैतवाद एकरूप हो जाएंगे और अद्वैतवादी ज्ञान द्वैतवादी चेतना का निवारण करने मे असमर्थ रहेगी।

सद् मे भिन्नता के रूप मे मिथ्यात्व (सद्-विविक्तत्व मिथ्यात्व) की पाचवी परिभाषा के समर्थन मे मधुसूदन सत् के अस्तित्व की यह परिभाषा देते है कि वह ज्ञान के द्वारा सिद्ध होता है और दोषो के द्वारा असिद्ध नही होता। सत् की परिभाषा मे आगे सशोधन करते हुए वे कहते है कि वह दोषो द्वारा असिद्ध न किये हुए प्रमाणो के द्वारा सत् प्रतीत होता है। इस विशेषता के द्वारा वे काल्पनिक सत्ताओ एव ब्रह्मन् का अपवर्जन करते हैं, क्योकि काल्पनिक सत्ताए सत् के रूप मे प्रतीत नही होती और ब्रह्मन् यद्यपि स्वय मे सत् है तथापि वह किसी ऐसे मनस् का विषय नही बनता जिसे वह सत् प्रतीत हो (सत्वा-प्रकारक-प्रतीति-विषयताभावात्)।

सत् की यह परिभाषा दी गई है कि वह 'प्रमाण-सिद्ध' होता है और अबाधित होता है। इसके प्रति रामाचार्य की यह आपत्ति है कि ब्रह्मन् किन्ही प्रमाणो का

[1] शुक्ति-रजतादेरवस्थियत्गीकारे स्वरूपेण निषेधोक्त्ययोगनश्च।

—तरगिणी, पृ० २२।

विपय नही होता, जबकि सर्व प्रमाणो द्वारा सिद्ध जगत् का अन्त मे बाध हो जाता है ।[1]

व्यासतीर्थ द्वारा यह प्रश्न उठाया जाता है कि क्या मिथ्यात्व का बाध होता है अथवा वह अबाधित रहता है । यदि वह अबाधित है तो मिथ्यात्व सत् हो जाता है और अद्वैतवादी सिद्धान्त खण्डित हो जाता है । यदि उत्तर मे यह कहा जाय कि मिथ्यात्व का भ्रम के अधिष्ठान ब्रह्मन् से तादात्म्य है तो 'प्रपचो मिथ्या' वाक्याश का अर्थ यह है कि जगत-प्रपच का ब्रह्मन् से तादात्म्य है और इसका हम विरोध नही करते, क्योकि ब्रह्मन् सर्व-व्यापक होने के कारण उसका एक अर्थ मे जगत-प्रपच से तादात्म्य होता है । इसके अतिरिक्त यदि मिथ्यात्व का ब्रह्मन् से तादात्म्य हो तो यह सामान्य युक्ति दोप-पूर्ण होगी कि वे ही वस्तुएँ मिथ्या है जो प्रज्ञेय हैं, क्योकि मिथ्यात्व का ब्रह्मन् से तादात्म्य होने के कारण वह स्वय अप्रज्ञेय होगा । यदि मिथ्यात्व का बाध होता है तो वह आत्म-बाध्य है तथा जगत सत् हो जायगा । यदि पुन यह आग्रह किया जाय कि मिथ्यात्व का ब्रह्मन् से तादात्म्य नही है, किन्तु उसका द्वितीय निषेध अथवा मिथ्यात्व के अधिष्ठान रूप ब्रह्मन् की सत्ता से तादात्म्य है, तो भी इसका उत्तर यह होगा कि हमारा परिप्रश्न स्वय इस प्रश्न पर केन्द्रित है कि क्या द्वितीय निषेध स्वय बाधित होता है अथवा अबाधित रहता हे और यह सुविदित है कि चू कि सर्वत्र अध-स्थित तत्व शुद्ध चैतन्य है, अत द्वितीय निषेध की अध-स्थित सत्ता का ऐसा कोई पृथक् अथवा स्वतत्र अस्तित्व नही होता जिसके सम्बन्ध मे कोई अभिवचन किया जा सके । यह स्पष्ट है कि यदि प्रथम अवस्था मे मिथ्यात्व के ब्रह्मन् के साथ तादात्म्य होने का कथन अर्थ-हीन है, तो उसका द्वितीय निषेध मे अध-स्थित शुद्ध चैतन्य के साथ तादात्म्य स्थापित करके उसके विस्तार का प्रयास वस्तुत किसी नवीन अर्थ को प्रेरित नही करता । यदि यह फिर आग्रह किया जाय कि चू कि शुक्ति-रजत मिथ्या है अत मिथ्यात्व जो उस शुक्ति-रजत का एक धर्म है अनिवार्यत मिथ्या होगा, यदि द्रव्य मिथ्या है तो उसका धर्म अनिवार्यत मिथ्या होगा, अतएव इस मिथ्यात्व का मिथ्यात्व शुक्ति-रजत की यथार्थता की पुन स्वीकृति नही करता । चू कि दोनो मिथ्यात्व उस द्रव्य के मिथ्यात्व पर आश्रित है जिससे वे गुणात्मक दृष्टि से सम्बन्धित है, इसलिये निपेध के निपेध का अर्थ स्वीकृति नही होता । निपेध के निषेध का अर्थ स्वीकृति तभी हो सकता है जबकि द्रव्य यथार्थ हो । किन्तु यह स्पष्टत एक सम्भ्रान्ति है, क्योकि द्रव्य के अभाव से धर्मो का अभाव तभी फलित होता है जब उक्त धर्म द्रव्य के स्वरूप पर आश्रित हो, किन्तु मिथ्यात्व इस प्रकार आश्रित नही होता, क्योकि वह जिस द्रव्य का

---

[1] 'तरगिणी', पृ० ७३ ।

उल्लेख करता है उसके स्वाभाविक रूप से प्रतिकूल होता है।[1] इसके अतिरिक्त, यदि शुक्ति-रजत का मिथ्यात्व केवल इसीलिये मिथ्या हो जाता है कि वह मिथ्या रजत से सम्बधित होता है, यद्यपि व्याघात के अनुभव के कारण इसकी स्वीकृति की जाती है–तो वह सब वस्तुओं की आधार-भूत सत्ता ब्रह्म से अनिवार्यता सम्बधित होने के कारण समान औचित्य से सत् कहा जा सकता है, अथवा दूसरी ओर शुक्ति मिथ्या रजत से अपने साहचर्य के कारण समान औचित्य से मिथ्या कही जा सकती है तथा असत् भी सत् से सम्बधित होने के कारण सत् हो जायगा और उसका विलोम भी सत्य होगा।[2] इसके अतिरिक्त, शास्त्रवादियों द्वारा शुक्ति-रजत शश-शृंग की भाँति पूर्णत असत् नहीं मानी जाती, अतएव मिथ्यात्व उसके साथ अपने साहचर्य के कारण पूर्णत असत् नही माना जा सकता। पुन, यह युक्ति कि मिथ्यात्व के अस्तित्व का स्तर वही नही है जो उसके द्वारा उल्लिखित जगत-प्रपंच का होता है अतएव मिथ्यात्व की स्वीकृति चरम अद्वैतवाद को ठेस नही पहुँचाती, गलत है, क्योंकि यदि मिथ्यात्व का केवल सापेक्ष अस्तित्व (व्यावहारिकत्वे) है तो हमारे प्रतिदिन के अनुभव का जगत, जो उसके विरोध मे है और जो प्रत्यक्षीकरण द्वारा प्रमाणीकृत होता है, परम सत् माना जाना चाहिये। इस प्रकार हमारी पूर्वोक्त आपत्ति बनी रहती है कि यदि मिथ्यात्व अबाधित हो तो अद्वैतवादी सिद्धान्त की क्षति होती है, यदि बाधित हो, तो जगत् सत्य हो जाता है।[2अ]

मधुसूदन उपरोक्त आपत्ति का पूर्वोक्त उत्तर देते हैं कि जब स्वीकृति और निषेध की सत्ता का स्तर भिन्न होता है, तब निषध के निषेध मे स्वीकृति अन्तर्निहित नही होती। यदि निषेध एक व्यावहारिक सत्ता का उल्लेख करता है, तो ऐसा निषेध एक काल्पनिक सत्ता की स्वीकृति का अपहरण नही करता।[3] इस प्रकार एक ही सत्ता विभिन्न अर्थों मे सत्य एव मिथ्या हो सकती है। मधुसूदन आगे कहते हैं कि जब निषेध एक विशिष्ट धर्म के कारण होता है, तब निषेध का निषेध एक स्वीकृति नही हो सकता। यहाँ शुक्ति और उसके धर्म दोनो का उनके उभयनिष्ठ आभासी अनुमोद-

[1] धर्म्यसत्त्वे धर्मासत्त्व तु धर्मि-सत्वासापेक्ष-धर्म-विषयम्, मिथ्यात्व तु तत्प्रतिकूलम्।
—'न्यायामृत', पृ० ४४।

[2] वही, पृ० ४५।

[2अ] मिथ्यात्व यद्यबाध्य स्यात्स्यदद्वैत-मत-क्षति
मिथ्यात्व यदि बाध्य स्यात् जगत्-सत्यत्वमापतेत्। —वही, पृ० ४७।

[3] परस्पर विरह-रूपत्वेऽपि विषम-सत्वाकयोर
विरोघात् व्यावहारिक-मिथ्यात्वेन व्यावहारिक–
सत्यत्वापहारेऽपि काल्पनिक-सत्यत्वानपहारात्। —'अद्वैत-सिद्धि', पृ० २१७।

नत्व के गुण के कारण निषेध होता है। इस प्रकार निडरतापूर्वक यह कहा जा सकता है कि एक हाथी मे अश्व एव गौ दोनो का निषेध किया जा सकता है।[1]

इसका रामाचार्य यह उत्तर देते हैं कि सत् और असत् स्वभावत एक दूसरे का अपवर्जन करते है, अतएव उनका निषेध किसी अन्य विशिष्ट धर्म के कारण नही होता। सत् और असत् परस्पर व्यावर्त्तक होते हैं यह शकरवादी भी अगीकार करते है जबकि वे 'माया' को सदसद्विलक्षण कहते हैं।[2]

जगत के मिथ्यात्व को स्थापित करने वाली एक महत्वपूर्ण युक्ति इस तथ्य पर आधारित है कि जगत् दृश्य है, सभी दृश्य वस्तुए स्वप्नानुभवो के सदृश है, सभी दृश्य वस्तुए स्वप्नानुभवो के सदृश मिथ्या होती है। इस सम्बध मे व्यासतीर्थ यह विश्लेषण करने का प्रयास करते है कि दृश्यत्व शब्द का क्या अर्थ हो सकता है। कई वैकल्पिक अर्थो को उपस्थित किया जाता है उनमे से प्रथम को 'वृत्ति-व्याप्यत्व' कहा जाता है, अर्थात् वह जो एक मानसिक वृत्ति की सामग्री हो। इस प्रकार शकरवादियों को यह कहते हुए कल्पित किया जाता है कि वे सभी वस्तुए जो मानसिक वृत्ति की सामग्री बन सकती है मिथ्या होती हैं। इसका व्यासतीर्थ यह उत्तर देते हैं कि ब्रह्मन् और आत्मन् भी कम से कम किसी मानसिक वृत्ति की सामग्री बनने चाहिए, अतएव यदि शकरवादियो की युक्ति को स्वीकार कर लिया जाय तो ब्रह्मन् भी मिथ्या हो जायगा। यदि यह कहा जाय कि ब्रह्मन् अपने शुद्धत्व मे किसी मानसिक वृत्ति का विषय नही बन सकता तथा वह ऐसा तभी बन सकता है जबकि वह 'अज्ञान' से सम्बन्धित हो, तो इसका उत्तर यह है कि यदि ब्रह्मन् अपने शुद्धत्व मे स्वय को चेतना मे अभिव्यक्त नही कर सकता है तो वह अपनी स्थापना कदापि नही कर सकता तथा ऐसा सिद्धान्त ब्रह्मन् के स्वय प्रकाश स्वरूप से प्रत्यक्ष विरोध मे जाता है। पुन, यह आग्रह किया जाता है कि यद्यपि ब्रह्मन् स्वय-प्रकाश है तथापि वह किसी मानसिक वृत्ति का विषय नही बन सकता, क्योकि स्वय यह उक्ति कि-'ब्रह्मन् शुद्ध एव स्वय-प्रकाश' है ब्रह्मन् को शाब्दिक ज्ञान का विषय बना देती है, यदि इस उक्ति का कोई तात्पर्य नही है तो वह निरर्थक है। इसके अतिरिक्त, यदि 'अज्ञान' से सम्बधित ब्रह्मन् को एक मानसिक-वृत्ति का विषय मान लिया जाय तो वह उक्त साहचर्य के द्वारा उस मानसिक सामग्री का एक अग बन जायगा, अतएव स्वय भी एक विषय बन जायगा। यह नही कहा

---

[1] 'अद्वैत-सिद्धि', पृ० २१३।

[2] न तावत् परस्पर-विरहरूपयोरेकनिषेध्यता-
अवच्छेदकावच्छिन्नत्व सम्भवति त्वयापि
सत्यत्वमिथ्यात्वयो परस्पर समुच्चये विरोधात्
विम्यता सदसद् वैलक्षण्यमाऽरूपत्रेऽअगीकाराच्च। —'तरगिणी,' पृ० २६।

इसके प्रति मधुसूदन का उत्तर यह है कि शुद्ध चैतन्य जो सदा स्वयं-प्रकाश है किसी चेतना का विषय कदापि नहीं बनता। यह केवल 'अज्ञान' के रूपान्तरणों के साहचर्य में चेतना का विषय भासित होता है तथा केवल 'अज्ञान' के रूपान्तरण ही ज्ञान की सामग्री बन सकते हैं। इस प्रकार सर्व परिस्थितियों में शुद्ध चैतन्य स्वयं-प्रकाश रहता है और स्वयं में कदापि सामग्री नहीं बन सकता। मधुसूदन व्यासतीर्थ द्वारा निर्देशित दृश्यत्व की द्वितीय व्याख्या (फल-व्याप्यत्व)[2] के अतिरिक्त अन्य सभी व्याख्याओं को स्वीकार करने को तैयार है, किन्तु वे यह स्वीकार करते हैं कि एक अधिक कड़ी आलोचना के लिये यह अपेक्षित होगा कि शब्द-जन्य-वृत्ति का अपवर्जन करके दृश्यत्व की परिभाषा में थोड़ा संशोधन कर दिया जाय (वस्तुतस्तु शाब्दाजन्य-वृत्ति-विषयत्वमेव दृश्यत्वम्), इस प्रकार, यद्यपि हम शाब्दिक वाक्यों के माध्यम से

[1] 'न्यायामृत', पृ० ५७।

[2] व्यासतीर्थ द्वारा दी गई 'दृश्यत्व' की निर्दिष्ट व्याख्याएं सात प्रकार से की गई है—किमिदं दृश्यत्वम्, वृत्ति-व्याप्यत्व वा, फल-व्याप्यत्व वा, साधारण वा, कदाचिद्-कथंचिद्विषयत्व वा, स्वव्यवहारे स्वातिरिक्त-संविदन्तरापेक्षा-नियतिर्वा, अस्व-प्रकाशत्व वा।
—वही, पृ० ४९।

काल्पनिक सत्ताओं के प्रति चेतन हो सकते हैं, तथापि वे उस कारण से मिथ्या नहीं कहे जाएँगे, क्योंकि वे पूर्णत असत् सत्ताएँ हैं जो न तो सत्य कही जा सकती है और न मिथ्या।[1] मधुसूदन आगे दृश्यत्व की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि दृश्यत्व वह है जिसमे एक सुनिश्चित स्व-प्रकारक सामग्री हो (स्व-प्रकारक-वृत्ति-विषयत्वमेव दृश्यत्व)। 'स्व-प्रकारक' पद से उनका तात्पर्य किसी भी उपाख्य धर्म से है (सौपाख्य कश्चिद् धर्म) तथा इस प्रकार वे ब्रह्मन् का अपवर्जन करते हैं, जिसका अर्थ है उपाख्य धर्म से रहित शुद्धत्व, दूसरी ओर निषेध के ज्ञान का भी यह कहकर वर्णन किया जा सकता है कि उसमे निषेधत्व का धर्म है। इस व्याख्या का प्रभाव यह होता है कि दृश्यत्व उन समस्त अनुभवो तक परिसीमित हो जाता है जो सापेक्ष एव व्यावहारिक अनुभव की परिधि मे आते हैं। दृश्यत्व के अर्थ को स्पष्ट करने का प्रयास करते हुए मधुसूदन उसकी यह कहकर परिभाषा देते है कि दृश्यत्व वह है जो किसी रूप मे शुद्ध चैतन्य का विषय होता है (चिद्-विषयत्व)। इसका आत्मन् से तादात्म्य होने के कारण वह द्वि-पद सम्बन्ध से रहित होता है। वस्तुओं के दृश्यत्व के अर्थ का आगे स्पष्टीकरण करने के प्रयत्न मे उसकी यह परिभाषा दी जाती है कि वह प्रकाशित होने के लिये स्वातिरिक्त चेतना की अपेक्षा रखता है (स्व-व्यवहारे स्वातिरिक्त-सविदपेक्षा-नियति-रूप-दृश्यत्व) अथवा अ-स्व-प्रकाश रूप होता है (अ-स्व-प्रकाशत्व-रूपत्व दृश्यत्वम्)। अत यह स्पष्ट है कि शुद्ध चैतन्य के अतिरिक्त कोई भी वस्तु प्रकाशित होने के लिये शुद्ध चैतन्य की अपेक्षा रहती है।

मधुसूदन का खडन करने का प्रयास करते हुए रामाचार्य कहते हैं कि केवल 'अशुद्धत्व' और 'अस्वप्रकाशत्व' की व्याप्ति के आधार पर हम यह नही कह सकते कि शुद्ध चैतन्य स्व-प्रकाश होता है, किन्तु यह निष्कर्ष तभी प्राप्त किया जा सकता है जब यह ज्ञात हो कि शुद्ध चैतन्य मे कोई 'अशुद्धत्व' नही होता। पुन, अस्व-प्रकाशत्व एव अशुद्धता की व्याप्ति तभी ज्ञात की जा सकती है जब यह ज्ञात हो कि उनके विलोम 'शुद्धत्व' एव 'स्वप्रकाशत्व' शुद्ध चैतन्य मे साहचर्य रखते हैं, इस प्रकार शुद्ध चैतन्य के साथ स्वप्रकाशत्व की व्याप्ति का ज्ञान और अशुद्ध चैतन्य के साथ अस्वप्रकाशत्व की व्याप्ति का ज्ञान परस्पर स्वतत्र हैं। इसलिये किसी प्रकार यह अभिवचन नही किया जा सकता कि शुद्ध चैतन्य मे स्वप्रकाशत्व है।[2] मिथ्यात्व के लिये दूसरा कारण यह

---

[1] 'अद्वैत-सिद्धि, पृ० २६८।

[2] न तावदस्वप्रकाशत्वाशुद्धत्वयोर्व्याप्यव्यापक-भाव-ग्रहमात्रेण शुद्धे स्वप्रकाशता पर्यवस्यति किन्तु शुद्धेस्वप्रकाशत्व-व्यापकस्याशुद्धत्वस्य व्यावृत्तौ ज्ञातायामेव। तथा च व्यापक-व्यतिरेक-ग्रहार्थमवश्य शुद्ध-ज्ञानम्। किचास्व-प्रकाशत्वाशुद्धत्वयोर्व्याप्य-व्यापक-भाव-ग्रहोऽपि तदुभयव्यतिरेकयो शुद्धत्व-स्वप्रकाशत्वयो शुद्धे सहचार-ग्रहे सत्येवेति घट्ट-कुटी प्रभात-वृत्तान्त। —तरगिणी, पृ० ३१।

बाह्य तत्व प्रविष्ट हो जाता है। इस प्रकार जडत्व के कारण जगत का मिथ्यात्व किसी भी अर्थ मे अमान्य है।[1]

इसके प्रति मधुसूदन का उत्तर यह है कि जडत्व के द्वितीय और तृतीय अर्थ, अर्थात् जो अज्ञान है वह जड है अथवा जो अनात्मन् है वह जड है, बिल्कुल उपयुक्त होंगे। व्यासतीर्थ द्वारा प्रस्तुत किये गये ज्ञान के प्रतिपादन को दोषपूर्ण बताते हुए मधुसूदन कहते है कि यदि ज्ञान की यह परिभाषा दी जाय कि वह एक विषय को प्रकाशित करता है तो मोक्ष की अवस्था मे भी विषयो का प्रकाशन होगा, जो असम्भव है, ज्ञान का विषयो से बाह्य सम्बन्ध है, अतएव मिथ्या है। यदि यह आपत्ति की जाय कि यदि मोक्ष की अवस्था मे कोई विषय प्रकाशित नही होते तो आनन्द भी अभिव्यक्त नही होगा, तथा उस दशा मे कोई भी मोक्ष-प्राप्ति की परवाह न करेगा, तो उत्तर यह है कि मोक्ष की अवस्था स्वय आनन्द है तथा उसमे आनन्द की कोई पृथक् अभिव्यक्ति नही होती। एक विषय का साहचर्य केवल इन्द्रिय-ज्ञान में प्रत्यक्ष किया जाता है, आत्मन् के ज्ञान मे इन्द्रियों का कोई साहचर्य नही होता, तथा यह माँग करना अनुचित है कि उस दशा मे भी ज्ञान मे विषयो का प्रकाशन होना चाहिए। जब यह कहा जाता है कि आत्मन् साक्षात् ज्ञान-स्वरूप है, तो यह सुझाव अमान्य है कि वह या तो सत्य होना चाहिए या असत्य क्योकि सत्य और असत्य के रूप मे ज्ञान का व्यावर्त्तक विभाजन केवल साधारण व्यावहारिक ज्ञान पर लागू होता है। किन्तु ज्ञान के रूप मे आत्मन् अनिर्धारित ज्ञान के समान होता है, जो न सत्य होता है और न असत्य।

किन्तु रामाचार्य कहते है कि यदि ज्ञान का विषयो से सम्बन्ध बाह्य है तो परम ज्ञान के उदय के समय आत्मन् को स्वय अपना विषय नही मानना चाहिये। यदि यह कहा जाय कि ऐसा केवल प्रत्यक्षीकरण के ज्ञान मे होता है जहाँ विषय के आकार की 'वृत्ति' मे शुद्ध चैतन्य प्रतिबिम्बित होता है, तो ज्ञान का विषय के साथ सम्बन्ध मिथ्या हो जायगा, क्योकि उस दशा मे 'वृत्ति' की आवश्यकता एव उसमे चैतन्य का प्रतिबिम्बित होना चरम अवस्था मे आत्मन् के ज्ञान के उदय के समय भी स्वीकार करना पडेगा। अत विषय का ज्ञान के साथ सम्बन्ध बाह्य नही हो सकता, अतएव मिथ्या नही हो सकता। मधुसूदन के इस कथन के उत्तर मे, कि जैसे नैयायिको के अनुसार यद्यपि सामान्य और विशेष परस्पर सम्बन्धित होते हैं तथापि प्रलय की दशा में विशेषो के न रहने पर भी सामान्य बने रहते हैं, वैसे एक ऐसी अवस्था हो सकती है जिस मे ज्ञान हो पर विषय न हो, क्योकि ज्ञान का क्षेत्र विषय-सहित ज्ञान के क्षेत्र मे अधिक व्यापक होता है, रामाचार्य कहते हैं कि 'प्रलय' की दशा मे जब भी विशेष नहीं

[1] यह युक्ति कि जगत् अपने जडत्व के कारण मिथ्या है 'तत्व-शुद्धि' मे दी गई है।

होते हैं तब सामान्यों का ज्ञान विशेषों को अपनी अन्तर्वस्तु के रूप में स्वय में समाविष्ट रखता है। पुन, विषयों के ज्ञान से साहचर्य का अर्थ यह नही है कि विषय ज्ञान को उत्पन्न करते है, किन्तु यह कि ज्ञान विषयों से सम्बन्धित होता है। पुन, यदि विषय से साहचर्य का अर्थ यह माना जाय कि ज्ञान 'अनिवार्यत विषयों से उत्पन्न होता है,' अथवा यदि उसका अनिवार्यत यह अर्थ हो कि 'यह विषय जिस देश अथवा काल मे अस्तित्व रक्खे वहाँ ज्ञान विद्यमान होता है,' तो शकरवादी आत्मन् के अद्वैत को स्वीकृत करने मे असमर्थ रहेगे। क्योकि, चूंकि अद्वैत ब्रह्मन् में अस्तित्व रखता है, इसलिये वह जीवात्मन् के द्वारा उत्पन्न नही किया जा सकता। और पुन, यदि यह कहा जाता है कि जब-जब ब्रह्मन् के साथ अद्वैत होता है तब आत्मन् के साथ अद्वैत होता है, तो चूंकि ब्रह्मन् सदा अद्वैत है इसलिये समस्त जीवात्मन् मुक्त हो जाएगे, जीवात्माओं के अद्वैत एव ब्रह्मन् के अद्वैत का निर्धारण भी असम्भव होगा। अत विषय सविकल्पक ज्ञान को उत्पन्न नही करते, वरन् उनसे साहचर्य रखते हैं।

यह युक्ति दी जाती है कि जो कुछ परिच्छिन्न और सान्त है वह मिथ्या है, यह परिच्छिन्नत्व देश, काल अथवा अन्य वस्तुओं द्वारा उत्पन्न हो सकता है (परिच्छिन्नत्व-मपि देशत कालतो वस्तुता वा)। इस सम्बन्ध मे व्यासतीर्थ कहते है कि काल एव देश, काल एव देश के द्वारा परिच्छिन्न नही हो सकते, और यह इतना सत्य है कि परम सत्ता ब्रह्मन् के सम्बन्ध मे भी प्राय यह कहा जाता है कि वह सदा और सर्वत्र अस्तित्व रखता है, अत काल और देश ऐसे सामान्य धर्म है जिनका अन्य वस्तुओ के प्रति अथवा स्वय उनके प्रति निषेध नही किया जा सकता। इस प्रकार वाचस्पति का यह कथन पूर्णत असत्य है कि जो कुछ भी किसी स्थान और किसी काल मे असत् होता है वह उस कारण से सर्वत्र व सदा असत रहता है, तथा जो सत् है वह सदा एव सर्वत्र सत् रहता है (यत् सत् तत् सदा सर्वत्र सदेव तथा च यत् कदाचित् कुत्रचिद् असत् तत् सदा सर्वत्र असदेव), क्योकि यदि किसी विशेष काल मे अनस्तित्व के कारण किसी भी अन्य काल मे अस्तित्व असत्य बन सकता है, तो उस काल मे अस्तित्व के द्वारा अन्य कालो मे अनस्तित्व भी असत्य बन सकता है। यह कहना कि चूंकि वह (वस्तु) तब अस्तित्व मे नही होगी, अत वह अब अस्तित्व मे नही है, उतना ही तर्क-सगत है जितना यह कहना कि चूंकि वह अब अस्तित्व मे है, अत तब अस्तित्व मे होनी चाहिए।[1] पुन, देश-जन्य परिच्छिन्नत्व का क्या अर्थ है ? यदि उसका अर्थ है सर्व वस्तुओ से असयोग (सर्व-मूर्त्तासयोगित्वम्) अथवा चरम परिमाण का अनधिकरण (परम्-महत्-परिमाणानधिकरणत्वम्), तो ब्रह्मन् भी ऐसे ही स्वरूप का है, क्योकि वह भी 'असग' है, तथा परिमाण के रूप मे उसमे कोई गुण नही होता, यदि उसका अर्थ

---

[1] 'न्यायामृत,' पृ० ७९।

सीमित 'परिमाण' का अधिकरण है तो 'परिमाण' एक गुण होने के कारण एक गुण मे नही पाया जा सकता, अत गुण परिच्छिन्न नही हो सकते (गुण-कर्मादौ गुणानगीकारात्)। पुन, काल-जन्य परिच्छिन्नता का 'अन्यत्व' के निषेध से साहचर्य स्थापित नही किया जा सकता, क्योकि, यदि 'अन्यत्व' के रूप मे परिच्छिन्नता का कभी निषेध किया जायगा, तो जगत मे सभी वस्तुए एक हो जाएगी। अब अन्य वस्तुओ के द्वारा परिच्छिन्नत्व (जो परिच्छिन्नत्व की तीसरी परिभाषा है) का अर्थ है 'भिन्नत्व,' किन्तु ऐसे परिच्छिन्नत्व का (शकरवादियो के अनुसार) प्रतिपादन के अनुभव-जगत मे अभाव होता है, क्योकि वे भिन्नत्व की सत्ता का निषेध करते है। पुन मिथ्यात्व से भिन्नत्व आत्मन् मे भी अस्तित्व रखता है, इसलिये आनन्दबोध की यह युक्ति, कि जो वस्तुए विभक्त अस्तित्व रखती है (विभक्तत्वात्) वे उस कारण से मिथ्या हैं, असत्य है। पुन यह मानना भी गलत है कि सत्ता का अपरिच्छिन्नत्व इस तथ्य मे निहित है कि केवल वही सार्वदेशिक रहती है जबकि अन्य प्रत्येक वस्तु परिवर्तित हो जाती है अतएव उस पर अध्यारोपित समझी जानी चाहिये, क्योकि जब हम कहते है कि 'एक घट अस्तित्व रखता है,' 'एक घट चलायमान होता है' तब घट अपरिवर्तनशील प्रतीत होता है, पर उसकी क्रिया 'अस्तित्व रखता है' और 'चलायमान होता है' परिवर्तित होती है। जैसे 'अनेक' का 'एक' से साहचर्य होता है, उसी प्रकार 'एक' का 'अनेक' से होता है, अतः इस युक्ति से कोई फल नही निकल सकता जो कि अपरिवर्तनशील रहता है वह अपरिच्छिन्न एव सत्य है, और जो परिवर्तनशील है वह मिथ्या है।

इसका मधुसूदन यह उत्तर देते हैं कि चूंकि शकरवादी जाति-प्रत्ययो को स्वीकृत नही करते अत यह मानना गलत है कि एक गाय के अस्तित्व के सभी उदाहरणो मे एक गो-जाति होती है जो स्थिर बनी रहती है, और यदि ऐसा नही है तो अन्य व्याख्या केवल यही है कि व्यक्ति आते और जाते हैं तथा उस सत् के अनुभव पर अध्यारोपित होते हैं जो इस कारण एकमात्र सत्य है। अब, पुन, यह युक्ति दी जा सकती है कि सत् के रूप मे ब्रह्मन् सदा 'अज्ञान' मे आवृत्त रहता है, उसका कोई प्रभेदात्मक आकार नही होता, अतएव यह सोचना गलत है कि जगत की वस्तुओ के हमारे अनुभव मे ब्रह्मन् सत् के रूप अभिव्यक्त होता है। इसका उत्तर यह है कि ब्रह्मन् स्वय अज्ञान से आवृत्त नहीं होता (सद्-आत्मना न ब्रह्मणो, मूला-ज्ञानेना-वृतत्व) केवल जगत की वस्तुओ के विशिष्ट आकारो की उपाधियो के द्वारा ही उसका स्वरूप छिप जाता है, जब मनस् की वृत्ति के रूपान्तर की प्रक्रिया द्वारा इन विशिष्ट आकारो का नाश हो जाता है, तब इन वस्तुओ मे अध-स्थित ब्रह्मन् स्वय को शुद्ध सत् के रूप मे अभिव्यक्त करता है। यह आपत्ति नही की जा सकती कि ऐसे शुद्ध सत् के रूप में ब्रह्मन् के कोई दृश्य लक्षण नही है अतएव वह चक्षु के द्वारा प्रत्यक्ष नही किया जा सकता, क्योकि

ब्रह्मन् किसी भी इन्द्रिय के द्वारा अथवा किसी विशेष इन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष किया जा सकता है।[1]

उत्तर मे रामाचार्य कहते हैं कि जाति-प्रत्यय ('गौ' के रूप मे) को स्वीकार करना ही पडेगा, क्योंकि अन्यथा सत् के रूप मे जाति-प्रत्यय कभी गाय के रूप मे और कभी अन्य वस्तुओं के रूप मे अभिव्यक्त हो सकता है ? पुन, यह कहना गलत है कि ब्रह्मन् स्वय मे 'अविद्या' से आवृत नही है, क्योंकि यह कहा जाता है कि जब सत् पक्ष अभिव्यक्त होता है, तब आनन्द-पक्ष फिर भी आवृत रह सकता है, तब, चूंकि सत् और आनन्द एक होने चाहिए (क्योंकि अन्यथा अद्वैतवाद खण्डित हो जाएगा), इसलिए आवरण सत्-पक्ष के ऊपर भी होना चाहिये। पुन, चूंकि ब्रह्मन् के कोई आकार एव कोई लक्षण नही होता, अत यह नही कहा जा सकता कि वह सभी इन्द्रियो के द्वारा ग्राह्य होता है (अत्यन्तमव्यक्त-स्वभावस्य ब्रह्मनश्चक्षुरादि-सर्वेन्द्रियग्राह्यत्वे मानाभावात्)।[2]

व्यासतीर्थ इस युक्ति का खडन करते है कि मिथ्यात्व अशो मे अशी के अभाव में निहित होता है। वे कहते हैं कि जहाँ तक इस मत का सम्बध है कि चूंकि अश और अशी का तादात्म्य होता है इसलिए अशी अश पर आश्रित नही रह सकता, उनको कोई आपत्ति नही है। यदि अशी न तो अशो पर आश्रित है और न किसी अन्य वस्तु पर आश्रित है तो वह किसी पर भी आश्रित नही हो सकता, किन्तु उस कारण से वह मिथ्या नही कहा जा सकता। किन्तु यह निर्देश किया जा सकता है कि प्रत्यक्षीकरण यह बताता है कि अशी अशो पर आश्रित है तथा उनमे स्थित है, अतएव प्रत्यक्ष की साक्ष के अनुसार अशो मे उसके अभाव को स्वीकृत नही किया जा सकता। प्रश्न यह उठता है कि क्या 'अभाव' अथवा 'निषेध' सत्य है अथवा असत्य, यदि वह सत्य है तो अद्वैतवाद खण्डित होता है, और यदि वह असत्य है तो 'अभाव' का निषेध होता है, जो व्यासतीर्थ के पक्ष मे होगा। अब यह आग्रह नही किया जा सकता कि 'अभाव' का अस्तित्व अद्वैतवाद के लिए घातक नही हो सकता, क्योंकि निषेध मे स्वीकृति का अतर्वस्तु के रूप मे समावेश होता है। पुन, ब्रह्मन् का 'अद्वितीय' पद से निर्देश किया जाता है, इसमे अभाव का समावेश होता है, और यदि अभाव असत्य है तो ब्रह्मन् के प्रति उसका निर्देश भी असत्य होगा। पुन, ब्रह्मन् से किसी द्वितीय के निषेध का अर्थ न केवल भावात्मक सत्ताओ का निषेध हो सकता है बल्कि अभावात्मक

---

[1] न च रूपादि-हीनतया चाक्षुषत्वाद्यनुपपत्ति बाधिका इति वाच्यम्, प्रति-नियतेन्द्रिय-ग्राह्येष्वेव रूपाद्यपेक्षा-नियमात्सर्वेन्द्रिय-ग्राह्य तु सद्-रूप ब्रह्म नातो रूपादिहीनत्वेऽपि चाक्षुषत्वाद्यनुपपत्ति सत्वाया परैरपि सर्वेन्द्रिय-ग्राह्यत्वाभ्युपगमात् च।

—अद्वैत-सिद्धि, पृ० ३१८।

[2] 'तरगिणी,' पृ० ५२।

सत्ताओ का भी निषेध हो सकता है, भावात्मकता का अर्थ होता है अभाव का अभाव। फिर यदि अभाव को स्वीकार किया जाता है तो चूंकि उसके रूपो मे से एक रूप 'अन्यत्व' होता है, अत उसकी स्वीकृति का अर्थ है अन्यत्व की स्वीकृति अतएव द्वैतवाद की स्वीकृति। इसके अतिरिक्त, शकरवादियो के लिए अभाव के स्वरूप का वर्णन करना कठिन होगा, क्योकि यदि किसी भी भावात्मक सत्ता का वर्णन नही किया जा सकता तो यह मानना ही पडेगा कि अभावात्मक सत्ताओ का वर्णन करना और भी कठिन होगा। इसके अतिरिक्त अशी का अशो मे अभाव न केवल प्रत्यक्ष अनुभव के द्वारा बाधित होता है किन्तु वह तर्क के भी विरोध मे है, चूंकि अशी अन्य कही भी स्थित नही हो सकता, अत यदि वह अशो मे स्थित नही माना जाता है तो उसका स्वरूप ही अव्याख्येय हो जाता है (अन्यासभवेतस्यागित्व स्तततन्तु-समवेतत्व विना न युक्त)।[1]

पुन, यह मत गलत है कि चूंकि ज्ञान के विना कुछ भी अभिव्यक्त नही होता, अत तथाकथित वस्तुए ज्ञान के सिवा कुछ भी नही है, क्योकि वस्तुए स्वय ज्ञान के रूप मे अनुभूत नही होती, किन्तु उन वस्तुओ के रूप मे अनुभूत होती हैं जिनका हमे ज्ञान होता है (घटस्य ज्ञानमिति हि धी न तु घटो ज्ञानमिति)।

उपर्युक्त के उत्तर मे मधुसूदन कहते हैं कि, चूंकि कारण और कार्य के अनुभव की व्याख्या उनमे कुछ भेद को माने विना नही की जा सकती, अत इस तथ्य के बावजूद भी कि उनमे तादात्म्य है व्यावहारिक उद्देश्यो की दृष्टि से उक्त भेद को स्वीकार करना पडेगा। अभाव की सत्यता अथवा असत्यता सम्बन्धी विवाद को मधुसूदन अप्रासगिक कहकर उपेक्षित कर देते है। पुन, प्रत्यक्षीकरण का विरोध कोई विरोध नही है, क्योकि प्रत्यक्षीकरण प्राय भ्रमपूर्ण होता है। यह आपत्ति भी अवैध है कि यदि अशी कही अन्य स्थित नही है तो अशो मे भी नही है, अत उसका अस्तित्व अव्याख्येय है, क्योकि यद्यपि अशी एक स्वतत्र सत्ता के रूप मे अशो मे अस्तित्व नभी रक्खे, तथापि वह उपादान कारण, अशो, से एकरूप होकर स्थित हो सकता है, क्योकि किसी वस्तु के उपादानात्मक तादात्म्य (एतन्-समवेतत्व) का होना उसमे उसके अभाव के निषेध से फलित नही होता, क्योकि यदि ऐसा होता तो वे सर्व धर्म जो केवलान्वयि हैं (फलत. वस्तु मे विद्यमान होने के कारण) वस्तु मे समवेत हो जाएगे।[2] किन्तु एक वस्तु का

---

[1] तथा च अशित्व-रूप-हेतोरेतत्-तन्तुनिष्ठात्यन्ताभाव-प्रतियोगित्व-रूप-साध्येन विरोध। —न्यायामृत-प्रकाश, पृ० ८६।

[2] एतन्निष्ठात्यन्ताभाव-प्रतियोगित्व हि एतत्समवेतत्वे प्रयोजक न भवति, परमते केवलान्वयि-धर्म-मात्रस्य एतत्समवेतत्वापत्ते

—'अद्वैत-सिद्धि,' पृ० ३२४।

पहचानने मे सर्वथा अवैध होता है।[1] सत्य एव मिथ्यात्व परस्पर सम्बधित होने के कारण उनकी पारस्परिक विरोध के द्वारा परिभाषा देने के सभी प्रयत्न चक्रक दोष से पूर्ण अतएव अवैध हो जाते है, सत् की वे परिभाषाए भी गलत है जो किसी न किसी रूप मे सत् के अनुभव का उल्लेख करती है क्योकि उनमे जिस सत् की परिभाषा देनी होती उसी के प्रत्यय का पहले ही से समावेश हो जाता है। यह कहना भी गलत है कि जगत मे उसी स्तर की उतनी ही सत्यता है जितनी ब्रह्मन् मे है, क्योकि मिथ्यात्व एव सत्य का समतुल्य स्तर नही हो सकता। अब मिथ्यात्व की सर्व देश एव त्रिकाल मे अभाव के रूप मे परिभाषा दी जाती हैं (सर्वदेशीय-त्रैकालिक-निषेध-प्रतियोगित्व), सत्य उसका विरोधी होता है। प्रत्यक्षीकरण के द्वारा हम ऐसे अभाव को ग्रहण नही कर सकते, अतएव उसके द्वारा हम अभाव के विरोधी, अर्थात् सत् को भी ग्रहण नही कर सकते। यह तथ्य अप्रासगिक है कि कुछ वस्तुओ का कही न कही सत् के रूप मे प्रत्यक्षीकरण किया जाता है, क्योकि एक मिथ्या आभास का भी ऐसा अस्थायी प्रत्यक्षात्मक अस्तित्व हो सकता है। न्याय-मत के अनुसार सामान्यो की प्रस्तुति का एक विशेष ढग होता है (सामान्य-प्रत्यासत्ति), जिसके द्वारा उन सामान्यो के अन्तर्गत आने वाले सर्व व्यक्ति चेतना के समक्ष प्रस्तुत किये जाते हैं तथा इसी साधन से निगमनात्मक अनुमान को उत्पन्न करने वाला आगमनात्मक सामान्यीकरण सम्भव होता है। इस मत के अनुसार यह दावा किया जाता है कि यद्यपि एक सत्ता के समस्त अभावो का सर्व देश व काल मे दृष्टि-प्रत्यक्ष नही किया जा सकता तथापि वे प्रस्तुतीकरण के उक्त साधन द्वारा चेतना के समक्ष प्रस्तुत किये जा सकते है और यदि वे इस प्रकार चेतना के समक्ष प्रस्तुत किये जाते हैं तो उनका निषेध अर्थात् सत् भी प्रत्यक्ष किया जा सकता है।

इसके प्रति मधुसूदन का उत्तर यह है कि सामान्यो को प्रस्तुत करने का ऐसा कोई विशेष ढग नही होता है जिसके द्वारा उनसे सम्बन्धित सर्व व्यक्ति भी चेतना के समक्ष प्रस्तुत होते है, अर्थात् नैयायिको द्वारा स्वीकृत 'सामान्य-प्रत्यासत्ति' जैसी कोई प्रक्रिया नही होती। फिर वे ऐसी 'सामान्य-प्रत्यासत्ति' के विरुद्ध शास्त्रार्थ मे प्रवृत्त होते हैं और यह बताने का प्रयत्न करते हैं कि निगमनात्मक अनुमान व्याप्ति को निर्धारित करने वाले सामान्यो के विशिष्ट लक्षणो के साहचर्य के द्वारा सम्भव होते हैं,[2] इस प्रकार यदि 'सामान्य-प्रत्यासत्ति' नही होती है और यदि सर्व देश काल मे सर्व

[1] चक्षुराद्यध्यक्ष-योग्य-मिथ्यात्व-विरोधी-सत्वा निरुक्ते।

—अद्वैत-सिद्धि, पृ० ३३३–४।

[2] व्याप्ति-स्मृति-प्रकारेण वा पक्षधर्मता-ज्ञानस्य हेतुता महानसियैव धूमो धूमत्वेन व्याप्ति-स्मृति-विषयो भवति, धूमत्वेन पर्वतीय-धूम-ज्ञान चापि जातम्, तच्च सामान्य-

अभाव एव चेतना के समक्ष प्रस्तुत नही किये जा सकते, तो उनका विरोधी सत् भी प्रत्यक्ष नही किया जा सकता।

रामाचार्य का उत्तर यह है कि यद्यपि ऐसे अभाव सर्व देश एव सर्व काल मे इन्द्रियो द्वारा प्रत्यक्ष नही किये जा सकते, तथापि कोई कारण नही है कि उनका विरोधी सत् प्रत्यक्ष नहीं किया जा सके, जब कोई घट देखता है तो अनुभव करता है कि वह वही है और अन्यत्र कही नही है। हम निषेध किये गये पदार्थों को प्रत्यक्ष करते है न कि स्वय निषेध को।[1] वे आगे कहते हैं कि यद्यपि 'सामान्य-प्रत्यासत्ति' को नही माना जाय, तथापि अप्रत्यक्ष अभाव अनुमान द्वारा ज्ञात किये जा सकते है, अतएव मधुसूदन की यह आपत्ति द्विविध अवैध है कि जबतक 'सामान्य-प्रत्यासत्ति' को स्वीकार नही किया जाता ऐसे अभाव ज्ञात नही किये जा सकते तथा उनका विरोधी सत् भी प्रत्यक्ष नही किया जा सकता।[2]

मधुसूदन आगे कहते है कि अनुभव मे 'साक्षी' की साक्ष्य केवल वर्तमान वस्तुओ को अभिव्यक्त करता है और इस प्रकार जगत के विषयो मे सापेक्ष सत्यता है। किन्तु 'साक्षी' किसी प्रकार यह नही बता सकता कि उनका भविष्य मे बाध होगा अथवा नही, अत जब ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त हो जाता है तब 'साक्षी' जगदानुभव के भावी निषेध को चुनौती देने मे असमर्थ होता है।

व्यासतीर्थ ने वेदान्त की इस मान्यता पर आपत्ति की थी कि शुद्ध चैतन्य से एक-रूप एक सत्ता है जिस पर समस्त तथा-कथित विषयो के आकार एव ज्ञान की सामग्री आरोपित रहती है और इस सम्बन्ध मे यह निर्देश किया था कि केवल इस तथ्य से कि एक घट अस्तित्व रखता है यह सिद्ध नही हो जाता कि वह घट शुद्ध सत् पर अध्या-रोपित है, क्योकि शुद्ध सत्ता का कभी प्रत्यक्ष नही किया जा सकता और मिथ्या आभासो के सहित समस्त लक्षणो को सत् के समान ही सत्तात्मक धर्म से सम्पन्न माना जा सकता है।

मधुसूदन का सरल उत्तर यह है कि अनेक व्यष्टिगत सत्ताओ को मानने से यह कही अच्छा है कि एक स्थायी सत्ता मान ली जाय जिस पर विषयो के विविध रूपो का आरोपण होता है। व्यासतीर्थ के इस कथन पर मधुसूदन आपत्ति उठाते है कि प्रत्यक्ष

लक्षण विनैव, तावतैव अनुमिति-सिद्धै,——प्रतियोगितावच्छेदक-प्रकारक-ज्ञानादेव तत्सम्भवेन तदर्थं सकल-प्रतियोगि-ज्ञान-जनिकाया सामान्य-प्रत्यासत्य-नुपयोगात्।

—अद्वैत-सिद्धि, पृ० ३३८, ३४१।

[1] 'तरगिणी', पृ० ६१।

[2] वही, पृ० ६३।

प्रमाण स्वरूपत अनुमान से प्रबल होता है क्योंकि अनुमान जिन अनेक अवस्थाओं पर निर्भर करता है उनके कारण स्वय को स्थापित करने मे भेद होता है। मधुसूदन कहते हैं कि जब प्रत्यक्ष प्रमाण का अनुमान एव शब्द द्वारा व्याघात होता है (यथा, ग्रहो के लघु आकार के प्रत्यक्षीकरण की अवस्था मे), तव पूर्वोक्त का निषेध होता है। इसलिए प्रत्यक्ष को भी अपनी सत्यता के लिये अबाधित्व एव अन्य प्रमाणो पर निर्भर करना पडता है तथा अन्य प्रमाणो को प्रत्यक्ष पर उससे अधिक निर्भर नही करना पडता जितना प्रत्यक्ष को अन्य प्रमाणो पर निर्भर करना पडता है। अत यह सब प्रमाण सापेक्षत आश्रित होने के कारण सत्यता मे वैदिक शब्द से हीन हैं, जो मानव द्वारा निर्मित अभिलेख न होने के नाते स्वभावत सत्यता का एक असक्राम्य अधिकार रखता है। यह सुविदित ही है कि तथ्यो के सत्य अनुभव की प्राप्ति के लिये एक इन्द्रिय के द्वारा किए गए प्रत्यक्षीकरण के साथ सामजस्य करना पडता है। जैसे, 'आग उष्ण है' प्रत्यक्षीकरण मे चाक्षुष प्रत्यक्षीकरण का स्पर्श प्रत्यक्षीकरण के साथ सामजस्य करना पडता है। इस प्रकार प्रत्यक्ष प्रमाण प्रत्यक्ष-योग्य होने के कारण उत्कृष्ट सत्यता का कोई अधिकार नही रखता, यद्यपि यह स्वीकार किया जा सकता है कि कई क्षेत्रो मे प्रत्यक्षीकरण एक अज्ञान का निवारण कर सकता है जो अनुमान द्वारा निवृत्त नही होता।[1] यह आपत्ति गलत है कि एक अनुमान-जन्य प्रमाण स्वय को स्थापित करने मे शिथिल होने के कारण (चूंकि वह कई तथ्यो पर आश्रित होता है), प्रत्यक्ष से सत्यता मे हीन है, क्योंकि प्रत्यक्ष अधिक द्रुतगामी होता है, इसलिए सत्यता उचित परीक्षण एव निर्दोषिता के अनुसन्धान पर निर्भर करती है न कि केवल द्रुतगामिता पर। इसके अतिरिक्त, चूँकि अनेक श्रुति-पाठ ऐसे है जो सर्व वस्तुओ के एकत्व की घोषणा करते हैं जिनकी तर्क-सगतता को जगत के मिथ्यात्व को मान्यता के सिवा सिद्ध नही किया जा सकता और चूँकि ऐसी स्वीकृति के द्वारा सापेक्षता के क्षेत्र मे प्रत्यक्षीकरण की सत्यता के स्वाभाविक अधिकार का अपहरण नही होता, इसलिए सापेक्षता के क्षेत्र मे प्रत्यक्षज्ञानात्मक सत्यता का अनियन्त्रित अधिकार स्वीकार करके तथा निरपेक्षता के क्षेत्र मे एकत्व की श्रुति-ज्ञानात्मक सत्यता को स्वीकार करके एक समझौता प्राप्त किया जा सकता है।

पुन, व्यासतीर्थ का आग्रह है कि चूँकि अनुमान और शब्द-प्रमाण दोनो चाक्षुष एव श्रवण प्रत्यक्षीकरण पर निर्भर करते हैं अत यह सोचना गलत होगा कि पूर्वोक्त के द्वारा पश्चादुक्त का निष्फलीकरण हो सकता है। यदि प्रत्यक्षीकरण स्वत सत्य

[1] नापि अनुमानाद्यनिवर्तितदिङ्मोहनादि-निवर्तकत्वेन प्राबल्यमेतावता हि वैधर्म्य-मात्र सिद्ध।

—अद्वैत-सिद्धि, पृ० ३५५।

नही करता कि एक अवैध अनुमान प्रत्यक्ष से प्रबल होता है, लेकिन यह भी अस्वीकृत नही किया जा सकता कि अवैध प्रत्यक्ष के अनेक ऐसे उदाहरण है जिनका सत्य अनुमानो के द्वारा सही खण्डन किया जाता है ।

व्यासतीर्थ आगे कहते है कि स्वय 'मीमासा'–विज्ञान अनेक स्थानो मे प्रत्यक्ष की उत्कृष्ट सत्यता को स्वीकार करता है और उन श्रुति-पाठो की तोड-मरोड कर व्याख्या करने की सिफारिश करता है जो प्रत्यक्ष से मेल नही खाते । श्रुति-पाठ 'तत् त्वमसि' का प्रत्यक्ष अनुभव से साक्षात् व्याघात होता है, अतएव उसकी इस ढग से व्याख्या की जानी चाहिये कि वह प्रत्यक्ष अनुभव से विरोध मे न आये ।

इसका मधुसूदन यह उत्तर देते है कि यह वस्तुत सत्य है कि साधारण व्यावहारिक कार्यो से सम्बन्धित कुछ श्रुति-पाठो का अनुभव से समन्वय किया जाता है और कभी-कभी उनकी प्रत्यक्ष के अनुसार व्याख्या की जाती है, किन्तु यह कोई कारण नही है कि जो श्रुति-पाठ चरम अनुभूति का उल्लेख करते है तथा जो यज्ञो के उपसाधनो का उल्लेख नही करते वे भी प्रत्यक्षीकरण के अधीन होने चाहिए ।

व्यासतीर्थ कहते हैं कि यह मानना गलत है कि प्रत्यक्षीकरण का अनुमान अथवा श्रुति-प्रमाण के द्वारा अमान्यकरण हो जाता है, प्रत्यक्षज्ञानात्मक भ्रमो की स्थिति मे प्रत्यक्षीकरण अनेक प्रकार के दोषो से दूपित हो जाता है जिनकी उपस्थिति भी प्रत्यक्षीकरण के द्वारा ज्ञात की जाती है ।

इसका मधुसूदन यह सरल उत्तर देते हैं कि दोषो की उपस्थिति स्वय प्रत्यक्षीकरण द्वारा ज्ञात नही की जा सकती तथा भ्रामक प्रत्यक्षीकरण के अधिकाश उदाहरणो का प्रवलतर अनुमान के द्वारा अमान्यकरण होता है । जव यह कहा जाता है कि चन्द्रमा एक फुट से वडा नही है तव भ्रम नि सदेह लम्वी दूरी के दोष के कारण होता है, किन्तु इसे केवल इस निरीक्षण पर आधारित अनुमान के द्वारा ही ज्ञात किया जा सकता है कि सुदूर गिरि-शिखरो पर स्थित वृक्षो के आकार छोटे हो जाते है । इस प्रकार, यद्यपि ऐसे उदाहरण है जिनमे एक प्रत्यक्ष अन्य प्रत्यक्ष का अमान्यकरण कर देता है तथापि ऐसे उदाहरण भी हैं जिनमे एक अनुमान एक प्रत्यक्ष का अमान्यकरण करता है ।

एक प्रश्न यह उठता है कि क्या जगत-प्रपच का वर्तमान प्रत्यक्ष अन्ततोगत्वा वाधित हो जाता है, किन्तु इसके प्रति व्यासतीर्थ यह कहते हैं कि ऐसे भावी व्याघात का भय तो उस ज्ञान का भी अमान्यकरण कर सकता है जो उक्त प्रत्यक्ष का वाध करता है । साधारणत जाग्रत अनुभव स्वप्न के अनुभव को वाधित करता है और यदि जाग्रत अनुभव वाधित हो जाता है तो स्वप्न के अनुभव का वाध करने मे लिए कोई अनुभव शेप न रहेगा । इस प्रकार मिथ्या अनुभव के उदाहरण को ढूँढना कठिन हो

उपकरणो पर किया जाय तो फिर वे भी मिथ्या हो जाते है और यदि वे मिथ्या नही है तो समस्त जगदाभास मिथ्या है तथा जगत के मिथ्यात्व की युक्ति दोषपूर्ण है। व्यासतीर्थ आगे कहते है कि यदि शकरवादी से यथार्थ सत्ता के स्वरूप की व्याख्या करने को कहा जाय तो वह स्वभावत सभ्रान्ति मे पड जायगा। उसे चेतना का विषय नही माना जा सकता क्योकि काल्पनिक वस्तुए भी चेतना क विषय होती है, उसका साक्षात् चेतना के रूप मे भी वर्णन नही किया जा सकता, क्योकि फिर [illegible] नित्य एव अनुभवातीत सत्ताओ मे नही पाई जायगी और जगदाभास जो साक्षात् प्रत्यक्ष किया जाता है मिथ्या नही होगा और अनुमान, यथा, हेतु के भ्रामक प्रत्यक्षीकरण (यथा, एक झील मे जल-वाष्प) के आधार पर अग्नि का अनुमान भी सत्य हो जायगा। ज्ञान वस्तुओ के अस्तित्व को उनके सर्व धर्मो को प्रदान नही करता, यदि अग्नि अग्नि के रूप मे ज्ञात न भी की जाय तो भी वह जलाने की क्षमता रखती है। इस प्रकार अस्तित्व किसी प्रकार की चेतना पर निर्भर नही करता। सत्ता की व्यावहारिक आचरण के रूप मे परिभाषा देना भी गलत है, क्योकि जबतक जगत-प्रपच के स्वरूप को ज्ञात नही कर लिया जाता तबतक व्यावहारिक आचरण ज्ञात नही होता। जगत् या तो सत् होना चाहिये या असत् अस्तित्व का कोई तीसरा प्रकार सम्भव नही है, जगत की असत्ता किसी सत् प्रमाण के द्वारा सिद्ध नही की जा सकती क्योकि सत् और असत् परस्पर विरोधी है, असत्ता प्रमाणो के द्वारा भी सिद्ध नही की जा सकती क्योकि वे असत् ही है। कोई ऐसी सत्ता नही हो सकती जो असत् एव चरम सत् मे सामान्य हो।[1]

मधुसूदन कहते है कि असत्य का सत्य से विभेदीकरण ठीक-उसी प्रकार के विचारो से किया जा सकता है जो प्रतिपक्षी को आकाश के नीलत्व तथा एक घट, एक रज्जु आदि साधारण अनुभव के विपयो के प्रत्यक्षीकरण मे विभेद करने की प्रेरणा देते है। जगत-प्रपच को जिस प्रकार की सत्ता की स्वीकृति दी गई है वह ऐसी है कि उसका ब्रह्म-ज्ञान के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु से बाध नही होता।

व्यासतीर्थ का निर्देश है कि शकरवादियो का यह तर्क कि ज्ञान और उसके अन्तर्विपय मे कोई सम्बन्ध नही हो सकता बौद्धो से लिया गया है, जिनके अनुसार चेतना और उसके विपय एक ही होते है। शकरवादी मानते है कि यदि विपयो को सत्य माना जाय तो यह बताना कठिन होता है कि ज्ञान और ज्ञान के द्वारा प्रकाशित विपयो मे कोई सम्बन्ध कैसे हो सकता है, क्योकि 'सयोग' एव 'समवाय' के दो मान्य सम्बन्ध उनके मध्य नही पाये जा सकते। वस्तुगतता का सम्बन्ध भी इतना अस्पष्ट

---

[1] नापि सत्-त्रयानुगत सत् द्वयानुगत वा सत्वसामान्य तन्त्रम्।

—न्यायामृत, पृ० १७४।

है कि उसकी परिभाषा नही दी जा सकती, अतएव यह स्वीकार करना पडेगा कि ज्ञान और उसके विषयो का सम्बन्ध सर्वथा मिथ्या है।

इसका व्यासतीर्थ यह उत्तर देते है कि यद्यपि शकरवादियो द्वारा सकल विषयो के एक परम द्रष्टा पर मिथ्या आरोपण होता है तथापि वे विशिष्ट व्यक्तियो के विशिष्ट सज्ञानो की व्याख्या के लिए विभिन्न व्यक्तियो के भिन्न-भिन्न प्रत्यक्षो को उत्पन्न करने वाले इन्द्रिय-सम्पर्क को स्वीकार करते हैं। शकरवादी उसी सीमा तक विज्ञानवादी नही हैं जिस सीमा तक बौद्ध हैं। यदि यह भी मान लिया जाय कि शुद्ध चैतन्य विविध अवस्थाओ मे विभिन्न प्रतीत हो सकता है, फिर भी कोई कारण नही है कि जगत के विषयो को शुद्ध चैतन्य पर अध्यारोपित माना जाय। जगत् के विषयो को मिथ्या आरोपणो के रूप मे स्वीकार करने से भी कोई हल नही निकलता, क्योकि इन जागतिक विषयो का मनस् की ज्ञानात्मक 'वृत्ति' के बिना कोई ज्ञान नही हो सकता। पुन, यदि सकल जागतिक विषय मिथ्या आरोपण है तो प्रत्यक्ष की कार्य-प्रणाली मे उसके विशिष्ट व्यापारो के अन्तर्गत शुद्ध चैतन्य के प्रतिविम्ब को स्थान देना अथवा विशिष्ट ज्ञानेन्द्रियो के अन्तर्गत विषयो मे अध स्थित चैतन्य को स्थान देना निरर्थक है।[1] केवल इस तथ्य के कारण कि सयोग और समवाय दोनो का कोई उपयोग नही हो सकता यह अनिवार्यत लक्षित नही होता कि सर्व प्रत्यक्ष-ज्ञानात्मक आकार मिथ्या है, क्योकि यदि एक वास्तविक अनुभव होता है तो स्वभावत उस परिस्थिति की व्याख्या करने के लिये सम्बन्धो की कल्पना करनी पडती है।[2] पुन यदि तर्क के लिए यह मान लिया जाय कि ज्ञान और उसके विषय के सम्बन्ध की मान्यता की सत्यता को सिद्ध करने का कोई तरीका उपलब्ध नही है, फिर भी उससे स्वय विषयो का मिथ्यात्व सिद्ध नही होगा, अधिक से अधिक उसके द्वारा ज्ञान और उसके विषयो के मध्य स्थित सम्बन्धो की सत्यता का निषेध हो जायगा। पुन यदि शकरवादी को शुद्ध चैतन्य का 'वृत्ति,' के साथ सम्बन्ध स्वीकार करने मे कोई कठिनाई नही होती तो, उसे विषयो के साथ उक्त सम्बन्ध को स्वीकार करने मे कठिनाई क्यो होती है ?[3] यदि जागतिक विषयो को अवर्णनीय माना जाय तो भी उनके अस्तित्व को उसी रूप मे माना जा सकता है जिस रूप मे ब्रह्मन् अवर्णनीय है। शकरवादी को एक वस्तुगत जगत के अस्तित्व को भी स्वीकार करना पडता है और जिस ढग से उसका प्रत्यक्षीकरण

---

[1] न्यायामृत, पृ० १६१।

[2] वही, पृ० १६३ (प्रमित-वस्त्वनुसारेण हि प्रक्रिया कल्पया न तु स्व-कल्पित-प्रक्रिया-नुरोधेन प्रमित-त्याग)।

[3] यादृश विपयत्व वृत्ति प्रति चिदात्मन
तादृश विपयत्व मे दृश्यस्यापि दृश प्रति। —वही, पृ० २०५ अ।

होता है उसकी व्याख्या करनी पडती है। इस मत का वस्तुवादियो के मत से केवल यही अन्तर है कि जहाँ शकरवादी वस्तुओं को अन्तत मिथ्या मानता है वहाँ वस्तुवादी उनको सत्य मानता है, जिन कारणो से शकरवादी उनकी सत्ता को निरी प्रातिभासिक सत्ता मे उत्कृष्ट स्तर की सत्ता मानते हैं उन्ही कारणो से वस्तुवादी उनको चरम सत्य मानते हैं।[1] एक अर्थ मे ब्रह्मन् भी उतने ही अवर्णनीय हैं जितने कि जागतिक विषय।[2] जहाँ तक वस्तुएँ ज्ञात होती हैं और जहाँ तक उनके कुछ सामान्य लक्षण हैं उनका वर्णन किया जा सकता है, यद्यपि अपने विलक्षण स्वरूप मे उनमे से प्रत्येक मे ऐसी विशेषताएँ हैं कि उनकी उचित परिभाषा एव निरूपण नही किया जा सकता। प्रत्येक पुरुष का मुख हमारी ज्ञानेन्द्रियो के अवाधित साक्ष्य के द्वारा स्पष्ट ज्ञात किया जा सकता है, किन्तु फिर भी उसके विशिष्ट एव अद्भुत लक्षणों का वर्णन नही किया जा सकता।[3] इसलिए शुद्ध सत्, चित् एव आनन्द के तादात्म्य के रूप मे ब्रह्मन् के विशिष्ट स्वरूप का वर्णन करना कठिन है, फिर भी उसकी सत्ता को अस्वीकार नही किया जाता। ऐसी ही दशा जागतिक विषयो की है, और यद्यपि वे अपने विशिष्ट स्वरूप मे अवर्णनीय हैं तथापि उनकी सत्ता का निषेध नही किया जा सकता।[4]

मधुसूदन व्यासतीर्थ द्वारा उठाई गई कई आपत्तियो की प्राय उपेक्षा कर देते है, इनमे से एक यह है सम्बन्धो को साक्षात् ग्रहण किया जाता है तथा यह सोचने मे कोई विषमता नही है कि यद्यपि सम्बन्ध अव्यवहित होते हैं तथापि उनको ज्ञानेन्द्रियो के द्वारा साक्षात् ग्रहण किया जा सकता है। मधुसूदन की युक्ति है कि यदि सम्बन्धो को आत्म-स्थित कहा जाय तो उनकी व्याख्या नही की जा सकती अतएव वे मिथ्या माने जाने चाहिएँ। व्यासतीर्थ अब प्रत्यक्षीकरण के शकरवादी निरूपण का उल्लेख करते

[1] तव स आकार. मद्विलक्षण मम तु सन्निति,
अनिरुच्यमानोऽपि स तव येन मानेन
अप्रातिभासिक तेनैव मम तात्त्विकोऽस्तु। —वही, पृ० २०५।

[2] कीदृक् तत् प्रत्यगिति चेत्तादृशी दृगिति द्वय
यत्र न प्रसरत्येतत् प्रत्यगित्यवधारय
इति ब्रह्मण्यपि दुर्निरूपत्वस्य उक्त त्वाच्च। —वही, पृ० २०६ अ।

[3] तस्मात्प्रमितस्य इत्थमिति निर्वक्तुमशक्यत्व प्रतिपुरुष-मुख स्पष्टावाधित-दृष्टिदृष्टम् विलक्षण-सस्थान-विशेषस्य वा सत्वेऽप्यद्भुतत्वादेव युक्तम्।
—वही, पृ० २०६।

[4] तस्मात् निर्वचनायोग्यस्यापि विश्वस्य इक्षु-क्षीरादि-माधुर्यवद् ब्रह्मवच्च प्रामाणि-कत्वादेव सत्व-सिद्धे। —वही, पृ० २०६।

(जैसा भारतीतीर्थ का कथन है) अथवा उस शुद्ध चैतन्य के रूप मे जो 'अन्त करण-वृत्ति' मे प्रतिबिम्बित चैतन्य द्वारा अभिव्यक्त किए गए विषयो के आभास का अधिष्ठान है (वृत्ति-प्रतिबिम्ब-चैतन्याभिव्यक्त विषयाधिष्ठान चैतन्यम्), जैसा सुरेश्वर मानते है, कल्पित करना कठिन है। प्रश्न यह है कि क्या 'अत -करण' मे प्रतिबिम्बित चैतन्य विषय को अभिव्यक्त करता है अथवा विषयो मे अव -स्थित अधिष्ठान-चैतन्य विषयो को अभिव्यक्त करता है। दोनो मे से कोई भी मत मान्य नही है। प्रथम मत सम्भव नही है, क्योकि अत करणवृत्ति मे प्रतिबिम्बित चैतन्य मिथ्या होने के कारण यह सम्भव नही है कि जगत के विषय ऐसी मिथ्या सत्ता पर आरोपित हो, द्वितीय मत भी असम्भव है, क्योकि यह माना जाय कि 'अन्त करण वृत्ति' मे प्रतिबिम्बित चैतन्य विषय का आवरण दूर करता है, तो यह भी माना जा सकता है कि वह उसको अभिव्यक्त करता है।

पुन, यह स्वीकार नही किया जा सकता कि 'वृत्ति' स्थूल भौतिक विषयो के आकार को ग्रहण करती है, क्योकि फिर वह उतनी ही स्थूल और जड हो जाएगी जितने भौतिक पदार्थ हैं। इसके अतिरिक्त, यह मानना पडता है कि एक विषय के अस्तित्व के साथ ही अन्य वस्तुओ के अभाव का भी अस्तित्व है, और यदि यह माना जाय कि 'अन्त करण' एक विषय के आकार को ग्रहण करता है, तो उसे अभावात्मक आकारो को भी ग्रहण करना चाहिये, किन्तु यह कल्पना करना कठिन है कि 'अन्त -करण' कैसे एक ही काल मे भावात्मक एव अभावात्मक आकारो को ग्रहण कर सकता है। पुन, चरम ज्ञान की दशा मे इसी मान्यता का अनुसरण करते हुए यह मानना पडता है कि 'अन्त करण-वृत्ति' ब्रह्मन् के आकार को ग्रहण करती है, किन्तु ब्रह्मन् का कोई आकार नहीं होता, अत यह मानना पडेगा कि 'अन्त करण वृत्ति' यहाँ आकार-रहित एव आकार-सहित दोनो होती है—जो अयुक्त है।

इसके अतिरिक्त, यह मानना अवैध है कि 'जीव चैतन्य' मे अध स्थित चैतन्य ही विषय को अभिव्यक्त करता है, क्योकि इस मान्यता पर शकरवादी सिद्धान्त खण्डित हो जाता है कि विषय शुद्ध चैतन्य पर अथवा विषयो मे अव स्थित चैतन्य पर मिथ्या अध्यारोपण हैं, क्योकि इस दशा मे प्रत्यक्ष करने वाला चैतन्य 'जीव' मे अव स्थित चैतन्य होने के कारण या तो शुद्ध चैतन्य से भिन्न होगा अथवा विषयो मे अव स्थित चैतन्य से भिन्न होगा जो मिथ्या सृष्टियो का आधार माना जाता है। इसके अतिरिक्त, स्वय 'जीव' सृष्टि का आधार नही माना जा सकता, क्योंकि वह स्वय एक मिथ्या सृष्टि है। इन्ही कारणो से यह भी नही कहा जा सकता कि ब्रह्म-चैतन्य ही विषय को अभिव्यक्त करता है। अत ब्रह्मन् स्वय विषयो मे अध स्थित होने से एक मिथ्या सृष्टि होने के कारण विषयो को अभिव्यक्त करता हुआ नही माना जा सकता। विषयो मे अध -स्थित शुद्ध चैतन्य स्वय 'अज्ञान' से आवृत्त होने के

कारण स्वय को अभिव्यक्त करने योग्य नही होना चाहिए, और इस प्रकार विषयों का समस्त ज्ञान असम्भव हो जायगा। यदि यह युक्ति दी जाय कि यद्यपि शुद्ध चैतन्य आवृत्त होता है तथापि विषयाकृतियो से सीमित चैतन्य 'अन्त करण' की 'वृत्ति' से अभिव्यक्त हो सकता है, तो यह सही नही है, क्योकि यह नहीं माना जा सकता कि विषयाकृतियो से सीमित चैतन्य स्वय ही उन विषयाकृतियों का आधार है, क्योंकि इसका यह अर्थ होगा कि विषयाकृतियां अपनी ही आधार है, जो आत्माश्रय दोष होगा, और शकरवादियो का यह मौलिक तर्क खण्डित हो जाता है कि विषय मिथ्या ढग मे शुद्ध चैतन्य पर आरोपित है। इसके अतिरिक्त यदि ज्ञान की प्रक्रिया इस प्रकार की मानी जाय कि विषयाकृतियो से सीमित शुद्ध चैतन्य को 'अन्त करण वृत्ति' अभिव्यक्त करती है, तो चरम ज्ञान (ब्रह्म-ज्ञान) की अवस्था जिसमे वैषयिक लक्षण अनुपस्थित होते है, अव्याख्येय हो जायगी। पुन, शकरवादी यह मानते हैं कि सुषुप्ति मे 'अन्त-करण' का विलय हो जाता है, और, यदि ऐसा ही होता तो, 'जीव', जो कि एक विशेष 'अन्त करण' द्वारा सीमित चैतन्य होता है, प्रत्येक सुषुप्ति के पश्चात् पुनर्नवीन हो जायगा, और इस प्रकार एक 'जीव' के कर्म-फलो का उपभोग नवीन 'जीव' के द्वारा नही किया जाना चाहिए। यह मत भी अमान्य है कि शुद्ध चैतन्य एक वृत्ति मे से प्रतिबिम्बित होता है, क्योकि प्रतिबिम्ब केवल दो दृश्य विषयो के मध्य ही हो सकते है। यह मत भी अमान्य है कि चैतन्य एक विशेष अवस्था मे रूपान्तरित हो जाता है क्योकि मान्यता के अनुसार चैतन्य अपरिवर्तनशील है। चैतन्य किसी अन्य वस्तु पर सर्वथा 'अनाश्रित' होने के कारण (अनाश्रितत्वात्) चैतन्य के उपाधीयन की व्याख्या करने के लिए सामान्य एव विशेष के सम्बन्ध का सादृश्य भी अमान्य है। इसके अतिरिक्त, यदि जीव मे अध -स्थित चैतन्य को विषयो को अभिव्यक्त करने वाला माना जाय तो चूंकि, ऐसा चैतन्य एक अनावृत रूप मे नित्य विद्यमान होता है, इसलिए यह कहने मे कोई अर्थ नही है कि उसकी स्वजात अभिव्यक्ति को उत्पन्न करने के लिए 'वृत्ति' की प्रक्रिया आवश्यक है। शुद्ध चैतन्य को घट द्वारा सीमित आकाश की भाँति वृत्ति से परिसीमित भी नही माना जा सकता, क्योकि शुद्ध चैतन्य सर्व-व्यापी है, अतएव उसे 'वृत्ति' को भी व्याप्त करना चाहिए और इसलिए वह उसके अन्तर्गत नही माना जा सकता। शुद्ध चैतन्य की रग को अभिव्यक्त करने वाली प्रकाश-किरण से भी तुलना नही की जा सकती, क्योकि प्रकाश-किरण ऐसा केवल उपसाधनो की सहायता से ही करती है, जबकि शुद्ध चैतन्य स्वय ही वस्तुओ को अभिव्यक्त करता है। पुन, यदि वस्तुएँ अनावृत्त चैतन्य के द्वारा स्वत अभिव्यक्त हो जाती है (अनावृत-चित् यदि विषय प्रकाशिका), तो चू कि ऐसा चैतन्य न केवल वस्तुओ की आकृतियो एव रगो से बल्कि भार आदि अन्य लक्षणो से भी सम्पर्क मे हो जाता है, इसलिए रग इत्यादि गुणो के साथ इनकी भी अभिव्यक्ति होनी चाहिए। इसके अतिरिक्त, चैतन्य का विषय से सम्बन्ध नित्य सयोग के रूप का नही हो सकना, किन्तु वह चतन्य पर

मिथ्या आरोपण के रूप का होना चाहिए, ऐसा होने के कारण, चैतन्य का विषय से सबध पहले ही से होता है, क्योकि जगत् मे सकल वस्तुएँ चैतन्य पर आरोपित होती है। अत एक मध्यस्थ के रूप मे 'वृत्ति' की मान्यता अनावश्यक है।[1] पुन यदि ब्रह्म-चैतन्य को वस्तुओ की अभिव्यक्ति के लिए एक 'वृत्ति' की सहायता की आवश्यकता होती है, तो उसे कोई अधिकार नही है कि वह स्वय मे सर्वज्ञ कहलाए। यदि यह सुझाव दिया जाय कि ब्रह्मन् सबका उपादान कारण होने से अन्य उपाधियो की सहायता के बिना ऐसे जगत् को प्रकाशित करने की क्षमता रखता है जिसका उससे तादात्म्य है, तो इसका यह उत्तर होगा कि यदि ब्रह्मन् को विषयाकृतियो की परिसीमा मे स्वय का रूपान्तरण करते हुए माना जाय तो परिसीमित ब्रह्मन् के ऐसे रूपान्तरण से शकरवादियो की इस स्वीकृत मान्यता की न्यायोचितता स्थापित नही होती कि सर्व विषय शुद्ध चैतन्य पर मिथ्या ढग से आरोपित हैं।[2] यह कहना भी सम्भव नही है कि किसी भी विपयाकृति से उपाधिरहित शुद्ध चैतन्य की अधिष्ठान कारण है, क्योकि यदि ऐसा होता तो वह सर्वज्ञ नही कहा जा सकता था, क्योकि सर्वज्ञता का कथन केवल विपयाकृतियो के सम्बध मे ही किया जा सकता है।[3]

यह मान्यता गलत है कि आवरण को हटाने के लिए 'वृत्ति' की धारणा आवश्यक है, क्योकि ऐसा आवरण या तो शुद्ध चैतन्य से सलग्न होना चाहिए या परिसीमित चैतन्य से। पूर्वोक्त असम्भव है, क्योकि सकल आभासो का आधार शुद्ध चैतन्य समस्त 'अज्ञान' एव उसके रूपो का साक्षात् द्रष्टा होता है, अतएव स्वय-प्रकाश होने के कारण उससे कोई आवरण सलग्न नही हो सकता। दूसरा विकल्प भी असम्भव है, क्योकि शुद्ध चैतन्य की सहायता के बिना स्वय 'अज्ञान' भी आश्रयरहित होगा, और 'अज्ञान' के बिना कोई परिसीमित चैतन्य एव कोई 'अज्ञान' का आवरण नही होगा। पुन यदि तर्क के लिए यह मान भी लिया जाय कि विषयो पर 'अज्ञान' एक आवरण होता है, तो एक 'वृति' के द्वारा उसके हटने की सकल्पना असम्भव है,

[1] चितो विपयोपरागस्तावत्सयोगादि-रूपो नास्त्येव।
तस्य दृश्यत्वा-प्रयोजकत्वात् किन्तु तत्राध्यस्तत्व-रूपैवेति वाच्यम्।
स च वृत्यपेक्षया पूर्वमप्यस्तीति किं चितो विषयोपरागार्थया वृत्या।
—'न्यायामृत' पर श्री निवास का 'न्यायामृत-प्रकाश' पृ० २२६।

[2] विशिष्ट-निष्ठेन परिणामित्व-रूपेण सर्वोपादानत्वेन विशिष्ट-ब्रह्मण सर्वज्ञत्वे तस्य कल्पितत्वेनाधिष्ठानत्वायोगेन तत्र जगदध्यासासम्भवाताध्यासिक-सम्बन्धेन प्रकाशत इति भवदभिमतनियमभग-प्रसग। —वही, पृ० २२७ (अ)

[3] नापि शुद्ध-निष्ठमधिष्ठानत्व सार्वज्ञ्यादेर्विशिष्ट-निष्ठत्वात्। —वही, पृ० २२६ (घ)

क्योंकि यदि 'अज्ञान' विशेष द्रष्टा मे होता है, तो, यदि वह एक व्यक्ति के लिये नष्ट होता है तो अन्य के लिये वैसा ही बना रहता है, यदि वह विषय मे है, जैसाकि माना गया है, तो जब वह एक व्यक्ति की 'वृत्ति' के द्वारा नष्ट होता है तो विषम अन्य व्यक्तियो के प्रति अभिव्यक्त होना चाहिए, अत जब एक व्यक्ति एक विषय को देखता है तो वह विषय अन्य व्यक्तियो को अन्य स्थानो मे दृष्टिगोचर होना चाहिए। पुन क्या 'अज्ञान' 'विवरण' के लेखक के कथनानुसार एक माना जाय, अथवा 'इष्ट-सिद्धि' के लेखक के कथनानुसार अनेक माना जाय ? पूर्वोक्त दशा मे, जब एक सम्यक् ज्ञान के द्वारा अज्ञान नष्ट हो जाता है तब तत्काल मोक्ष हो जाना चाहिए। यदि 'अज्ञान' नष्ट नही होता है तो शुक्ति का रजताभास बाधित नही होना चाहिए था, तथा शुक्ति का आकार अभिव्यक्त नही हो सकता था। यह नही कहा जा सकता कि रजताभास के निषेध के द्वारा शुक्ति के प्रत्यक्षीकरण की दशा मे 'अज्ञान' का विलय-मात्र होता है (जैसे लाठी के प्रहार से घट मृत्तिका मे परिणत हो जाता है, किन्तु नष्ट नहीं होता है), तो केवल ब्रह्म-ज्ञान के द्वारा ही किया जा सकता है, क्योंकि 'अज्ञान' ज्ञान से प्रत्यक्ष विरोध मे होता है तथा अज्ञान का नाश किये बिना ज्ञान स्वय को अभिव्यक्त नही कर सकता। यदि 'अज्ञान' शुक्ति के ज्ञान द्वारा नष्ट नही होता, जो व्यक्त चैतन्य का शुक्ति से कोई सम्बध नही होता तथा उसकी अभिव्यक्ति नही हो सकती थी, और बाध के बावजूद भी भ्रम बना रहता। न यह निर्देश किया जा सकता है कि यद्यपि 'अज्ञान' कुछ भागो मे नष्ट हो सकता है, तथापि वह अन्य भागो मे बना रह सकता है, क्योकि 'अज्ञान' एव चैतन्य दोनो निरवयव है। यह सुझाव भी नही दिया जा सकता कि जिस प्रकार कुछ हीरो के प्रभाव से अग्नि की दहन-शक्ति को रोक दिया जाता है, उसी प्रकार शुक्ति के ज्ञान से 'अविद्या' की आवरण-शक्ति निलम्बित हो जाती है, क्योंकि शुक्ति के आकार की 'अन्त करण-वृत्ति' दृश्येन्द्रिय व अन्य उपसाधनो की प्रक्रिया द्वारा उत्पन्न होने के कारण उस विशुद्ध आत्मन् के सम्पर्क मे नही हो सकती जो सकल लक्षणो से रहित है, अतएव वह आवरण-शक्ति का नाश नही कर सकती। यदि वह सुझाव दिया जाय कि शुक्ति के आकार की 'वृत्ति' शुक्ति की आकृति से परिसीमित शुद्ध चैतन्य के साहचर्य मे रहती है अतएव आवरण को हटा सकती है, तो अध स्थित चैतन्य का अपरोक्ष ज्ञान होना चाहिए। 'अविद्या' जड विषयो पर आश्रित नही हो सकती, क्योकि वे स्वय 'अविद्या' की उत्पत्ति हैं। अत अविद्या की आवरण-शक्ति का जड विषयो के प्रति कोई उल्लेख नही हो सकता, क्योकि आवरण केवल प्रकाशमय वस्तु को आवृत्त कर सकता है, जड विषय प्रकाशमय न होने के कारण आवृत्त नही हो सकते। इसलिए यह कहने मे कोई अर्थ नही है कि प्रत्यक्षीकरण मे विषयो का आवरण हट जाता है। यदि पुन, यह कहा जाय कि आवरण का उल्लेख जड लक्षण से रूपान्तरित विशुद्ध-आत्मन् के प्रति है और जड लक्षण के प्रति नही, तो शुक्ति के ज्ञान से शुक्ति मे अध-स्थित आवरण हट सकता

है, तथा इससे तत्काल मोक्ष हो जाना चाहिए। यदि यह सुझाव दिया जाय कि यह 'अज्ञान' जो कि मिथ्या रजत का अधिष्ठान होता है, केवल उस मूल 'अज्ञान' का रूपान्तरण होता है जो शुक्ति का उपादान होता है, तो इससे एक दूसरे से स्वतंत्र कई 'अज्ञानो' की मान्यता फलित होती है, तथा ऐसा होने के कारण यह अनिवार्यतः फलित नही होगा कि शुक्ति का ज्ञान रजत के मिथ्या आभास को नष्ट कर सकता है।

'इष्ट-सिद्धि' के लेखक के मतानुसार यदि अनेक 'अज्ञानो' के अस्तित्व को स्वीकार किया जाय तो प्रश्न यह है कि क्या एक वृत्ति की प्रक्रिया से केवल एक 'अज्ञान' हटता है अथवा सर्व अज्ञान। पूर्वोक्त मत के अनुसार भ्रम की दशा मे भी शुक्ति कदापि अव्यक्त नही रह सकती थी, क्योकि मिथ्या रजत को अभिव्यक्त करने वाली 'वृत्ति' शुक्ति को भी अभिव्यक्त करेगी, द्वितीय मत के अनुसार ऐसे अनन्त 'अज्ञान' होने के कारण कि जिन सबको हटाया नही जा सकता, शुक्ति कदापि अभिव्यक्त नहीं होगी। यह आलोचना पूर्वोक्त मत पर भी समान रूप से लागू होगी जिसके अनुसार केवल एक ही मूल 'अज्ञान' होता है जिसकी कई अवस्थाएँ होती हैं। पुन यह समझना कठिन है कि कैसे काल मे आरम्भ होने वाली शुक्ति का अनादि अविद्या से साहचर्य हो सकता है। आगे, यदि उत्तर मे यह आग्रह किया जाय कि अनादि 'अविद्या' अनादि शुद्ध चैतन्य को परिसीमित करती है, और तत्पश्चात् जब विषय उत्पन्न हो जाते हैं तब उन विषयाकृतियो से परिसीमित शुद्ध चैतन्य के आवरण के रूप मे 'अज्ञान' व्यक्त होता है, तो उत्तर यह है कि यदि शुद्ध चैतन्य से सम्बन्धित आवरण वही है जो परिसीमित विषयाकृतियो मे स्थित चैतन्य से सबधित होता है, तो उनमे से किसी भी विषय के ज्ञान से शुद्ध चैतन्य का आवरण हट जायगा और तत्काल मोक्ष फलित हो जायगा।

'वेदान्त-कौमुदी' के लेखक रामाद्वय सुझाव देते है कि जैसे असख्य 'प्राग्-अभाव' होते है, फिर भी जब कोई वस्तु उत्पन्न होती है तो उनमे से केवल एक ही का नाश होता है, अथवा जैसे जब एक भीड पर एक वज्र गिरता है तब उनमे से एक ही मारा जाता है तथा अन्य लोग तितर-बितर हो जाते है, वैसे ही ज्ञान के उदय से केवल एक 'अज्ञान' ही नष्ट हो सकता है और अन्य बने रह सकते हैं। व्यासतीर्थ उत्तर देते है कि यह सादृश्य मिथ्या है, क्योकि (उनके अनुसार) ज्ञान का प्राग्भाव एक आवरण नही होता वरन् ज्ञान के कारणों का अभाव मात्र होता है। इसके अतिरिक्त ज्ञान उक्त अभाव के नष्ट होने का कारण नही होता, किन्तु एक स्वतन्त्र सत्ता के रूप मे क्रियान्वित होता है जिससे एक ज्ञान अपने कार्यो को उत्पन्न कर सकता है, जबकि उस वर्ग के अन्य अज्ञानो के प्राग्-अभाव बने रह सकते है। एक कारण की उपस्थिति कार्य को उत्पन्न करती है, किन्तु उसमे उस शर्त का समावेश नही होता कि कार्य की उत्पत्ति के

लिये उस वस्तु के सर्व कारणों के प्राग्-अभाव नष्ट होने चाहिए। वेदान्तियों के लिए चूंकि 'वृत्ति' एक 'अज्ञान' का आवरण हटाती है, अत ज्ञान की प्रक्रिया को निरन्वित रखने के लिए अन्य 'अज्ञानावरण' विद्यमान रह सकते हैं। इस मत के अनुसार कि अंधकार प्रकाश का अभाव है, अंधकार विषयों का एक आवरण नही होता बल्कि प्रकाश की अवस्थाओं का अभाव होता है और न प्रकाश अपनी प्रक्रिया में अंधकार को नष्ट करता हुआ माना गया है, किन्तु प्रत्यक्ष रूप से प्रकाश को उत्पन्न करता हुआ माना गया है। अंधकार को प्रकाश-विशेष का अभाव भी नहीं माना जाना चाहिए, बल्कि सामान्य प्रकाश का अभाव माना जाना चाहिए। इसलिए यदि एक प्रकाश भी हो तो कोई अंधकार शेष नही रहता। 'अज्ञान' में भी अन्तर्वस्तु के रूप मे कोई जड आकार नहीं होते, अत मनुष्यों की भीड के तितर-वितर होने का सादृश्य उन पर लागू नहीं होता।

व्यासतीर्थ की उपरोक्त आलोचना का उत्तर देते हुए मधुसूदन कहते हैं कि उनका यह तर्क कि जो 'कल्पित' अथवा मानसिक है उसकी 'प्रतीति' के अतिरिक्त कोई सत्ता नहीं है (प्रतीति-मात्र-शरीरत्व) गलत है, क्योकि, विवादगत उदाहरण मे जबकि तर्क यह बताता है कि प्रत्यक्ष-कर्त्ता एव प्रत्यक्ष विषय का सम्बन्ध ऐसा निरर्थक है कि प्रत्यक्ष वस्तुएं मिथ्या के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं हो सकती तब प्रत्यक्षीकरण यह बताता है कि प्रत्यक्ष वस्तुएं तब भी बनी रहती हैं जब उनका प्रत्यक्ष नहीं किया जाता। प्रत्यक्ष वस्तुओं की निरन्तरता अनुभव द्वारा सुप्रमाणित है और रजत के भ्रामक प्रत्यक्ष के सदृश कल्पित नहीं मानी जा सकती।

फिर भी यह आपत्ति की जा सकती है कि जैसे 'परोक्ष' ज्ञान मे 'वृत्ति' को स्वीकार करने की कोई आवश्यकता प्रतीत नही होती, वैसे अपरोक्ष प्रत्यक्ष मे भी वृत्ति के बिना विषय की अभिव्यक्ति हो सकती है। इसका उत्तर यह है कि परोक्ष ज्ञान मे भी एक परोक्ष 'वृत्ति' स्वीकार की जाती है, क्योकि उसमे भी एक परोक्ष 'वृत्ति' के माध्यम से अभिव्यक्त चैतन्य के द्वारा प्रकाश होता है।[1] यह तर्क करना गलत है कि चूंकि दोनों उदाहरणों मे अभिव्यक्ति का 'सारतत्व' शुद्ध चैतन्य होता है इसलिए हमारे सिद्धान्त के अनुसार परोक्ष ज्ञान अपरोक्ष ज्ञान की भांति ही आचरण करेगा, क्योकि अपरोक्ष प्रत्यक्ष की स्थिति में 'वृत्ति' के माध्यम से चैतन्य एव विषय मे एक साक्षात् तादात्म्य स्थापित हो जाता है, अतएव उस विशिष्ट तात्कालिक सम्बन्ध मे विषय ज्ञान के विषय के रूप में आचरण करता है। ज्ञान की परोक्षता अथवा अपरोक्षता विषय के विशिष्ट स्वरूप पर निर्भर करती है, न कि दोनो उदाहरणो मे वृत्ति के

[1] परोक्षस्थलेऽपि परोक्ष-वृत्त्युपरक्त-चैतन्यस्य इव प्रकाशकत्वात्।
—अद्वैत-सिद्धि, पृ० ४८०।

विशिष्ट रूपान्तरणो पर, और न दोनो ज्ञान के दो विभिन्न वर्ग माने जा सकते है, क्योकि इस मान्यता पर 'यह वही मनुष्य है जिसे मैं जानता था' नामक सज्ञान अथवा अभिज्ञान मे, जहाँ परोक्ष एव अपरोक्ष ज्ञान का मिश्रण प्रतीत होता है, एक ही ज्ञान मे दो विभिन्न वर्गों के सज्ञान की सयुक्त प्रक्रिया का समावेश होगा, जो स्पष्टत अयुक्त है।

यह ध्यान मे रखना चाहिए कि 'वृत्ति' स्वय मे एक ऐसी प्रक्रिया मात्र है जिससे चेतन अभिव्यक्ति निर्मित नही हो सकती, 'वृत्ति' शुद्ध चैतन्य के साहचर्य के द्वारा अभिव्यक्ति को प्रेरित कर सकती है, न कि केवल अपने द्वारा। यह मानना गलत है कि एक सकर्मक प्रक्रिया (जैसे कोई कहता है कि 'मै घट को जानता हूँ') और एक अकर्मक प्रक्रिया (जैसे कोई कहता है 'घट चैतन्य मे प्रकट हुआ है') मे कोई भेद नहीं होता, क्योकि अपरोक्ष एव परोक्ष विधि का समावेश होने के नाते उक्त भेद अनुभव द्वारा भली प्रकार प्रमाणित होता है। किन्तु एक ही 'वृत्ति' को एक ही समय मे सकर्मक और अकर्मक दोनो नही माना जा सकता, यद्यपि भिन्न एव अभिन्न परिस्थितियो मे एक प्रक्रिया सकर्मक और अकर्मक दोनो हो सकती है। अनुभव के ऐसे उदाहरणो की व्याख्या जैसे 'अतीत अभिव्यक्त होता है,' इस मान्यता पर की जानी चाहिए कि शुद्ध चैतन्य अतीत के रूप मे 'वृत्ति' के एक विशेप रूपान्तरण के माध्यम से अभिव्यक्त होना है।

पुन, प्रतिपक्षियो द्वारा यह तर्क किया जाता है कि शुद्ध चैतन्य विषय को अभिव्यक्त करता है, और फिर भी यह मानने की कोई आवश्यकता नही है कि 'अन्त-करण' शरीर के बाहर गमन करता है एव विपय के सम्पर्क मे आता है। अपरोक्ष एव परोक्ष ज्ञान के अन्तर की समुचित व्याख्या विभिन्न प्रकार की परोक्ष अथवा अपरोक्ष प्रक्रियाओ की मान्यता के आधार पर की जा सकती है, जिनके माध्यम से प्रत्येक दशा मे चैतन्य अभिव्यक्त होता है,[1] क्योकि जिस प्रकार परोक्ष ज्ञान मे 'अन्त. करण-वृत्ति' का विपय से कोई वास्तविक सम्पर्क नही होता, किन्तु फिर भी ज्ञान को उत्पन्न करने वाले उपयुक्त कारणो की उपस्थिति के द्वारा ज्ञान सम्भव होता है, उसी प्रकार विपयो के अपरोक्ष ज्ञान की व्याख्या करने मे वैसी ही व्याख्या प्रस्तुत की जा सकती है। इसका उत्तर यह है कि शकरवादी यह नही मानते कि 'अन्त करण-वृत्ति' को विपय का आकार ग्रहण करना चाहिए, किन्तु वे निश्चय ही उक्त 'वृत्ति' को अपरिहार्य मानते हैं। अपरोक्ष ज्ञान मे विपय एव 'वृत्ति' मे एक वास्तविक सपर्क स्थापित होना चाहिए। यदि 'वृत्ति' एक उदाहरण विशेप मे उक्त प्रकार से

[1] परोक्ष वैलक्षण्याय विपयस्याभिव्यक्तापरोक्ष-चिदुपरागैव वक्तव्य।

—वही, पृ० ४८२।

क्रियान्वित होती है, तो इसका यह अर्थ नहीं होता कि चैतन्य को अनुकूलित करने मे वह उसका अनिवार्य व्यापार होता है। इस प्रकार प्रकाशन मे प्रकाश किरण का व्यापार यह है कि वह अधकार का निवारण करती है, उसका विषय पर फैलना तो एक सयोग मात्र है।[1] केवल इस तथ्य का कि 'वृत्ति' एक विषय के सम्पर्क मे आ सकती है, यह अर्थ नही होता कि वह तदाकार हो जाती है, इस प्रकार, यद्यपि 'अन्त करण-वृत्ति' ध्रुव तारे तक गमन कर सकती है, अथवा परमाणवीय रचना के विषयो के सम्पर्क मे आ सकती है, तथापि उसका तात्पर्य यह नही होता कि चक्षु एव तारे अथवा परमाणुओ के मध्य मे स्थित सकल विषयो का प्रत्यक्षीकरण होना चाहिए, ऐसे प्रत्यक्षीकरण उन सहायक कारणो के अभाव मे निष्फल हो जाते है जिनके कारण 'वृत्ति' उनसे तदाकार हो सकती थी। स्पर्श-प्रत्यक्ष की दशा मे 'अन्त करण वृत्ति' स्पर्शेन्द्रिय के द्वारा विषय के सम्पर्क मे आती है, ऐसा कोई प्रतिबन्ध नही है कि 'अन्त करण' केवल चक्षु के द्वारा ही निर्गमन करे तथा अन्य इन्द्रियो के द्वारा नही।[2] यह तर्क कि इच्छा, द्वेष आदि अन्य मानसिक व्यापारो की दशा मे 'अन्त करण' के बाह्य प्रवासन की कोई कल्पना नही की गई है, अर्थ हीन है, क्योकि इन दशाओ मे प्रत्यक्ष ज्ञान की दशा के समान आवरण को दूर नही किया जाता।

मधुसूदन का आग्रह है कि सकल वस्तुओ को अभिव्यक्त करने वाला आधार अथवा 'अधिष्ठान चैतन्य' विषयो से मिथ्या आरोपण के द्वारा सम्बधित होता है। यह स्वय-प्रकाशक सत्ता वस्तुत उससे सम्बधित सर्व विषयो को अभिव्यक्त कर सकती है, किन्तु अपने स्वरूप मे एक आवृत्त दीपक की भाँति अव्यक्त अवस्था मे होती है तथा उसकी अभिव्यक्ति के लिये 'वृत्ति' की प्रक्रिया अनिवार्य मानी जाती है। परोक्ष ज्ञान की दशा मे यह अव्यक्त चैतन्य स्वय को 'वृत्ति' के आकार मे अभिव्यक्त करता है, और अपरोक्ष प्रत्यक्ष की दशा मे 'वृत्ति' के सम्पर्क से 'अज्ञान' का आवरण दूर हो जाता है, क्योकि विषयो तक पहुँचने के लिए 'वृत्ति' का विस्तार होता है। अत एक परोक्ष ज्ञान की दशा मे एक मानसिक अवस्था का ज्ञान होता है न कि एक विषय का, जबकि अपरोक्ष प्रत्यक्ष मे 'वृत्ति' के साहचर्य से विषय की अभिव्यक्ति होती है। परोक्ष ज्ञान की दशा मे 'अन्त करण' के बाह्य गमन का कोई रास्ता नही होता।

[1] विषयेषु अभिव्यक्त-चिदुपरागे न तदाकारत्व-मात्र तन्त्रम्।
—अद्वैत-सिद्धि, पृ० ४८२।

[2] न च स्पार्शन-प्रत्यक्षे चक्षुरादिवत् नियत-गोलकद्वारा-भावेन अन्त करण-निर्गत्य योगादावरणाभिभवानुपपत्तिरिति वाच्यम्। सर्वत्र तत्तदिन्द्रियाधिष्ठानस्यैव द्वारत्व-सम्भवात्। —वही, पृ० ४८२।

व्यासतीर्थ की इस आपत्ति का कि 'अन्त करण' का स्थूल भौतिक विषयो से तदाकार बनने का विचार करना अयुक्त है, मधुसूदन यह उत्तर देते है कि 'एक विषय से तदाकार बनने' का अर्थ 'वृत्ति' की उस 'अज्ञान' के आवरण को दूर करने की योग्यता मात्र है जो विषय के अस्तित्व की स्वीकृति के मार्ग मे बाधक थी,[1] इस प्रकार 'वृत्ति' का व्यापार केवल 'अज्ञान' के आवरण को हटाने मे निहित होता है।

यदि शुद्ध चैतन्य ज्ञान से आवृत्त है, तो कोई ज्ञान सम्भव नही हो सकता। इस आपत्ति का मधुसूदन यह उत्तर देते हैं कि यद्यपि ज्ञान अपनी व्यापक सपूर्णता मे बना रह सकता है, तथापि वृत्ति के साहचर्य से उसका एक अश निराकृत हो सकता है, और इस प्रकार विषय प्रकाशित हो सकता है।

व्यासतीर्थ की इस आपत्ति का कि अतिम मोक्ष-प्रदायक ज्ञान मे हम यह आशा करेंगे कि 'अन्त करण' को विषय के रूप मे ब्रह्मन् का आकार ग्रहण करना चाहिए (जो निरर्थक है, क्योकि ब्रह्मन् निराकार है), मधुसूदन यह उत्तर देते हैं कि ब्रह्मन् जो अन्तिम अपरोक्ष ज्ञान का विषय होता है, पूर्णत निरुपाधिक होने के कारण, किसी विशेष आकार के साहचर्य मे प्रकाशित नही होता। सासारिक अनुभव मे विषयो की अभिव्यक्ति सदा विशिष्ट उपाधि-सहित होती है, जबकि उक्त अन्तिम अभिव्यक्ति का विषय उपाधि-रहित होने के कारण किसी भी आकार का अभाव उसके प्रति कोई आपत्ति नही हो सकता, उसका 'अज्ञान' पूर्ण निवृत्ति मे फलित होता है और इस प्रकार मोक्ष को उत्पन्न करता है। पुन, यह आपत्ति अवैध है कि यदि सुषुप्ति-अवस्था मे 'अन्त करण' का विलय हो जाता है तो पुनर्जागरण होने पर वह नवीन 'अन्त करण' हो जायगा और इस प्रकार पूर्वोक्त 'अन्त करण' से सम्बधित कर्मो की नवीन 'अन्त करण' से अविच्छिन्नता नही रहेगी, क्योकि सुषुप्ति मे भी कारण 'अन्त-करण' शेष रहता है तथा जिसका विलय होता है वह 'अन्त करण' का व्यक्त रूप होता है।

पुन, यह आपत्ति अवैध है कि 'अन्त करण' मे कोई प्रतिबिम्ब नही हो सकता क्योकि उसका न तो व्यक्त रूप होता है (उद्भूतारूपत्वात्) और न दृश्यता होती है, क्योकि प्रतिबिम्ब के लिये जो अनिवार्य अवस्था मानी जा सकती है वह दृश्यता अथवा रूप का होना नही है, वरन् पारदर्शित्व का होना है, और ऐसा पारदर्शित्व 'अन्त करण' अथवा उसकी 'वृत्ति' मे है, यह स्वीकार किया जाता है। 'अज्ञान' भी जो तीन 'गुणो' से निर्मित कहा गया है, प्रतिबिम्ब के योग्य माना जाता है क्योकि उसके तत्वो मे 'सत्व' का समावेश होता है।

[1] अस्तित्वादि तद्विषयक-व्यवहार-प्रतिबन्धक-ज्ञान-निवर्तन-योग्यत्वस्य तदाकारत्व-रूपत्वात्। —वही, पृ० ४८३।

यह आपत्ति अवैध है कि जैसे एक प्रकाश-किरण न केवल रगो को अभिव्यक्त करती है वरन् अन्य वस्तुओ को भी, वैसे शुद्ध चैतन्य को भी न केवल विषय के रूप को वल्कि भार जैसे उसके अन्य गुणो को भी अभिव्यक्त करना चाहिए, क्योकि शुद्ध चैतन्य, किसी भी गुण अथवा लक्षण के सम्पर्क मे नही होता, अतएव केवल उन्ही लक्षणो को अभिव्यक्त कर सकता है जो उसके समक्ष पारदर्शी 'वृत्ति' के माध्यम से प्रस्तुत किये जाते हैं, इसीलिए, 'यह रजत है' भ्रम के उदाहरण मे 'यह' के सज्ञान मे निहित वृत्ति मिथ्या रजत को अभिव्यक्त नही करती, जिसकी अभिव्यक्ति के लिए 'अविद्या' की एक पृथक् 'वृत्ति' को स्वीकार करना पडता है। किन्तु 'अन्त करण-वृत्ति' शुद्ध चैतन्य के प्रतिविम्ब को अपरोक्ष रूप से प्राप्त कर सकती है, अतएव उसे उक्त प्रतिविम्ब के लिए एक अन्य 'वृत्ति' की अपेक्षा नही रहती तथा इस प्रकार अनवस्था दोष नही होता। 'वृत्ति' का व्यापार 'जीव' चैतन्य एव विषय मे अध-स्थित (अधिष्ठान) चैतन्य के तादात्म्य को अभिव्यक्त करना है, जिसके विना ज्ञाता और ज्ञान का 'यह मेरे द्वारा ज्ञात किया जाता है' के रूप मे सम्बन्ध अभिव्यक्त नही हो सकता था।[1]

यद्यपि ब्रह्मन् किसी भी वस्तु से पूर्णत अस्पर्श्य होता है, तथापि सकल वस्तुओ का उस पर मिथ्या आरोपण होता है, वह 'माया' की सहायता के विना उन सवको अभिव्यक्त कर सकता है, इस प्रकार ब्रह्मन् की सर्वज्ञता तर्क-सगत है और यह आलोचना अवैध है कि शुद्ध ब्रह्मन् सर्वज्ञ नही हो सकता।

'अज्ञान' के आवरण के नष्ट होने के सम्बध मे यह निर्देश किया जा सकता है कि एक व्यक्ति के 'अज्ञान' की आवरण-शक्ति का नाश उसकी वृत्ति की प्रक्रिया से नष्ट हो जाती है, अतएव केवल वही प्रत्यक्ष कर सकता है, तथा ऐसा कोई अन्य व्यक्ति नही, जिसके लिए आवरण-शक्ति का नाश नही हो पाया है। आवरण-शक्ति और अधकार मे यह अन्तर है कि आवरण-शक्ति का विषय एव प्रत्यक्ष-कर्त्ता दोनो से सम्वन्ध होता है, जवकि अधकार केवल विषय से सम्वधित होता है, अतएव जव अधकार का नाश होता है, तव सभी देख सकते है, किन्तु आवरण-शक्ति की दशा मे ऐसा नही होता। इससे इस आलोचना का खण्डन हो जाता है कि यदि एक ही 'अज्ञान' है तो एक विषय के प्रत्यक्ष से तत्काल मोक्ष की प्राप्ति हो जानी चाहिए।

यह आलोचना अवैध है कि चू कि ज्ञान से अनिवार्यत अज्ञान का नाश होना चाहिए, अत रजत के भ्रम का नाश नही हो सकता, क्योकि ज्ञान अज्ञान का नाश केवल अन्त मे जाकर करता है, अर्थात् केवल मोक्ष से पूर्व। शुक्ति का ज्ञान असीम

---

[1] जीव चैतन्यस्याधिष्ठान-चैतन्यस्य वाभेदाभिव्यक्तार्थत्वाद् वृत्तै।
अन्यथा मयेद विदितमिति सम्बन्धावभासो न स्यात्।

—'अद्वैत-सिद्धि' पृ० ४८५।

चैतन्य को आवृत्त करने वाले मूल 'अज्ञान' की आवरण-शक्ति को नष्ट नही कर सकता, किन्तु केवल ससीम चैतन्य को आवृत्त करने वाले सापेक्ष 'अज्ञान' को नष्ट कर सकता और इस प्रकार सीमित विषयाकृतियो मे अध स्थित चैतन्य का आवरण करता है तथा मिथ्या रजत एव शुक्ति के ज्ञान के व्याघात को उत्पन्न करता है।

यह आपत्ति सर्वथा निरर्थक है कि 'अज्ञान' जड पदार्थों को आवृत नही कर सकता क्योकि वे प्रकाशमय नही होते, क्योकि शकरवादि सिद्धान्त यह मानकर नही चलता कि 'अज्ञान' जड पदार्थो को आवृत्त करता है। उनका मत है कि आवरण शुद्ध चैतन्य से सम्बन्धित होता है जिस पर सर्व जड विषय मिथ्या ढग से आरोपित होते हैं। अधिष्ठान-चैतन्य को आवृत्त करने वाला 'अज्ञान' जड विषयो को भी आवृत्त करता है जिनका अस्तित्व उस पर आरोपित होने के कारण उसी पर निर्भर होता है।

यह आपत्ति सर्वथा निरर्थक है कि 'अज्ञान' जड पदार्थो को आवृत्त नही कर सकता क्योकि वे प्रकाशमय नही होता एव शकरवादी सिद्धान्त यह मानकर नही चलता कि 'अज्ञान' जड पदार्थो को आवृत्त करता है। उनका मत है कि आवरण शुद्ध चैतन्य से सम्बन्धित होता है जिस पर सर्व जड विषय मिथ्या ढग से आरोपित होते है। अधिष्ठान-चैतन्य को आवृत्त करने वाला 'अज्ञान' जड विषयो को भी आवृत्त करता है जिसका अस्तित्व उस पर आरोपित होने के कारण उसी पर निर्भर करता है। जब 'वृत्ति' के द्वारा अधिष्ठान-चैतन्य अभिव्यक्त होता है, तब उसका फल स्वय शुद्ध चैतन्य की अभिव्यक्ति नही होता, वरन् परिसीमित चैतन्य की केवल उस सीमा तक अभिव्यक्ति होती है जहाँ तक 'वृत्ति' से सम्पर्क मे आये हुए उसके सीमित आकार का सम्बन्ध है। इस प्रकार यह आपत्ति अवैध है कि या तो आवरण का निवारण अनावश्यक है अथवा किसी विशेष सज्ञान मे अनिवार्यत मोक्ष का समावेश होता है।

पुन, अज्ञान की अवस्थाओ को उससे एक-रूप समझना चाहिये तथा जो ज्ञान अज्ञान से विरुद्ध होता है वह उन अवस्थाओ से भी विरुद्ध होता है, अत 'अज्ञान' की अवस्थाए ज्ञान के द्वारा भली प्रकार अपरोक्षत दूर की जा सकती हैं। यह आपत्ति अवैध है कि 'अज्ञान' अनेक होते हैं, और यदि एक 'अज्ञान' दूर भी हो जाय तो ज्ञान की अभिव्यक्ति मे बाधक अन्य 'अज्ञान' शेष रहेगे, क्योकि जब एक 'अज्ञान' दूर होता है तो उसका दूर होना ही अभिव्यक्ति को आवृत्त करने के लिये अन्य 'अज्ञानो' के विस्तार मे बाधक बन जाता है, अतएव जबतक प्रथम अज्ञान निवृत्त रहता तबतक विषय की अभिव्यक्ति भी बनी रहती है।

एक यह आपत्ति प्रस्तुत की जाती है कि चैतन्य स्वय निरवयव होने के कारण उसकी कुछ विषयानुकृतियो के सम्बध मे ही आशिक अभिव्यक्ति नही हो सकती। यदि यह माना जाय कि ऐसी सोपाधिक अभिव्यक्ति विषयाकृतियो के उपाधिकरण के

तथ्य के सम्बन्ध मे सम्भव है, तो निश्चित विषयाकृतियो के अस्तित्व से पूर्व कोई 'अज्ञान' नही हो सकता, अर्थात् अज्ञान निश्चित विषयाकृतियों से सहावसानी होने के कारण एक पूर्व अवस्था के रूप मे अस्तित्व नही रख सकता। इसका मधुसूदन यह उत्तर देते हैं कि विषयाकृतियाँ शुद्ध चैतन्य पर आरोपित होने के कारण एव पश्चादुक्त उनका अधिष्ठान होने के कारण किसी भी विषयाकृति के सम्बन्ध मे चैतन्य की अभिव्यक्ति अधिष्ठान-चैतन्य पर आरोपित उक्त विषयाकृति की मिथ्या सृष्टि के सम्बन्ध मे 'अज्ञान' के निवारण पर निर्भर करती है। 'अज्ञान' स्वय विषयाकृति को निर्मित नही करता, इसलिये 'अज्ञान' का निवारण पृथक् एव स्वतन्त्र सत्ताओ के रूप मे विषयाकृतियो से सम्बन्ध नही रखता, किन्तु अधिष्ठान-चैतन्य पर आरोपित उक्त विषयाकृतियो की सृष्टि से सम्बन्ध रखता है। इस प्रकार कोई आपत्ति नही हो सकती, एक पूर्व-अवस्था के रूप मे 'अज्ञान' का अस्तित्व ऐसा है कि जब सहित विषयाकृतियो की सृष्टि होती है, तब इनके ऊपर का आवरण उनके ज्ञान को उत्पन्न करने वाले 'वृत्ति' सम्पर्क से दूर कर दिया जाता है। स्थिति यह है कि यद्यपि अधिष्ठान-चैतन्य उस पर आरोपित विषयाकृतियो को अभिव्यक्त करता है, तथापि यह अभिव्यक्ति केवल उस प्रत्यक्ष-कर्ता के लिये होती है जिसकी 'वृत्ति' विषय के सम्पर्क मे आती है न कि अन्य व्यक्तियो के लिये। अभिव्यक्ति की शर्त यह है कि प्रत्यक्षकर्त्ता मे अव स्थित चैतन्य, 'वृत्ति' एव विषयाकृति का मानो विषय पर आरोपित 'वृत्ति' के द्वारा तादात्म्य हो जाता है। एक विशेष प्रत्यक्षकर्त्ता के लिये किसी विषय की अभिव्यक्ति का त्रिपक्षीय एकत्व एक अनिवार्य शर्त होने के कारण अधिष्ठान-चैतन्य द्वारा प्रकाशित किया गया विषय अन्य प्रत्यक्षकर्त्ताओ के लिये अभिव्यक्त नही होता।

माया के रूप में जगत्

व्यासतीर्थ ने इस शकरवादी सिद्धान्त का खण्डन करने का प्रयत्न किया कि जगत् एक मिथ्या आरोपण है। उनका तर्क है कि यदि जगत् एक मिथ्या सृष्टि है तो उसका एक ऐसा अधिष्ठान होना चाहिये जो सामान्यत ज्ञात होना चाहिये, किन्तु फिर भी जहाँ तक उसके विशेष लक्षणो का सम्बन्ध है वह अज्ञात होना चाहिये। लेकिन ब्रह्मन् के कोई सामान्य लक्षण नही होते, और चूँकि वह विशिष्ट विशेषताओ से रहित होता है, अत ऐसा कोई भी कथन अगीकार नही किया जा सकता कि वह एक ऐसी सत्ता है जिसकी विशिष्ट विशेषताए अज्ञात होती हैं।[1] इसके प्रति मधुसूदन

[1] अधिष्ठानत्व सामान्यत्वे ज्ञाते सत्यज्ञान-विशेषवावस्य प्रयोजकत्वात्। ब्रह्मण सामान्य धर्मेपितत्वादिना तावत् ज्ञातत्व न सम्भवति। निस्सामान्यत्वात्। अज्ञात-विशेषवाव च न सम्भवति निर्विशेषत्वागीकारात्।

'न्यायामृत' पृ० २३४ पर श्रीनिवास का 'न्यायामृत-प्रकाश'।

का उत्तर यह है कि भ्रम के अधिष्ठान के सामान्य लक्षण का ज्ञान अपरिहार्य नहीं होता, आवश्यक केवल इतना ही है कि विषय के विशिष्ट ब्यौरे के बिना उसका यथार्थ स्वरूप ज्ञात होना चाहिये। ब्रह्मन् के उदाहरण मे उसका स्वरूप स्वय-प्रकाश आनन्द है, किन्तु उस आनन्द के न्यूनाधिक विशेष लक्षण तथा उसके गुण में परिवर्तन अज्ञात है। किन्तु एक अन्य प्रत्युत्तर भी दिया जा सकता है, क्योकि मधुसूदन कहते हैं कि यदि हम ब्रह्मन् के कल्पित लक्षणो के अनादि स्वरूप को मान लें तो 'अन्योन्याश्रय' दोष मे फसे बिना ब्रह्मन् के एक कल्पित सामान्य लक्षण एव विशेष लक्षणों की सकल्पना की जा सकती है। सत् एव आनन्द के रूप मे ब्रह्मन् के लक्षणो को सामान्य माना जा सकता है, आनन्द की पूर्णता को विशेष माना जा सकता है। अत सकल वस्तुओ मे पाया जाने वाला अस्तित्व अथवा सत् का लक्षण ब्रह्मन् का एक सामान्य लक्षण माना जा सकता है जिसके आधार पर आनन्द के पूर्णत्व के रूप मे ब्रह्मन् के विशेष लक्षण के अभाव मे भ्रमो की सृष्टि होती है। इस उत्तर की अपर्याप्तता स्पष्ट है, क्योकि आपत्ति इस आधार पर उठाई गई थी कि सर्व भ्रम अपने स्वरूप मे मानसिक होते हैं, और केवल उन विशेष वस्तुओ की सम्भ्रान्ति के द्वारा उत्पन्न होते हैं जिनमे सामान्य एव विशेष दोनो लक्षण पाये जाते हैं, जबकि निरपेक्ष होने के कारण ब्रह्मन् उन सर्व लक्षणो से रहित होता है जिनके आधार पर भ्रम सम्भव हो सके।

इस प्रसग मे व्यासतीर्थ आगे निर्देश करते हैं कि यदि यह सुझाव दिया जाय कि जब एक भ्रामक प्रत्यक्ष के विपरीत कोई ज्ञान नहीं होता तब भ्रम बना रह सकता है, तथा 'अज्ञान' स्वय मे जगत-प्रपच के भ्रम के विरोध मे नहीं होता बल्कि 'वृत्ति' के रूप मे उसके आकार के विरोध मे होता है, तो उत्तर है कि चूकि 'अज्ञान' की यह परिभाषा है,—'वह जो चैतन्य के विरोध मे हो'—इसलिये 'अज्ञान' को चैतन्य के विरुद्ध न मानने वाले उपरोक्त मत के अनुसार हमारा 'अज्ञान' का 'अज्ञान' के रूप मे कथन करना न्याय-सगत नहीं होगा, क्योकि यदि वह ज्ञान के विरोध मे नही है, तो उसे 'अज्ञान' कहलाने का कोई अधिकार नही है। इसके अतिरिक्त, आत्मन् और अनात्मन्, प्रत्यक्ष-कर्त्ता और प्रत्यक्ष विषय, एक दूसरे से इतने भिन्न हैं कि उनमे सम्भ्रान्ति की कोई गुंजायश नहीं होती। इस प्रकार वेदान्ती स्वय यह कथन करते हैं कि उन सत्ताओ को पहचानने मे सशय की कोई सम्भावना नही हो सकती जिनमे अवकाशिक पृथकता हो अथवा जिनके सार-तत्व सर्वथा भिन्न हों। यथा, वक्ता एव श्रोता की पृथकता को सरलता से पहचाना जा सकता है। इसके अतिरिक्त, जबतक भ्रम का अधिष्ठान दृष्टि से ओझल न हो, तबतक भ्रम नहीं हो सकता, और शुद्ध चैतन्य सदा स्व-अभिव्यक्त होने के कारण उसका स्वरूप कभी छिप नहीं सकता, अतएव यह कल्पना करना कठिन है कि भ्रम कैसे उत्पन्न हो सकता है। पुन, आत्मन् जो ब्रह्मन्-स्वरूप है, जगत्-प्रपच के उन विषयो से कदापि सम्बन्धित नहीं होता जो हमारे लिए अनात्मन् के

रूप मे सदा स्पष्ट होते हैं, और ऐसा होने के कारण उक्त विषयो को आत्मन् पर आरोपित कैसे माना जा सकता है, जैसा हम रजत के भ्रम के उदाहरण मे मानते हैं, जो सदा 'इद' के रूप मे अपने अधिष्ठान से सम्बधित होती है ? इस स्थिति की न्यायोचितता यह कहकर सिद्ध नही की जा सकती कि जगत-प्रपच के सर्व विषयो का सत् से साहचर्य होता है जो ब्रह्मन् का स्वरूप होता है, क्योकि इसका तात्पर्य यह नही होता कि ये विषय अपने अधिष्ठान के रूप मे सत् पर आरोपित नही होते, क्योकि इन उदाहरणो मे रग की भाँति सत् विषयो के गुण के रूप मे प्रतीत होता है, किन्तु विषय सत् पर आरोपित मिथ्या गुणो के रूप में प्रतीत नही होते। यदि विषयो को सत् पर एक मिथ्या आरोपण माना जाय तो वे सत् पर आरोपित मिथ्या गुणो के रूप मे ही भासित होते। न यह कहा जा सकता है कि 'सत्' जागतिक विषयो मे अध।स्थत एक स्वय-प्रकाश सत्ता है, क्योकि, यदि ऐसा होता, तो इन जागतिक विषयो को शुद्ध चैतन्य के साथ अपने साहचर्य के द्वारा स्वय को अपरोक्ष रूप से अभिव्यक्त कर देना चाहिये था, ऐसी स्थिति मे 'वृत्ति' को मानना सर्वथा अनावश्यक होता। यह कहना भी गलत है कि किसी विषय की अभिव्यक्ति से यह लक्षित होता है कि वह विषय अभिव्यक्ति के तथ्य पर एक आरोपण है, क्योकि पश्चादुक्त उस विषय के सम्बन्ध मे केवल गुणात्मक रूप मे प्रतीत होता है।[1] कभी-कभी यह सुझाव दिया जाता है कि व्याख्या के लिये यथार्थ अधिष्ठान का ज्ञान आवश्यक नही होता, क्योकि भ्रम की व्याख्या के लिये उक्त अधिष्ठान का एक मिथ्या प्रत्यय भी यथेष्ठ होता है, अतएव यदि प्रत्यक्षीकरण मे यथार्थ अधिष्ठान (ब्रह्मन्) स्पष्ट न भी हो तो यह भ्रम की सम्भावना के प्रति कोई वैध आपत्ति नही है। किन्तु इस मत का उत्तर यह है कि फिर तो पूर्व भ्रम की अनन्त घटनाए वर्तमान भ्रम की व्याख्या करने मे समर्थ होगी, तथा सर्व भ्रामक आभास के आधार-सत्य के रूप मे ब्रह्म के अस्तित्व को स्वीकार करने मे कोई अर्थ न होगा, इस प्रकार हम बौद्धो के शून्यवाद मे प्रविष्ट हो जाएगे।[2]

यदि जगत-प्रपच, जिसे मिथ्या माना जाता है, कारणता-जन्य सामर्थ्य का प्रयोग कर सकता है और सत् की भाँति आचरण कर सकता है, जैसा उन श्रुति-पाठो से सुप्रमाणित होता है जो आत्मन् से आकाश की उत्पत्ति का कथन करते हैं, तो वह स्पष्टत साधारण भ्रमो से भिन्न है, जिनमे ऐसी कारणता-जन्य सामर्थ्य (अर्थ-क्रिया-कारित्व) नही होती। इसके अतिरिक्त, शुक्ति-रजत के सादृश्य का अनुसरण करते हुए—जो रजतकार की रजत के सम्बन्ध मे मिथ्या मानी जाती है—हम यह आशा कर

[1] घट स्फुरति तस्य च स्फुरणानुभवत्वेन घटानुभवत्वायोगात्।

—न्यायामृत, पृ० २३६।

[2] वही, पृ० २३७ अ।

सकते हैं कि जगत-प्रपच केवल किसी अन्य यथार्थ जगत-प्रपच के सम्बन्ध मे ही मिथ्या हो सकता है, किन्तु ऐसी कोई यथार्थ सत्ताए हमे ज्ञात नही है ।

पुन , 'विवरण' मे यह सुझाव दिया गया है कि यद्यपि ब्रह्मन् एव भ्रम मे कोई वास्तविक सादृश्य नही है, तथापि यह मानने मे कोई कठिनाई नही है कि यथार्थ सादृश्य के बिना भी किसी कल्पित सादृश्य के द्वारा ब्रह्मन् पर आश्रित जगत-भ्रम घटित होता है । किन्तु इनके उत्तर मे यह निर्देश किया जा सकता है कि ऐसा कल्पित सादृश्य केवल 'अविद्या' के कारण ही माना जा सकता है, किन्तु अविद्या' 'स्वय कल्पित होने के कारण किसी अन्य भ्रम पर आश्रित होगी, और ऐसा भ्रम किसी अन्य सादृश्य की अपेक्षा रक्खेगा तथा इस प्रकार एक दुष्ट चक्र का निर्माण हो जायगा । यह सुझाव दिया जाता है कि भ्रम सादृश्य के बिना भी सम्भव होते है, जैसाकि लाल स्फटिक के उदाहरण मे, किन्तु उत्तर मे यह कहा जा सकता है कि, प्रथमत 'लाल स्फटिक' स्फटिक मे लाल रग के प्रतिबिम्ब का एक उदाहरण है, अतएव भ्रम के कारण के रूप मे वह सादृश्य की अपेक्षा नही रखता, जबकि अन्य सभी उदाहरणो मे, जो उक्त स्वरूप के नही हैं, भ्रम के लिये स्वभावत किसी प्रकार के सादृश्य की एक पूर्व अवस्था के रूप मे अपेक्षा होगी, द्वितीयत , यहाँ भी यह स्वीकार किया जा सकता है कि लाल द्रव्य और स्फटिक द्रव्य के मध्य यह सादृश्य है कि वे दोवो एक ही द्रव्य से निर्मित हैं, तथा इस प्रकार का सादृश्य ब्रह्मन् और जगत के मध्य मान्य नही है । पुन , यह सुनिदित है कि किसी बाह्य दोष की प्रक्रिया के बिना कोई असत्य ज्ञान उत्पन्न नही हो सकता, क्योकि अन्यथा सकल ज्ञान स्वरूपत' असत्य हो सकता है । इसी प्रकार ऐसे प्रत्यक्ष-कर्त्ता के बिना कोई भ्रम नही हो सकता जो असत्य ज्ञान एव उसका बोध करने वाले सत्य ज्ञान दोनो के सम्पादन की क्षमता रखता हो, और इसके लिये शरीर एव इन्द्रियो की उपस्थिति अपरिहार्य है । प्रलय की अवस्था मे, यद्यपि 'अज्ञान' हो सकता है, तथापि शरीर न होने के कारण न तो भ्रम हो सकता है और न सत्य ज्ञान ।

यह सुझाव नही दिया जा सकता कि, जैसे शुक्ति-रजत के साधारण भ्रमो मे सापेक्ष अस्तित्वमय साधारण निरीक्षण के दोषो को स्वीकार करना पडता है, वैसे जगत-भ्रम की व्याख्या भी ऐसे सापेक्ष दोषो की मान्यता पर करनी पडेगी । ऐसे सुझाव का उत्तर यह है कि जबतक जगत-भ्रम के स्तर को निर्धारित नही किया जाता तबतक व्यावहारिक अस्तित्व रखने वाले जगत-प्रपच को उत्पन्न करने वाले दोषो के स्तर का कोई अर्थ नही हो सकता । द्वैतवादियो की यह मानकर प्रत्यालोचना नही की जा सकती कि उनके पक्ष मे भी दोषो, शरीर एव इन्द्रियो की यथार्थता की स्वीकृति तभी की जा सकती है जबकि जगत का अमिथ्यात्व ज्ञात हो तथा पश्चादुक्त का ज्ञान पूर्वोक्त के ज्ञान पर निर्भर करता है, क्योकि जगत की सत्यता का ज्ञान अनुभव से

अपरोक्ष रूप मे प्राप्त किया जाना चाहिए, न कि इस प्रकार के तार्किक वाक्छल के द्वारा। यह भी निर्देश किया जा सकता है कि यदि शुक्ति-रजत के सादृश्य का अनुसरण किया जाय, तो चूंकि वहाँ दोषो का वही स्तर होता है जो भ्रम के अधिष्ठान, अर्थात् शुक्ति के 'इद' का, इसलिये जगत-भ्रम मे भी दोषो का वही स्तर होना चाहिए जो अधिष्ठान का है।

पुन, यदि दोषो को परम सत्य न मान कर केवल मिथ्या माना जाय, तो यह स्वीकार करना पडेगा कि जगत मे यथार्थ दोष नही है, जिसका तात्पर्य यह होगा कि हमारा जगत-ज्ञान सत्य है। यह मान्यता कि दोष शरीर, इन्द्रियाँ आदि सब मिथ्या है, यह अपेक्षा रखती है कि यह अन्य दोषो की उपस्थिति के कारण हैं, ये दोष अन्य दोषो पर निर्भर करने चाहिए, और इस प्रकार अनवस्था दोष उत्पन्न हो जाता है। यदि दोषो की कल्पना मनस् मे स्वत स्फूर्त होती है तो ज्ञान की स्वत-प्रामाण्यता का बलिदान करना पडता है। यदि यह आग्रह किया जाय कि 'अविद्या' या तो अनादि है अथवा भेद के प्रत्यय के समान आत्म-निर्भर एव अपरोक्ष है इसलिये कोई अनवस्था दोष नही होता, तो उत्तर यह है कि यदि अविद्या आत्म-निर्भर एव अनादि है तो वह किसी आश्रय अथवा जगत-भ्रम के आधार ब्रह्मन् पर अपने 'अधिष्ठान' के रूप मे निर्भर नही करनी चाहिए। पुन, यदि 'अविद्या' का अनुभव किन्ही दोषो के कारण उत्पन्न न माना जाय तो वह असत्य नही माना जा सकता। किन्तु यह कल्पना करना कठिन होगा कि कैसे 'अविद्या' कुछ दोषो के कारण हो सकती है, क्योकि फिर वह स्वय को उत्पन्न करने के लिये स्वय से पूर्व अस्तित्व मे होगी। पुन, यह धारणा गलत है कि जगत एक भ्रम है चू कि उसका बाध हो जाता है, क्योकि बाध स्वय फिर बाधित हो जाता है, इससे अनवस्था दोष उत्पन्न हो सकता है, क्योकि यह स्वीकार नही किया जा सकता कि जो ज्ञान बाध करता है वह स्वय बाधित हो जाता है।

जिस प्रकार रजत-भ्रम मे भ्रम के अधिष्ठान की उसी प्रकार की सत्ता होती है जैसी दोष की, उसी प्रकार जगत-भ्रम मे भी भ्रम के अधिष्ठान की उसी प्रकार की सापेक्ष सत्ता होनी चाहिये जैसी दोषो की, जिसका अर्थ यह होगा कि ब्रह्मन् भी सापेक्ष है। इसके अतिरिक्त, यह कहना गलत है कि जगत-भ्रम के 'अधिष्ठान का ज्ञान परम सत्य है, जबकि दोषो का केवल सापेक्ष अस्तित्व होता है, क्योकि ऐसा भिन्न बर्ताव तबतक न्याय-सगत नही होगा जबतक दोषो का बाध नही हो जाता, जबकि ऊपर बताया जा चुका है कि बाध का प्रत्यय स्वय अवैध है। यह नही कहा जा सकता कि दोषो के मिथ्यात्व मे उनका बाध निहित है, क्योकि दोष का प्रत्यय मिथ्या-त्व के प्रत्यय के अर्थग्रहण के बिना दुर्बोध होता है, इसके अतिरिक्त, सर्व भ्रमो मे अधिष्ठान के ज्ञान का भ्रम को उत्पन्न करने वाले दोषो से कोई विरोध प्रतीत नही

सत्-रूप सर्व ज्ञान का विषय होता है, अतएव यद्यपि यह ज्ञान की भाँति रूप-हीन होता है तथापि काल की भाँति उसकी चक्षु-प्रत्यक्ष के विषय के रूप में सकल्पना की जा सकती है।[1]

जगत-भ्रम एक क्रमिक श्रेणी में घटित होते हैं जिनमें उत्तरवर्ती श्रेणी पूर्ववर्ती श्रेणी के समान होती है। केवल यही शर्त अनिवार्य है, यह तनिक भी आवश्यक नहीं कि जो मिथ्या आकार आरोपित होते हैं, वे भी सत्य होने चाहिए। यही यथेष्ट है कि कुछ आकारों के स्थान पर कुछ अन्य आकारों के प्रस्तुत होने का ज्ञान हो। एक रजत-भ्रम के लिये आवश्यक बात यह है कि रजत का ज्ञान हो, रजत सत्य भी हो यह सर्वथा महत्वहीन एव सायोगिक है। इसलिये सत् सत्ता के रूप में जगत-प्रपच की सत्यता उक्त भ्रम की शर्त कदापि नहीं है। यह आपत्ति अवैध है कि उक्त सादृश्य का अनुसरण करते हुए यह तर्क भी किया जा सकता है कि भ्रम के अधिष्ठान की सत्यता अनावश्यक है तथा भ्रम की व्याख्या के लिये केवल उक्त अधिष्ठान का ज्ञान ही आवश्यक है, क्योंकि भ्रम का अधिष्ठान उसके ज्ञान के द्वारा भ्रम का कारण नहीं होता, वरन् उसके अज्ञान के कारण। इसके अतिरिक्त, यदि सत् के अधिष्ठान की सत्यता की भ्रम की एक पूर्व-अवस्था के रूप में माँग नहीं की जाती है, तो भ्रम का बाध निरर्थक हो जायगा, क्योंकि पश्चादुक्त केवल एक सत्य सत्ता के सम्बन्ध में भ्रामक धारणा का निवारण करता है।

यह आपत्ति अमान्य है कि यदि जगत-भ्रम व्यावहारिक कार्य-कुशलता एव आचरण की क्षमता रखता है तो उसे असत्य नही माना जा सकता, क्योंकि स्वप्नो मे इस प्रकार की व्यावहारिक कार्य-कुशलता होती है। आत्मन् मे आकाश की सृष्टि की श्रुति-पाठो मे कथा के आधार पर हमे यह नही सोचना चाहिये कि उक्त श्रुति-पाठ सत्य है, क्योंकि श्रुतिया स्वप्न-सृष्टियो का कथन भी करती है। यह आपत्ति अवैध है कि यदि सृष्टि के आरम्भ मे भ्रम के मूल सस्कार अन्य सृष्टि-चक्रो के मूल सस्कारो के कारण उत्पन्न होते हैं तो पूर्व-जन्म के मूल-सस्कार इस जीवन के प्रत्येक एव सर्व अनुभवो मे प्रकट होने चाहिए, क्योंकि पूर्व-जन्म के सर्व मूल सस्कार इस जीवन मे अभिव्यक्त नही होते तथा ऐसे मूल-सस्कारो का इस जीवन के अनुभवो को प्रभावित करने का कर्तृत्व जैसे एक शिशु मे अपनी मा के स्तन-पान की मूलप्रवृत्यात्मक इच्छा के उदाहरण मे, केवल उन्ही उदाहरणो मे स्वीकार किया जाना चाहिए जहाँ वस्तुत वे घटित होते हैं। इसी प्रकार यह आपत्ति भी वैध नही मानी जा सकती कि भ्रम स्वय हमारी गलत कल्पना के मूल-सस्कारो के कारण नही हो सकते, क्योंकि त्रुटिपूर्ण

[1] सद्-रूपेण च सर्व-ज्ञान-विषयतोपपत्तेर्न रूपादि-हीनस्यात्मन कालस्येव चाक्षुत्वाद्यनुपपत्ति । —वही, पृ० ४६५ ।

प्रत्यक्ष के घटित होने से पूर्व भ्रामक प्रत्यक्षो के मूल सस्कार नही हो सकते, अतएव एक पूर्वस्थित तथ्य एव हमारे भ्रामक प्रत्यक्षो की पूर्व-अवस्था के रूप मे मिथ्या जगत् का अस्तित्व भी नही हो सकता, क्योकि वस्तुओ का स्वरूप ही दो प्रकार के भ्रमो के लिये इस प्रकार उत्तरदायी होता है कि, यद्यपि रजतकार की दुकान मे पाई जाने वाली भ्रामक रजत से चूडियाँ बनाई जा सकती है तथापि शुक्ति मे पाई जाने वाली मिथ्या रजत से कुछ भी नही किया जा सकता। इसलिए स्वय हमारे भ्रम के मूल सस्कार जगत्-प्रपच के भ्रम के निर्माणकारी सामग्री के रूप मे कार्य कर सकते है तथा जगत-प्रपच के भ्रामक अनुभव के घटित होने से पूर्व ही स्वय हमारे भ्रम के मूल-सस्कारो से व्युत्पन्न जगत्-प्रपच की सामग्री भ्रामक प्रत्यक्ष की एक पूर्व-अवस्था के रूप मे पहले ही से वस्तु-निष्ठ रूप से विद्यमान हो सकती है। यह आपत्ति अवैध है कि चूँकि भ्रामक प्रत्यक्षो की पूर्व-अवस्था के रूप मे मिथ्या ढग से तादात्म्यीकरण की गई सत्ताओ की समरूपता होनी चाहिए और चूँकि ब्रह्मन् एव जगत् के मध्य ऐसी कोई समरूपता नही पाई जाती, इसलिए उनमे कोई मिथ्या तादात्म्यीकरण नही किया जा सकता, प्रथमत, क्योकि 'अविद्या' अनादि होने के कारण किसी समरूपता की अपेक्षा नही रखती। द्वितीयत, यह मान्यता भी असत्य है कि समरूपता भ्रम की एक अनिवार्य पूर्व अवस्था है, क्योकि जिन उदाहरणो मे ऐसा प्रतीत होता है कि समरूपता भ्रम को प्रेरित करती है उनमे भी ऐसा भ्रम की उत्पत्ति के अनुकूल एक मानसिक वृत्ति की उत्पत्ति के कारण होता है और यदि ऐसी मानसिक वृत्ति 'कर्म' अथवा 'अदृष्ट' आदि अन्य कारणो से उत्पन्न होती है तो समरूपता भ्रम की पूर्व-अवस्था के रूप मे अनिवार्य नही रहती, अतएव भ्रम की पूर्व-अवस्था के रूप मे समरूपता को अपरिहार्य नही माना जा सकता। यह आपत्ति भी अवैध है कि यदि दोष के बिना एक भ्रम हो सकता है, तो उसका अर्थ यह है कि सकल ज्ञान स्वय मे असत्य है और यदि भ्रमो को दोषो से उत्पन्न माना जाय तो दोष भी मिथ्या आरोपण के फल है और इस प्रकार अनवस्था दोष हो जायगा, क्योकि अनादि 'अविद्या'-जन्य भ्रम दोषो से नही होता और यद्यपि जिन भ्रमो का काल मे आरम्भ होता है वे अनादि 'अविद्या'—दोष के कारण होते है, तथापि इससे सकल ज्ञान असत्य नही हो जाता, क्योकि केवल वे ही भ्रम 'अविद्या' के दोष के कारण होते है जिनका कालिक आरम्भ होता है और, चू कि 'अविद्या' स्वय अनादि है इसलिए उसे किन्ही दोषो की अपेक्षा नही रहती, अतएव कोई अनवस्था दोष नही हो सकता। यह ध्यान मे रखना चाहिए कि यद्यपि काल मे उत्पन्न भ्रम दोषो अथवा 'अविद्या' के अनादि 'दोष' के कारण होता है, तथापि वह अनिवार्यत उक्त दोष के कारण नही होता, अतएव साक्षात् व स्वत-स्फूर्त रूप मे एक मिथ्या सृजनात्मक अभिकर्त्ता के रूप मे स्थित रहता है और वह भ्रम इसलिए नही कहलाता कि वह दोषो मे उत्पन्न होता है, बल्कि इसलिए कि वह ब्रह्म-ज्ञान के द्वारा बाधित होता है। इस प्रकार यह आपत्ति अवैध है कि 'अविद्या' दोष के कारण होती है और दोष 'अविद्या' के

कारण होता है, जो दोषों की उपज है उसका बाध होकर रहता है, किन्तु इसका विलोम अनिवार्यत सत्य नहीं होता।

यह आग्रह नहीं किया जा सकता कि यदि 'अविद्या' 'दोष' से स्वतन्त्र है, तो जगत्-भ्रम को भ्रम के अधिष्ठान अथवा आधार, अर्थात् ब्रह्मन् से स्वतन्त्र माना जा सकता है, क्योंकि यद्यपि भ्रम का अधिष्ठान-भ्रम को उत्पन्न करता हुआ नहीं माना जा सकता है, तथापि उसे उसका आश्रय एवं आधार तथा उसका प्रकाशक भी मानना पड़ेगा।[1]

पुन यह आपत्ति अवैध है कि भ्रम इन्द्रिय-व्यापार पर, शरीर के अस्तित्व पर निर्भर करता है, क्योंकि ये केवल अन्न-प्रज्ञात्मक प्रत्यक्ष के लिये आवश्यक हैं। किन्तु भ्रम के उदाहरणों मे, शुद्ध चैतन्य पर 'अविद्या' के आरोपण मे, पूर्वोक्त 'अविद्या' की सृष्टियों का स्वत.-स्फूर्त प्रतिबिम्ब-कर्त्ता होता है, अतएव उसके लिये इन्द्रिय-व्यापार की आवश्यकता नहीं है।

पुन, यह आग्रह किया जाता है कि, चूंकि दोष काल्पनिक आरोपण होते हैं, अत दोषों का निषेध सत्य हो जाता है, अतएव दोष असत्य होने के कारण जगत्-प्रपंच के ज्ञान को असत्य नहीं बना सकते, और यदि ऐसा है तो जगत्-प्रपंच सत्य होने के कारण, यह हमारे द्वारा सत्यता की स्वीकृति होगी (इसके उदाहरण के रूप में यह आग्रह किया जाता है कि बौद्धों की वेदों के विरुद्ध आलोचना अवैध एवं मिथ्या होने के कारण वेदों की सत्यता का खण्डन नहीं कर सकती)। इसका उत्तर यह है कि वेदों के विरुद्ध बौद्धों द्वारा निर्देशित दोषों की आलोचना मिथ्या है क्योंकि उनके द्वारा दोष केवल कल्पित किये गए हैं, वेद इससे प्रभावित नहीं होते हैं क्योंकि उनकी सत्यता हमारे व्यावहारिक अनुभव द्वारा स्वीकृत की जाती है। इसलिए कल्पित किए गए दोष वेदों की सत्यता से सहावसानी नहीं हैं, 'अविद्या' के दोष एवं अनेकात्मक जगत्-प्रपंच की सत्ता एक ही प्रकार की है–एक दूसरे का कार्य है और इस प्रकार यदि दोष मिथ्या हैं तो उनकी उपज (जगत्) भी मिथ्या हो जाती है, अतएव दोषों का मिथ्या स्वरूप जगत् की सत्यता को सिद्ध नहीं करता। जगत्-प्रपंच इसीलिए सापेक्षत सत्य कहा जाता है कि वह ब्रह्म-ज्ञान के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु से बाधित नहीं होता। अत उसका सापेक्ष लक्षण मिथ्यात्व के स्वरूप के निर्धारण पर निर्भर नहीं करता, जिसका पुन. जगत् के सापेक्ष स्वरूप के द्वारा निर्धारित संकल्पित किया जाय, और इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष का समावेश हो जाय।[2] यह आग्रह किया जाता है कि दोषों की सत्यता का ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष ग्रहण किया जाता है और इसलिए वे त्रुटि के कारण के रूप मे तभी आचरण कर सकते हैं यदि वे अन्ततोगत्वा सत्य हों,

[1] 'अद्वैत-सिद्धि' पृ० ४६८।

[2] वही, पृ० ४६६।

इसका उत्तर यह है कि दोषो का अस्तित्व केवल ज्ञानेन्द्रियो द्वारा ग्रहण किया जा सकता है, किन्तु उनका किसी भी काल मे बाध नही हो सकता (त्रैकालिका-बाध्यत्व)। यह बात किसी अन्त प्रज्ञात्मक आधार पर कभी निश्चित नही की जा सकती, अतएव दोषो की सत्यता की कदापि स्वीकृति नही की जा सकती। यह सदा ध्यान रखना चाहिए कि दोषो का वही स्तर नही होता जो शुद्ध चैतन्य का होता है, जिस पर मिथ्या शुक्ति का आरोपण होता है। न यह कहा जा सकता है कि जो ज्ञान जगत्-प्रपच का बाध करता है वह इस आधार पर सत्य होना चाहिए कि यदि वह सत्य न होगा तो उसके बाध के लिये एक अन्य ज्ञान की अपेक्षा होगी और इस प्रकार हम अनवस्था दोष के भागी होगे, क्योकि जगत्-प्रपच का यह अन्तिम बाध स्वय का बाध करता हुआ भी इस कारण से माना जा सकता है कि इस बाध की सामग्री ज्ञातव्यता के सम्पूर्ण क्षेत्र पर लागू होती है और यह अन्तिम बाध स्वय ज्ञातव्यता के क्षेत्र के अन्तर्गत होने के कारण बाध मे समाविष्ट होता है। यह आग्रह किया जाता है कि यदि बधन इस अर्थ मे मिथ्या है कि वह सर्व कालो मे असत् होता है, तो कोई कारण नही है कि कोई भी उस वस्तु के निवारण के लिये चिंतित हो जो पहले ही से असत् है, इसका उत्तर यह है कि सत्य (ब्रह्मन्) के अस्तित्व की कदापि समाप्ति नही हो सकती—बधन के मिथ्यात्व का अर्थ यह है कि वह एक ऐसी सत्ता है जो आधारभूत सत्य के साक्षात् ज्ञान मे तत्काल समाप्त होने योग्य होती है। यह ठीक उस मनुष्य के उदाहरण के सदृश है जो यह भूल गया है कि उसका हार उसके गले मे है और वह उसकी व्यग्रता से खोज कर रहा है और जो स्मरण दिलाने के क्षण मे ही अपनी खोज का परित्याग कर देता है। यह मानना गलत है कि चूंकि सर्व कालो मे असत् काल्पनिक सत्ता के सबध मे कोई प्रयास नही किया जा सकता, इसलिए भ्रामक सत्ता के निवारण के लिए भी कोई प्रयास नही किया जा सकता, क्योकि, यद्यपि भ्रामक काल्पनिक सत्ताए अपने त्रैकालिक असत्व के सम्बन्ध मे सहमत हो सकती हैं, तथापि कोई कारण नही है कि वे अन्य रूपो मे भी सहमत हो। यह सम्भव है कि बन्धन की समाप्ति के प्रत्यय के सत्य के ज्ञान के अतिरिक्त कोई सामग्री नही होती, अथवा उसको अनिर्वचनीय अथवा सर्वथा विलक्षण स्वरूप का माना जा सकता है। भ्रामक बधन एव जगत्-प्रपच तभी समाप्त हो सकते हैं—जब आधार-भूत सत्य ब्रह्मन् का ज्ञान होता है, ठीक उसी प्रकार जैसे रजत-भ्रम उस शुक्ति के ज्ञान से समाप्त हो जाता है जिस पर वह आरोपित होता है। यदि यह स्मरण रक्खा जाय कि बादरायण के सूत्रो का आशय केवल वस्तुओ के सापेक्ष अस्तित्व का निर्देश करता है जो उस आधारभूत सत्य का ज्ञान होते ही सम्पूर्णत समाप्त हो जाता है जिस पर वे आरोपित होते है, तो यह आपत्ति अवैध हो जाती है कि उन 'सूत्रो' द्वारा एक वस्तुवादी जगत् का अस्तित्व लक्षित होता है।

'दृष्टि सृष्टि' मत की मान्यता है कि सकल वस्तुओ का अस्तित्व उनके प्रत्यक्षीकरण मे निहित होता है। व्यासतीर्थ कहते हैं कि यदि वस्तुए केवल तभी तक

अस्तित्व रखती जबतक उनका प्रत्यक्षीकरण होता है, तो वे केवल क्षणिक हो जाएगी, अतएव बौद्ध क्षणिकवाद के विरोध मे इस आधार पर उठाई गई सभी आपत्तियाँ कि, वे प्रत्यभिज्ञा द्वारा प्रमाणित वस्तुओं के स्थायित्व को स्वीकार नही करते स्वय शकरवादियो के विरोध मे भी समान औचित्य से उठाई जा सकती है। इसका मधुसूदन यह उत्तर देते है कि यद्यपि परम सत्ताओ के रूप मे वस्तुओ का अस्तित्व स्वीकार नही किया जाता है, तथापि उक्त मत मे 'अज्ञान' के रूप मे कारणावस्था मे उनका अस्तित्व अस्वीकार नही किया जाता है, यह उसका बौद्ध-मत से अन्तर होगा जो वस्तुओ के ऐसे कारणात्मक अस्तित्व को स्वीकार नही करता।

यदि जागतिक-विषयो का उनके प्रत्यक्षीकरण से बाहर कोई अस्तित्व नही हैं तो वेस्पष्टत निश्चित कारणो से स्वतत्र होते है और यदि ऐसा है तो यज्ञो एव उनके फलो के मध्य निश्चित कारण-कार्य का सबध तथा निश्चित कारण एव कार्य के सबध मे समस्त वैदिक पाठो का आशय, अर्थहीन हो जाता है। इसके प्रति मधुसूदन का यह उत्तर है कि श्रुतियो मे कारण-कार्य सबध का विनिर्देश एव सासारिक जीवन मे उनकी अनुभूति स्वप्नो में कारण-कार्य के सदृश हैं, स्वप्नो के अन्तर्गत इन कारणो एव उनके कार्यों का भी परस्पर एक निश्चित क्रम होता है जो अनुभवो के बाध्यत्व से ज्ञात होता है।

यह आपत्ति की जाती है कि 'दृष्टि-सृष्टि' मत (वस्तुए उनके प्रत्यक्षीकरण से पूर्व कोई अस्तित्व नही रखती) के आधार पर जगदानुभव अव्याख्येय है। यह व्याख्या करनी भी कठिन होगी कि यदि भ्रम के अधिष्ठान के रूप मे 'इद' का हमारे बाहर पूर्व-अस्तित्व नही है तो कैसे उससे तथा मिथ्या प्रतिमा के अधिष्ठान से कोई इन्द्रिय सम्बन्ध हो सकता है। इसके प्रति मधुसूदन का उत्तर यह है कि इन्द्रिय सबध एव अन्य अवस्थाओ पर आधारित भ्रम की सामान्य व्याख्या केवल निम्नतर श्रेणी के मनुष्यो के लिए की गई व्याख्या होती है। उच्चतर श्रेणी के मनुष्यो के लिए भ्रम की परिभाषा होगी 'एक मिथ्या सत्ता के साहचर्य मे एक सत्य सत्ता की अभिव्यक्ति तथा ऐसी परिभाषा 'दृष्टि-सृष्टि' मत के अनुसार होगी। 'इद' मे अध-स्थित चैतन्य एक द्रव्य होता है तथा मिथ्या रजत उसके साहचर्य मे अभिव्यक्त होती है।

आगे यह आपत्ति की जाती है कि भ्रामक प्रत्यक्ष के समय (यह रजत है), यदि एक वस्तुगत तथ्य के रूप मे शुक्ति नही होती है तो शुक्ति के प्रति अज्ञान के कार्य के रूप मे भ्रम की व्याख्या नही की जा सकती, जैसा साधारणत किया जाता है। इसका उत्तर यह है कि, यदि शुक्ति का अभाव भी होता है तो उसकी सामग्री को निर्मित करने वाला 'अज्ञान' विद्यमान रहता है। इस आपत्ति का कि 'यह रजत है' एव 'यह रजत नही है' नामक दो प्रत्यक्षीकरण दो भिन्न प्रत्यक्षो की ओर निर्देशित होते हैं तथा एक सामान्य वस्तुगत तथ्य का उल्लेख नही करते और इसलिए उनमे से

एक को दूसरे का बाध नही माना जा सकता क्योंकि ऐसा बाध तभी सम्भव हो सकता है जब दो अभिवचन एक ही वस्तुगत तथ्य का उल्लेख करते है, यह उत्तर है कि स्वप्नानुभवो के सादृश्य के आधार पर यहाँ भी बाध सम्भव है। व्यासतीर्थ आगे कहते है कि चूंकि भ्रम का बाध एक वस्तुगत तथ्य न होकर एक प्रत्यक्षीकरण मात्र होता है, इसलिए उसका भ्रामक प्रत्यक्ष से उत्कृष्ट स्तर नही हो सकता अतएव वह अनिवार्यत उस भ्रम से अधिक सत्य नही माना जा सकता जिसका वह बाध करता हुआ माना जाता है। वे आगे कहते हैं कि सुषुप्ति एव प्रलय मे चूंकि ब्रह्मन् और 'जीव' का पृथक् प्रत्यक्ष नही होता अत ब्रह्मन् एव जीव का उक्त भेद प्रत्येक सुषुप्ति एव प्रत्येक चक्रिक प्रलय मे समाप्त हो जाता है। इस प्रकार ब्रह्मन् और 'जीव' के भेद के अभाव मे प्रत्येक सुषुप्ति एव प्रलय के अंत मे जागतिक अनुभवो की कोई पुनरावृत्ति नहीं हो सकती। ऐसे व्यक्ति के उदाहरण मे जो निद्रामग्न है तथा उसके कारण जिसके मूल सस्कार प्रत्यक्ष-योग्य नही है (अतएव असत् है), कोई व्याख्या सम्भव नही है कि जागतिक अनुभव कैसे पुन आरम्भ होते हैं। मोक्ष का भी एक प्रत्यक्षीकरण मात्र होने के नाते जागतिक अनुभवो से उत्कृष्ट स्तर नही हो सकता, इसके अतिरिक्त, यदि शुद्ध चैतन्य सकल जागतिक विषयो के रूप मे अभिव्यक्त होता तो ऐसा कोई समय नही होता जब उक्त विषय अव्यक्त रह सकते थे।

इसका मधुसूदन यह उत्तर देते है कि 'जीव' एव 'ब्रह्मन्' का सबध अनादि होने के कारण प्रत्यक्षीकरण पर निर्भर नही करता, सुषुप्ति मे यद्यपि मूल सस्कार कार्य के रूप मे विलीन हो जाते है तथापि वे अपने कारण स्वरूप मे फिर भी शेष रहते हैं, मोक्ष भी ब्रह्मन् के स्वरूप का होने के कारण प्रत्यक्षीकरण का विशुद्ध अन्त-प्रज्ञात्मक स्वरूप का होता है।

एक यह आपत्ति की जाती है कि यदि शुद्ध चैतन्य विषयो का ज्ञान होता है तो उनकी नित्य अभिव्यक्ति होनी चाहिए। इसका उत्तर यह है कि यहाँ प्रत्यक्षीकरण का अर्थ है एक ऐसी 'वृत्ति' के माध्यम से शुद्ध चैतन्य की अभिव्यक्ति जो शुद्ध चैतन्य मे अपने सबध के लिए एक अन्य 'वृत्ति' की अपेक्षा नही रखती, शरीरो के बिना भ्रमो की सम्भावना की स्वप्नो के सादृश्य पर व्याख्या की जा सकती है। पुनः, यह आपत्ति अवैध है कि चूंकि प्रत्यक्षीकरण भी उस विषय के समान एक भ्रामक ज्ञान होता है जिसके सार-तत्व के रूप मे वह सकल्पित किया जाता है, अत स्वय उस विषय का भी केवल ज्ञान मात्र के रूप मे सार-तत्व समाप्त हो जाता है, क्योकि, यद्यपि प्रत्यक्षीकरण का स्वय ज्ञान के अतिरिक्त कोई अस्तित्व नही होता, तथापि इससे यह सकल्पना करने मे कोई बाधा नही हो सकती कि विषय का सार-तत्व प्रत्यक्षीकरण के अतिरिक्त कुछ भी नही है। पुन एक यह आपत्ति उठाई जा सकती है कि प्रत्यभिज्ञा विषयो के स्थायी अस्तित्व को प्रकट करती है, किन्तु इसका उत्तर सहज ही स्वप्नानुभवो के

उदाहरण मे तथा विभिन्न प्रत्यक्षकर्त्ताओ के कुप्रत्यक्षो की सयोगिक सहमति की सम्भावना मे मिल सकता है। यह आपत्ति अवैध हैं कि ब्रह्मन् एव 'जीव' का तादात्म्य का प्रत्यय स्वय मानसिक होने के कारण द्वैत का बाध नही कर सकता, क्योकि उक्त तादात्म्य का प्रत्यय आत्मन् से एकरूप होता है अतएव वह मानसिक नही कहा जा सकता। पुनः चरम सत्य का ज्ञान मानसिक होने के कारण स्वय असत्य नही कहा जा सकता, क्योकि उसकी सत्यता इस तथ्य पर निर्भर करती है कि उसका कदापि बाध नही होता।

अध्याय ३०

द्वैतवादियो और अद्वैतवादियो के मध्य विवाद (क्रमशः)

अविद्या की परिभाषा का खण्डन

अविद्या की इस रूप मे परिभाषा दी जाती है कि वह एक अनादि भाव-रूप सत्ता है जिसका ज्ञान के द्वारा निवारण हो सकता है। व्यासतीर्थ द्वारा प्रस्तुत की गई इसके प्रति आपत्ति प्रथमत यह है कि जगत् के विषय-काल मे होने के कारण उसके अधिष्ठान चैतन्य को परिसीमित करने वाली अविद्या अनादि नही हो सकती। इसके अतिरिक्त, चूँकि एक वेदाती के अनुसार कोई सघटक जड पदार्थ अभाव का उपादान कारण नहीं होता, इसलिए 'अज्ञान' उसके अभाव का कारण नही माना जा सकता। मिथ्या अभाव की मान्यता के आधार पर भी 'अज्ञान' उसका कारण नही माना जा सकता, चूँकि 'अज्ञान' को भाव-रूप माना गया है, क्योकि यदि अभाव का कारण एक भाव-रूप सत्ता होती है, तो असत् का कारण सत् हो सकता है। पुन, यदि 'अज्ञान' अभाव का कारण नही है तो ज्ञान उसका निवारण करने मे समर्थ नही होना चाहिए और एक घट का अभाव उसके निषेध होने पर भी समाप्त नही होना चाहिए। पुन. शकरवादी मत के अनुसार 'अज्ञान' विषय का आवरण माना जाता है, हम ब्रह्मन् का कोई ज्ञान प्राप्त नही कर सकते क्योकि वह 'अज्ञान' से आवृत्त रहता है। वे यह भी मानते है कि 'वृत्ति-ज्ञान' ब्रह्मन् का अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त नही कर सकता। यदि ऐसा है, तो 'वृत्ति' द्वारा उपलब्ध अतिम मोक्ष-ज्ञान मे ब्रह्मन् का कोई अपरोक्ष ज्ञान नही होता, इसके बिना ब्रह्मन् को आवृत्त करने वाला 'अज्ञान' हटाया नही जा सकता, अतएव मोक्ष असम्भव है। पुन यदि यह माना जाय कि 'अज्ञान' का निवारण होता है, तो 'जीवन्मुक्त' अवस्था मे एक सत को सासारिक वस्तुओ का कोई अनुभव नही होना चाहिए।

पुन, यह मानना पडेगा कि ज्ञान किसी सहकारी कारण की सहायता की प्रतीक्षा किये बिना प्रत्यक्ष एव स्वत स्फूर्त रीति से 'अज्ञान' का निवारण करता है, क्योकि किसी वस्तु को ज्ञात करने के साथ ही उसका अज्ञान स्वत. लुप्त नही हो सकता। किन्तु, यदि ऐसा होता है, तो उन उदाहरणों में जहां 'अज्ञान' का कुछ उपाधियो से साहचर्य होता है वहां 'अज्ञान' के निवारण के लिए उसके साथ ही उपाधियो के

एक प्रतिरोध कथन के द्वारा नही, वरन् एक ऐसे उदाहरण के उल्लेख द्वारा किया जाना चाहिए जहाँ व्याप्ति असफल रहती है। इस कथन का कोई उदाहरण नही दिया जा सकता कि अनादि 'अज्ञान' का 'ज्ञान' के द्वारा निवारण हो सकता है, क्योकि ज्ञान के द्वारा निवारण सदा ऐसे अज्ञान का होता है जिसका काल मे आरम्भ होता है, यथा रजत-भ्रम के उदाहरण मे। इसलिए केवल यही कहा जा सकता है कि जो कुछ भी अज्ञान का प्रतिरोध करता है वह उसे नष्ट कर देता है तथा ऐसे सामान्य कथन का कल्पित अनादि 'अज्ञान' के उदाहरण मे कोई विशेष अनुप्रयोग नही होता। पुन', यदि 'अज्ञान' को भावात्मक सत्ता मे भिन्न माना जाय तो वह अभाव के समान है और उसकी समाप्ति का अर्थ होगा पुन स्वीकृति। पुन, 'अज्ञान' का उसके प्रत्यक्षीकरण से पृथक् कोई अस्तित्व नही हो सकता, और, चूँकि 'अज्ञान' का अधिष्ठान सदा शुद्ध चैतन्य होता है, अत उसका प्रत्यक्षीकरण कदापि निषेधात्मक नही हो सकता, अतएव उसकी कदापि निवृत्ति नही हो सकती।[1] इसके अतिरिक्त, यदि 'अज्ञान' इस अर्थ मे मिथ्या है कि वह जिस आश्रय मे अभिव्यक्त होता है उसमे असत् होता है, तो उसका ज्ञान द्वारा विनाश नही हो सकता। कोई भी यह नही सोचता कि मिथ्या रजत का शुक्ति के प्रत्यक्ष द्वारा विनाश होता है।

'अज्ञान' की द्वितीय वैकल्पिक परिभाषा यह है कि वह भ्रम का उपादान कारण होता है। किन्तु इस शकरवादी सिद्धान्त के अनुसार कि विभिन्न 'ज्ञानो' के अनुरूप विभिन्न 'अज्ञान' होते है, शुक्ति का ज्ञान उसके अज्ञान का निवारण करेगा तथा एक अभाव का ज्ञान उसके अज्ञान का निवारण करेगा, किन्तु इनमे से किसी भी उदाहरण मे अज्ञान की भ्रम के सघटक के रूप मे परिभाषा नही दी जा सकती। अभाव का स्वय मे कोई सघटक उपादान कारण नही होता, अत 'अज्ञान' उसका एक सघटक उपादान कारण नही होता और इस प्रकार 'अज्ञान' अभाव का एक सघटक नही हो सकता।

एक शकरवादी मत यह है कि 'माया' जगत् का उपादान कारण है और ब्रह्मन् उसका आश्रय है। इस मत के अनुसार 'माया' अथवा 'अज्ञान' जगत् का उपादान कारण होने से तथा 'भ्रम' जगत् का भाग होने से, 'अज्ञान' भ्रम का एक सघटक कारण हो जाता है, किन्तु इसका विलोम सत्य नही होता। इस अन्य मत के अनुसार कि ब्रह्म और 'माया' दोनो जगत्-प्रपच के कारण है, 'माया' स्वय मे भ्रम का कारण नही बन सकती। इसके अतिरिक्त, एक भ्रम स्वय एक भावात्मक सत्ता से भिन्न होने के कारण और भी अधिक एक अभाव के सदृश होता है तथा स्वय उसकी कोई सघटक

[1] प्रतीति-मात्र-शरीरस्याज्ञानस्य यावत् स्व-विषय धी रूप-साक्षि-मात्रमनुवृत्ति-नियमेन निवृत्त्ययोगाच्च। —'न्यायामृत,' पृ० ३०४।

सामग्री नही हो सकती, अतएव वह स्वय 'अज्ञान' की सघटक सामग्री नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त, शकरवादी मत के अनुसार भ्रामक विषय 'सत् से विलक्षण' होने के कारण (सद्-विलक्षणत्वेन) कोई सघटक नही रखता, अतएव भ्रामक विषय 'अज्ञान' का एक सघटक नही हो सकता। यदि कोई वस्तु किसी वस्तु का सघटक होती है, तो वह भाव-रूप होनी चाहिए, न कि केवल अभावों से भिन्न होनी चाहिए। पुन, जब कभी कोई वस्तु अन्य वस्तुओं की उपादान सामग्री होती है, तब पूर्वोक्त पश्चादुक्त के सघटक तत्व के रूप मे प्रतीत होती है, किन्तु न तो भ्रामक रजत और न उसका ज्ञान 'अज्ञान' के रूप मे प्रतीत होता है। इस प्रकार 'अज्ञान' की दोनों परिभाषाएँ खण्डित हो जाती हैं।

इसके उत्तर मे मधुसूदन कहते हैं कि जो 'अज्ञान' भ्रामक रजत की सामग्री होता है वह अनादि 'अज्ञान' है। 'अज्ञान' भाव-रूप इस अर्थ मे कहा जाता है कि वह अभाव से भिन्न होता है। इसी कारण से वह 'अज्ञान' जो भ्रामक अभाव की उपादान सामग्री माना जाता है अभाव से भिन्न माना जा सकता है, अतएव वह भ्रामक अभाव का सघटक माना जा सकता है। यह सत्य नही है कि कार्य ठीक उसी प्रकार की सामग्री से निर्मित होना चाहिए जिस सामग्री से कारण निर्मित होता है। जो वस्तुएँ स्वरूप मे पूर्णत समान अथवा पूर्णत असमान होती हैं वे परस्पर कारण व कार्य के रूप मे सबधित नही हो सकती, इसी कारण से सत्य असत्य की उपादान सामग्री नही बन सकता। क्योंकि उस दशा मे, चूंकि सत्य स्वय की अभिव्यक्ति कदापि समाप्त नही करता तथा कदापि परिवर्तित नही होता, इसलिए असत्य भी स्वय की अभिव्यक्ति कदापि समाप्त नही करेगा। किन्तु सत्य असत्य के कारण के रूप मे इस अर्थ मे आचरण कर सकता है कि वह असत्य के भ्रामक परिवर्तनो का अधिष्ठान बना रहता है। यह मानना गलत है कि, चूंकि ब्रह्मन् का 'अज्ञान' उस 'वृत्ति' के द्वारा निवृत्त नही हो सकता, जो स्वय 'अज्ञान' की एक अभिव्यक्ति है, अत ब्रह्म-ज्ञान स्वय असम्भव हो जाता है, क्योंकि, जहाँ तक ब्रह्मन् एक अन्तर्वस्तु होता है, यह 'अज्ञान' (अन्तर्वस्तु के रूप मे) एक 'वृत्ति' द्वारा निवृत्त हो सकता है। जीवन्मुक्ति की दशा मे यद्यपि अतीत के सत् कर्मों के अवरोधक तत्वो के अभाव एव अन्य अवस्थाओ के द्वारा अन्तिम निवृत्ति मे विलम्ब हो सकता है, तथापि यह माना जा सकता है कि ज्ञान के द्वारा इनकी निवृत्ति सम्भव है। कुछ कारण कुछ कार्यों को उत्पन्न कर सकते हैं, किन्तु यदि ऐसी उत्पत्ति मे किसी कारण से विलम्ब हो जाय तो इससे कारण का कारणत्व अवैध नही हो जाता। शकरवादियो द्वारा यह स्वीकार करना उचित ही है कि ज्ञान अपरोक्ष रूप से 'अज्ञान' का निवारण करता है तथा वह निवारण स्वय 'अज्ञान' का एक भाग होता है।

यह मानना गलत है कि जो कुछ काल्पनिक है वह दोषो के कारण उत्पन्न एक

विचार है अथवा उसका कालगत आरम्भ होना चाहिए, किन्तु वह एक ऐसी सृष्टि होनी चाहिए जो उसको उत्पन्न करने वाली कल्पना के समकालीन होती है ।[1]

यह मानना भी गलत है कि, यदि कोई सत्ता भावरूप नही है, तो वह अभावात्मक होनी चाहिए, अथवा यदि वह अभावात्मक नही है तो वह भावात्मक होनी चाहिए, क्योकि सदैव एक तीसरे विकल्प की सभावना रहती है, जो न भावात्मक है और न अभावात्मक । शकरवादियो के अनुसार विमध्य नियम तर्कशास्त्र की एक असत्य मान्यता है और इस प्रकार वे एक तर्क-बाह्य पदार्थ की सम्भावना को स्वीकार करते हैं, जो न भावात्मक होता है न अभावात्मक । यह कल्पित अनुमान ठीक नही है कि एक अनादि भावरूप सत्ता अनिवार्यत आत्मन् के सदृश नित्य होनी चाहिए, क्योकि केवल आत्मन् ही एक भावरूप सत्ता के नित्य बने रहने के उदाहरण है ।

यह मानना भी ठीक नही है कि, 'अज्ञान' सदा शुद्ध चैतन्य के द्वारा अभिव्यक्त होता है, इसलिए उसके अस्तित्व का कभी अन्त नही हो सकता, क्योकि ऐसा कोई नियम नही है कि जो कुछ भी साक्षी-चैतन्य द्वारा अभिव्यक्त किया जाता है वह 'साक्षी' के सम्पूर्ण अस्तित्व-काल मे बना रहना चाहिए, अत यह मानने मे कोई असगति नही है कि 'अज्ञान' समाप्त हो जाता है, जबकि साक्षी-चैतन्य बना रहता है । इसके अतिरिक्त, जो 'अविद्या' अभिव्यक्त होती है वह केवल उसके द्वारा विरूपित अथवा परिसीमित साक्षी-चैतन्य के द्वारा ही अभिव्यक्त होती है, ऐसा परिसीमित चैतन्य 'अविद्या' की समाप्ति के साथ ही अपना अस्तित्व समाप्त कर सकता है । यह मानना भी गलत है कि 'वृत्ति' की प्रक्रिया द्वारा 'अविद्या' का अस्तित्व समाप्त हो जाता है, क्योकि ऐसी दशाओ मे भी वह अपने सूक्ष्म कारण रूप मे बनी रहती है ।

जब 'अविद्या' की यह परिभाषा दी जाती है कि वह भ्रम के उपादान (भ्रमोपादान) से निर्मित होती है, तब तात्पर्य यह होता है कि वह परिवर्तनशील एव जड होती है । यह मानना भी आवश्यक नही है कि एक कारण व कार्य अनिवार्यत भावात्मक होने चाहिए, क्योकि आत्मन्, जो एक भावात्मक सत्ता है, न तो एक कारण है और न कार्य । एक उपादान कारण का पारिभाषिक लक्षण यह है कि उसका अपने समस्त कार्यो से अन्वय होता है (अन्वयि-कारणत्वमुपादानत्वे तन्त्रम्), तथा जो एक कार्य होता है उसका अनिवार्यत काल मे आरम्भ होना चाहिए । ज्ञान का प्रागभाव भ्रम का उपादान-कारण नही माना जा सकता, क्योकि ऐसा अभाव केवल स्वय से सह-सबधित भावात्मक सत्ता ही को उत्पन्न कर सकता है । अत वह भ्रम

[1] कल्पितत्व-मात्र हि न दोष-जन्य-धी-मात्र-शरीरत्वे सादित्वे वा तन्त्रम् । किन्तु प्रातिभास-कल्पक-समानकालीन-कल्पकत्वम् ।

—'अद्वैत-सिद्धि' पृ० ५४४ ।

की उत्पत्ति का कारण नही हो सकता, इसलिए यह मानने मे कोई असगति नहीं है कि 'अज्ञान' अथवा भ्रम, जिनमें से कोई भी सत्य नही है, परस्पर कारण एव कार्य के रूप मे सबधित होते हैं। यह युक्ति देना भी सही नही है कि एक उपादान कारण सदा अपने सकल कार्यों मे एक प्रत्यक्ष निरन्तर सघटक के रूप में स्थित रहना चाहिए, एक घट के उपादान कारण का रग घट मे नही पाया जाता। यह तथ्य कि, जब शुक्ति के ज्ञान से 'अज्ञान' की निवृत्ति हो जाती है तब भ्रम की अनुभूति नहीं होती, इस बात का कोई प्रमाण नही है कि 'अज्ञान' भ्रम का एक सघटक नही है। कारण एव कार्य के रूप मे सबधित सभी वस्तुए सदा उसी रूप मे अनुभव नही की जाती। इस प्रकार 'अनादि-भावरूपत्वे सति ज्ञान-निवर्त्यत्वम्' अथवा 'भ्रमोपादानत्वम्' के रूप मे 'अज्ञान' की परिभाषाए सही हैं।

'अज्ञान' का प्रत्यक्ष

शकरवादियों का आग्रह है कि 'अज्ञान' का प्रत्यक्ष द्वारा अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है, अतएव उसका अस्तित्व प्रत्यक्ष द्वारा प्रमाणित होता है। इस सबध मे व्यासतीर्थ कहते है कि जो अज्ञान का भावात्मक सत्ता के रूप में प्रत्यक्षीकरण माना जाता है वह ज्ञान के अभाव के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। इस प्रकार अहं के अधिष्ठान (अहम-अर्थ) को अज्ञान की भावात्मक सत्ता का एक आधार नही माना जाता। अत भावात्मक अज्ञान की अनुभूति के रूप मे न होकर 'मैं अज्ञ हूँ' नामक सप्रत्यक्ष की व्याख्या ज्ञान के अभाव की अनुभूति के रूप मे की जानी चाहिए। पुन, चूंकि न तो सुख-दु ख और न भ्रम मे ज्ञात की गई मिथ्या वस्तुए प्रत्यक्ष रीति से 'साक्षी' चैतन्य द्वारा अभिव्यक्त की जाती है, अत उक्त ज्ञान के अभाव की व्याख्या (यथा, 'मैं सुख को नही जानता,' 'मैं दु ख को नही जानता,' 'मैं शुक्ति-रजत को नही जानता') ज्ञान के निषेध के रूप मे की जानी चाहिए, न कि भावात्मक अज्ञान के अनुभव के रूप मे। इसी प्रकार, जब कोई कहता है कि 'जो कुछ आप कहते है उसे मैं नही जानता,' तब केवल ज्ञान के निषेध का अनुभव होता है, भावात्मक अज्ञान का नही। परोक्ष ज्ञान मे भी, चूंकि विषय के पार्श्व से 'अज्ञान' के आवरण के प्रत्यक्ष निवारण से प्रकाश उत्पन्न नही होता, इसलिए यह सिद्धान्त, कि ऐसा सकल ज्ञान जिसमे 'अज्ञान' के निवारण का समावेश नही होता उसमे भावात्मक अज्ञान का समाविष्ट रहता है, हमें इस स्थिति मे प्रविष्ट करा देगा कि जब परोक्ष ज्ञान मे कुछ ज्ञात किया जाता है, तब एक व्यक्ति को ऐसा प्रतीत होना चाहिए मानो उसने उसे ज्ञात नही किया, क्योकि यहाँ किसी 'अज्ञान' का प्रत्यक्ष निवारण नही होता।

शकरवादी मत के अनुसार यह स्वीकार नही किया जाता है कि जड पदार्थों को आवृत्त करने वाला कोई आवरण होता है, फलत. 'आप जो कहते हैं उसे मैं नही

जानता' जैसे उदाहरणों मे अज्ञान के अनुभव की व्याख्या एक भावात्मक अज्ञान की मान्यता मे नही बल्कि ज्ञान के अभाव की मान्यता मे पाई जाती है। यह तर्क किया जा सकता है कि यद्यपि विषयों को आवृत्त करने वाला कोई आवरण नहीं होता, तथापि यही जड सृष्टियाँ 'अज्ञान' के 'विक्षेप'-पक्ष का प्रतिनिधित्व करती हैं अतएव अज्ञात विषयो का अनुभव भावात्मक 'अज्ञान' के अनुभव का प्रतिनिधित्व करता है, क्योंकि 'अज्ञान' सृष्टियाँ सदा ज्ञान को अवरुद्ध नही करती। जैसे उदाहरण के लिए, जब एक घट, घट के रूप मे ज्ञात होता है, तब यदि कोई कहे कि वह एक पट है न कि घट, तो उससे घट के प्रत्यक्षकर्ता मे सम्भ्रान्ति उत्पन्न नही होती, यद्यपि यह मानना चाहिए कि वक्ता के भ्रामक शब्द एक मिथ्या संस्कार-'अज्ञान' के एक 'विक्षेप'-को उत्पन्न करते है। आगे यह बताया जायगा कि किसी जड विषय के संबध मे 'मैं नहीं जानता हूँ' अनुभव जड गुणों से अवच्छिन्न शुद्ध चैतन्य का उल्लेख नहीं करता।[1] शुद्ध चैतन्य के प्रतिबिम्ब की व्याख्या के लिये जो मत 'वृत्ति' को स्वीकार करता है, उसके अनुसार जड उपाधियों मे चैतन्य को आवृत्त करने वाले 'अज्ञान' को स्वीकृत नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त, यदि 'मैं अज्ञ हूँ' (अहमज्ञ) अनुभव की व्याख्या 'अज्ञान' के अपरोक्ष ज्ञान के रूप मे की जाती है तथा 'मुझ मे ज्ञान नहीं है' (मयि ज्ञान नास्ति) अनुभव से भिन्न की जाती है, तो दो तर्क-वाक्य 'घट-रहित भूमि' एवं 'भूमि पर कोई घट नहीं है' अर्थ मे भिन्न हो जाते हैं—जो असंगत है, क्योंकि निश्चय ही ये दो तर्क-वाक्य अन्य दो तर्क-वाक्यों की भाँति, यथा 'मुझ मे इच्छा है' एवं 'मुझ मे अनिच्छा नहीं है,' अर्थ मे भिन्न नहीं है। ज्ञान के अभाव एवं अज्ञान के दो प्रत्ययों मे कोई भेद नहीं है। पुन, जब एक व्यक्ति ब्रह्म-ज्ञान की प्राप्ति के लिए वेदान्त के अनुशासन मे नियन्त्रित होता है, उस समय ब्रह्म-ज्ञान का प्रागभाव होता है, क्योंकि, यदि ऐसा न होता तो ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त हो जायगा और वेदान्त के अनुशासन की कोई आवश्यकता नहीं होगी। अब एक प्रागभाव उस सत्ता के ज्ञान के बिना ज्ञात नहीं किया जा सकता जिसका वह उल्लेख करता है। यदि यह स्वीकार कर लिया जाय तो ब्रह्मन् के ज्ञान के बिना उसके प्रागभाव का कोई ज्ञान नहीं हो सकता, और, यदि उक्त ज्ञान होता है, तो ब्रह्मन् ज्ञात हो जाता है, और, यदि यह माना जाय कि ब्रह्म-ज्ञान का उक्त अभाव एक भावात्मक सत्ता के रूप में अपरोक्ष ज्ञान द्वारा ज्ञात किया जाता है (जैसा कि अज्ञान के अपरोक्ष ज्ञान के सिद्धान्त के अनुसार होगा), तो ब्रह्मन् भी अपने प्रागभाव की अवस्था मे अपरोक्ष रूप से ज्ञात होगा जो आत्म-विरोधी है।

[1] जडे न जानामीत्यनुभवस्य जडावच्छिन्न चैतन्य विषय इति चेन्न निरसिष्यमाणत्वात्।

इसके अतिरिक्त 'अज्ञान' का प्रत्यय स्पष्टत ज्ञान के अभाव का प्रत्यय है, जैसाकि 'मै नही जानता' वाक्य मे है। 'मैं अज्ञ हूँ' जैसे उदाहरणो मे भी अभाव का अर्थ स्पष्ट होता है, यद्यपि यहाँ कोई निषेधात्मक क्रिया-चिह्न नही है। 'विवरण' भी 'अज्ञान' का ज्ञान से विरोध स्वीकार करता है, और यदि यह मान लिया जाय, तो उक्त विरोध का ज्ञान होते हुए 'अज्ञान' का एक भावात्मक सत्ता के रूप मे ज्ञान नही होगा, और ऐसे विरोध के ज्ञान के विना 'अज्ञान' का ज्ञान नही होगा, क्योकि वह 'अज्ञान' का अनिवार्य प्रत्यय होता है। ऐसे ज्ञान का अभाव जो उस विषय का उल्लेख करता है जिसका निषेध किया गया है यदि स्वय ज्ञान की पृच्छा के विषय के रूप मे ग्रहण किया जाय तो वह भी उक्त उल्लेख कदाचित् न करेगा। इस प्रकार ऐसी कोई विधि नही है जिसके अनुसार 'अज्ञान' ज्ञान के अभाव के अतिरिक्त कुछ अन्य माना जा सके, और यह मान्यता गलत है कि यद्यपि अज्ञान के विश्लेषणात्मक प्रत्यय मे दो सघटक–ज्ञान एव उसका निषेध–होते है तथापि वह एक ऐसे भावात्मक प्रत्यय का नाम है जिसमे इन सघटको का समावेश नही होता।[1] यदि 'अज्ञान' 'वृत्ति-ज्ञान' से निवृत्त हो सकता है तो यह मानना अनावश्यक है कि उसका उस अर्थ से भिन्न कोई अर्थ हो सकता है जो ज्ञान के विशेषण के रूप मे उसके सघटक निषेधात्मक अश के द्वारा लक्षित होता है। अनुभव भी यह बताता है कि 'अज्ञान' का ज्ञान के अभाव के अतिरिक्त अन्य कोई अर्थ नही होता, इसलिए, जवतक 'अज्ञान' द्वारा परिलक्षित प्रतियोगी सत्ता ज्ञात नही हो जाती तबतक 'अज्ञान' का कोई ज्ञान नही हो सकता। किन्तु चूंकि ऐसी प्रतियोगी सत्ता स्वय यह ब्रह्म-ज्ञान है जिसका 'अज्ञान' से कोई साहचर्य नही होता, इसलिए परिलक्षित प्रतियोगी सत्ता के समावेश से उक्त प्रत्यय असम्भव हो जायगा, अत 'अज्ञान' का कोई ज्ञान नही हो सकता।[2]

शकरवादियो द्वारा दिया गया उत्तर यह है कि 'अज्ञान' द्वारा परिलक्षित प्रतियोगी ब्रह्म-ज्ञान होता है और यह ब्रह्म-ज्ञान साक्षी-चैतन्य के रूप मे 'अज्ञान' का प्रकाशक होने के कारण उसका विरोधी नही होता, क्योकि केवल 'वृत्ति' युक्त मनस् ही 'अज्ञान' के विरोध मे होता है। इसलिए साक्षी-चैतन्य के रूप मे ब्रह्म-ज्ञान एव 'अज्ञान' मे कोई विरोध न होने के कारण तथा इस तथ्य के होते हुए भी ब्रह्म-ज्ञान

[1] ज्ञानाभावोऽपि हि प्रमेयत्वादिनाज्ञाने प्रतियोग्यदि-ज्ञानानपेक्षएतेन निपुणे कुशलादि शब्दवत् भाव-रूप-ज्ञाने अज्ञानशब्दो रूढ इति निरस्तम्।

—'न्यायामृत' पृ० ३१२।

[2] अपि च भाव-रूपाज्ञानावच्छेदक-विषयस्याज्ञाने अज्ञान-ज्ञानायोगात् ज्ञाने च अज्ञान-सँवाभावात् कथ भाव-रूपाज्ञानज्ञानम्।

—वही, पृ० ३१३।

एक अर्थ मे उसके द्वारा परिलक्षित प्रतियोगी के रूप मे उसका सघटक होता है। 'अज्ञान' का ज्ञान प्राप्त करना सम्भव है। किन्तु उत्तर मे यह निर्देश किया जा सकता है कि ब्रह्म-ज्ञान की चेतना स्वय साक्षी-चैतन्य होती है, 'मैं नही जानता 'अनुभव' 'वृत्ति-ज्ञान' का निषेध होता है, अतएव 'वृत्ति-ज्ञान' के न होने पर भी उसका साक्षी-चैतन्य के प्रति उल्लेख किया जा सकता है। इस प्रकार इस सिद्धान्त मे प्रतिपादित यह हल कि 'अज्ञान' ज्ञान के अभाव के अतिरिक्त कुछ भी नही है ठीक वही है जो 'अज्ञान' को एक भावात्मक सत्ता मानने वाले सिद्धान्त द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। यदि यह तर्क दिया जाय कि यद्यपि ज्ञान का निषेध एक सामान्य रूप मे परिलक्षित प्रतियोगी से किसी ऐसे व्यक्त सम्बन्ध के अन्तर्भाव से रहित एक भावात्मक अज्ञान के रूप मे भासित हो सकता है--तो इसका उत्तर यह है कि यदि इस तर्क को मान भी लिया जाय तो भी उससे एक भावात्मक अज्ञान की स्वीकृति को कोई समर्थन प्राप्त नही होता, क्योकि ज्ञान के निषेध के उदाहरण मे भी यह स्वीकार किया जा सकता है कि यद्यपि वह सामान्यत एक परिलक्षित प्रतियोगी से सम्बन्धित हो, तथापि सम्भवत. किसी विशिष्ट दशा मे उसमे सदा उक्त सबध का समावेश न भी रहे। कुछ के द्वारा आगे यह आग्रह किया जाता है कि एक सत्ता अपरोक्ष रूप से ज्ञात की जा सकती है तथा उक्त ज्ञान मे सदा उस सत्ता के द्वारा परिलक्षित विशिष्ट सबधो का सदा समावेश नही होता है, केवल पश्चादुक्त प्रकार का ज्ञान ही सशय को असम्भव बनाता है। किन्तु यह तथ्य कि एक ज्ञात किये गए विषय के प्रति सशय हो सकता है, स्पष्टत प्रकट करता है कि एक विषय अपने विशिष्ट एव निषेधात्मक सबधो की तात्कालिक अभिव्यक्ति के बिना भी ज्ञात किया जा सकता है।

इसके अतिरिक्त, यदि 'अज्ञान' को 'वृत्ति-ज्ञान' के द्वारा ग्रहण नही किया जा सकता तो 'अज्ञान' के सम्बन्ध मे अनुमान की कोई सम्भावना नही हो सकती। जब कोई यह कहता है 'आप इसका रहस्य नही जानते' तो जिस श्रोता के सम्मुख एक परोक्ष ज्ञानात्मक वृत्ति के द्वारा रहस्य का उद्घाटन किया जाता है, उसके सम्मुख यदि एक 'वृत्ति-ज्ञान' के माध्यम से 'अज्ञान' प्रस्तुत नही किया जाता तो उसे 'अज्ञान' की चेतना ही नही हो सकती थी। यह नही कहा जा सकता कि परोक्ष ज्ञानात्मक वृत्ति का 'अज्ञान' से विरोध नही होता, क्योकि यदि ऐसा होता तो फिर एक परोक्ष ज्ञान के द्वारा किसी सत्ता का ज्ञान होने पर भी एक व्यक्ति को यह अनुभूति हो सकती है कि उसने उसे ज्ञात नही किया। शकरवादियो द्वारा यह स्वीकार किया जाता है कि प्रत्यक्षीकरण के माध्यम से प्राप्त अपरोक्ष ज्ञान की 'वृत्ति' 'अज्ञान' के विरोध मे होती है, और यदि परोक्ष ज्ञान की वृत्ति भी 'अज्ञान' के विरोध मे होती है तो ऐसी कोई मानसिक 'वृत्ति' शेष नही रह जाती, जिसके द्वारा 'अज्ञान' ज्ञात किया जा सके।

सुषुप्ति का यह अनुभव (मैं अबतक कुछ भी नही जानता था) भी ज्ञान के अभाव का उल्लेख करता है, न कि किसी भावात्मक अज्ञान का। यह नही कहा जा सकता कि चू कि उस काल मे (प्रत्यक्षकर्त्ता अथवा किसी अन्य सामग्री की चेतना न होने के कारण) अन्य सर्व ज्ञान समाप्त हो जाता है, अत ज्ञान के अभाव की भी कोई चेतना नही हो सकती, क्योंकि भावात्मक अज्ञान के अनुभव के प्रति भी यही आपत्ति होगी। यदि यह आग्रह किया जाय कि उक्त अवस्था मे 'अज्ञान' एक भावात्मक सत्ता के रूप मे साक्षात् अनुभूत होता है किन्तु अपने विशिष्ट परिलक्षित प्रतियोगी से उसका सबधीकरण केवल जाग्रत अवस्था ही मे प्रकट होता है, तो यही व्याख्या समान औचित्य से उस दशा मे भी दी जा सकती है जबकि सुषुप्ति का अनुभव ज्ञान के अभाव का अनुभव माना जाय, क्योंकि ज्ञान के अभाव का अनुभव भी अपने परिलक्षित प्रतियोगी से किसी सबध के बिना एक ज्ञातव्य सत्ता के रूप मे किया जा सकता है, अथवा सुषुप्ति मे अज्ञान के तथा-कथित अनुभव की व्याख्या जाग्रत अवस्था की भौतिक एव शारीरिक अवस्थाओं से ज्ञान के अभाव के अनुमान के रूप मे की जा सकती है। शकरवादी मत मे भी चू कि उक्त अवस्था मे ब्रह्म अहम् की अनुभूति नही की जा सकती, इसलिए 'मुझे कुछ भी ज्ञात नही था' का अनुभव एक अर्थ मे मिथ्या माना जाना चाहिए। यदि यह आग्रह किया जाय कि सुषुप्ति मे 'अज्ञान' एक 'अविद्या-वृत्ति' के माध्यम से प्रतिबिम्बित होने के कारण 'साक्षि-चैतन्य' के द्वारा ज्ञात किया जाता है तो वह समान औचित्य से जाग्रतावस्था मे भी उसी ढग से ज्ञात किया जा सकता है। यदि उसे साक्षि चैतन्य द्वारा अपरोक्ष रूप मे ज्ञात किया गया माना जाय तो वह एक नित्य सज्ञान होने के कारण उसका कोई मूल सस्कार नही होगा और उसका स्मरण नही हो सकेगा। इसके अतिरिक्त, यदि यह स्वीकार न किया जाय कि सुषुप्ति मे अज्ञान का अभाव जाग्रतावस्था की अवस्थाओ से अनुमान के रूप मे फलित होता है, तो सुषुप्ति-अवस्था मे अज्ञान के अभाव को किसी अन्य प्रकार से सिद्ध नही किया जा सकता, क्योंकि उसको एक भावात्मक 'अज्ञान' मे अनुमित नही किया जा सकता, चू कि ज्ञान का अभाव 'जड' होने के कारण अपने साहचर्य मे एक आवरण-तत्व के रूप मे किसी 'अज्ञान' को नही रखता। इसके अतिरिक्त, यदि एक भावात्मक सत्ता के रूप मे 'अज्ञान' मे सदा ज्ञान के अभाव को अनुमित किया जा सकता है, तो सुषुप्ति अवस्था मे राग के अभाव से भावात्मक द्वेष को अनुमित करना पडेगा। इस प्रकार 'अज्ञान' को कदापि अपरोक्ष ज्ञान का विषय नही माना जा सकता।

मधुसूदन का उत्तर यह है कि यद्यपि प्रत्यक्ष अहम् 'अज्ञान' का अधिष्ठान नही हो सकता, तथापि चू कि अन्त करण का अपनी कारणावस्था मे 'अज्ञान' के अधिष्ठान शुद्ध चैतन्य मे मिथ्या तादात्म्य होता है, अत 'अज्ञान' प्रत्यक्ष अहम् के साहचर्य मे

भासित होता है। इसके द्वारा ही सुषुप्ति के 'मुझे कुछ भी ज्ञात नही था' अनुभव की व्याख्या की जाती है। 'मैं घट को जानता हूँ' अनुभव की दशा मे भी यद्यपि घट पर कोई आवरण नही हो सकता, फिर भी, चूंकि 'अज्ञान' का अधिष्ठान घटाकृति से परिच्छिन्न चैतन्य होता है, इसलिए यह आभास होता है कि घटाकृति स्वय 'अज्ञान' के आवरण का विषय होती है। यह आपत्ति भी अवैध है कि परोक्ष ज्ञान में विषय पर 'अज्ञान' का आवरण होने के कारण चेतना का अभाव होना चाहिए, क्योकि ज्ञाता के 'अज्ञान' का निवारण हो जाता हैं तब ज्ञान का प्रकाश विषय मे स्थित 'अज्ञान' के द्वारा अवरुद्ध नही किया जा सकता।

व्यासतीर्थ की यह आपत्ति अवैध है कि 'अज्ञान' केवल ज्ञान का आभास है अतएव 'अज्ञान' को एक भावात्मक सत्ता के रूप मे प्रत्यक्षकर्त्ता मे स्थित मानने के स्थान पर केवल ज्ञान के अभाव को स्वीकार करना अधिक सम्यक् है, क्योकि उक्त रूप में ज्ञान के अभाव का अनुभव अवैध होता है, चूंकि अभाव मे एक सघटक के रूप मे परिलक्षित प्रतियोगी का समावेश होता है। यह ज्ञात करने के लिए कि 'मुझ मे कोई ज्ञान नही हैं' मुझ मे ज्ञान का ज्ञान होना चाहिए जो आत्म-विरोधी है। किसी परिलक्षिन प्रतियोगी से किसी सबध के समावेश के बिना प्रत्यक्षकर्त्ता मे ज्ञान के अभाव का अनुभव केवल भावात्मक 'अज्ञान' की दशा मे वैध हो सकता है। एक विशिष्ट अभाव एक सामान्य अभाव के रूप मे कभी भासित नही हो सकता, क्योकि यदि यह मान लिया जाय, तो मेज़ पर एक पुस्तक के होने पर भी मेज़ पर कोई भी पुस्तक के न होने का अनुभव हो सकता है, क्योकि प्रतिपक्षी के प्रस्तावित सिद्धात के अनुसार इस अथवा उस पुस्तक का विशिष्ट अभाव एक सामान्य अभाव के रूप मे भासित होना चाहिए। मधुसूदन का आग्रह है कि अभावो मे भेद विशुद्ध अभावो के भेद पर निर्भर नही करता, वरन् उनके सघटक परिलक्षित प्रतियोगियो के भेदो पर निर्भर करता है। इस प्रकार यह असम्भव है कि स्वय के अज्ञान के अनुभव की व्याख्या इस मान्यता के आधार पर की जा सकती है कि उक्त अनुभव अभाव के अनुसार उल्लेख करता है, क्योकि यह पहले ही बताया जा चुका है कि ऐसा आभास न तो विशिष्ट हो सकता है और न सामान्य। अत अज्ञान का अनुभव इस भावात्मक सत्ता का अनुभव माना जाना चाहिए।

किन्तु यह तर्क किया जा सकता है कि 'अज्ञान' के प्रत्यय मे भी विरोध के द्वारा ज्ञान के प्रति उल्लेख समाविष्ट रहता है अतएव यह लक्षित होता है कि ज्ञान उसका एक सघटक है, इसलिए अभाव के प्रत्यय के विरोध मे उठाई गई सभी आपत्तियाँ समान औचित्य मे 'अज्ञान' के प्रत्यय पर भी लागू होती हैं। इसका उत्तर यह है कि शकर-वादी मत के अनुसार विशुद्ध 'साक्षि' चैतन्य एक ही समय मे 'अज्ञान' एव उससे आग्रस्त विषय को उनमे से किसी के भी विनाश व सकोचन के बिना ग्रहण कर लेता है।

अत किसी भी आत्म-विरोध की कोई सम्भावना नही रहती, क्योकि 'अज्ञान' की चेतना मे उसका निषेध करने वाली किसी भी प्रक्रिया का समावेश नही होता।[१] यदि प्रतिपक्षी के द्वारा यह तर्क किया जाय कि अभाव की चेतना के उदाहरण मे भी इसी प्रकार का उत्तर सम्भव है (इस मान्यता पर कि अभाव का विषय 'साक्षि'-चैतन्य के द्वारा अपरोक्ष ज्ञात किया जाता है), तो मधुसूदन का उत्तर यह है कि चूंकि 'अज्ञान' 'साक्षि'-चैतन्य के द्वारा ज्ञात किया जा सकता है, अत उसी प्रकार से उसका परिलक्षित प्रतियोगी भी ज्ञात कर लिया जाता है, किन्तु, चूंकि अभाव 'साक्षि'-चैतन्य द्वारा अपरोक्ष ज्ञात नही किए जाते, परन्तु केवल 'अनुपलब्धि' नामक प्रमाण के द्वारा ज्ञात किए जाते हैं, इसलिए 'अज्ञान' का परिलक्षित प्रतियोगी भी 'साक्षि' द्वारा ज्ञात नही किया जा सकता। यह तर्क नही किया जा सकता कि ज्ञान की भांति अभाव भी 'साक्षि' चैतन्य के द्वारा अभिव्यक्त किया जा सकता है, क्योकि ज्ञान मे अभाव का *अनस्तित्व अन्तर्निहित होता है, अतएव दोनो एक ही काल मे 'साक्षि-चैतन्य' द्वारा* अभिव्यक्त नही किए जा सकते, किन्तु अनुत्पन्न ज्ञान 'अज्ञान' के प्रति एक गुणात्मक सबध मे प्रकट हो जाता है, क्योकि सबध गुणात्मक होने के कारण दोनो मे कोई व्याघात नही होता तथा इस प्रकार 'अज्ञान' के ज्ञान की सम्भावना की व्याख्या हो जाती है। शकरवादी यह स्वीकार नही करते कि एक विशिष्ट सत्ता के ज्ञान मे विशेषण के ज्ञान की पूर्वकल्पना होती है, अतएव यह आपत्ति अवैध है कि 'अज्ञान' की परिलक्षित प्रतियोगी सत्ता का पूर्व ज्ञान न होने के कारण उक्त परिलक्षित् प्रतियोगी 'अज्ञान' के विशिष्ट सघटक के रूप मे विद्यमान नही हो सकता।[२]

एक यह आपत्ति उठाई जा सकती है कि, चूंकि ब्रह्म-ज्ञान एक निश्चित अनुशासन-प्रणाली द्वारा प्राप्त किया जाता है, इसलिए जबतक उसे पूरा नही कर लिया जाता तब तक ब्रह्म-ज्ञान का प्रागभाव होता है तथा इस प्रकार के अभाव की स्वीकृति से शकरवादी उसी आलोचना के लक्ष्य बन जाते हैं जिससे वे बचना चाहते हैं। इसका उत्तर इस मत मे पाया जाता है कि यहाँ प्रागभाव को मानने के स्थान पर शकरवादी यह मानते हैं कि या तो ब्रह्म का ज्ञान हो सकता है या उसके सम्बन्ध मे 'अज्ञान' हो

[१] प्रमाण-वृत्ति-निवर्त्यस्यापि भाव-रूपाज्ञानस्य साक्षि-वेद्यस्य विरोधि-निरूपक-ज्ञान-तद्-व्यावर्तक-विषय-ग्राहकेण-साक्षिणा तत्साधकेन तदनाशाद् व्याहृत्यनुपपत्ते।

—'अद्वैत-सिद्धि' पृ० ५५०।

[२] न च अवच्छेदकस्य विषयादे प्रागज्ञाने कथ तद्विविशिष्टाज्ञान-ज्ञानम्। विशेषण-ज्ञानाधीनत्वाद्विशिष्ट-ज्ञानस्येति वाच्य विशेषण-ज्ञानस्य विशिष्ट-ज्ञान-ज्ञानत्वे मानाभावत्।

—अद्वैत-सिद्धि, पृ० ५५०।

सकता है, अर्थात् ब्रह्म-ज्ञान के सबध मे वे एक भाव-रूप 'अज्ञान' को मानते हैं, और इस प्रकार कोई विरोध नही होता।

व्यासतीर्थ का तर्क है कि किसी सत्ता के अभाव मे अनिवार्यत उसके ज्ञान के सघटक के रूप मे अपने विशिष्ट सबधो सहित किसी विशेष सत्ता का ज्ञान अन्तर्निहित नही होता तथा ऐसा ज्ञान परिलक्षित प्रतियोगी की विशेषताओ के प्रति किसी विशिष्ट उल्लेख के बिना भी उत्पन्न हो सकता है। 'मैं अज्ञ हूँ' नामक अनुभव मे मनस् के समक्ष कोई परिलक्षित प्रतियोगी उपस्थित नही रहता है, तथा केवल सामान्य रूप मे सत्ताओ का उल्लेख होता है। उक्त मत के अनुसार, चू कि परिलक्षित प्रतियोगी का ज्ञान अभाव के ज्ञान का एक सघटक नही होता, इसलिए इस आधार पर कोई विरोध नही होता कि चू कि अभाव की स्वीकृति परिलक्षित प्रतियोगी के सबध मे की जाती है, अत एक सघटक के रूप मे उसकी उपस्थिति असम्भव है। इसके प्रति मधुसूदन का उत्तर यह है कि किसी भी विशेष सत्ता का अभाव उस सत्ता के विशिष्ट सम्बन्धो के बिना केवल एक सामान्य प्रसग मे प्रकट नही हो सकता। यदि यह आग्रह किया जाय कि कोई प्रागभाव एक सघटक के रूप मे परिलक्षित प्रतियोगी की विशिष्ट विशेषताओ के साहचर्य मे प्रकट नही हो सकता और सकल प्रागभाव केवल एक सामान्य प्रसग मे ही प्रकट हो सकते है, तो इस आलोचना का मधुसूदन द्वारा यह उत्तर दिया जाता है कि ऐसे प्रागभाव, जो अपने परिलक्षित प्रतियोगी से केवल एक सामान्य प्रसग मे साहचर्य रखते है, असिद्ध होते हैं।[1] मधुसूदन के प्रतिपक्षी को यह तर्क करते हुए कल्पित किया गया है कि एक अभाव मे परिलक्षित प्रतियोगी के स्वरूप मे केवल उस विशेष सामग्री का समावेश होता है जो निषेध की गई वस्तु अथवा वस्तुओं मे अतर्निहित लक्षण होता है। ऐसे लक्षण वस्तुत अभाव के ज्ञान की सामग्री होने के नाते, निषेध की गई वस्तु अथवा वस्तुओ की परिलक्षित सीमा का निर्माण करते है, किन्तु ऐसा वस्तुगत उल्लेख किसी अभाव के ज्ञान के लिए सर्वथा अप्रासगिक होता है। अभाव के ज्ञान मे अनिवार्य तो निषेध की गई वह सामग्री होती है जिसमे वस्तुओ से सम्बधित लक्षण का समावेश होता है, अतएव अभाव के ज्ञान मे अन्तर्निहित परिलक्षित प्रतियोगी केवल उन्ही लक्षणो का उल्लेख करता है जो अनुभव मे मनोवैज्ञानिक दृष्टि से प्रत्यक्ष होते हैं तथा उनसे यह लक्षित नही होता कि वे निषेध की गई वस्तुओ के वस्तुगत दृष्टि से पारिभाषिक लक्षण होते हैं। इस प्रकार, चू कि ऐसे मत के अनुसार अभाव के ज्ञान मे निषेध की गई वस्तुओ का ज्ञान एक सघटक के रूप मे अन्तर्निहित नही होता इसलिए शकरवादियो द्वारा बताया गया कोई विरोध उत्पन्न

---

[1] प्रतियोगितावच्छेदक प्रकारक-ज्ञानाभावेन प्रागभाव-प्रतीतिरसिद्धेः।

—वही, पृ० ५५२।

है, निषेध किये गये विषय के एक काल-विशेष मे अभाव के समतुल्य होना है, जिसकी अन्तर्वस्तु के रूप मे एक विशेष काल से परिच्छिन्न एक विशेषाभाव होता है, जहाँ विशिष्ट विषय केवल एक सामान्य सबध मे प्रकट होता है। इसका विश्लेषण यह बताता है कि प्रागभाव मे वर्तमान से परिच्छिन्न एक विशिष्ट विषय का अभाव होता है, फिर भी वह विशिष्ट विषय अपने विशिष्ट एव विशेष स्वरूप मे प्रकट नही होता, बल्कि केवल एक सामान्य रूप मे प्रकट होता है।[1] यहाँ यह द्विविधा उत्पन्न होती है कि एक विशिष्ट विषय का अभाव (विशेषाभाव) अपने परिलक्षित प्रतियोगी की अन्तर्वस्तु के रूप मे निषेध की गई वस्तु की विशेषताओं का समावेश किये बिना, केवल उसके सामान्य धर्म को नही रख सकता, और यदि ऐसा है, तो उक्त शर्त को समाविष्ट करने वाला कोई प्रागभाव नही हो सकता। पुन, यदि उसकी सम्भावना को स्वीकार किया जाय, तो 'सामान्याभाव' असम्भव होता है, क्योंकि काल अथवा विषय की किसी प्रकार की विशेषता द्वारा परिच्छिन्न कोई भी अभाव एक 'सामान्याभाव' कहलाने का अधिकारी नही होगा। इस प्रकार प्रागभाव और सामान्याभाव दोनो के प्रत्यय अन्योन्याश्रित प्रतीत होते हैं तथा एक दूसरे को इस प्रकार अवरुद्ध करते हैं कि उनमे से किसी को भी स्वीकार नही किया जा सकता। इन सब उदाहरणो मे मधुसूदन का मुख्य तर्क यह है कि किसी भी अभाव के परिलक्षित प्रतियोगी के रूप मे कोई भी विशिष्ट विषय विशेषता से सबधित हुए बिना केवल एक सामान्य रूप मे प्रकट नही हो सकता। इस प्रकार, जब कोई कहता है 'मैं अज्ञ हूँ' तब उक्त तर्क वाक्य को समाविष्ट करने वाला अनुभव केवल एक सामान्य पक्ष मे प्रकट होने वाले एक विशेष विषय के अभाव का अनुभव नही होता। यदि इस तर्क को स्वीकार कर लिया जाय, तो 'मैं अज्ञ हूँ' मे समाविष्ट अनुभव की व्याख्या एक सामान्याभाव के अनुभव के रूप मे नही की जा सकती।

पुन, यह एक सामान्य अनुभव की बात है कि अभाव का अधिष्ठान-मात्र ही स्वय अभाव की चेतना को उत्पन्न कर सकता है, इस प्रकार रिक्त स्थान भी उस पर घट के अभाव का सूचक होता है। इस दृष्टिकोण से देखने पर, भावात्मक सत्ताएँ भी अभाव के बोध को उत्पन्न कर सकती हैं। यह सुझाव देना गलत है कि परिलक्षित प्रतियोगी का स्वरूप अभाव के स्वरूप की परिभाषा देता है, क्योंकि यदि ऐसा होता तो यह असम्भव होता कि विभिन्न अभाव, यथा, प्रागभाव, ध्वसाभाव इत्यादि भिन्न-भिन्न अभावो के रूप मे वर्गीकृत किये जाते, चूँकि उन सबका एक ही परिलक्षित प्रतियोगी होता है। मधुसूदन के मत के अनुसार अभाव के भेद भावात्मक सत्ताओं के भेदो की भाँति मिथ्या आरोपणो के कारण होते हैं।

---

[1] इहेदानीं घटो नास्तीति प्रतीतिस्तु सामान्य-धर्मावच्छिन्न-प्रतियोगिताकतत्-कालावच्छिन्न-यावद्विशेषाभाव-विषया। —वही, पृ० ५५३।

यदि यह भी मान लिया जाय कि केवल एक ही अभाव होता है, जो विभिन्न अवस्थाओ मे भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है, तो शकरवादी कोई भी आपत्ति नही उठा सकेंगे, क्योकि उनके अनुसार अभाव और भाव दोनो मिथ्या आरोपण-मात्र है। किन्तु मधुसूदन निर्देश करते है कि चूकि 'मै अज्ञ हूँ' अनुभव (उपरोक्त मर्मभेदी विश्लेषण के पश्चात् भी) अपने उद्गम के रूप मे किसी अभाव को प्रकट नही करता, इसलिए यह मानना पडेगा कि वह 'अज्ञान' की भाव-रूप सत्ता के अनुभव के कारण होता है।

इसलिए मधुसूदन आगे यह आग्रह करते है कि सुषुप्ति के अनुभव, अर्थात् 'मैंने इतने समय तक कुछ भी ज्ञात नही किया,' का जाग्रतावस्था मे सप्रत्यक्ष एक भावरूप 'अज्ञान' का उल्लेख करता है। अब, यदि यह सप्रत्यक्ष एक अनुमान है, तो प्रतिपक्षी निर्देश करता है कि वह ज्ञान के अभाव का अनुमान हो सकता है, न कि भावात्मक अज्ञान का अज्ञान। क्योकि एक व्यक्ति यह अनुमान कर सकता है कि, चूकि उसका अस्तित्व था और दो जाग्रत अवस्थाओ के मध्यान्तर मे उसकी मानसिक वृत्ति थी, इसलिए वह वृत्ति-ज्ञान के अभाव की वृत्ति होनी चाहिए थी। सप्रत्यक्ष स्मृति-मात्र नही कहा जा सकता, क्योकि स्मृति केवल मूल-सस्कारो के माध्यम से हो सकती है। 'साक्षि-चैतन्य' का ज्ञान नित्य होने के कारण, उक्त ज्ञान से कोई मूल-सस्कार उत्पन्न नही किये जा मकते, क्योकि मूल-मस्कारो का तन्त्र केवल ऐसे सज्ञानो से स्मृति को उत्पन्न करने का एक मनोवैज्ञानिक उपाय मात्र है जो अस्थायी होते हैं। इसका मधुसूदन यह उत्तर देते है कि विचाराधीन सप्रत्यक्ष एक अनुमान नही कहा जा सकता, क्योकि अनुमान इस आधार पर आश्रित है कि सोने वाले व्यक्ति के सुषुप्ति मे एक मानसिक वृत्ति थी। किन्तु, यदि उस समय उसमे कोई ज्ञान नही होता, तो उसके लिए यह कहना असभव है कि उस समय वह किसी विशिष्ट मानसिक वृत्ति से सम्पन्न था। यह भी नही कहा जा सकता कि सुषुप्ति मे अभाव का ज्ञान इस तथ्य से अनुमित किया जा सकता है कि उम समय ज्ञान की उत्पत्ति का कोई कारण नही था, क्योकि उक्त कारण का अभाव केवल ज्ञान के अभाव से ही ज्ञात किया जा सकता है (और इसका विलोम भी सत्य है) तथा इसमे एक दुष्ट चक्र का समावेश हो जाता है। न यह कहा जा सकता है कि ज्ञान के अभाव को इन्द्रियो की आनन्दमय अवस्था से अनुमित किया जा सकता है, जो केवल उनके कार्य-व्यापार की समाप्नि के फलस्वरूप ही घटित हो सकता है, क्योकि ऐसा कोई प्रमाण नही है कि एन्द्रिया के कार्य-व्यापार की समाप्ति आनन्दमय अवस्था को उत्पन्न करेगी। इस सवध मे यह ध्यान रखना चाहिए कि 'अज्ञान' का ज्ञान सदा ज्ञान के अभाव के साहचर्य मे होता है, इमलिए प्रत्येक ऐमे उदाहरण मे जहाँ 'अज्ञान' का ज्ञान होना है वहाँ ज्ञान के अभाव का अनुमान सही होगा। तथाकथित अनुपलधि वस्तुत भाव-रूप 'अज्ञान' से एक अनुमान द्वारा फलित होती है, इस प्रकार, जब एक व्यक्ति प्रात काल मे एक रिक्त प्रागण का प्रत्यक्ष करता है, तब वह उसमे एक हाथी के ज्ञाना-

भाव से हाथी के प्रति अपने भावात्मक अज्ञान के तथ्य का अनुमान कर सकता है। इस प्रकार, ज्ञान के अभाव के सप्रत्यक्ष की व्याख्या अनुमान के रूप मे की जा सकती है। उसकी एक स्मृति के उदाहरण के रूप मे भी व्याख्या की जा सकती है। यह आपत्ति भी अवैध है कि 'अज्ञान' का कोई मूल-सस्कार नही हो सकता, क्योकि जो 'अज्ञान' सुषुप्ति मे 'साक्षि-चैतन्य' का विषय होता है वह स्वय 'अज्ञान' की एक 'वृत्ति' मे से प्रतिबिम्ब होता है, चूंकि केवल उक्त अवस्थाओ में ही 'आज्ञान' साक्षि-चैतन्य का एक विषय बन सकता है। चूंकि 'अज्ञान' के ज्ञान मे एक 'वृत्ति' को स्वीकार किया जाता है, अत 'वृत्ति' की समाप्ति के साथ एक मूल-सस्कार होना चाहिए और उसके द्वारा स्मृति की 'वृत्ति' हो सकती है, जैसाकि किसी भी अन्य सज्ञान की स्मृति के उदाहरण मे होता है।[1] यह तर्क नही दिया जा सकता कि, 'अज्ञान' अपने सज्ञान के लिए एक 'वृत्ति-अवस्था' की अपेक्षा रखता है, यदि ऐसी कोई वृत्ति नही है तो 'अज्ञान' के सम्बन्ध मे सशय हो सकता है, क्योकि 'अज्ञान' के प्रति कोई अज्ञान' के समान ही क्षेत्र रखता है। यह आग्रह नही किया जा सकता कि 'अज्ञान' की भाँति अभाव का भी 'साक्षि-चैतन्य द्वारा प्रत्यक्षीकरण हो सकता है, क्योंकि, चूंकि अभाव सदा अपने परिलक्षित प्रतियोगी से सबधित होता है इसलिए वह निर्विकल्पक अन्त-प्रज्ञात्मक 'साक्षि-चैतन्य' के द्वारा अन्त प्रज्ञात्मक रूप मे प्रत्यक्ष नही किया जा सकता। 'अज्ञान' मे यद्यपि ज्ञान के प्रति विरोध समाविष्ट रहता है, तथापि सुषुप्ति अवस्था मे स्वय उस विरोध का ज्ञान नही होता है। मधुसूदन कहते है कि यह तर्क दिया जाता है कि चूंकि 'अज्ञान' की अवस्थाओ का सुषुप्ति अवस्था मे जाग्रतावस्था तक एक निरन्तर अनुक्रम होता है (क्योकि जाग्रतावस्था मे भी सकल सज्ञान 'अज्ञान' की अवस्थाओ मे से प्रतिबिम्ब के द्वारा घटित होते हैं), इसलिए 'अज्ञान' के सुषुप्तिजन्य ज्ञान की स्मृति का कोई अवसर नही होता है, क्योकि सज्ञान की एक वृत्ति अवस्था के नाश होने पर 'सस्कारो' के द्वारा स्मृति सम्भव होती है। इसका यह उत्तर है कि सुषुप्ति-अवस्था की 'अज्ञान-अवस्था' एक विशिष्ट 'तामसी' स्वरूप की अवस्था होती है जिसका निद्रा के साथ ही अन्त हो जाता है, अतएव इसके एव जाग्रतावस्था की साधारण अवस्था के मध्य मे कोई अनुक्रम की निरन्तरता नही होती। किन्तु एक दृष्टिकोण मे यह तर्क सही है, क्योकि यह माना जा सकता है कि सुषुप्ति अवस्था मे 'अज्ञान' अपनी कारणावस्था मे अस्तित्व रखता है, और इस प्रकार चूंकि 'अज्ञान' सुषुप्ति एव जाग्रतावस्था दोना के अनुभव का उपादान होता है, इसलिए वस्तुत 'अज्ञान' के अनुक्रम की निरतरता होती है, और इस प्रकार 'अज्ञान' के सुषुप्ति-जन्य अनुभव की कोई स्मृति नही हो सकती। इसी कारण से सुरेश्वर ने उक्त मत का परित्याग किया है। 'विवरण'

---

[1] अज्ञानस्याज्ञान-वृत्ति-प्रतिबिम्बित-साक्षि-भास्यत्वेन वृत्ति-नाशादेव सस्कारोपपत्ते।
—अद्वैत-सिद्धि, पृ० ५५७।

यदि 'पक्ष' के प्रत्यक्ष को और भी सकुचित कर दिया जाय जिससे कि उसका अर्थ, अधिष्ठान 'सत्' को छोडकर, केवल ज्ञानात्मक अवस्थाए हो, तो एक ही सत्ता की क्रमिक चेतना के उदाहरण मे दूसरे व तीसरे क्षणो की चेतना स्वय आवरण को निवृत्त करती हुई नही मानी जा सकती, चू कि उसका प्रथम क्षण की चेतना द्वारा निवारण हो गया था। यदि 'पक्ष' के प्रत्यय को और भी सकुचित कर दिया जाय जिससे कि उसका अर्थ केवल जड विपय का अपरोक्ष ज्ञान हो, तो भी, चू कि शकरवादी यह नही मानते हैं कि विपय पर आवरण होते हैं, इसलिए विषय-ज्ञान उक्त आवरण को निवृत्त करता हुआ नही माना जा सकता। यदि इसके उत्तर मे यह माना जाय कि मानसिक वृत्ति मे—यथा, घट का ज्ञान—घट की आकृति के द्वारा शुद्ध चैतन्य की परिच्छिन्नता का समावेश होता है, और चू कि 'अज्ञान' का उक्त परिच्छिन्नता के समान ही क्षेत्र होता है, इसलिए घटाकृति की परिच्छिन्नता के आवरण की निवृत्ति का अर्थ उसी सीमा तक 'अज्ञान' के आवरण का निवारण होता है, तो उत्तर यह है कि प्रथमत 'अज्ञान' को एक ही मानने वाले मत के अनुसार उक्त व्याख्या समीचीन नही होती, दूसरे, चू कि किसी भी आकार के द्वारा परिच्छिन्न शुद्ध चैतन्य स्वय प्रकाश नही होता, इसलिए शकरवादियो के अनुसार उसे एक आवरण से सवधित नही किया जा सकता, जो केवल शुद्ध स्वय प्रकाश चैतन्य ही से सवधित हो सकता है। इसके अतिरिक्त, यदि यह कहा जाय कि आवरण की निवृत्ति का उल्लेख केवल जड विपयो के प्रति ही किया गया है, तो, चू कि शाब्दिक तर्क-वाक्य—'यह एक घट है'—की स्वय घट के समान ही सामग्री होती है, इसलिए उस जड विपय (घट) के सबध मे आवरण का निवारण कभी घटित नही होना चाहिए जिसकी परोक्ष सामग्री शाब्दिक तर्क-वाक्य के समान ही होती है।

पुन, चू कि शकरवादी मत के अनुसार 'वृत्ति-ज्ञान' स्वय मिथ्या होता है, इसलिए ऐसी कोई सम्भावना नही हो सकती कि उस पर मिथ्या विपयो का आरोपण हो। दूसरी ओर, यदि 'वृत्ति' द्वारा अभिव्यक्त शुद्ध चैतन्य ज्ञान का समानार्थी हो तो चू कि ऐसा 'अज्ञान' का अधिष्ठान होता है, इसलिए उसे 'अज्ञान' का निवारक नही माना जा सकता। इस प्रकार, अनुमान की यह शर्त कि ज्ञान 'अज्ञान' के निवारण के द्वारा स्वय को स्थापित करता है, पूर्ण नही होती तथा परिभाषा की यह शर्त भी पूरी नही होती कि निवृत्त किये गये आवरण की ज्ञान के समान ही स्थिति होनी चाहिए, चू कि 'अज्ञान' शुद्ध चैतन्य मे स्थित होता है, जबकि ज्ञान सदा सोपाधिक चैतन्य का होता है।

अनुमान यह मानकर चलता है कि अव्यक्त की अभिव्यक्ति के कारण आवरण का निवारण होता है, किन्तु यह यहाँ लागू नहीं हो सकता, क्योकि ब्रह्म-ज्ञान शुद्ध चैतन्य के अतिरिक्त किसी भी वस्तु द्वारा अभिव्यक्त नही किया जा सकता, और सत्य

भ्रमो का अधिष्ठान स्वय-प्रकाश नित्य स्व-अभिव्यक्त होता है, अतएव यहाँ अव्यक्त की अभिव्यक्ति की कोई सम्भावना नही है। इसके अतिरिक्त, यदि 'अज्ञान' अनादि काल से विद्यमान एक भाव-रूप सत्ता है, तो उसकी निवृत्ति असम्भव होगी। यह भी असम्भव है कि जो सत्ता एक आवरण है वह अनादि होनी चाहिए। अत ऐसी विरोधी युक्तिया देना सम्भव है कि आवरणो के साथ अनादित्व का साहचर्य कदापि नही हो सकता, चू कि प्रागभाव की भाँति यह केवल अनादि के रूप मे अस्तित्व रखता है, अथवा यह कि एक प्रमाण-ज्ञान अभाव के अतिरिक्त किसी वस्तु का निवारण नहीं कर सकता, क्योकि वह ज्ञान होता है। अव्यक्त की अभिव्यक्ति मे अनभिव्यक्ति के किसी भावात्मक तथ्य का समावेश नही होता, बल्कि वह केवल अभिव्यक्ति के अभाव का सकेत कर सकता है। इसके अतिरिक्त, प्रकाश घट आदि को अधेरे की निवृत्ति के द्वारा अभिव्यक्त करता है, क्योकि प्रकाश अन्धकार के विपरीत होता है, किन्तु ज्ञान की अभिव्यक्ति का 'अज्ञान' से विरोध नही किया जा सकता, क्योकि विषयो का अधिष्ठान शुद्ध चैतन्य 'अज्ञान' के विरोध मे नही होता। 'वृत्ति' का 'अज्ञान' से विरोध यहाँ अप्रासगिक है, क्योकि 'वृत्ति' ज्ञान नही है। एक नवीन अज्ञान के उदय के सबध मे यही कहा जा सकता है कि वह किसी विशेष व्यक्ति के किसी विषय के ज्ञान के अनादि अभाव का निवारण करता है।

उत्तर मे, मधुसूदन कहते हैं कि 'प्रमाण-ज्ञान' जो कि पक्ष-पद है उसका अर्थ मे इस सीमा तक सकुचन करना है कि वह केवल 'वृत्ति-ज्ञान' पर लागू हो, न कि 'साक्षि-चैतन्य' पर जो सुख अथवा आनन्द को अभिव्यक्त करता है, 'वृत्ति'-ज्ञान को भी अर्थ मे और सकुचित करना पडेगा जिससे कि सर्व सज्ञानो के 'धर्म्यांश'—'इद' अथवा 'सत्' जो सकल ज्ञानात्मक धर्मो का विशेष्य होता है—का अपवर्जन हो जाय। अत 'प्रमाण-ज्ञान' जिसे एक आवरण को निवृत्त करने वाले के रूप मे अनुमित किया जाता है, केवल 'वृत्ति' मे अभिव्यक्त ज्ञानात्मक धर्मो से अर्थ रखता है। 'परोक्ष' ज्ञान के उदाहरण मे भी ज्ञाता के प्रति उसके अभाव से निर्मित उसके आवरण का निवारण होता है, जिस आवरण के निवृत्त होने पर परोक्ष ज्ञान का विषय ज्ञाता के प्रति अभिव्यक्त होता है। इस प्रकार 'प्रमाण-ज्ञान' परोक्ष एव 'अपरोक्ष' दोनो 'वृत्तियो' मे प्रकट ज्ञानात्मक धर्मों को समाविष्ट करता है। विवादगत 'प्रमाण-ज्ञान' से 'धर्म्यांश' अथवा 'इद' के अपवर्जन का कारण इस तथ्य से स्पष्ट हो जाता है कि 'इद' के प्रति कोई दोष अथवा भ्रम नही होता, सर्व दोष अथवा भ्रम केवल ज्ञानात्मक धर्मों के सम्बन्ध मे घटित हो सकते हैं। 'इद' उतना ही आत्म-स्थित होता है जितना सुख का अनुभव। इसलिए ऐसी कोई आपत्ति नही की जा सकती कि उनके सम्बन्ध मे भी अज्ञात की अभिव्यक्ति होती है अतएव आवरण का निवारण होता है। पर यदि यह आग्रह किया जाय कि यद्यपि 'इद' के सम्बन्ध मे कोई दोष अथवा सशय नही

हो, तथापि, चू कि यह तथ्य शेष रह जाता है कि वह पहले अज्ञात था और फिर ज्ञात हुआ, अतएव उसमे एक आवरण के निवारण का समावेश होता है, तो शकरवादियो की ओर से इस प्रकार के निवारण को स्वीकार करने मे आपत्ति होगी जो ज्ञानात्मक अवस्था अथवा 'प्रमाण-वृत्ति' के द्वारा उत्पन्न किया जा सकता है। किन्तु ऐसे उदाहरण मे आवरण का निवारण साधारण रूप का नही होता, क्योकि यह 'अज्ञान' जो केवल इसी तथ्य मे निहित है कि एक सत्ता अज्ञात है, उस 'अज्ञान' से भिन्न है जिसके विस्तार एव सीमा को एक ऐसा भावात्मक अज्ञान माना जा सकता है जिसका परिलक्षित प्रतियोगी वही होता है जो ज्ञान के विषय का होता है। इस मत मे इसलिए 'अज्ञान' की इस रूप मे परिभाषा दी जानी चाहिए कि उसमे दोषो को उत्पन्न करने की क्षमता होती है, चू कि धर्म्यांश, 'इद', के सबध मे कोई दोप नही हो सकता। हमारी परिभापा के अनुसार इस तथ्य मे 'अज्ञान' का कोई समावेश नही होता कि जबतक वह (धर्म्यांश) ज्ञात नही हो जाता तबतक वह अज्ञात रहता है। इस प्रकार यह माना जा सकता है कि 'इद' के सज्ञान के उदाहरण मे, विवाद-गत 'अज्ञान' के अनुमान की योजना मे अपेक्षित परिभापा के अनुसार 'अज्ञान' का कोई निवारण नही होता।

धारावाही प्रत्यक्षीकरण की दशा मे यद्यपि विषय वही बना रह सकता है, तथापि प्रत्येक क्षण मे एक नवीन काल-तत्व का समावेश होगा तथा आवरण का निवारण इस नवीन तत्व के प्रति उल्लेख करता है—ऐसा माना जा सकता है। यह सुविदित है कि शकरवादियो के अनुसार काल का प्रत्यक्षीकरण सभी 'प्रमाणो' के द्वारा किया जा सकता है। पुन , यह आपत्ति सत्य नही है कि चू कि जड विपयो के कोई आवरण नही हो सकता और चू कि 'अज्ञान' अपने अधिष्ठान शुद्ध चैतन्य को आवृत्त करता है ऐसा नही कहा जा सकता, इसलिए यह कहना कठिन है कि इनमे से 'अज्ञान' द्वारा कौन आवृत्त किया जाता है, क्योकि शुद्ध चैतन्य अपने स्व-प्रकाशक स्वरूप मे अस्तित्व रखता है, तथापि अपनी परिच्छिन्न अभिव्यक्ति की दृष्टि से जैसे 'वह अस्तित्व रखता है' वैसे ही 'वह प्रकाशित होता है', इसलिए यह स्वीकार किया जा सकता है कि 'अज्ञान' एक परिच्छिन्नता अथवा आवरण को थोपता है तथा उस सीमा तक उसे शुद्ध चैतन्य पर एक आवरण के रूप मे माना जा सकता है। मधुसूदन इस मत के पक्ष मे कि 'अज्ञान' को अनुमित किया जा सकता है आगे और युक्तिया देते हैं, वे औपचारिक स्वरूप की है, अतएव उनको यहाँ छोड दिया गया है।

अविद्या के सिद्धान्त का खण्डन

व्यासतीर्थ कहते है कि यह मान्यता स्वीकार नही की जा सकती कि 'अविद्या' उसी सत्ता का भ्रम के अधिष्ठान के रूप मे अस्तित्व होना चाहिए, अन्यथा भ्रम

असम्भव हो जाएगे, क्योकि यह पहले ही बताया जा चुका है कि भ्रम के उपादान-कारण के रूप मे 'अविद्या' की परिभाषा अवैध है। उसके अतिरिक्त, यदि यह माना जाय कि शुक्ति-रजत जैसे भ्रम किसी सामग्री से निर्मित हैं, तो एक ऐसा उत्पादक भी होना चाहिए जो भ्रमो को निर्मित करने के लिये उक्त सामग्री पर कार्य करे। न तो ईश्वर को और न जीव को ऐसा उत्पादक माना जा सकता है, न ही अपरिवर्तनशील ब्रह्मन् को उक्त उत्पादक माना जा सकता है। पुन, 'अविद्या' अनादि होने के कारण वैसी ही अपरिवर्तनशील होनी चाहिए, जैसा ब्रह्मन् है। इसके अतिरिक्त, यदि ब्रह्मन् को जगत का उपादान कारण मान लिया जाय तो 'अविद्या' के अस्तित्व को मानने की कोई आवश्यकता नही रहती, क्योकि शकरवादी मान्यता के अन्तर्गत ब्रह्मन् अपरिवर्तित रह कर भी उस पर आरोपित भ्रमो का अधिष्ठान हो सकता है। यदि ऐसा नहीं होता तो 'अविद्या', जिसे एक आधार की आवश्यकता होती है, उक्त प्रयोजन के लिये ब्रह्मन् के अतिरिक्त किसी अन्य सत्ता की अपेक्षा रखेगी। यह सुझाव दिया जा सकता है कि 'अविद्या' की मान्यता भ्रम के परिवर्तनशील आश्रय की व्याख्या करने के लिये आवश्यक है, क्योकि ब्रह्मन् पूर्णत सत्य होने के कारण मिथ्या भ्रम का उपादान कारण नही माना जा सकता, चू कि एक कार्य के कारण के रूप मे उसके समान ही कोई सत्ता होनी चाहिए। किन्तु, यदि ऐसा है, तो ब्रह्मन् आकाश अथवा अन्य भौतिक तत्वो का कारण नही माना जा सकता, जो ब्रह्मन् की तुलना मे मिथ्या हैं। यह आग्रह नही किया जा सकता कि चू कि जीव एव ब्रह्मन् का तत्वत तादात्म्य होता है, इसलिए 'अविद्या' की मान्यता के विना जीव मे आनन्द की सीमित अभिव्यक्ति अव्याख्येय हो जायगी, क्योकि स्वय यह मान्यता अवैध है कि ब्रह्मन् एव जीव का तादात्म्य है, अतएव ब्रह्म एव जीव मे आनन्द की असीम एव ससीम अभिव्यक्ति की व्याख्या करने मे कोई कठिनाई उत्पन्न नही होती, क्योकि उनके भेद है।

उपर्युक्त के उत्तर मे मधुसूदन कहते हैं कि 'अन्त करण' (अथवा मनस्) को भ्रम का उपादान कारण नही माना जा सकता, प्रथमत इसलिए कि जहाँ 'अन्त करण' तो एक कालगत सत्ता है, वहाँ भ्रम एक श्रेणी-क्रम मे जारी रहते है तथा उनका काल मे कोई आरम्भ नही होता, दूसरे, 'अन्त करण' अपनी प्रक्रियाओ मे सदा जगत के यथार्थ विषयो से साहचर्य रखता है, अतएव मिथ्या शुक्ति-रजत के सबध मे क्रियाशील नही होगा—और यदि ऐसा है तो 'अविद्या' की मान्यता के बिना 'अविद्या' के उपादान-कारण के रूप मे कोई आश्रय नही होगा। ब्रह्मन् भी अपरिवर्तनशील होने के कारण उक्त भ्रम का कारण नही हो सकता। यह सुझाव नही दिया जा सकता कि ब्रह्मन् भ्रम के अधिष्ठान अथवा आश्रय के रूप मे भ्रम का कारण होता है, क्योकि जब तक कार्य मे स्वय को रूपान्तरित करने वाले कारण को स्वीकार नही कर लिया जाता, तब तक वह अपरिवर्तनशील कारण स्वय स्थापित नही किया जा सकता जिस पर उक्त कार्य

आरोपित किए जाते है,[1] क्योकि जब कुछ रूपान्तरण उत्पन्न कर दिये जाते है तभी उनका किसी अधिष्ठान अथवा आधार के प्रति उल्लेख किया जाता है।

पुन , यदि, जैसाकि शकरवादी कहते है, 'अज्ञान' स्वय असत्य है, तो यह असम्भव है कि वह विभिन्न प्रमाणो के अधिकृत हो। यदि यह तर्क दिया जाय कि 'अज्ञान' का केवल व्यावहारिक अस्तित्व होता है, तो वह साधारण मिथ्या अनुभव का उपादान नही हो सकता था, क्योकि व्यावहारिक सामग्री प्रातिभासिक का कारण नही बन सकती तथा ऐसा कोई प्रमाण नही है कि 'अविद्या' मिथ्या है। यदि तर्क किया जाय कि प्रमाण केवल 'अविद्या' के अनस्तित्व का निषेध करने मे सहायक होते है, तो उत्तर यह है कि, चूंकि 'अज्ञान' का ग्रहण दोषरहित साक्षि-चैतन्य के द्वारा किया जाता है, अत उसे सत्य मानना चाहिए। यह मानना गलत है कि प्रमाण केवल 'अज्ञान' के अनस्तित्व का निषेध करते है, क्योकि, जबतक 'अज्ञान' का स्वरूप अनुमान के द्वारा ज्ञात नही हो जाता, तबतक उसके अनस्तित्व के निषेध को भी ज्ञात नही किया जा सकता। यह भी ध्यान मे रखना चाहिए कि जब प्रमाण 'अज्ञान' को अभिव्यक्त करते हैं, तब वे ऐसा इस प्रकार करते हैं मानो वह साक्षि-चैतन्य द्वारा ज्ञात की गई मिथ्या शुक्ति-रजत नही है, बल्कि ज्ञान का एक सत्य विषय है, तथा वे 'अज्ञान' के अनस्तित्व को उसके आभास के अधिष्ठान मे अभिव्यक्त नही करते। इस प्रकार जिन प्रमाणो के द्वारा 'अज्ञान' ज्ञात किया जाता है वे एक सत्य विषय के रूप मे उसके अस्तित्व का निर्देश करते है। इसलिए 'अविद्या' अनित्य मानी जा सकती है (क्योकि वह ज्ञान के द्वारा निवृत्त हो सकती है), किन्तु उसे मिथ्या अथवा असत्य नही माना जा सकता। अत शकरवादियो का यह कथन अवैध है कि 'अविद्या' स्वरूपत असत्य होकर भी प्रमाणो द्वारा ज्ञात की जाती है।

यदि 'अविद्या' विशुद्ध दोषरहित चैतन्य के द्वारा प्रत्यक्ष की जाती है तो वह चरम रूप से सत्य होनी चाहिए तथा वह मोक्ष के पश्चात् भी बनी रहनी चाहिए। यह नही कहा जा सकता कि वह मोक्ष के पश्चात् बनी नही रह सकती, क्योकि, उसका अस्तित्व उसके प्रत्यक्ष मे निहित होने के कारण जब तक उसका प्रत्यक्षीकरण बना रहता है (जैसाकि होना चाहिए, क्योकि वह नित्य शुद्ध चैतन्य के द्वारा प्रत्यक्ष की जाती है), तब तक उसका भी अस्तित्व होना चाहिए। यदि यह माना जाय कि 'अविद्या' एक 'वृत्ति' के माध्यम से ज्ञात की जाती है, तो स्पष्ट कठिनाई यह है कि जिन दो अवस्थाओ के द्वारा एक 'वृत्ति' उत्पन्न की जा सकती है, वे है 'प्रमाण' अथवा 'दोष' तथा 'अविद्या' के प्रत्यक्ष के उदाहरण मे इन दो मे से कोई भी अवस्था एक

---

[1] न च विवर्ताधिष्ठानत्वेन शुक्त्यादेरिवोपादानत्वमविद्यामन्तरेणातात्विकान्यथाभाव-लक्षणस्य विवर्तस्य सम्भवात्। —अद्वैत-सिद्धि, पृ० ५७३।

उपयुक्त 'वृत्ति' को प्रेरित नही कर सकती। इस प्रकार एक 'वृत्ति' की कोई सम्भावना न होने के कारण, उसमे चेतना के प्रतिबिम्ब के माध्यम से 'अविद्या' का कोई प्रत्यक्ष नही होगा। पुन, 'वृत्ति' स्वय एक 'अविद्या' की दशा होने के कारण अपने ग्रहण के लिए किसी अन्य 'वृत्ति' मे से प्रतिबिम्बित शुद्ध चैतन्य की सहायता की अपेक्षा रखेगी, तथा वह अन्य की, इत्यादि, और यदि यह आग्रह किया जाय कि 'वृत्ति' के ग्रहण के लिए किसी अन्य 'वृत्ति' मे से प्रतिबिम्ब की आवश्यकता नही होती, किन्तु वह साक्षि-चैतन्य द्वारा अपरोक्ष रूप से अभिव्यक्त हो जाती है, तो ऐसी 'वृत्ति' का मोक्ष के पश्चात् भी अनुभव होगा। इसके अतिरिक्त यह सकल्पना करना कठिन है कि कैसे 'अविद्या' के समान एक सत्ता जिसका अस्तित्व उसके प्रत्यक्ष मे निहित होता है चैतन्य के प्रतिबिम्ब के द्वारा उस 'वृत्ति' को प्रभावित करने के योग्य मानी जा सकती है जिसके द्वारा वह ज्ञात की जा सके। क्योकि उस सत्ता का उसके प्रत्यक्ष से पूर्व कोई अस्तित्व नही होता तथा मान्यता के अनुसार जब तक उसका पूर्व अस्तित्व नही होता तब तक उसका प्रत्यक्ष नही किया जा सकता।

मधुसूदन का उत्तर यह है कि उपर्युक्त आपत्तियाँ अवैध हैं, क्योंकि प्रत्यक्षकर्त्ता से सदा सबधित रहने वाले 'साक्षि-चैतन्य' के द्वारा 'अज्ञान' का प्रत्यक्षीकरण होने के कारण, उसका कोई तात्विक आभास तथा अभिव्यक्ति नही होती। कुछ अन्य आलोचनाओ के उत्तर मे मधुसूदन निर्देश करते हैं कि 'अविद्या' एक दोष होने के कारण तथा स्वय अपनी 'वृत्ति' की एक शर्त होने के कारण उक्त आधार पर की गई आपत्तियाँ अपना अधिकाश बल खो बैठती हैं।

व्यासतीर्थ कहते है कि शकरवादी यह सोचते है कि चूकि शुद्ध चैतन्य के अतिरिक्त सभी वस्तुए अविद्या की काल्पनिक सृष्टि होती है, इसलिए 'अविद्या' का अधिष्ठान केवल ब्रह्मन् ही हो सकता है, अन्य कोई सत्ता नही। वे यह निर्देश करते है कि यह असम्भव है कि अज्ञान, जो ज्ञान के सर्वथा विपरीत होता है, पश्चादुक्त को अपना अधिष्ठान बनाए। यह स्मरण रखना उचित होगा कि अज्ञान की यह परिभाषा दी जाती है कि ज्ञान के द्वारा निवृत्त किया जा सकता है। यह नही कहा जा सकता कि विरोध 'वृत्ति ज्ञान' एव 'अज्ञान' के मध्य मे होता है, क्योकि यदि ऐसा होता तो 'अज्ञान' की यह परिभाषा दी जानी चाहिए कि वह एक सकुचित अर्थ मे ज्ञान के विरोध मे होता है, चूँकि 'वृत्ति-ज्ञान' एक सकुचित अर्थ ही मे ज्ञान होता है (क्योकि यथार्थ ज्ञान शुद्ध चैतन्य का प्रकाश होता है)। यदि चैतन्य का अज्ञान से विरोध नही होता तो विषयो का कोई प्रकाशन नही हो सकता था। शकरवादियो के अनुसार भी अज्ञान के ज्ञान से विरोध की प्रतीति 'मै अज्ञ हूँ' अनुभव मे की जाती है। यह भी सुविदित है कि सुख अथवा दु ख जो साक्षी द्वारा अपरोक्ष रूप से प्रत्यक्ष किए जाते है—के सबध मे कोई अज्ञान नही होता। ऐसा निश्चय ही इस तथ्य के कारण

होता है कि शुद्ध चैतन्य अज्ञान का उन्मूलन कर देता है, इसलिए जो कोई वस्तु उसके द्वारा अपरोक्ष रूप से अभिव्यक्त होती है उसमे कोई 'अज्ञान' नही होता। यह तर्क किया जाता है कि ऐसे कई उदाहरण है जहाँ दो सर्वथा परस्पर विरोधी वस्तुओ मे से एक की दूसरी अधिष्ठान होती है। दीप्ति-भीति से पीडित व्यक्ति धूप पर अधकार का आरोपण कर सकते हैं, और इस दशा मे अधकार धूप पर आधारित होता है, उसी प्रकार, यद्यपि ज्ञान एव अज्ञान इतने विपरीत होते हैं तथापि पश्चादुक्त को पूर्वोक्त पर आधारित माना जाता है। इसका उत्तर यह है कि ऐसे सादृश्य का अनुसरण करते हुए जहाँ एक मिथ्या अधकार का धूप पर आरोपण किया जाता है, हमारा यह सोचना तर्क-सगत होगा कि विवादगत 'अज्ञान' से भिन्न एक मिथ्या 'अज्ञान' शुद्ध चैतन्य पर आधारित हो सकता है। इसके अतिरिक्त 'मैं अज्ञ हूँ' अनुभव बताता है कि 'अविद्या' का अधकार के साथ साहचर्य होता है न कि शुद्ध चैतन्य के साथ। यह सुझाव नही दिया जा सकता कि अधकार एव अज्ञान दोनो एक ही काल मे शुद्ध चैतन्य पर मिथ्या रूप से आरोपित होने के कारण परस्पर सम्बन्धित प्रतीत होते हैं, और इस प्रकार 'मैं अज्ञ हूँ' अनुभव की व्याख्या हो जाती है, क्योकि यह पहले सिद्ध किए बिना कि 'अज्ञान' शुद्ध चैतन्य मे अस्तित्व रखता है भ्रामक अनुभव की व्याख्या नही की जा सकती तथा पहले भ्रामक अनुभव के हुए बिना शुद्ध चैतन्य के साथ 'अज्ञान' के साहचर्य की स्थापना नही की जा सकती, और इस प्रकार एक दुष्ट चक्र का दोष हो जायगा। यह मानना गलत है कि 'मैं अज्ञ हूँ' अनुभव भ्रामक है। इसके अतिरिक्त, स्वय यह अनुभव कि 'मैं अज्ञ हूँ' इस सिद्धान्त का विरोध करता है कि 'अज्ञान' का शुद्ध चैतन्य से साहचर्य होता है तथा ऐसा कोई साधन नही है जिसके द्वारा उक्त व्याघात का आगे व्याघात हो सके और इस सिद्धान्त का समर्थन हो सके कि 'अज्ञान' शुद्ध चैतन्य पर आधारित होता है। कर्ता, ज्ञाता अथवा भोक्ता के प्रत्यय सदा ज्ञानात्मक वृत्तियो से सबधित होते हैं, अतएव वे शुद्ध चैतन्य मे होते हैं। यदि ये प्रत्यय शुद्ध चैतन्य पर आरोपित होते है, तो अज्ञान उसमे होगा (जो एक मिथ्या ज्ञाता होने के कारण 'जीव' ही होता है), अतएव 'जीव' मे होगा, इस प्रकार उस पुरानी मान्यता का समर्पण करना पडेगा कि 'अज्ञान' शुद्ध चैतन्य मे होता है। यह कहना भी सही नही है कि शुक्ति-रजत का 'अज्ञान' उससे परिच्छिन्न चैतन्य मे होता है, सदा यह अनुभव किया जाता है कि ज्ञान एव अज्ञान दोनो ज्ञाता मे होते है। यदि यह तर्क दिया जाय कि जो अधिष्ठान मे अस्तित्व रखता है वह स्वय को तब भी अभिव्यक्त कर सकता है जब वह अधिष्ठान किसी विशेष प्रकार से परिच्छिन्न हो, अतएव शुद्ध चैतन्य का 'अज्ञान' स्वय को 'जीव' मे भी अभिव्यक्त कर सकता है, जो शुद्ध चैतन्य ही का एक उपाधि-ग्रस्त आभास होता है, तो उसका उत्तर यह है कि यदि उक्त तर्क को स्वीकार कर लिया जाय तो 'अज्ञान' से अपने साहचर्य के कारण शुद्ध चैतन्य भी दुःख एव पुनर्जन्म के दुष्ट-चक्र से पीडित माना जा सकता है।

स्वरूप की होने के कारण वे इन्द्रियो की परिधि से परे होती है । इस प्रकार यह मत अवैध है कि दर्पण मे जिन अवस्थाओ का प्रत्यक्षीकरण किया जाता है वे प्रतिमा मे भी प्रतिबिम्बित होती है ।

यह नही माना जा सकता कि जैसे न्याय-मत मे आत्मन् का केवल शरीर के माध्यम से ही दु ख से साहचर्य होता है, उसी प्रकार शुद्ध चैतन्य 'जीव' के रूप मे अपने परिच्छिन्न आकार के साहचर्य मे 'अज्ञान' से सबधित माना जा सकता है, क्योकि, चूंकि शुद्ध चैतन्य स्वय 'अज्ञान' नामक दुष्ट तत्व से सबधित होता है, इसलिए ब्रह्मत्व की प्राप्ति एक वाछनीय अवस्था नही मानी जा सकती ।

उत्तर मे, मधुसूदन कहते है कि शुद्ध चैतन्य स्वरूपत 'अज्ञान' के विरुद्ध न होने के कारण 'वृत्ति' के रूप मे 'अज्ञान' के रूपान्तरण मे से प्रतिविम्बित होने पर ही 'अज्ञान' को नष्ट कर सकता है, ठीक उसी प्रकार जैसे सूर्य की किरणें, जो कागज अथवा रुई के छोटे टुकडो को प्रकाशित करती है, एक लेस मे से परिवर्तित होने पर उन्हे जला सकती है । यह मानना भी गलत है कि 'अज्ञान' का आश्रय अह मे होता है, क्योकि अहम्-प्रत्यय स्वय 'अज्ञान' की उपज होने के कारण उसका आश्रय नही हो सकता । इसलिए अधिष्ठान शुद्ध चैतन्य उसका आश्रय होना चाहिए । अत 'मैं अज्ञ हूँ' अनुभय की व्याख्या इस मान्यता के आधार पर की जानी चाहिए कि अह का प्रत्यय एव अज्ञान दोनो का आधार शुद्ध चैतन्य मे होता है तथा वे भ्रामक रूप से एक समिश्र बन जाते है । स्वय अह भी ज्ञान का विषय होने एव चरम सत्य ज्ञान के द्वारा निवृत्ति के योग्य होने के कारण मिथ्या माना जाना चाहिए । यदि 'अज्ञान' अन्तिम रूप से शुद्ध चैतन्य पर आधारित नही होता, तो उसका ऐसे परम एव अन्तिम ज्ञान के द्वारा निवारण नही हो सकता था, जिसका अन्तर्विषय शुद्ध चैतन्य होता है । यह मानना भी गलत है कि 'अज्ञान' प्रापचिक ज्ञाता का विशेषण होता है क्योकि यथार्थ ज्ञाता शुद्ध चैतन्य होता है तथा उसी मे 'अज्ञान' होता है, और उसके माध्यम से ही सर्व प्रकार के ज्ञान, मिथ्या अथवा व्यावहारिक ज्ञाता मे होते है । यह आलोचना गलत है कि 'अज्ञान' होने के कारण प्रापचिक ज्ञाता होता तथा प्रापचिक ज्ञाता होने के कारण 'अज्ञान' होता है, क्योकि 'अज्ञान' अपने अस्तित्व के लिये प्रापचिक ज्ञाता पर निर्भर नही करता । इनका परस्पर साहचर्य इस तथ्य के कारण नही होता है कि 'अविद्या' का आश्रय ज्ञाता होता है बल्कि इसलिए कि अविद्या एव अह-प्रत्यय एक ही चेतना मे विन्यास मे अभिव्यक्त होते है तथा इसके द्वारा ही इनकी चेतना की व्याख्या हो सकती है । प्रापचिक ज्ञाता एव शुद्ध चैतन्य का पार्थक्य केवल उसी सीमा तक बना रहता है जहाँ तक प्रापचिक ज्ञाता मे अधिष्ठान चैतन्य शुद्ध चैतन्य से पृथक होता है । यह सुविदित है कि यद्यपि एक मुख एक दर्पण के सामने [illegible] हो सकता है, तथापि दर्पण की [illegible] [illegible] रूप को प्रभावित करती है—[illegible] [illegible] ।

परावर्तित प्रतिविम्ब, फिर स्वय मुख मे भिन्न नही होता, अत यद्यपि शुद्ध चैतन्य अशुद्ध 'अज्ञान' मे से परिवर्तित हो सकता है, तथापि अशुद्धताए शुद्ध चैतन्य को नही वरन् 'जीव' को प्रभावित करती है, जो पुन अपने स्वरूप मे चैतन्य मे एकरूप होता है। इस सबध मे यह ध्यान रखना चाहिए कि 'अज्ञान' दो होते हैं, एक तो ज्ञाना को आवृत्त करता है और दूसरा विषय को, तथा यह सम्भव है कि कुछ उदाहरणो मे (यथा, परोक्ष ज्ञान मे) विषय का आवरण एव ज्ञाता का आवरण अविक्षुब्ध बना रहे।

यह मानना गलत है कि परावर्तन केवल दृश्य विषयो का हो सकता है, अपितु अदृश्य विषयो मे भी परावर्तन हो सकता है, *यथा*–'आकाश' के उदाहरण मे, जो यद्यपि अदृश्य होता है तथापि अन्य उद्गमो मे उनकी नीलिमा उसमे परावर्तित होती है। इसके अतिरिक्त, हमे श्रुति-प्रमाण के आधार पर यह मानना पडेगा कि ब्रह्मन् 'अज्ञान' मे से प्रतिबिम्बित होता है। यह तर्क करना भी गलत है कि प्रतिविम्बित होने वाली वस्तु तथा जिसमे वह प्रतिविम्बित होती है वह वस्तु एक ही प्रकार का अस्तित्व रखती है, क्योकि एक लाल पुष्प का लाल प्रतिविम्ब यद्यपि स्वय मिथ्या होने के कारण दर्पण की परावर्तित सतह से एक भिन्न स्तर का अस्तित्व रखता है, तथापि वह अन्य वस्तुओ मे पुन परावर्तित हो सकता है। इसके अतिरिक्त यह मानना गलत है कि 'अज्ञान' से शुद्ध चैतन्य को परावर्तित करने की पूर्ववृत्ति नही हो सकती, क्योकि इस मत के अनुसार कि 'अज्ञान' अनन्त होता है, वह शुद्ध चैतन्य को उसकी सम्पूर्णता मे प्रतिबिम्बित करने के योग्य माना जा सकता है, इस मत के अनुसार कि, वह शुद्ध चैतन्य से अधिक शान्त होता है, कोई आपत्ति नही हो सकती कि एक लघुतर सीमाओ वाली वस्तु वृहत्तर सीमाओ वाली सत्ता को प्रतिविम्बित नही कर सकती, सूर्य एक थाली के जल मे प्रतिविम्बित हो सकता है। इसके अतिरिक्त, यह एक वैध आपत्ति नही है कि यदि 'अज्ञान' विशेष आकारो मे रूपान्तरित होता है तो वह समाप्त हो जाता है, अतएव शुद्ध चैतन्य को प्रतिबिम्बित नही कर सकता, क्योकि 'अज्ञान' का जो अश रूपान्तरण मे भाग लेता है वह परावर्तन मे भाग नही लेता, जो 'अज्ञान' के एक भिन्न अश के कारण होता है। पुन, यह आलोचना प्रभावहीन है कि अनेक प्रतिबिम्बो मे अभिव्यक्त एक तटस्थ मुख के उदाहरण के विपरीत 'जीव' एव ब्रह्मन् से भिन्न कोई तटस्थ चैतन्य नही होता, क्योकि एक मुख तटस्थ इसीलिए कहा जाता है कि भेदो की गणना नही की जाती है, अतएव शुद्ध चैतन्य जब परावर्तन मे से अपनी विशिष्ट अभिव्यक्ति की विशेषताओ से पृथक् देखता है तब वह भी तटस्थ कहा जा सकता है।

यह ध्यान रखना चाहिए कि परावर्तन का कार्य-व्यापार अधिकाशत परावर्तक की उपाधियो (यथा, अशुद्धताओ, आदि) को प्रतिबिम्बो पर आरोपित करने मे निहित

होता है। 'उपाधे प्रतिबिम्ब-पक्षपाबित्वम्' (उपाधियाँ स्वय को प्रतिबिम्बो मे प्रकट करती हैं) वाक्याश का यही अर्थ होता है। यही कारण है कि 'अज्ञान' की अशुद्धताए शुद्ध चैतन्य के स्वरूप को प्रमाणित किये विना स्वय को परावर्तित 'जीवो' मे अभिव्यक्त करती है।

यह भी नही कहा जा सकता कि 'माया' का ब्रह्मन् से साहचर्य होता है, क्योकि, यदि 'माया' 'अज्ञान' हो तो ब्रह्मन् के साथ उसके साहचर्य की सम्भावना का पहले ही खण्डन हो चुका है। 'माया' 'अज्ञान' होने के नाते एक ऐसी ऐन्द्रजालिक शक्ति भी नही मानी जा सकती जिसके कारण अविद्यमान वस्तुओ का प्रदर्शन सम्भव हो सके (ऐन्द्रजालिकस्येवाविद्यमान प्रदर्शन-शक्ति), क्योकि 'अज्ञान' का सामान्य रूप मे खण्डन किया जा चुका है, अत इन्द्रजाल के रूप मे उसकी एक विशिष्ट अभिव्यक्ति स्वीकार नही की जा सकती, यह भी कभी देखा नही गया है कि एक मायावी अपने ऐन्द्रजालिक कौशल को 'अज्ञान' के माध्यम मे प्रदर्शित करता है। यदि 'माया' ब्रह्मन् की एक ऐसी विशेष शक्ति मानी जाय जिसके द्वारा वह जगत के विविध यथार्थ विषयो की सृष्टि करता है, तो ऐसे मत के प्रति हमे कोई आपत्ति नही है और हम उसे स्वीकार करने का बिल्कुल तत्पर है। यदि यह माना जाय कि 'माया' अन्य प्राणियो को भ्रान्त करने की शक्ति है तो चूँकि उसके अस्तित्व मे पूर्व कोई प्राणी नही होते है इसलिए 'माया' का अस्तित्व न्याय-सगत नहीं है। पुन , यदि ऐसी शक्ति एक यथार्थ अस्तित्व मे युक्त मानी जाय, तो वह अद्वैतवाद को खण्डित कर देगी। यदि वह 'जीवो' की मिथ्या कल्पना के कारण उत्पन्न मानी जाय तो यह नही माना जा सकता कि वह उनको भ्रान्त कर सकती है। यदि वह ब्रह्मन् की मिथ्या कल्पना के कारण उत्पन्न मानी जाय तो यह स्वीकार करना पडेगा कि ब्रह्मन् मे 'अज्ञान' होता है, क्योकि 'अज्ञान' के विना कोई मिथ्या कल्पना नही हो सकती।

वाचस्पति का यह मत भी गलत है कि अविद्या 'जीव' मे स्थित रहती है—क्योकि यदि 'जीव' का अर्थ शुद्ध चैतन्य है तो पूर्व आपत्तियाँ लागू होती हैं, यदि 'जीव' का अर्थ 'अज्ञान' अथवा 'अज्ञान जन्य बुद्धि' के परावर्तन से परिच्छिन्न शुद्ध चैतन्य होता है तो इसमे दुष्ट चक्र का समावेश हो जाता है, क्योकि 'अविद्या' की व्याख्या करने से पूर्व उसकी परिच्छिन्नता के सबध मे चर्चा करना सम्भव नही है। यदि यह कहा जाय कि 'अविद्या' स्वय पर अवलम्बित रह कर किसी आधार के विना शुद्ध चैतन्य के प्रति अपने उद्योग के द्वारा 'जीवो' को उत्पन्न करती है और 'जीव' के उत्पन्न होने के पश्चात् उसमे निवास करती है, तो यह मानना गलत होगा कि 'अविद्या' 'जीव' मे निवास करती है, 'जीव' की उत्पत्ति भी अव्याख्येय हो जायगी तथा दुष्ट चक्र की पहले वाली आपत्ति वैसी ही बनी रहेगी। न यह माना जा सकता है कि, 'जीव' और 'अविद्या' परस्पर एक अनादि सम्बन्ध द्वारा सबधित होने के कारण अन्योन्याश्रयत्व

के द्वारा उत्पन्न दुष्ट चक्र सबधी आलोचना असफल रहती है, क्योंकि यदि वे एक दूसरे पर आश्रित नही हैं तो वे एक दूसरे को निर्धारित नही कर सकते। यदि 'अज्ञान' और 'जीव' अपनी किसी भी प्रक्रिया मे एक दूसरे से सबन्धित नही पाये जाते हैं, तो वे एक दूसरे पर आश्रित भी नही हो सकते जो वस्तु अन्य वस्तु मे सर्वथा असबधित होती है वह उस पर आश्रित भी नही मानी जा सकती। यह माना जाता है कि 'जीव' एव ब्रह्मन् का भेद इस तथ्य मे निहित है कि पूर्वोक्त 'अविद्या' की उपज होता है, और यह भी माना जाता है कि 'अविद्या' का आश्रय जीव है, इसलिए 'जीव' के ज्ञान के बिना 'अविद्या' नही हो सकती, और 'अविद्या' के ज्ञान के बिना कोई 'जीव' नही हो सकता।

इसका मधुसूदन यह उत्तर देते हैं कि अन्योन्याश्रयत्व का दुष्ट चक्र विवादगत उदाहरण मे लागू नही होता, क्योंकि ऐसा अन्योन्याश्रयत्व उत्पत्ति को दूषित नही करता, चूँकि ऐसी उत्पत्ति एक अनादि क्रम मे होती है। एक दूसरे को बुद्धिगम्य बनाने के लिये परस्पर कर्त्ताधिन का भी यहाँ अभाव होता है, क्योंकि यद्यपि 'अज्ञान' शुद्ध चैतन्य द्वारा बुद्धिगम्य बनाया जाता है, तथापि पश्चादुक्त पूर्वोक्त के द्वारा अभिव्यक्त नही किया जाता है। अस्तित्व का भी यहाँ अन्योन्याश्रयत्व नही होता, क्योंकि, यद्यपि अज्ञान अपने अस्तित्व के लिए शुद्ध चैतन्य पर आश्रित रहता है, तथापि पश्चादुक्त पूर्वोक्त पर आश्रित नही रहता। मधुसूदन आगे यह निर्देश करते हैं कि वाचस्पति के अनुसार 'जीव' का 'अज्ञान' हा 'ईश्वर' एव 'जीव' दोनों की सृष्टि करता है।

यह माना जाता है कि 'अज्ञान' शुद्ध चैतन्य को आवृत्त करता है, किन्तु पुन शुद्ध चैतन्य सदा स्वय-प्रकाशक माना गया है, और यदि ऐसा है तो वह आवृत्त कैसे हो सकता है? आवरण 'जीव' का नही हो सकता, क्योंकि 'जीव' 'अज्ञान' की उपज होता है, वह जड विषयो का नही हो सकता, क्योंकि वे स्वय अ-प्रकाशक होते हैं, इसलिए उनको आवृत्त करने के लिए किसी आवरण की आवश्यकता नही है। शुद्ध चैतन्य का आवरण स्वय-प्रकाशक के प्रकाशत्व का लोप नही माना जा सकता (सिद्ध-प्रकाशलोप), न वह उस वस्तु की उत्पत्ति मे बाधक माना जा सकता है जो उत्पन्न होने के पश्चात् स्वय को स्व-प्रकाशक सिद्ध करती, क्योंकि जिस वस्तु का स्वरूप स्व-प्रकाशक होता है वह किसी भी काल में अपना स्वरूप नही छोडती। इसके अतिरिक्त चूंकि स्व-प्रकाशत्व नित्य होता है, इसलिए उसकी उत्पत्ति के सबध मे ऐसा कोई प्रश्न नही हो सकता कि 'अज्ञान' उसको आवृत्त कर सके। पुन, चूंकि ज्ञान का यह स्वरूप होता है कि वह स्वय को विषयो के सबध मे अभिव्यक्त करे, इसलिए विषयो के साथ उसके सबधीकरण की स्थापना के लिए उसे किसी अन्य वस्तु की अपेक्षा नही रहती तथा ऐसा कोई काल नहीं हो सकता जब ज्ञान स्वय को विषयो से सबंधित किये बिना

अस्तित्व रख सकेगा। इसके अतिरिक्त शकरवादी मत के अनुसार शुद्ध चैतन्य अपने स्व-प्रकाशत्व मे एक रस होने के कारण, किन्ही ऐसे विषयो से जो आवरण के द्वारा अवरुद्ध हो सकें, न यह कहा जा सकता है कि आवरण विषयो के 'प्राकट्य' के प्रतिबध के रूप मे कार्य करता है (प्राकट्य-प्रतिबन्ध), अपितु स्वय शकरवादियो के अनुसार विषयो का 'प्राकट्य' शुद्ध चैतन्य के अतिरिक्त कुछ भी नही होता। यह नही कहा जा सकता कि 'यह अस्तित्व रखता है' 'यह चमकता नही है' नामक चेतना शुद्ध चैतन्य के अन्तर्गत है ऐसा नही कहा जा सकता, क्योकि चैतन्य के अस्तित्व के निषेध मे भी चैतन्य की अभिव्यक्ति होती है। उपर्युक्त प्रकार के त्रुटिपूर्ण प्रत्यय भी 'अज्ञान' के आवरण नही कहे जा सकते, क्योकि त्रुटि केवल अधिष्ठान के आवरण के फलस्वरूप ही उत्पन्न होती है (यथा, शुक्ति के स्वरूप के आवृत्त होने पर ही रजत का एक मिथ्या प्रत्यय उत्पन्न हो सकता है) अतएव उसका स्वय आवरण के साथ तादात्म्यीकरण नही किया जा सकता। चित्सुख स्व-प्रकाशत्व की इस रूप मे परिभाषा देते हैं कि वह चेतना का विषय न होने के कारण अपरोक्ष कहलाने की योग्यता रखता है (अवेद्यत्वे सति अप-रोक्ष–व्यावहार–योग्यत्वम्)। यह मत गलत है कि स्वप्रकाशत्व स्वय मे स्थित 'अज्ञान' के आवरण की व्याख्या-हेतु अपरोक्ष अथवा स्वय-ज्योति न होने की योग्यता को कहा जाता है, क्योकि वह आत्म-विरोधी है, चू कि परिभाषा के अनुसार उसमे अप-रोक्ष कहलाने की योग्यता होती है।

पुन, एक आवरण उसे कहते है जो उसके द्वारा आवृत्त वस्तु की अभिव्यक्ति का अवरोध करता है, किन्तु, यदि एक स्व-प्रकाशक सत्ता 'अज्ञान' के माध्यम से अपनी अभिव्यक्ति कर सकती है तो उसे एक आवरण कहना अनुचित है।

पुन, यदि एक आवरण किसी प्रकाश को आवृत्त करता है तो वह आवरण स्वय प्रकाश को अवरुद्ध नही करता, किन्तु प्रकाश को आवरण से परे स्थित विषयो तक जाने से रोकता है। इस प्रकार घट मे स्थित एक ज्योति घट के अन्तर को प्रकाशित करती है तथा घट का आवरण केवल ज्योति को घट से बाहर स्थित विषयो को प्रकाशित करने से रोकता है। शुद्ध चैतन्य के प्रकाश के कल्पित अवरोध के उदाहरण से ऐसा ही प्रश्न खडा हो सकता है, तथा पूछा जा सकता है कि 'आवरण शुद्ध चैतन्य के प्रकाश को किसके लिये अवरुद्ध करता है?' उक्त अवरोध विविध 'जीवों' के सम्बन्ध मे नही हो सकता, क्योकि 'जीवों' की विविधता आवरण की क्रिया की उपज मानी जाती है, तथा वे पहले ही से अस्तित्व मे नही होते, जिससे यह कहा जा सके कि शुद्ध चैतन्य आवरण की क्रिया से जीवों से अवरुद्ध हो जाता है। यह भी मान्यता गलत है कि ब्रह्मन् का प्रकाश साधारण प्रकाश से यहाँ तक भिन्न होता है कि वह स्वय को स्वय के प्रति अभिव्यक्त नही करता, क्योंकि, यदि ऐसा होता तो वह समान रूप से मोक्ष की अवस्था मे भी अनभिव्यक्त रहता [illegible] आवरण के नष्ट [illegible] से

'अज्ञान' को प्रस्तुत करने मे कोई अर्थ नही होता । यह माना जाता है कि जब 'साक्षि-चैतन्य' स्वय को अभिव्यक्त करता है तब भी 'अज्ञान' विद्यमान हो सकता है, क्योकि 'साक्षि-चैतन्य' स्वय 'अज्ञान' को अभिव्यक्त करता है। आगे यह भी माना जाता है कि 'मै, तुमने जो कहा, उसे नही जानता' जैसे अनुभवो मे 'अज्ञान' यद्यपि किसी वस्तु को आवृत्त नही करता तथापि वह शुद्ध चैतन्य मे अभिव्यक्त हो सकता है, जैसाकि अनुभव द्वारा अपरोक्ष रूप से ज्ञात किया जा सकता है। इसका उत्तर यह है कि 'अज्ञान' के प्रत्यय का उद्देश्य ब्रह्मन् के असीम आनन्द की अनभिव्यक्ति की व्याख्या करना है, और यदि ऐसा है तो यह कैसे स्वीकार किया जा सकता है कि आवरण की किसी प्रक्रिया के बिना 'अज्ञान' व्यक्त चैतन्य मे प्रकट हो सकता है ? यद्यपि 'मैं, तुमने जो कहा उसे नही जानता' जैसे अनुभव के उदाहरण मे 'अज्ञान' ज्ञान का एक विषय हो सकता है, तथापि सुख व दु:ख की अभिव्यक्ति के उदाहरण मे इनकी अभिव्यक्ति के अभाव का कोई अनुभव नही हो सकता, अतएव इनके सबध मे चेतना मे कोई 'अज्ञान' प्रकट नही हो सकता। इसके अतिरिक्त, जब कोई यह कहता है कि 'मैं, तुमने जो कहा उसे, नही जानता' तब भी चेतना मे 'अज्ञान' की कोई अभिव्यक्ति नही होती, उक्त कथन केवल यह सकेत करता है कि वक्ता के शब्दो का अन्तर्विषय अपने विशिष्ट ब्यौरे के विना केवल एक सामान्य रूप मे ज्ञात किया जाता है। अत इस सीमा तक वक्ता के शब्दो के अन्तर्विषय की सामान्य रूपरेखा की अभिव्यक्ति होता है, जो भविष्य मे विशिष्ट ब्यौरे के अववोध को प्रेरित कर सकती है। जो भी हो, उक्त अनुभव का अर्थ 'अज्ञान' का अपरोक्ष अनुभव नही होता। जिस प्रकार ईश्वर यद्यपि हमारी तरह भ्रमो के अधीन नही होता तथापि वह यह चेतना रखता है कि हम त्रुटिया करते है, अथवा जिस प्रकार हम यद्यपि ईश्वर द्वारा ज्ञात की गई सकल वस्तुओ को नही जानते तथापि ईश्वर की सर्वज्ञता को जानते है, उसी प्रकार 'अज्ञान' की विशिष्ट विशेषताओ को ज्ञात किये विना हम 'अज्ञान' को एक सामान्य रूप मे ज्ञात कर सकते है। यदि उपर्युक्त मत को स्वीकार नही किया जाता है, और यदि यह माना जाय कि 'अज्ञान' का एक विशिष्ट ज्ञानात्मक आकार होता है तो यह ज्ञानात्मक आकार 'अज्ञान' के विरुद्ध नही होगा, और ऐसा कहना लगभग यह कहने के समान होगा कि 'अज्ञान' की समाप्ति भी ज्ञान के विरुद्ध नही है, जो निरर्थक है। इसके अतिरिक्त यदि 'अज्ञान' ज्ञान का एक विषय होता तो उसकी चेतना केवल उसको आवृत्त करने वाले अन्य 'अज्ञान' के आवरण के निवारण से भी सम्भव होगी।

पुन, यदि यह कहा जाय कि 'वृत्ति-ज्ञान,' (जो 'अज्ञान' का विरोधी है) जहाँ कही भी अभाव रखता है, वही 'अज्ञान' अस्तित्व रखता है, तो उसका मोक्ष मे भी अस्तित्व होना चाहिए। किन्तु, पुन, जब कोई कहता है कि 'मैं अज्ञ हूँ' तब अनुभूत

विरोधी विशिष्टत 'वृत्ति-ज्ञान' के सम्बन्ध मे नही होता, बल्कि सामान्य ज्ञान के सम्बन्ध मे होता है। इसके अतिरिक्त, यदि 'चैतन्य' एव 'अज्ञान' एक दूसरे के विरोध मे न होते तो एक को दूसरे के अभाव के रूप मे अर्थात् 'ज्ञान' एव 'अज्ञान' के रूप मे सबोधित करना गलत होता। इसके अतिरिक्त, यदि स्व-प्रकाशक शुद्ध चैतन्य की अभिव्यक्ति के द्वारा ही सज्ञान सम्भव होते हैं तथा अज्ञानो का निवारण हो सकता है, तो यह तर्क-सगत है कि शुद्ध चैतन्य ही का 'अज्ञान' से विरोध किया जाना चाहिए। यह मानना भी अनुचित है कि आत्मन् के साथ 'अज्ञान' का साहचर्य भी वह स्व-प्रकाशक हो। जहाँ तक 'वृत्ति' एव 'साक्षि-चैतन्य' के 'अज्ञान' के साथ सम्बन्ध का प्रश्न है उनमे कोई विशिष्ट भेद नही होना चाहिए, क्योकि उन दोनो को 'अज्ञान' के विरुद्ध माना जा सकता है। यदि 'साक्षि-चैतन्य' 'अज्ञान' के विरुद्ध न होता तो वह सुख-दुख आदि के प्रति 'अज्ञान' का निवारण नही कर सकता था। यह मानने का कोई आधार नही है कि 'साक्षि-चैतन्य' के द्वारा जो भी वस्तु अभिव्यक्ति की जाती है उसके साथ किसी 'अज्ञा' का साहचर्य नही हो सकता। वस्तुत यह सत्य है कि ज्ञाता मे कोई 'अज्ञान' नही होता है तथा ज्ञाता स्वय अपने सम्बन्ध मे किसी 'अज्ञान' के निवारण की अपेक्षा नही रखता है। आत्मन् एक दीपक की भाँति नित्य स्व-प्रकाशक होता है, उसके साथ किसी भी अन्धकार का साहचर्य नही हो सकता। इसी कारण, यद्यपि साधारण विषय अपने प्रकाशन के लिये प्रकाश की अपेक्षा रखते हैं तथापि आत्मन् अथवा ज्ञाता किसी भी प्रकाशन की अपेक्षा नही रखता। यह मानना गलत है कि शुद्ध चैतन्य एक 'वृत्ति' मे प्रतिबिम्बित होने पर ही 'अज्ञान' के विरुद्ध होता है तथा सुख के अनुभव के उदाहरण मे 'साक्षि चैतन्य' सुख के आकार की एक 'वृत्ति' मे से प्रतिबिम्बित होता है, क्योकि, यदि यह मान लिया जाय तो यह भी स्वीकार करना पडेगा कि सुख अनुभूत होने से पूर्व एक भौतिक अस्तित्व रखता था और इस प्रकार अन्य विषयो की भाँति सुख व दुख के प्रति भी सशय हो सकता है, और इस प्रकार इस मान्य मत का बलिदान करना पडेगा कि सुख का प्रत्यक्षीकरण उसका अस्तित्व भी होता है। इस प्रकार यह स्वीकार करना पडता है कि शुद्ध चैतन्य सुख-दु ख आदि से सम्बन्धित अज्ञान के विरुद्ध होता है। इसलिए, ज्ञान मे विरोध के सम्बन्ध मे शुद्ध चैतन्य और एक 'वृत्ति' के द्वारा अभिव्यक्त शुद्ध चैतन्य मे कोई भेद नही होता। न यह कहा जा सकता है कि सुख-दुख आदि 'अन्त करण' की 'वृत्ति' मे से प्रतिबिम्बित शुद्ध चैतन्य द्वारा प्रत्यक्ष किए जाते हैं, क्योकि अन्त करण की 'वृत्ति' केवल इन्द्रिय-व्यापार के द्वारा उत्पन्न हो सकती है तथा आन्तरिक सुख के ज्ञान मे ऐसा कोई इन्द्रिय-व्यापार नही हो सकता। न वह 'अविद्या' की 'वृत्ति' मे से एक प्रतिबिम्ब हो सकता है, क्योकि ऐसा दोष अथवा दोषो की उपस्थिति मे ही सम्भव हो सकता है। यदि, अन्धकार मे स्थित वस्तुओ की भाँति तथा ज्ञान के अभाव की भाँति, 'अज्ञान' पूर्ण अभिव्यक्त होता है तो वह 'साक्षि-चैतन्य' द्वारा अभिव्यक्त नही

किया जा सकता । पुन , यदि यह माना जाय कि 'वृत्ति' 'अज्ञान' के विरुद्ध है तो चूकि 'जीव' को निर्मित करने वाली 'अह-वृत्ति' और जड विपयो का प्रतिनिधित्व करने वाली विययाकार 'वृत्ति' का अस्तित्व होता है, इसलिए यह आशा की जा सकती है कि ये 'वृत्तिया' 'अज्ञान' के अस्तित्व का विरोध करेगी तथा तत्काल मोक्ष हो जायगा ।

इसके प्रति मधुसूदन का उत्तर यह है कि 'अज्ञान' एक आवरण इस अर्थ मे कहा जाता है कि उसमे एक 'योग्यता' होती है जिसके कारण वह वस्तुओ को असत् अथवा अनभिव्यक्त के रूप मे भासित करवाने के योग्य होता है, यद्यपि वह सदा उक्त योग्यता का प्रयोग नही करता, जिसके फलस्वरूप सुषुप्ति मे आवरण की प्रक्रिया का अस्तित्व होता है, परन्तु मोक्ष मे वह स्थगित रहती है । साधारणतया, ब्रह्म-ज्ञान की प्राप्ति न होने तक आवरण बना रहता है । यह आपत्ति उठाई जा सकती है कि एक आवरण का प्रत्यय शुद्ध चैतन्य के प्रत्यय से भिन्न होने के कारण स्वय मिथ्या कल्पना की उपज होता है (कल्पित) अतएव उसमे एक दुष्ट चक्र का समावेश हो जाता है, इसका उत्तर यह होगा कि 'अविद्या' अनादि है, और इसलिए यदि मिथ्या कल्पना किसी विशेष अवस्था मे एव पूर्व अवस्था का फल हो तथा वह अवस्था पुन किसी अन्य पूर्व अवस्था का फल हो, तो भी कोई कठिनाई नही हो सकती । इसके अतिरिक्त, 'आवरण' की अभिव्यक्ति अनन्त श्रेणी के पूर्ण होने पर निर्भर नही करती वरन् शुद्ध चैतन्य द्वारा अपरोक्ष रूप से उत्पन्न की जाती है । यह स्मरण रखना चाहिए कि यद्यपि शुद्ध चैतन्य अपनी पूर्णता मे आवरण से रहित होता है (यथा मोक्ष की अवस्था मे) तथापि अन्य अवसरो पर वह आवरण की प्रक्रिया के कारण एक परिच्छिन्न रूप मे अभिव्यक्त हो सकता है । व्यासतीर्थ की इस आपत्ति के विरुद्ध कि शुद्ध चैतन्य एक रस होने के कारण एक आवरण से कोई साहचर्य रखने के अयोग्य होता है, मधुसूदन इस कथन की पुनरावृत्ति करते है कि आवरण सम्भव है—किन्तु इसके लिए कोई तर्क प्रस्तुत नही किया जाता है । इस आपत्ति के प्रति कि आवरण, एक घट की भाँति, उसके भीतर स्थित दीपक के प्रकाश को नही रोक सकता तथा केवल घट के बाहर स्थित वस्तुओ के सवध मे ही अवरोध कर सकता है, किन्तु शुद्ध चैतन्य के अवरोध की अवस्था मे ऐसी कोई वाह्य सत्ता का प्रत्यक्ष नही होता है, मधुसूदन का उत्तर यह है कि शुद्ध चैतन्य का अवरोध 'जीव' के सबध मे होता है । आवरण एव 'जीव' दोनो एक अनादि श्रेणी मे एक दूसरे से सबधित होने के कारण, उनकी प्राथमिकता के सवध मे प्रश्न उठाना अवैध है । मधुसूदन सकेत करते हैं कि जैसे 'तुम, जो कहते हो, वह मैं नही जानता' अनुभव मे अज्ञान का ज्ञान से साहचर्य होता है, उसी प्रकार सुख की अभिव्यक्ति मे सुख एक विशेप विपय के प्रसग मे एक सीमित पक्ष मे अभिव्यक्त होता है और ऐसी परिसीमा 'अज्ञान' के साहचर्य के कारण उत्पन्न मानी

जा सकती है, जो अपनी अभिव्यक्ति मे प्रतिबन्धित होता है। मधुसूदन तर्क करते है कि 'तुम, जो कहते हो, वह मैं नही जानता' जैसे अनुभवो मे यह व्याख्या गलत है कि वक्ता के अभिप्राय का सामान्य ज्ञान होता है, किन्तु ब्यौरे का विशिष्ट ज्ञान अभी विकसित नही हुई है, क्योकि एक दृष्टिकोण से यहाँ 'अज्ञान' का अनुभव विशेष ब्यौरे से सबधित माना जा सकता है। यदि विशिष्ट ब्यौरा ज्ञात नही हो तो उनके सबध मे कोई अज्ञान नही हो सकता। किन्तु, जैसे एक वस्तु का एक सामान्य ढग से ज्ञान होने पर भी, उसके विशिष्ट स्वरूप के प्रति सशय हो सकता है, वैसे एक सामान्य ढग से ज्ञान हो सकता है और विशिष्ट ब्यौरे के प्रति अज्ञान हो सकता है। यह भी कहा जा सकता है कि अज्ञान अपने विशिष्ट ब्यौरे के बिना एक सामान्य ढग से अपरोक्ष रूप मे ज्ञात किया जाता है। व्यासतीर्थ ने तर्क दिया था कि अज्ञान का ज्ञान केवल तब भी हो सकता है जब विशेषो का ज्ञान नही हो, इस प्रकार, ईश्वर मे कोई भ्रम नही होता, किन्तु उसे भ्रम का सामान्य ज्ञान होता है। इसके विरोध मे मधुसूदन यह तर्क देते है कि प्रतिपक्षियो द्वारा जो उदाहरण दिये जा सकते हैं उन सब मे एक सामान्य अज्ञान सघटक विशेषो के ज्ञान के साथ-साथ स्थित रह सकता है। पुन, यह तर्क दिया जाता है कि, चू कि 'अज्ञान' एक ज्ञान का विषय होता है, इसलिए यह आवश्यक होगा कि 'अज्ञान' का आवरण दूर किया जाय, यह आत्म-विरोधी है। इसके प्रति मधुसूदन का उत्तर यह है कि जिस प्रकार विशिष्ट दिक्-सम्बन्धो के ज्ञान के उदाहरण मे एक विषय की उपस्थिति अनिवार्य होती है, किन्तु फिर भी उसके अभाव के ज्ञान के बिना विषय की उपस्थिति असम्भव होगी, ठीक उसी प्रकार 'अज्ञान' से सबोधित ज्ञान के उदाहरण मे एक अन्य आवरण का निवारण अनावश्यक होता है, क्योकि ऐसा मानना आत्म-विरोधी होगा।

यह आग्रह किया जा सकता है कि 'अज्ञान' तभी ज्ञात हो सकता है जब वह विषय ज्ञात नही होता जिसके सम्बन्ध मे उक्त 'अज्ञान' अस्तित्व रखता है, बाद मे, जब एक विषय ज्ञात हो जाता है, तब ज्ञाता को स्मरण होता है कि उसमे उक्त विषय के प्रति अज्ञान था तथा ऐसे अज्ञान एव अज्ञानाभाव मे अन्तर इस तथ्य मे निहित होता है कि अभाव अपने परिलक्षित प्रतियोगी से सम्बन्धीकरण को समाविष्ट किये बिना ज्ञात नही किया जा सकता, जबकि 'अज्ञान' ऐसे किसी भी परिलक्षित प्रतियोगी की अपेक्षा नही रखता। व्यासतीर्थ द्वारा दी गई 'अज्ञान' की इस कल्पित व्याख्या के प्रति मधुसूदन का उत्तर यह है कि शकरवादी 'अज्ञान' एव 'अभाव' के भेद को लगभग स्वीकार करते है, जिसके विरोध मे वे अबतक तर्क देते आये है। इसके अतिरिक्त, जब कोई कहता है 'तुम, जो कहते हो, वह मैं नही जानता,' तब वक्ता के वक्तव्य के सम्बन्ध मे 'अज्ञान' वर्तमान ज्ञान मे प्रत्यक्ष ज्ञान किया जाता है तथा यह अव्याख्येय हो जायगा यदि 'अज्ञान' के ज्ञान मे परिलक्षित प्रतियोगी का ज्ञान समाविष्ट नहीं

होता। अत, चूंकि 'अज्ञान' का उसके विषय के साथ-साथ ज्ञान होता है, इसलिए विषय के उस पक्ष मे अभिव्यक्त होने मे कोई असगति नही है जो 'साक्षि-चैतन्य' द्वारा ज्ञात 'अज्ञान' के प्रभाव मे होता है। मधुसूदन आग्रह करते हैं कि शुद्ध चैतन्य 'प्रमाण-वृत्ति' मे मे प्रतिबिम्बित होकर ही 'अज्ञान' का निवारण कर सकता है न कि अपने स्व-प्रकाशक स्वरूप के द्वारा अथवा स्वय एक नैसर्गिक 'अज्ञान' विरोधी जाति-विशेषण होने के कारण।[1] 'अज्ञान' के सम्बन्ध मे वृत्ति एव 'साक्षि-चैतन्य' का भेद इस तथ्य मे निहित है कि पूर्वोक्त तो 'अज्ञान' के विरुद्ध होता है, जबकि पश्चादुक्त का 'अज्ञान' से कोई सम्पर्क नही होता। पश्चादुक्त अर्थात् 'साक्षि-चैतन्य' सुख-दुख आदि की अभिव्यक्ति उनको आवृत्त 'करने वाले' 'अज्ञान' के निवारण के द्वारा नही करता बल्कि स्वत-स्फूर्ति से करता है, क्योंकि 'अज्ञान' का आवरण 'साक्षि' द्वारा अपरोक्ष रूप से अभिव्यक्ति किये जाने वाले विषयो पर क्रियाशील नही था।[2]

अज्ञान और अहंकार

शकरवादी यह मानते है कि यद्यपि सुषुप्ति मे स्वप्रकाशक आत्मन् उपस्थित होता है, तथापि उस काल मे कोई अ-प्रकाशक अहम् न होने के कारण, जाग्रतावस्था मे स्मृति सुषुप्ति-अवस्था के अनुभव को आत्मन् के रूप मे अहम् से सम्बन्धित नही करती, तथा श्रुति-पाठ भी प्राय अहम् के साथ आत्मन् के तादात्म्यीकरण के विरुद्ध कथन करते है, सुषुप्ति-अवस्था मे अहम् की अभिव्यक्ति नही होती है, क्योंकि यदि वह अभिव्यक्ति होता तो उसका उस रूप मे स्मरण होता।

इसके प्रति व्यासतीर्थ का उत्तर है कि यह नही कहा जा सकता कि सुषुप्ति-अवस्था मे आत्मन् की अभिव्यक्ति होती है तथा अहम् की अभिव्यक्ति नही होती, क्योंकि प्रतिपक्षी यह सिद्ध नही कर पाये है कि अहम् स्व-प्रकाशक आत्मन् से भिन्न होता है। यह कहना भी गलत है कि सुषुप्ति की आगामी स्मृति अहम् का निर्देश नही करती, क्योंकि स्मृति आत्मन् का अहम् के रूप मे निर्देश करती है, अन्य किसी का नही। जब कोई कहता है 'मैं सोया,' तब भी वह 'मैं,' अहम् का प्रयोग करता है जिसके साथ उसका आत्मन् सम्बन्धित होता है। 'विवरण' भी यह कहता है कि

[1] प्रमाण-वृत्युपारूढ-प्राकशत्वेन निवर्तकत्व ब्रूम, न तु जाति-विशेषेण, प्रकाशत्व-मात्रेण वा।
—'अद्वैत-सिद्धि' पृ० ५६०।

[2] साक्षिणि यदज्ञान विरोधित्वमनुभूयते तन्नाज्ञान–निवर्तकत्व–निबधन, किन्तु स्व-विषयेच्छादौ यावत्सावम् प्रकाशादज्ञानाप्रसक्ति निबधनम्।
—वही, पृ० ५६०।

प्रत्यभिज्ञा का आरोपण भी 'अन्त करण' के साथ सम्बन्धित आत्मन् पर किया जाता है। यदि अहम् की सुषुप्ति-अवस्था के अनुभवकर्ता के रूप मे अनुभूति नही की जाती, तो कोई भी समान औचित्य से उसके सम्बन्ध मे सशय भी रख सकता था। यह मानना भी गलत है कि सकल प्रत्यक्षकर्ताओ मे पाई जाने वाली अहम् सत्ता नही है, आत्मन् है, क्योकि, चाहे उसकी किसी भी रूप मे सकल्पना की जाय, अहम् ही ऐसे सर्व निर्देश का विषय होता है, और 'विवरण' भी यह कहता है कि आत्मन् पृथक् जीवो के सकल अनुभवो मे एक ही होने के कारण अहम् के साथ अपने साहचर्य के द्वारा ही भिन्न होता है। यह नही कहा जा सकता कि अहम् के प्रति निर्देश अहमाश के प्रति नही होता बल्कि उसमे अधिष्ठित स्व-प्रकाशक सत्ता के प्रति होता है, क्योकि यदि यह स्वीकार किया जाय तो उस सत्ता के साथ अज्ञान का भी साहचर्य स्थापित करना पडेगा। अनुभवो मे 'अज्ञान' भी अहम् के साथ सम्बन्धित प्रतीत होता है, और अहम् सोने वाले के रूप मे प्रतीत नही होता, बल्कि जाग्रतावस्था के अनुभवकर्ता के रूप मे प्रतीत होता है तथा वह सोने वाले के रूप मे स्वय को पहिचानता है। न यह अस्वीकृत किया जा सकता है कि जाग्रतावस्था मे एक व्यक्ति यह स्मरण करता है कि नीद मे अहम् ने सुख का अनुभव किया है, अत यह स्वीकार करना पडेगा कि सुषुप्ति मे अहम् ही निद्रा का अनुभव करता है। यह तथ्य कि, एक व्यक्ति अपने स्वप्न-अनुभव को उसी व्यक्ति के अनुभव के रूप मे स्मरण करता है जिसने पहले कोई क्रिया की थी और जो अब स्मरण करता है, यह प्रदर्शित करता है कि स्वप्न-अनुभव के पूर्व की क्रिया तथा स्मरण की वर्तमान क्रिया एक ही अहम्, अनुभवकर्ता की क्रियाए है, यदि अध स्थित अनुभवकर्त्ता को शुद्ध चैतन्य भी माने तो भी जहां तक दृश्य अनुभव-कर्त्ता एव स्मरण करने वाले व्यक्ति का सम्बन्ध है, सकल अनुभव अहम् ही के अनुभव कहे जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त, यदि अहम् का सुषुप्ति मे विलय मान लिया जाय, तो शरीर के जीव-प्रेरक व्यापार, जो अहम् के व्यापार माने गये हैं, असम्भव हो जाएगे। इसके अतिरिक्त, चूकि हमारा आत्म-प्रेम एव आत्म-रक्षा के लिए हमारे सवेग सदा अहम् के रूप मे आत्मन् के प्रति निर्दिष्ट किये जाते है, इसलिए यह मानना पडेगा कि स्थायी आत्मन् के अनुभव अहम् अर्थ का निर्देश करते है। यह आग्रह नही किया जा सकता कि विशुद्ध आत्मन् पर अहम् के मिथ्या आरोपण के द्वारा ऐसा सम्भव होता है, क्योकि इसमे दुष्ट चक्र का समावेश हो जायगा। चूकि, जबतक प्रेम के उच्चतम विषय के रूप मे आत्मन् को ज्ञात नही कर लिया जाता तबतक उस पर कोई आरोपण नही किया जा सकता, और जबतक उस पर अहम् का आरोपण नही होता तबतक प्रेम के उच्चतम विषय के रूप मे आत्मन् का ज्ञान नही किया जा सकता। इसके अतिरिक्त, ऐसा कोई आत्म-प्रेम का अनुभव नही होता जो दृश्य आत्मन् के प्रति नही बल्कि शुद्ध चैतन्य के प्रति निर्दिष्ट किया जा सके। 'मै चरम आनन्द को प्राप्त करूगा' जैसे अनुभव की विशुद्ध आत्मन् पर अहम् के आरोपण के

आधार से की गई व्याख्या के उदाहरण मे भी इसी प्रकार की आलोचना की जा सकती है ।[1] इसके अतिरिक्त, यदि मनस् अहम् के प्रत्यय का सघटक होता है, तो 'मेरा मनस्' जैसा अनुभव, जिसमे मनस् और अहम् भिन्न प्रतीत होते हैं, असम्भव होगा तथा मनस् एव अहम् का अनुभव एक ही होगा । इसके अतिरिक्त सभी भ्रमो मे दो सघटक होते हैं–अधिष्ठान एव आभास, किन्तु अहम् मे ऐसे किन्ही दो अशो की अनुभूति नही होती । यह मानना भी गलत है कि 'मैं स्वय को भासित होता हूँ' (अह स्फुरामि) जैसे अनुभवो मे चेतना मे 'स्फुरण' होना अधिष्ठान है, और 'स्वय को भासित होना' मिथ्या आभास है ।[2] क्योंकि, अहम् का 'स्फुरण' 'अहम्-अर्थ' से भिन्न होने के कारण उनमे तादात्म्यीकरण का कोई ऐसा आभास नही होता कि पूर्वोक्त को पश्चादुक्त का अधिष्ठान माना जा सके । इस प्रकार अहम् का अन्त-प्रज्ञात्मक अनुभव के द्वारा आत्मन् के रूप मे अपरोक्ष प्रत्यक्ष किया जाता है, तथा अनुमान भी इसी सत्य की ओर सकेत करता है, क्योंकि, यदि अहम् को नैतिक एव अन्य शुद्धिकरण सम्बन्धी कर्त्तव्यो को करने का व्यादेश दिया जाता है, और यदि उसी के मुक्त होने का कथन किया जाता है, तो यह तर्क-सम्मत है कि अहमर्थ ही आत्मन् है । इस मत की पुष्टि मे व्यासतीर्थ अनेक श्रुति-पाठो को प्रस्तुत करते हैं ।

इसके प्रति मधुसूदन का उत्तर यह है कि, यदि 'अहमर्थ' निद्रा मे उपस्थित होता, तो उसके गुण, यथा-इच्छा, आकाक्षा आदि का प्रत्यक्षीकरण होता । जिस द्रव्य मे गुण होते है वह उन गुणो के द्वारा ही ज्ञात किया जा सकता है अन्यथा गुणो सहित एक घट को उक्त गुणो के द्वारा जानने की आवश्यकता नही होती । निसदेह यह सत्य है कि हम एक स्तर के गुणो के विनाश और अन्य स्तर के गुणो की सृष्टि के मध्यान्तर मे घट के अस्तित्व का कथन करते है । किन्तु यह हमारी प्रमुख मान्यता के विरुद्ध नही जाता, क्योकि यद्यपि एक गुण-विशिष्ट वस्तु को उसके गुणो के द्वारा जानना आवश्यक होता है, तथापि इससे यह निष्कर्ष नही निकलता कि एक गुण-रहित वस्तु ज्ञेय नही होनी चाहिए । अत यह स्वीकार करना पडेगा कि, चू कि सुषुप्ति मे किन्ही भी गुणो का प्रत्यक्षीकरण नही किया जाता है, इसलिए गुण-रहित आत्मन् ही सुषुप्ति मे ज्ञात किया जाता है, यदि उसका प्रत्यक्षीकरण नही होता तो जाग्रतावस्था मे उसकी कोई स्मृति नही होती । इसके अतिरिक्त, सुषुप्ति मे आत्मन् 'अज्ञान' के आश्रय के रूप मे प्रत्यक्ष किया जाता है (जैसाकि 'मुझे सुषुप्ति मे कुछ भी ज्ञात नही था 'अनुभव से प्रमाणित होता है) और इसलिए वह अहम् से भिन्न

१ 'न्यायामृत' पृ० २८३ (अ) ।

२ इह तु स्फुरणमात्रमधिष्ठानमिति स्फुरामीत्येव धीरिति चेन्न ।

—वही, पृ० ३८ (अ) ।

होता है। स्मृति 'अज्ञान' के आश्रय के रूप मे शुद्ध चैतन्य का निर्देश करती है, अहम् का नही। यह सत्य है कि 'विवरण' यह मानता है कि 'प्रत्यभिज्ञा' 'अन्त करण' से सम्बन्धित शुद्ध चैतन्य ही की सम्भव होती है, किन्तु, यद्यपि ऐसा है, तथापि इससे यह फलित नही होता कि शुद्ध चैतन्य की 'अभिज्ञा' भी 'अन्त करण' से संबंधित होनी चाहिए। इसलिए सुषुप्ति अवस्था मे हमे शुद्ध चैतन्य की कोई 'प्रत्य-भिज्ञा' नही होती, वरन् उसकी 'अन्त प्रज्ञा' होती है। जाग्रतावस्था मे हमे शुद्ध चैतन्य की नही बल्कि 'अज्ञान' से सबधित चैतन्य की प्रत्यभिज्ञा होती है। 'विवरण' के कथन का बल इस तथ्य पर नही है कि 'प्रत्यभिज्ञा' के लिए यह अपरिहार्य है कि शुद्ध चैतन्य का 'अन्त करण' से साहचर्य होना चाहिए, किन्तु इस तथ्य पर है कि वह किसी भी उपाधि तत्व के साहचर्य से पूर्णत रहित नही होना चाहिए तथा ऐसा तत्व 'अज्ञान' के साथ उसके साहचर्य मे पाया जाता है, जिसके फलस्वरूप प्रत्यभिज्ञा सम्भव होती है। स्वप्नो मे अनुभवकर्ता के रूप मे अहम् की स्मृति सुषुप्ति मे आत्मन् की अन्त-प्रज्ञा तथा उसके साथ अहम् के तादात्म्य के आरोपण के द्वारा घटित होती है। ऐसे मिथ्या आरोपण की स्मृति ही सुषुप्ति मे अहम् के आभासी अनुभव के लिए उत्तरदायी होती है। यह सुझाव देना गलत है कि यहाँ एक दुष्ट चक्र का दोष हो जाता है, क्योंकि जब अहमर्थ आत्मन् से भिन्न ज्ञात किया जाता है, तभी एक मिथ्या तादात्म्यीकरण हो सकता है, तथा जब एक मिथ्या तादात्म्यीकरण होता है तभी, चूँकि अहम् सुषुप्ति अवस्था मे अभिव्यक्त नही होता, इस धारणा का प्रवर्तन होता है कि वह भिन्न है। क्योकि जब आत्मन् अहम् से भिन्न ज्ञात किया जाता है तभी अहम् के रूप मे आत्मन् की स्मृति की सम्भावना का निषेध हो सकता है। व्यासतीर्थ कहते हैं कि 'अहमर्थ' तथा 'अहकार' दो भिन्न सत्ताए होने के कारण, पूर्वोक्त की अभिव्यक्ति मे अनिवार्य फल के रूप मे पश्चादुक्त की अभिव्यक्ति का समावेश नहीं होता, तथा इससे यह व्याख्या हो जाती है कि कैसे सुषुप्ति मे यद्यपि 'अहमर्थ' अभि-व्यक्त होता है तथापि 'अहकार' का लोप होता है। इसके उत्तर मे मधुसूदन कहते हैं कि अह अर्थ और अहकार का सह-अस्तित्व होता है और इस प्रकार जहाँ-जहाँ अहमर्थ विद्यमान होता है वहाँ अहकार भी होना चाहिए, और, यदि सुषुप्ति-अवस्था मे अहमर्थ की अभिव्यक्ति होती तो उसके साथ ही अहकार की भी अभिव्यक्ति होनी चाहिए थी। वे आगे कहते हैं कि यही आपत्ति सुषुप्ति-अवस्था मे आत्मन् की अभिव्यक्ति के सबध मे नहीं उठाई जा सकती, क्योकि आत्मन् का अहकार से साहचर्य नही होता। व्यास-तीर्थ ने कहा है कि जैसे शकरवादी सुषुप्ति-अवस्था मे 'अज्ञान' की अभिव्यक्ति की यह व्याख्या करते है कि उसका निर्देश केवल वस्तुगत सत्ताओं के प्रति ही होता है, न कि विशुद्ध 'साक्षि-चैतन्य' के प्रति (क्योंकि यह सम्भव नही हो सकता कि वह विषय-ग्रस्तता के बिना अभिव्यक्त भी होता तथ साथ ही 'अज्ञान' का विषय भी होता), वैसे ही अहमर्थ की अभिव्यक्ति का 'अहकार' से साहचर्य से [illegible] नहीं होता, [illegible]

यह माना जा सकता है कि उसका निर्देश अन्य अनुगत सत्ताओं के प्रति होता है। इसका मधुसूदन यह उत्तर देते है कि 'साक्षि-चैतन्य' मे 'अज्ञान' की अभिव्यक्ति मे कोई व्याघात नही है, जैसाकि अहमर्थ के साथ उसी साहचर्य के उदाहरण मे हो सकता है, अतएव व्यासतीर्थ की व्याख्या सर्वथा अनावश्यक है।

मधुसूदन कहते है कि अहमर्थ या आत्मन् से भिन्न सत्ता के रूप मे अनुमित किया जा सकता है, क्योंकि, शरीर की भांति उसकी हमारे अहं-प्रत्यक्ष अथवा 'मैं' के रूप मे हमारे प्रत्यक्षीकरण के द्वारा सकल्पना की जाती है। यदि यह माना जाय कि आत्मन् भी अहं-प्रत्यक्ष के द्वारा सकल्पित किया जाता है, तो उत्तर यह है कि आत्मन्, जिस अर्थ मे अहं-प्रत्यक्ष के द्वारा सकल्पित किया जाता है, उस अर्थ मे वह वस्तुत एक अनात्मन् होता है। अपने अनिवार्य स्वरूप मे अहं-प्रत्यक्ष मे अधिष्ठित आत्मन् का अहं-प्रत्यक्ष के द्वारा सकल्पित नहीं किया जा सकता। पुन व्यासतीर्थ के इस मत की कि, हमारे द्वारा स्वय अपने आनन्द के चरम लक्ष्य के रूप मे अनुभूत करना यह प्रदर्शित करता है कि चरम आनन्द अहमर्थ मे होता है, शकरवादियों द्वारा यह आलोचना की जाती है कि चरम आनन्द जो वस्तुत आत्मन् मे होता है एक त्रुटि-पूर्ण तादात्म्य के द्वारा मिथ्या ढग से अहमर्थ पर आरोपित कर दिया जाता है। इस आलोचना की पुन मध्वो द्वारा इस आधार पर आलोचना की जाती है कि उक्त व्याख्या मे दुष्ट चक्र का समावेश हो जाता है, क्योंकि जब अहमर्थ के चरम आनन्दमय स्वरूप को ज्ञात कर लिया जाता है तभी तादात्म्य का मिथ्या प्रत्यय स्वय को प्रस्तुत करता है, तथा जब तादात्म्य का मिथ्या प्रत्यय उपस्थित होता है तभी उस चरम आनन्दमय स्वरूप का भान होता है। इसके प्रति, पुन, मधुसूदन का उत्तर यह कि सुषुप्ति अवस्था का अनुभव आत्मन् को शुद्ध चैतन्य के रूप मे अभिव्यक्त करता है, जबकि अहमर्थ अनभिव्यक्त रहता है, इस प्रकार सुषुप्ति की साक्षि द्वारा अहमर्थ आत्मन् से भिन्न ज्ञात होता है। अहमर्थ स्वय अनभिव्यक्त होता है, और उसकी अभिव्यक्ति सदा विशुद्ध आत्मन् के साथ उसके तादात्म्य के मिथ्या आरोपण के द्वारा होती है। मधुसूदन यह अभिवचन देना चाहते है कि सुषुप्ति मे चरम आनन्द का अनुभव विशुद्ध आत्मन् की अभिव्यक्ति होता है, अहमर्थ की अभिव्यक्ति नही, अहम् केवल उस विशुद्ध आत्मन् के साथ तादात्म्य के द्वारा आनन्दमय भासित होता है जिसमे सुषुप्ति अवस्था का आनन्द स्थित होता है।

व्यासतीर्थ की आपत्ति यह है मोक्ष मे आत्मन् आनन्द के चरम लक्ष्य के रूप मे अनुभूत नही होता, क्योकि वहाँ कोई द्वैत नही होता, किन्तु, यदि ऐसा अनुभव आत्मन् का स्वरूप हो तो उसके विनाश के साथ ही मोक्ष मे आत्मन् का विनाश हो जायगा। इसके प्रति मधुसूदन का यह उत्तर है कि आत्मन् का चरम आनन्द के लक्ष्य के रूप मे अनुभव केवल एक सोपाधिक अभिव्यक्ति होती है, अतएव मोक्ष मे इस उपाधि के निवारण से आत्मन् के विनाश का कोई भय नही हो सकता।

शकरवादियो द्वारा यह आग्रह किया जाता है कि मनस् मे स्थित 'कर्तृत्व' का आत्मन् पर मिथ्या आरोपण हो जाता है, जिसके फलस्वरूप वह मिथ्या ढग से कर्त्ता के रूप मे भासित होता है, यद्यपि उसके यथार्थ अपरिवर्तनशील स्वरूप का सुषुप्ति मे प्रत्यक्षीकरण होता है। व्यासतीर्थ उत्तर देते है कि भ्रम के दो विशिष्ट उदाहरण होते हैं, अर्थात् (१) जहाँ जपा-पुष्प का लाल रग एक स्फटिक पर प्रतिविम्ब होता है, जिसके फलस्वरूप श्वेत स्फटिक लाल प्रतीत होता है तथा (२) जहाँ एक रज्जु एक भयानक सर्प के रूप मे भासित होता है। अब, प्रथम उदाहरण मे सादृश्य का अनुसरण करते हूए एक व्यक्ति यह आशा करेगा कि मनस् प्रथक् रूप से एक कर्त्ता के रूप मे ज्ञात किया जायगा, ठीक उसी प्रकार जैसे जपा-पुष्प लाल ज्ञात किया जाता है, तथा शुद्ध चैतन्य भी एक कर्त्ता के रूप मे भासित होना चाहिए, ठीक वैसे ही जैसे स्फटिक लाल भासित होता है। यदि यह उत्तर दिया जाता है कि भ्रम प्रथम प्रकार का नही होता, चूँकि मनस् का गुण प्रतिविम्वित नही होता वरन् अपने गुणो सहित मनस् स्वय आरोपित किया जाता है, इसलिए यहाँ भ्रम द्वितीय प्रकार का होगा। किन्तु तब भी सर्प स्वय भयानक प्रतीत होता है, तथा इस सादृश्य के अनुसार एक व्यक्ति यह आशा करेगा कि मनस् स्वतत्र रुप से एक कर्त्ता प्रतीत होना चाहिए और शुद्ध चैतन्य भी ऐसा प्रतीत होना चाहिए।

उत्तर मे मधुसूदन कहते है कि वे द्वितीय प्रकार के भ्रम को स्वीकार करते है, और यह मानते है कि मनस् के कर्तृत्व के समान्तर शुद्ध चैतन्य मे कर्तृत्व भासित होता है, और फिर मनस् एव शुद्ध चैतन्य के तादात्म्यीकरण के द्वारा उक्त दो सख्यात्मक दृष्टि मे भिन्न सत्ताओ का मिथ्या तादात्म्य स्थापित हो जाता है। पर वस्तुत, शुद्ध चैतन्य मे मनस् के कर्तृत्व का भ्रम उक्त दोनो प्रकार का माना जा सकता है। जैसाकि ऊपर बताया जा चुका है, निरुपाधिक के रूप मे पश्चादुक्त प्रकार जिसमे वह जिसका आरोपण किया जाता है (अध्यासमान, यथा-भयानक सर्प), 'व्यावहारिक' सत्ता होने के कारण भ्रामक ज्ञान (रज्जु सर्प जिसकी केवल 'प्रातिभासिक' सत्ता होती है) से अधिक सत्य होता है। उसकी प्रथम प्रकार के 'सोपाधिक' भ्रम के रूप मे भी व्याख्या की जा सकती है, क्योकि वह जिसका आरोपण किया जाता है (मनस् का कर्तृत्व) और वह जो मिथ्या प्रतिभास होता है (शुद्ध चैतन्य का कर्तृत्व) दोनो एक ही स्तर की सत्ता, अर्थात्, 'व्यावहारिक' सत्ता रखते हैं, जिसे हम जपा-पुष्प एव स्फटिक के मध्य एक 'सोपाधिक' भ्रम की दशा के रूप मे जानते है।

मधुसूदन निर्देश करते है कि अहकार दो अशो मे निर्मित होता है, (१) अधिष्ठान शुद्ध चैतन्य, और (२) कर्त्ता के रूप मे जड अश। द्वितीय अश वस्तुत मनस् मे होता है, तथा शुद्ध चैतन्य के साथ उसके इस मिथ्या तादात्म्यीकरण के द्वारा ही 'मैं कर्त्ता हूँ' अनुभव सम्भव होता है, अत कर्तृत्व की अनुभूति केवल ऐसे भ्रम के

द्वारा ही घटित होती है। अत यह आपत्ति अवैध है कि, यदि मनम् का कर्तृत्व अहमर्थ पर स्थानान्तरित कर दिया जाय तो आत्मन् को बन्धन एव मोक्ष के अधीन नही माना जा सकता, क्योकि तथाकथित अहमर्थ स्वय मनम् व उसमे सबधित कर्तृत्व के शुद्ध चैतन्य के साथ मिथ्या तादात्म्यीकरण का फल होता है। व्यासतीर्थ ने यह निर्देश किया था कि साख्य वादियो के साथ तर्क करते समय शकरवादियो ने 'बुद्धि' के कर्तृत्व का खण्डन किया था (ब्रह्म-सूत्र, II ३,३३)। इसके प्रति मधुसूदन का उत्तर यह है कि शकरवादियो ने यह कथन किया था कि चैतन्य कर्ता एव अनुभवो का भोक्ता दोनो होता है, न कि केवल भोक्ता जैसाकि साख्यवादियो ने घोषित किया था, उन्होंने न तो 'बुद्धि' के कर्तृत्व का खण्डन किया था और न शुद्ध चैतन्य का कथन किया था।

व्यासतीर्थ कहते है कि 'मै एक ब्राह्मण हूँ' जैसे अनुभवो मे ब्राह्मण शरीर का 'मै' तादात्म्यीकरण होता है, तथा यह 'मैं' शकरवादियो के अनुसार आत्मन् से भिन्न होता है, क्योकि शकरवादियो द्वारा 'मै' को आत्मन् नही माना जाता है। पुन, यदि शरीर एव आत्मन् के तादात्म्य का अपरोक्ष प्रत्यक्षीकरण किया जाता है, तथा उसका व्याघात करने के लिए कोई सत्य अनुमान उपलब्ध नही है तो यह कथन करना कठिन है कि वे भिन्न है। इसके अतिरिक्त, शरीर और इन्द्रियां एक दूसरे से भिन्न ज्ञात की जाती है तथा दोनो का आत्मन् के साथ तादात्म्य नही माना जा सकता। पुन, यदि सकल भेद भ्रम है, तो तादात्म्य का प्रत्यय, जो भेद का विरोधी है, अनिर्वाचित सत्य होगा। इसके अतिरिक्त, वास्तव मे, शरीर और आत्मन् का ऐसा कोई मिथ्या-तादात्म्यीकरण कभी भी घटित नही होता, क्योकि मानवो का कौन कहे पशु भी यह जानते है कि वे अपने शरीरो से भिन्न होते है तथा, यद्यपि उनके शरीर जन्मान्तर मे परिवर्तित होते हैं तथापि वे स्वय निरन्तर वही बने रहते है।

मधुसूदन उत्तर मे कहते है कि शरीर एव अहम् का मिथ्या तादात्म्यीकरण सम्भव है क्योकि अहम् का एक सघटन शुद्ध चैतन्य होता है, और इस प्रकार उसके साथ मिथ्या तादात्म्यीकरण का अर्थ होता है चैतन्य के साथ तादात्म्यीकरण। इसके अतिरिक्त, यह कहना गलत है कि, यदि प्रत्यक्षीकरण शरीर और आत्मन् के मध्य तादात्म्य को प्रकट करता है तो अनुमान के द्वारा उनके भेद को स्थापित करना सम्भव नही है। क्योकि यह सुविदित है (यथा, प्रत्यक्षीकरण मे चन्द्रमा के आभासी आकार के उदाहरण मे) कि प्रत्यक्षीकरण द्वारा प्राप्त निष्कर्षो को सुप्रमाणित अनुमान एव शब्द के द्वारा प्राय सशोधित किया जाता है। पुन, यह आपत्ति गलत है कि सकल भेद भ्रामक होने के कारण, भेद का विरोधी, अर्थात् मिथ्या तादात्म्यीकरण सत्य होना चाहिए, क्योकि मिथ्यात्व के स्वरूप से सबधित विचार-विमर्श मे यह बता दिया गया है कि भाव और अभाव दोनो एक ही काल मे मिथ्या हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त

व्यावहारिक जीवन मे आत्मन् के साथ शरीर के मिथ्या तादात्म्यीकरण का अनुमान एव श्रुति-पाठो के साक्ष्य द्वारा निवारण किया जा सकता है, जबकि सकल भेद के भ्रम का निवारण केवल मोक्ष से पूर्व की अन्तिम ज्ञानात्मक अवस्था के द्वारा ही किया जा सकता है। मधुसूदन मानते हैं कि आत्मन् के साथ शरीर के सबध की सकल व्याख्या व्यर्थ है, तथा जो एकमात्र व्याख्या समीचीन प्रतीत होती है वह यह है कि शरीर आत्मन् पर एक मिथ्या आरोपण होता है।

जगत-प्रपंच की अनिर्वचनीयता

व्यासतीर्थ द्वारा यह आग्रह किया जाता है कि शकरवादियो के लिए यह सिद्ध करना कठिन है कि जगत्-प्रपच 'अनिर्वचनीय' है, चाहे 'अनिर्वचनीय' पद को किसी भी अर्थ मे लिया जाय। इस प्रकार, चूंकि उसे अनिर्वचनीय कहा जाता है, अत. ऐसा कहना मात्र भी उसके स्वरूप का एक यथेष्ट वर्णन हो जाता है, न यह कहा जा सकता है कि जिस ज्ञान अथवा विषय की परिभाषा अथवा वर्णन किया जा सकता था उसका अभाव होता है, क्योकि उनके अभाव मे वर्णन के प्रति कोई उल्लेख सम्भव नही होगा। न यह कहा जा सकता है कि अनिर्वचनीयता का अर्थ यह है कि वह सत् एव असत् दोनो से भिन्न है, क्योकि उनसे भिन्न होते हुए भी वह दोनो का सयोजन हो सकता है। इसके प्रति मधुसूदन का उत्तर यह है कि अनिर्वचनीयता इस तथ्य मे निहित है कि जगत-प्रपच न तो सत् है, और न असत् है और न सदसद् है। अनिर्वचनीयता इस तथ्य मे भी निहित कही जा सकती है कि 'जगत-प्रपच जिस प्रसग से भासित होता है उसमे उसका व्याघात हो सकता है। यह नही कहा जा सकता कि उपरोक्त स्थिति हमे किसी नवीन सत्य पर नही पहुँचाती, क्योकि एक अस्तित्ववान सत्ता किसी भी अन्य अस्तित्ववान सत्ता से भिन्न ज्ञात की जा सकती है, क्योकि यहाँ किसी विशेष अस्तित्व का नही वरन् स्वय अस्तित्व का निषेध किया गया है। यदि यह कथन करना सम्भव है कि एक ऐसी सत्ता हो सकती है जो न सत् है और न असत् है, तो निश्चय ही वह एक नवीन तर्क वाक्य होगा। मधुसूदन आगे निर्देश करते हैं कि 'सत्' और 'असत्' यहाँ अपने मान्य अर्थो मे प्रयुक्त हुए हैं, और दोनो मिथ्या होने के कारण उनमे से एक के निषेध मे दूसरे की स्वीकृति का समावेश नही होता, अतएव विमध्य-नियम लागू नही होता। जब यह कहा जाता है कि अनिर्वचनीयता इस तथ्य मे निहित है कि एक वस्तु न सत् है और न असत् है, तब उसका केवल यही अर्थ होता है कि चूंकि जो कुछ भी स्वीकृत अथवा अस्वीकृत किया जा सकता है वह मिथ्या है, इसलिए उनमे से कोई भी स्वीकृत नही किया जा सकता, क्योकि जो स्वरूपत अवर्णनीय है उसकी किसी मूल सत्ता विशिष्ट रूप मे स्वीकृति नही की जा सकती।[1]

[1] न च तर्हि सदादि-वैलक्षण्योक्ति [illegible] सत्-त्वप्रतियोगि-दुर्निरूपतामात्रे पर्यवसानात्, न हि स्वरूपतो दुर्निरूपस्य विशिष्टरूप वाच्यत्व सम्भवति। —'अद्वैत-सिद्धि' पृ० १२१।

व्यासतीर्थ तर्क देते है कि सत् और असत् का अव्याख्येय स्वरूप उनको अनिर्वचनीय कहने का आधार नही बनाया जाना चाहिए, क्योकि यदि ऐसा होता, तो 'अविद्या' की समाप्ति को भी जिसे न सत् और न असत् और न सदसद् माना जाता है, अनिर्वचनीय कहा जाना चाहिए था। इसके प्रति मधुसूदन का उत्तर यह है कि 'अविद्या' की समाप्ति को विलक्षण कहा जाता है, क्योकि उसका मोक्ष की अवस्था मे अस्तित्व नही होता, वे आगे आग्रह करते है कि यह मानने मे कोई असगति नही है कि एक सत्ता और उसका अभाव (शर्त यह है कि वे दोनो मिथ्या हो) दोनो का किसी अन्य सत्ता मे अभाव हो सकता है—यह तभी असम्भव होता है जब भाव और अभाव दोनो यथार्थ हो। मधुसूदन आगे कहते है कि सत् एव असत् परस्पर निषेधात्मक नही है, वरन् वे परस्पर निषिध क्षेत्रो मे अस्तित्व रखते हैं। इस अर्थ मे सत् की यह परिभाषा दी जा सकती है कि वह असत् से विरोधी होने का धर्म है तथा असत् की यह परिभाषा दी जा सकती है कि वह सत् के रूप मे अभिव्यक्त होने की अयोग्यता है। यह तर्क किया जा सकता है कि इस अर्थ मे जगत-प्रपच को सत् और असत् से भिन्न नही माना जा सकता। इसका उत्तर है कि—यह मत मानकर कि सत् और असत् अपने स्वरूप मे इस रूप मे ऐकान्तिक नही होते है कि—सत् के अभाव को असत् कहा जाय तथा असत् के अभाव को सत् कहा जाय, बल्कि इस रूप मे कि एक की अनुपस्थिति मे अन्य की उपस्थिति होती है, एक ऐसी सम्भावना रक्खी गई है जिसके फलस्वरूप दोनो एक ही काल मे अनुपस्थित रह सके। इस प्रकार, यदि नित्यता एव अनित्यता की विनाश से सबधित-सत् एव विनाश से असबधित-सत् के रूप मे परिभाषा दी जाय तो उन दोनो का सामान्यता मे अभाव हो सकता है, जिसमे कोई सत् नही होता, और पुन, यदि नित्यता की भविष्य मे किसी परिसीमा के अभाव के रूप मे परिभाषा दी जाय, और अनित्यता की परिभाषा सत् के अतिरिक्त सकल वस्तुओ के विनाशत्व के रूप मे दी जाय तो 'प्रागभाव' की एक ऐसी सत्ता के रूप मे परिभाषा दी जा सकती है जिसमे न सत्ता है और न असत्ता है, क्योकि एक ध्वसाभाव का एक भविष्य होता है तथा साथ ही एक भावात्मक सत्ता के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु के द्वारा उसकी समाप्ति नही की जा सकती, अतएव उपर्युक्त अर्थों मे उसमे न नित्यता होती है और न अनित्यता। इसलिए मिथ्या रजत मिथ्या होने के कारण न तो व्याघात-योग्य मानी जा सकती है और न व्याघात-रहित कही जा सकती है। किन्तु प्रतिपक्षी यह तर्क करता है कि यह उदाहरण सर्वथा अप्रासगिक है, चूंकि 'सामान्य' का कोई विनाश नही होता अतएव वह अनित्य है, तथा प्रागभाव अनित्य है क्योकि वह विनष्ट होता है। इसका मधुसूदन यह उत्तर देते हैं कि शकरवादी अपनी बात केवल इस उदाहरण से ही सिद्ध नही करते, किन्तु अपनी मान्यता के समर्थन मे अन्य प्रमाणो के पूरक के रूप मे ही उक्त उदाहरण को प्रस्तुत करते हैं। जगत्-प्रपच मे सत् एव असत् के धर्म, बिना विरोध के इसलिए पाये जाते हैं कि कल्पित वस्तुओ (सत् एव असत्) के धर्म होने के कारण

एक दूसरे का व्याघात नही करते।[1] यदि एक वस्तु एक यथार्थ अर्थ मे अनित्य नही मानी जाती है, तो उसे तभी तक अनित्य मानने मे कोई व्याघात नही है जब तक उसका अस्तित्व बना रहता है। व्यासतीर्थ की इस आलोचना के विरुद्ध कि यदि जगत्-प्रपच किसी वस्तु द्वारा किन्ही भी कारणो से अनिर्वचनीय कहा जाता है तो उसका वह कथन स्वय एक स्वीकारोक्ति है, अतएव यहाँ एक व्याघात हो जाता है मधुसूदन उक्त युक्तियाँ देते हुए कहते है कि तात्त्विक धर्मों के अभाव को इस आधार पर स्वीकार करने मे कोई व्याघात नही होता कि उक्त धर्म कल्पित है।[2] सत् एव असत् दोनो के रूप मे अनिर्वचनीय होने का अर्थ यह है कि विचाराधीन वस्तु मे इन दोनो का व्याघात पाया जाता है। जब यह कहा जाता है कि कल्पित जगत्-प्रपच दृश्य,अदृश्य, बाध अथवा अबाध योग्य नही होना चाहिए, तब एक भ्रान्ति हो जाती है, क्योकि वह निश्चय ही किसी यथार्थ अर्थ मे उक्त स्वीकारोक्तियो से परे है, किन्तु उक्त धर्मों को कल्पित आभासो के रूप मे स्वीकार करने मे कोई विसगति नही है, चूँकि वे सकल अनुभव मे उक्त रूपो मे प्रस्तुत किये जाते है। साराश यह है कि, जब विरोधी धर्म स्वय काल्पनिक होते हैं, तब किसी एक विशेष वस्तु के सबध मे उनके पारस्परिक निषेध मे कोई विसगति नही होती, यदि पारस्परिक निषेध अतात्त्विक है तो उनकी पारस्परिक स्वीकृति भी अतात्त्विक है। व्यासतीर्थ तर्क करते है कि जगत्-प्रपच के 'अनिर्वाच्यत्व' का यह अर्थ नही हो सकता कि वह सत् अथवा असत् का आश्रय नही है, क्योकि असत् और ब्रह्मन् दोनो गुण-रहित होने के कारण जगत्-प्रपच की उक्त अवस्थाओ को सतुष्ट करेंगे, और वे भी अनिर्वचनीय कहलाने के अधिकारी होंगे। यह नही कहा जा सकता कि ब्रह्मन् को कल्पित सत्ता आश्रय माना जा सकता है, क्योकि इसका उत्तर यह है कि जगत्-प्रपच के सबध मे भी यही कहा जा सकता है। पुन चूँकि ब्रह्मन् गुण-रहित है, अत यदि उसके सम्बन्ध मे सत् का निषेध किया जाय, तो सत् के अभाव का भी निषेध नही किया जा सकता, इसलिए, यदि सत् एव सत् के अभाव का ब्रह्मन् के प्रति निषेध किया जाय तो ब्रह्मन् स्वय अनिर्वचनीय हो जाता है। मधुसूदन का उत्तर यह है कि जगत्-प्रपच मे सत् और असत् दोनो का निषेध केवल इस अर्थ मे अनिर्वचनीय है कि उक्त निषेध जगत्-प्रपच पर तभी तक लागू होता है जब तक वह विद्यमान है, जबकि ब्रह्मन् मे उक्त निषेध निरपेक्ष होता है। जहाँ व्यासतीर्थ की युक्ति का बल इस तथ्य पर है कि सत् और असत् दोनो का एक ही काल मे निषेध

[1] धर्मिण्येव कल्पितत्वेन विरुद्धयोरपि धर्मयोरभावात्।

—वही, पृ० ६२२।

[2] अतात्त्विक हेतु-सद्भावेन तात्त्विक-धर्माभावस्य साधनेन व्याघाताभावात्।

—वही, पृ० ६२३।

नही किया जा सकता, वहाँ मधुसूदन तर्क करते हैं कि, चूँकि सत् का निषेध और उसकी स्वीकृति एक ही स्तर के नहीं होते हैं (परवर्ती 'व्यावहारिक' स्तर की होती है), अत उसकी एक ही काल मे स्वीकृति मे कोई व्याघात नहीं होता। इसी प्रकार मधुसूदन यह तर्क करते हैं कि ब्रह्मन् मे गुणो का निषेध (निर्विशेषत्व) स्वय एक गुण नही माना जाना चाहिए, क्योंकि जिस गुण का निषेध किया जाता है वह कल्पित होता है अतएव उसका निषेध स्वय एक गुण नही होता है। व्यासतीर्थ आगे आग्रह करते हैं कि शकरवादियो की युक्ति को विचारधारा का अनुसरण करते हुए कोई यह भी कह सकता है कि प्रतिभासिक शुक्ति-रजत का व्यावहारिक शुक्ति के द्वारा कोई बाध नही हो सकता, क्योंकि दोनो दो भिन्न स्तर की सत्ताएं हैं। इसका मधुसूदन यह उत्तर देते है कि प्रातिभासिक सत्ता एव व्यावहारिक सत्ता दोनो 'साक्षि-चैतन्य' द्वारा ग्रहण किये जाते है, तथा इसी मे उनकी एक रूपता एव एक का दूसरे द्वारा व्याघात निहित होते है, प्रातिभासिक का व्यावहारिक के द्वारा कोई अपरोक्ष बाध नहीं होता, अतएव व्यासतीर्थ की आलोचना असफल हो जाती है।

भ्रम का स्वरूप

भ्रम के स्वरूप का वर्णन करते हुए व्यासतीर्थ कहते है कि जब रजत का अव-चेतन सस्कार जाग्रत होता है, तब ज्ञानेन्द्रियाँ विशिष्ट दोषो से सवधित होने के कारण शुक्ति 'इद' को रजत के साहचर्य मे गहण करती है। इसलिए किसी काल्पनिक रजत की कोई उत्पत्ति नही होती, जैसाकि शकरवादी अभिकथन करते है, रजत विद्यमान न होने के कारण, उत्तरवर्ती प्रत्यक्षीकरण यह प्रत्यक्ष वता देता है कि केवल मिथ्या रजत ही का भास हुआ था। यहाँ अनुमान का भी वहुत उपयुक्त स्थान है, क्योकि जो भी मिथ्या ज्ञान है वह असत् वस्तुओ का निर्देश इसलिए करता है कि वे सत् नही होती। व्यासतीर्थ आगे यह निर्देश करते है कि उनका भ्रम-सवधी मत (अन्यथा-ख्याति) बौद्धो के भ्रम-सवधी मत (असत्-ख्याति) से इस वात मे भिन्न है कि बौद्ध-मत मे 'यह रजत है' प्रतिभास पूर्णत मिथ्या होता है, जबकि व्यासतीर्थ के मत मे 'यह' सत्य होता है, यद्यपि 'रजत' के साथ उसका साहचर्य मिथ्या है।

व्यासतीर्थ आगे निर्देश करते है कि यदि मिथ्या रजत को 'अज्ञान' की एक उपज मान लिया जाय तो यह मानना गलत होगा कि वह त्रिकाल-निषेध-योग्य है, क्योकि यदि वह 'अज्ञान' की उपज होती, तो वह अस्तित्व मे होती और निषेध योग्य नही होती। यह कहना भी गलत है कि मिथ्या आभास का निषेध उसके यथार्थ के सबध
- है क्योकि आभास के मिथ्या होने के लिए आवश्यक है कि निषेध उसे यथार्थ
...ा आभास के रूप मे अस्वीकृत करे, चूंकि उसकी यथार्थता का
...ा होगा और उक्त सत्ता को मिथ्या नही बना सकेगा।

व्यासतीर्थ ने तर्क किया था कि, चूंकि ब्रह्मन् विवाद का विषय है और चूंकि उसके स्वरूप के सम्बन्ध में संशय है, ऐसे संशयों के निवारण का अर्थ किसी भावात्मक स्वरूप की स्वीकारोक्ति है। इसके अतिरिक्त, तर्क-वाक्य शब्दों से निर्मित होते हैं, और यदि यह माना जाय कि कोई भी संघटक शब्द गौण अर्थ में ब्रह्मन् का निर्देश करता है, तो उक्त गौण अर्थ को मुख्य अर्थ से सम्बन्धित करना पड़ता है, क्योंकि नियमानुसार जब प्रसंग के द्वारा मुख्य अर्थ भ्रान्ति में पड़ जाता है तब गौण अर्थों की प्राप्ति एक मुख्य अर्थ के साहचर्य के द्वारा ही की जा सकती है। द्वितीय आपत्ति के उत्तर में मधुसूदन कहते हैं कि एक शब्द गौण अर्थ अपरोक्ष रूप में प्रदान कर सकता है, तथा उसमें अनिवार्यतः मुख्य अर्थ की भ्रान्ति का समावेश नहीं होता। प्रथम आपत्ति के प्रति मधुसूदन का उत्तर यह है कि ब्रह्मन् का अभेदात्मक स्वरूप अनिवार्यतः किसी स्वीकारात्मक धर्म के द्वारा ज्ञात नहीं किया जा सकता, वरन् सर्व विरोधी प्रत्ययों के निषेध के द्वारा ज्ञात किया जा सकता है। यदि यह आपत्ति की जाय कि ऐसे विरोधात्मक प्रत्ययों के निषेध में अनिवार्यतः इस बात का समावेश हो जायगा कि वे प्रत्यय ब्रह्म-ज्ञान के संघटक हैं, तो मधुसूदन का उत्तर यह है कि विरोधात्मक प्रत्ययों का ऐसा निषेध ब्रह्मन् का स्वरूप होने के कारण, वह किसी विशेष सत्ता की अभिव्यक्ति की प्रतीक्षा किये बिना अपरोक्ष रूप से अभिव्यक्त एवं ज्ञात होता है। विशेष अर्थों के साहचर्य को समाविष्ट करने वाले साधारण तर्क-वाक्यों के कार्य-व्यापार की व्याख्या इस रूप में की जानी चाहिए कि वे विशेष अर्थों के साहचर्य का उल्लेख करने वाले तर्क-वाक्य के संघटकों से परे एक अविभक्त एवं अविशिष्ट अंगी की अभिव्यक्ति को प्रेरित करते हैं।

व्यासतीर्थ तर्क करते हैं कि यदि ब्रह्मन् को भेद-रहित माना जाता है, तो वह ज्ञान अथवा विशुद्ध आनन्द में एक-रूप नहीं माना जा सकता, अथवा एक व नित्य, या 'साक्षि-चैतन्य' नहीं माना जा सकता। ब्रह्मन् शुद्ध चैतन्य नहीं हो सकता, क्योंकि चैतन्य का अर्थ विषयों की अभिव्यक्ति नहीं हो सकता, चूंकि मोक्ष में अभिव्यक्त होने के लिये कोई विषय शेष नहीं रहते। इसके प्रति मधुसूदन का उत्तर यह है कि, यद्यपि मोक्ष में कोई विषय नहीं होते, तथापि उस कारण से उसके प्रकाशक स्वरूप की कोई हानि नहीं होती। व्यासतीर्थ के इस सुझाव के प्रति कि ब्रह्मन् ऐसा विशुद्ध आनन्द नहीं माना जा सकता जिसकी व्याख्या 'अनुकूल-वेदनत्व' अथवा केवल 'अनुकूलत्व' के रूप में की जा सके, चूंकि इसमें इस आलोचना का समावेश हो जायगा कि उक्त अनुकूलत्व किसी बाह्य उपाधि के कारण होता है, मधुसूदन का उत्तर यह है कि ब्रह्मन् निरुपाधिक इष्टता (निरुपाधिकेष्टत्वरूपत्वात्) के रूप में सकल्पित विशुद्ध आनन्द माना जाता है। मधुसूदन का आग्रह है कि इसका अर्थ दुःख का अभाव नहीं हो सकता, क्योंकि दुःख का अभाव आनन्द से भिन्न होता है तथा उक्त परिभाषा लागू

होने के लिए यह आवश्यक है कि दु ख का अभाव आनन्द की स्थापना को उत्पन्न करे। व्यासतीर्थ आगे तर्क करते हैं कि यदि यह निरुपाधिक इष्टता स्वय सोपाधिक नही हो सकती, तो ब्रह्मन् का आनन्दमय स्वरूप कुछ उपाधियो का फल होना चाहिए। इसके अतिरिक्त, यदि विशुद्ध आनन्द के रूप मे ब्रह्मन् का स्वरूप विशुद्ध ज्ञान के रूप मे उसके स्वरूप से भिन्न हो, तो दोनो दृष्टिकोण एकागी हैं, और, यदि उनमे तादात्म्य है, तो ब्रह्मन् को विशुद्ध ज्ञान एव विशुद्ध आनन्द दोनो प्रकार से सबोधित करना व्यर्थ है। इसका मधुसूदन यह उत्तर देते हैं कि, यद्यपि ज्ञान एव आनन्द एक-रूप हैं, तथापि कल्पित शाब्दिक प्रयोग के द्वारा उनका भिन्न रूप मे कथन किया जाता है। वे आगे आग्रह करते हैं कि विषय-रहित विशुद्ध ज्ञान की विशुद्ध आनन्द के रूप मे परिभाषा दी जाती है,[१] विशुद्ध आनन्द विशुद्ध द्रष्टा (दृगनतिरेकात्) के अतिरिक्त कुछ भी नही होता। इस मत के अनुसार पुन आनन्द एव उसकी चेतना मे कोई भेद नही है। व्यासतीर्थ तर्क करते है कि, यदि ब्रह्मन् को अद्वैत माना जाता है, तो उसमे द्वैत के अभाव का समावेश हो जाता है। यदि ऐसा अभाव मिथ्या है, तो ब्रह्मन् द्वैतमय हो जाता है, और, यदि ऐसे अभाव की स्वीकृति की जाय तो भी ब्रह्मन् द्वैतमय हो जाता है, क्योकि उसमे अभाव की स्वीकृति का समावेश हो जाता है। इसके प्रति मधुसूदन का उत्तर यह है कि अभाव की यथार्थता एक ऐसे आश्रय से अधिक कुछ भी नही है जिसमे अभाव की स्वीकृति की जाती है, उस दशा मे अभाव का अर्थ ब्रह्मन् के अतिरिक्त कुछ भी नही होगा, अतएव यह आलोचना अवैध है कि अभाव की स्वीकृति मे द्वैत का समावेश हो जायगा।

"साक्षि-चैतन्य' के सम्बन्ध मे व्यासतीर्थ तर्क करते हैं कि विशुद्ध सत् के रूप मे 'साक्षि' की परिभाषा पाणिनि की परिभाषानुसार उक्त शब्द के पारिभाषिक अर्थ मे अमान्य है। इसके प्रति मधुसूदन का उत्तर यह है कि 'साक्षि' को 'अविद्या' मे अथवा उसके रूपान्तरण मे प्रतिविम्बित शुद्ध चैतन्य के रूप मे परिभाषित किया जा सकता है, और इस प्रकार विशुद्ध सत् भी अपने प्रतिबिम्बि के द्वारा 'द्रष्टा' माना जा सकता है। इस आधार पर उठाई गई चक्रक हेत्वाभास सम्बन्धी आपत्ति प्रभावहीन रहती है कि परावर्तन की उपाधियो एव द्रष्टा की योग्यता मे अन्योन्याश्रय होता है, क्योकि उक्त अन्योन्याश्रय अनादि होता है। मधुसूदन के अनुसार 'साक्षि-चैतन्य' न तो शुद्ध ब्रह्मन् होता है और न 'बुद्धि' से उपाधिकृत ब्रह्मन् होता है, बल्कि 'अविद्या' अथवा उसके रूपान्तरण मे प्रतिविम्बित चैतन्य होता है, 'साक्षि-चैतन्य' यद्यपि सभी द्रष्टाओ मे एक होता है, तथापि वह प्रत्येक विशेष द्रष्टा से एकरूप होकर व्यवहार करता है, और इस प्रकार एक विशेष द्रष्टा के अनुभव उक्त विशेष द्रष्टा से तादात्म्यीकृत 'साक्षि-

[१] एतेन विषयानुल्लेखि-ज्ञानमेवानन्दमित्यपि युक्तम्। —'अद्वैत-सिद्धि', पृ० ७५१।

चैतन्य' द्वारा प्रत्यक्ष किये जाते हैं, अतएव इस आधार पर विभिन्न जीवो के अनुभवो मे सम्भ्राति होने की कोई सभावना नही रहती कि 'साक्षि-चैतन्य' स्वय सर्व-साधारण होता है।[1]

ब्रह्मन् का उपादान एवं निमित्त कारण के रूप में खण्डन

व्यासतीर्थ कहते है कि एक उपादान कारण कार्य को उत्पन्न करने मे सदा रूपान्तरित होता है, किन्तु ब्रह्मन् अपरिवर्तनशील माना जाता है, अतएव वह उपादान कारण नही हो सकता। परन्तु, इस सम्बन्ध मे तीन मत हैं–अर्थात्, ब्रह्मन् और 'माया' सयुक्त रूप से ठीक वैसे ही जगत के कारण है जैसे दो धागे मिलकर एक रस्सी को बनाते है, अथवा अपनी शक्ति 'माया' के सहित ब्रह्मन् कारण है, अथवा 'माया' के अधिष्ठान के रूप मे ब्रह्मन् कारण है। यहाँ सामजस्य इस प्रकार किया जाता है कि ब्रह्मन् अपरिवर्तनशील उसी सीमा तक कहा जाता है जहाँ तक वह सयुक्त कारण अथवा शक्ति अथवा निमित्त के रूप मे माया से असबधित होता है। इसके प्रति व्यासतीर्थ कहते हैं कि, यदि स्थायी रूप से यथार्थ ब्रह्मन् जगत का उपादान कारण है, तो यह आशा की जा सकती है कि जगत् भी वैसा ही है। यदि यह कहा जाय कि उपादान कारण के लक्षण कार्य मे अन्तर्निहित नही होते, वरन् उसका एक ज्ञान ही का उसके साथ किसी प्रकार से साहचर्य होता है, तो इस तथ्य के कारण कि जगत्-प्रपच 'माया' से निर्मित होता है उसे 'अनिर्वचनीय' नही कहा जा सकता। यदि उक्त उपादान कारण की अपरिवर्तनशील पक्ष के अर्थ मे लिया जाय तो 'माया' से सबधित ब्रह्मन् जगत् का उपादान कारण नही कहा जा सकता, चूकि केवल माया से असबधित ब्रह्म ही अपरिवर्तनशील कहा जा सकता है। यदि यह आग्रह किया जाय कि परिवर्तन विशेषण (माया) मे होते हैं, तो चूकि ऐसा विशेषण विशेष्य मे अन्तर्निहित होता है अथवा उससे अपृथक् साहचर्य रखता है, इसलिए विशेषण के परिवर्तनो मे विशेष्य के परिवर्तन का समावेश हो जाता है, और इस प्रकार 'विवर्त' मत का खण्डन हो जाता है। यदि अधिष्ठान, ब्रह्मन् को किसी यथार्थ परिवर्तन से रहित माना जाय, तो यह मानना अयुक्तियुक्त है कि ऐसा अधिष्ठान, अपनी शक्ति अथवा विशेषण के साहचर्य मे, यथार्थ परिवर्तन का भागी होगा, यदि यह आग्रह किया जाय कि उपादान कारण की परिभाषा भ्रम के अधिष्ठान के रूप मे दी जा सकती है, तो यह निर्देश किया जा सकता है कि पृथ्वी को कभी भी एक भ्रम का अधिष्ठान नही माना जाता, और न शुक्ति को शुक्ति-रजत का उपादान कारण माना जा सकता है।

---

[1] सर्व–जीव–साधारणेपि तत्-तज्जीव-[illegible] [illegible]-भासकतया प्रतिप्रमाणानाराम् । —वही, पृ० ३५४ ।

मधुसूदन का उत्तर यह है कि ब्रह्मन् ऐसे अधिष्ठान के रूप मे बना रहता है जो 'माया' के रूपान्तरणो को सम्भव बनाता है। ब्रह्मन् का 'माया' से अधिक व्यापक अस्तित्व होता है, अतएव वह 'माया' के परिवर्तनो मे भाग नही ले सकता। आगे यह आपत्ति वैध नही है कि, यदि ब्रह्मन् यथार्थ है तो जगत् भी उसका कार्य होने के नाते यथार्थ होना चाहिए, क्योकि केवल रूपान्तरित होने वाले कारण (यथा पृथ्वी अथवा स्वर्ण के) के धर्म ही कार्य मे प्रविष्ट होते हुए पाये जाते है, जबकि ब्रह्मन् अधिष्ठान कारण होने के नाते हमे कोई ऐसा सादृश्य उपलब्ध नही है जिसके आधार पर हम यह आशा करें कि वह अपने कार्य मे प्रविष्ट हो जाना चाहिए।

व्यासतीर्थ आगे कहते है कि जैसे कोई घटो के अस्तित्व का कथन करता है ठीक वैसे ही कोई काल्पनिक सत्ताओ के अनस्तित्व का कथन कर सकता है, किन्तु उसमें इस कथन की पूर्व-कल्पना नही होती कि अनस्तित्व काल्पनिक सत्ताओ का उपादान कारण होता है। पुन, यदि ब्रह्मन् जगत् का उपादान कारण होता तो, चू कि ब्रह्मन् विशुद्ध आनन्द है, इसलिए जगत से भी आनन्द-स्वरूप होने की आशा की जानी चाहिए, जो वह नही है। पुन, कारणता के 'विवर्तवादी' मत के अनुसार एक उपादान कारण के कथन मे कोई अर्थ नही होता। इसके अतिरिक्त, यदि ब्रह्मन् उपादान कारण है, तो 'अन्त करण' का दु'ख एव अन्य सासारिक अनुभवो के उपादान एव परिणामवादी कारण के रूप मे कथन नही किया जा सकता।

शकरवादियो के इस तर्क का परीक्षण करते हुए कि ब्रह्मन् स्व-प्रकाश है, व्यास-तीर्थ कहते है कि 'स्व-प्रकाश' पद के अर्थ को पहले स्पष्ट करना चाहिए। यदि उसका अर्थ यह है कि ब्रह्मन् किसी भी मानसिक वृत्ति का विषय नही बन सकता, तो गुरु एव शिष्य के मध्य ब्रह्मन् के स्वरूप के सबध मे कोई विचार-विमर्श नही हो सकता, क्योकि विचार-विमर्श तभी हो सकता है यदि ब्रह्मन् एक मानसिक वृत्ति का विषय हो। यदि यह आग्रह किया जाय कि ब्रह्मन् इस अर्थ मे स्वप्रकाश है कि, यद्यपि वह ज्ञान का विषय नही होता तथापि उसका सदा अपरोक्ष ज्ञान होता है तो यह निर्देश किया जा सकता है कि उक्त परिभाषा खण्डित हो जाती है, चू कि सुषुप्ति तथा प्रलय मे ब्रह्मन् का ऐसा कोई अपरोक्ष ज्ञान नही हुआ करता। यह नही कहा जा सकता कि, यद्यपि सुषुप्ति मे ब्रह्मन् का अपरोक्ष ज्ञान नही किया जा सकता, तथापि उसमे उक्त रूप से ज्ञात होने की 'योग्यता' होती है, क्योकि मोक्ष मे, कोई धर्म अथवा गुण न होने के कारण यह असम्भव है कि ऐसी योग्यताओ का इस प्रकार अस्तित्व हो।

यदि उक्त योग्यता की निषेधात्मक परिभाषा दी जाय, तो निषेध जगत्-प्रपच का एक पदार्थ होने के कारण ब्रह्मन् मे उसका अस्तित्व नही माना जा सकता। इसके अतिरिक्त, यदि ब्रह्मन् किसी भी रूप मे ज्ञानात्मक कर्म का फल नही माना जा सकता,

तो यह तथ्य अव्याख्येय रह जायगा कि वह ब्रह्मत्व को उत्पन्न करने वाले चरम ज्ञान के उत्कर्ष-काल मे प्रकाशित हो उठता है। न यह तर्क किया जा सकता है कि शुद्ध चैतन्य स्व-प्रकाश अथवा अवेद्य है, क्योकि वह शुद्ध चैतन्य है, चूंकि जो शुद्ध चैतन्य नही है वह स्वप्रकाश नही होता, क्योकि एक गुण होने के कारण अवेद्यत्व का कही न कही अस्तित्व होना चाहिए, और यदि वह अन्य सर्व स्थानो में अनुपस्थित है, तो व्यतिरेक के द्वारा कम से कम शुद्ध चैतन्य मे उपस्थित होना चाहिए। किन्तु यह आग्रह किया जा सकता है कि, यदि शुद्ध चैतन्य स्व-प्रकाश हो भी, तो उसमे आत्मन् का स्वप्रकाशत्व सिद्ध नही होता। इसका स्पष्ट उत्तर यह है कि आत्मन् का शुद्ध चैतन्य से तादात्म्य होता है। इसके प्रति व्यासतीर्थ की आपत्ति यह है कि चूंकि आत्मन् मे किसी प्रकार का गुण नही हो सकता, इसलिए यह तर्क नही किया जा सकता कि उसमे स्वप्रकाशत्व का एक भावात्मक गुण के रूप मे अथवा उसके अभाव के रूप मे, अथवा योग्यता के रूप मे अस्तित्व होता है। क्योकि सर्व योग्यता स्वरूपत ब्रह्मन् से बाह्य होने के कारण मिथ्या होती है तथा जो मिथ्या होता है उसका ब्रह्मन् से साहचर्य नही हो सकता। यदि अवेद्यत्व की यह परिभाषा दी जाती है कि वह एक मानसिक वृत्ति की प्रक्रिया की उपज नही होता (फल व्याप्यत्व), और यदि उक्त अवेद्यत्व ब्रह्मन् का यथेष्ट विवरण माना जाय, तो, चूंकि एक घट अथवा मिथ्या रजत अथवा सुख-दुःख के प्रत्यक्ष मे भी उक्त शर्त पूरी हो जाती है इसलिए उक्त परिभाषा अतिव्याप्त है, और चूंकि ब्रह्मन् का प्रकाशत्व स्वय चरम मानसिक वृत्ति के विनाश की प्रक्रिया की उपज है, इसलिए उक्त परिभाषा अव्याप्त है।[1] यह नही कहा जा सकता कि 'फल-व्याप्यत्व' का अर्थ एक मानसिक वृत्ति मे से प्रतिबिम्बित चैतन्य के द्वारा उत्पन्न एक विशेषता है, तथा उक्त विशेषता एक आवरण के नष्ट होने के अवसर पर चैतन्य के बिना स्थापित सवधीकरण है, तथा उक्त 'फल-व्याप्यत्व' घट मे स्थित रहता है न कि आत्मन् मे। न यह कहा जा सकता है कि 'फल-व्याप्यत्व' का अर्थ एक वृत्ति मे से प्रतिबिम्बित चैतन्य के द्वारा अभिव्यक्त अधिष्ठान के चिद् विषय का होना है। क्योकि शकरवादी यह नही मानते कि घट एक 'वृत्ति' मे से प्रतिबिम्बित शुद्ध चैतन्य का एक विषय होता है, वरन् यह मानते है कि वह एक वृत्ति का प्रत्यक्ष विषय होता है। अत यह सुझाव देना गलत है कि 'फल-व्याप्यत्व' की परिभाषा ऐसी होती है कि वह घट आदि पर लागू होती है और ब्रह्म पर नही। चित्सुख के द्वारा चैतन्य का विशुद्ध स्व-प्रकाशत्व निर्-विषयता माना जाता है, और यदि ऐसा है तो, ब्रह्मन् सदा निर्-विषय होना चाहिए

तथा उसका चिद्-अविषयत्व, अथवा अवेद्यत्व के रूप मे वर्णन असंगत होगा। पर चित्सुख कहते है कि ब्रह्मन् 'चिद्-विषय' है, किन्तु चिद्-क्रिया का विषय नहीं है (चिदकर्मत्व)। यदि, चित्सुख का अनुसरण करते हुए 'अवेद्यत्व' उस वस्तु का पद माना जाय जो एक ज्ञानात्मक प्रक्रिया का विषय नही है, और यदि ज्ञानात्मक प्रक्रिया का अर्थ कोई यह लेता है कि चैतन्य एक विशेष वस्तुगत आकार के द्वारा अभिव्यक्त होता है, यथा एक घट के उदाहरण मे, तो चूंकि ब्रह्मन् भी चरम अवस्था मे तदनुरूप मानसिक वृत्ति के द्वारा अभिव्यक्त होता है, इसलिए ब्रह्मन् को भी ज्ञानात्मक प्रक्रिया का विषय माना जाना चाहिए, अन्यथा, एक घट के प्रत्यक्ष के उदाहरण मे और ब्रह्मन् के उदाहरण मे कोई अन्तर न होने के कारण एक घट भी ज्ञानात्मक प्रक्रिया का विषय नही माना जा सकता। यदि यह आग्रह किया जाय कि वेद्यत्व का अर्थ ज्ञान की प्रक्रिया के कारण कुछ विशिष्ट परिवर्तनो की प्राप्ति होना है, तो भी ब्रह्मन् घट के समान ही एक विषय होगा, क्योंकि, जिस प्रकार एक घट के उदाहरण मे ज्ञानात्मक प्रक्रिया उस आवरण के निवारण मे फलित होती है, जो घट की अभिव्यक्ति को अवरुद्ध कर रहा था, ठीक उसी प्रकार चरम ब्रह्म-ज्ञान जो एक बौद्धिक प्रक्रिया है, ब्रह्मन् की अभिव्यक्ति के अवरोध की निवृत्ति मे फलित होता है। ज्ञान की प्रक्रिया मे सन्निहित विषयता को ज्ञानात्मक व्यापार मे समाविष्ट क्रिया के द्वारा कुछ फलो की प्राप्ति के रूप मे नही माना जा सकता, क्योंकि शुद्ध चैतन्य एक क्रिया नहीं है, इसलिए ज्ञानात्मक व्यापार की क्रिया के कारण उन विषयो मे (यथा घट, आदि) भी किसी ऐसे फल की उत्पत्ति सम्भव नही है जो सर्व-सम्मति से ज्ञान के विषय माने जाते हैं। यदि एक मानसिक वृत्ति मे से प्रतिबिम्बित होने को ज्ञानात्मक क्रिया माना जाय, तो वह ब्रह्मन् पर भी लागू होता है, क्योकि ब्रह्मन् भी चरम अवस्था मे ब्रह्मन् का प्रतिनिधित्व करने वाली एक मानसिक वृत्ति अथवा प्रत्यय में परावर्तित प्रतिबिम्ब का विषय होता है।

चित्सुख स्व-प्रकाशत्व की परिभाषा 'अपरोक्ष-व्यवहार-योग्यत्व' अर्थात् अपरोक्ष माने जाने की योग्यता के रूप मे देते है। अब इसके अर्थ के सबध मे एक विवाद खडा हो सकता है। यदि उसके द्वारा 'वह जो अपरोक्ष ज्ञान के द्वारा उत्पन्न होता है' की सूचना मिलती है, तो सद्गुण एव दुर्गुण को भी अपरोक्ष मानना पडेगा क्योकि उनका योगियो और देवताओ के ज्ञान द्वारा अपरोक्ष अन्तर्ज्ञान हो सकता है, और जब कोई यह अनुमित करता है कि उसमे सद्गुण अथवा दुर्गुण है तथा वह अन्तत उक्त अनुमान-जन्य ज्ञान का अपरोक्ष प्रत्यक्ष करता है, अथवा जब कोई आगमनात्मक तर्क-वाक्य (यथा, जो कुछ ज्ञेय है वह परिभाषा के योग्य है, जिसमे 'ज्ञेय' पद के अन्तर्गत सद्गुण एव दुर्गुण का समावेश होता है) मे सद्गुण अथवा दुर्गुण का अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त करता है, तब उसका यह कहना न्याय-सगत होगा कि सद्गुण एव दुर्गुण भी

अपरोक्ष है, और इस प्रकार प्रत्यक्षीकरण की अपरोक्षता ब्रह्मन् के वर्णन के रूप मे अति-व्याप्त होगी । इस प्रकार, यद्यपि सद्गुण एव दुर्गुण अपने स्वरूप मे ज्ञेय नही हैं, तथापि योगियो एव देवताओ के लिए उनका अपरोक्ष प्रत्यक्ष सम्भव होता है, तथा जहाँ तक उनके अनुमान के अपरोक्ष प्रत्यक्ष का सबध है हमारे लिए भी यही सम्भव है ।

यदि अपरोक्षता उसे सूचित करती है 'जो अपरोक्ष ज्ञान का विषय बन सके' और यदि इस अर्थ मे आत्मन् को अपरोक्ष माना जाय तो यह स्वीकार करना पडेगा कि घट की भाँति आत्मन् भी अपरोक्ष ज्ञान का विषय होता है ।[1] न यह तर्क किया जा सकता है कि किसी विषय की अपरोक्षता उसके ज्ञान की अपरोक्षता पर निर्भर करती है, पुन , व्यासतीर्थ तर्क करते हैं कि अपरोक्षता का यह अर्थ नही हो सकता कि अन्त-र्वस्तु अपरोक्षता के आकार की होती है (अपरोक्षित्याकार), क्योंकि यह स्वीकार किया जाता है कि वह विशुद्ध एव निराकार है तथा वेदान्त के उपदेशो के सबधातीत अन्तर्ज्ञान द्वारा उत्पन्न होता है ।

व्यासतीर्थ अपने 'न्यायामृत' मे यह सिद्ध करने का प्रयास करते है कि ब्रह्मन् गुण-सम्पन्न होता है, गुणो से रहित नहीं, जैसाकि शकरवादियो का तर्क है, वे तर्क करते हैं कि अधिकाश श्रुति-पाठ ब्रह्मन् के गुण-सम्पन्न होने का कथन करते हैं । ईश्वर सर्व गुणो से सम्पन्न होता है, क्योंकि वह उनकी इच्छा करता है तथा उनको रखने की उसमे योग्यता होती है, और वह सकल दुर्गुणो से रहित होता है क्योंकि वह उनकी इच्छा नही करता तथा स्वय को उनसे मुक्त करने की योग्यता रखता है । यह तर्क करना व्यर्थ है कि ब्रह्मन् के गुण-सम्पन्न होने का कथन केवल एक निम्न ब्रह्मन् का उल्लेख करता है, क्योंकि व्यासतीर्थ का आग्रह है कि श्रुति-पाठ सगुण के अतिरिक्त किसी भी अन्य प्रकार के ब्रह्मन् का कथन नही करते । यदि ब्रह्मन् वास्तव मे गुणो से रहित होता तो वह केवल एक 'शून्य', एक अभाव मात्र होता, क्योंकि सर्व अस्तित्व-मय द्रव्यो मे कुछ गुण होने चाहिए । व्यासतीर्थ आगे तर्क करते हैं कि चूंकि ब्रह्मन् जगत् का सृष्टा एव भर्त्ता है और वेदो का अधिकार-प्रदाता है, इसलिए उनके शरीर एव कर्मेन्द्रिया होनी चाहिए, यद्यपि वह शरीर प्राकृत जड शरीर नही होता (प्राकृता-वयवादिनिषेध-परत्वात्), और चूंकि उसका शरीर आध्यात्मिक है न कि भौतिक इसलिए शरीर के होते हुए भी वह अनन्त एव नित्य होता है, तथा उसका निवास-स्थान भी आध्यात्मिक एव नित्य है ।[1]

पुन, यह कहना गलत है कि ब्रह्मन् जगत् की उपादान सामग्री तथा जगत् के सृष्टा अथवा निर्माता के रूप मे जगत का उपादान एव निमित्त कारण दोनो है, क्योकि उपादान कारण परिणामो एव परिवर्तनो का भागी होता है, जबकि ब्रह्मन् अपरिवर्तनशील होता है। पुन ब्रह्मन् सदा स्वामी होता है और जीव सदा उसके भृत्य होते हैं, अत केवल ईश्वर ही 'नित्य मुक्त' होता है, जबकि जीव उसके नित्य सबधित एव बद्ध होते हैं।[1] 'गुण' 'प्रकृति' अथवा 'माया' मे स्थित रहते है, न कि जीवो मे, अतएव चू कि 'प्रकृति' के गुण जीवो मे नही होते है, इसलिए उनके द्वारा जीवो के बधन अथवा उनमे उनकी मुक्ति का कोई प्रश्न ही नही उठता। इसलिए, जिस किसी भी बधन मे 'गुण' जीवो को बाधते है वह केवल 'अविद्या' के कारण होता है। पुन, 'गुण' ईश्वर को प्रभावित नही कर सकते, क्योकि वे उसके 'अधीन' होते हैं। सब जीव केवल ईश्वर के एक अश से उत्पन्न हुए हैं तथा वह अश ईश्वर से इतना भिन्न होता है कि यद्यपि 'अविद्या' के कारण जीव, जो उक्त अश से उत्पन्न हुए हैं, बधन से पीडित हो सकते है, तथापि प्रभु स्वय ऐसे सर्व अज्ञान एव बधन से नित्य मुक्त रहता है।[2] जो 'माया' अथवा 'प्रकृति' जगत् का उपादान कारण होती है,

[1] मुक्तावपि स्वामि-भृत्य-भाव-सद्भावेन भक्त्यादि-बन्ध-सद्भावात् नित्य-बद्धत्व जीवस्य कृष्णस्य तु नित्य मुक्तत्वमेव।

—'युक्ति-मल्लिका 'पर' भाव विलासिनी' (पृ० १७६)।

[2] एकस्यैव ममाशस्य जीवस्यैव महामते
बन्धस्याविद्ययानादि विद्यया च तथेतर
स्व-भिन्नाशस्य जीवाख्या अजस्यैकस्य केवलम्
बन्धश्च बन्धान्मोक्षश्च न स्वस्येत्याह स प्रभु। —युक्ति-मल्लिका, पृ० १७६।

भाव-विलासिनी (पृ० १८५) भी यह निर्देश करती है कि यद्यपि परमेश्वर के पत्निया, शरीर एव 'वैकुण्ठ' मे स्वर्गीय निवास-स्थान होते हैं, तथापि वह इनमे बद्ध नही होता, क्योकि ये 'प्रकृति' के उपादान से निर्मित नही होते हैं, और उसमे 'प्रकृति' के गुणो का लेश-मात्र भी न होने के कारण वह पूर्णत स्वतत्र होता है, केवल 'प्रकृति' के उपादान का बन्धन ही एक बन्धन हो सकता है। किन्तु उसको 'प्रकृति' प्रभावित नही कर सकती, क्योकि वह उसका स्वामी होता है—'मम गुणा वस्तूनि च श्रुति–स्मृतिषु अप्राकृततया प्रसिद्धा'। इस प्रसग मे यह ध्यान देने की बात है कि मध्व-सम्प्रदाय 'माया' पद का तीन भिन्न अर्थों मे प्रयोग करता है (१) ईश्वर की इच्छा के रूप मे (हरेरिच्छा), (२) जड 'प्रकृति' के रूप मे (मायाख्या प्रकृतिर्जडा), और (३) 'माया' 'महामाया' अथवा 'अविद्या' के रूप मे जो भ्रम एव त्रुटियो का कारण होती है (भ्रम हेतुश्च मायैका मायेय

वह सूक्ष्म रेणुमयी अथवा सूक्ष्म तन्तुवत् होती है (सूक्ष्म-रेणुमयी सा च तन्तु-वायस्य' तन्तुवत), तथा ईश्वर उस उपादान से जगत् का निर्माण करता है।[1] यह 'प्रकृति' अष्टविध होती है, क्योकि उसके पाँच महाभूतो के रूप मे पाँच तथा 'मनस्' 'बुद्धि,' 'और अहकार' के रूप मे तीन परिणाम होते हैं। वह 'माया' जिसकी सहायता से ईश्वर जगत् की सृष्टि करता है, जगत् की जननी के समान होती है, और मध्व सम्प्रदाय की धर्मशास्त्रीय भाषा मे 'लक्ष्मी' कहलाती है। सृजनात्मक 'माया' अथवा हरि की इच्छा 'स्वरूप-माया' भी कहलाती है, क्योकि वह सदा प्रभु मे स्थित रहती है। 'प्रकृति' के रूप मे अथवा उसकी निर्देशक शक्ति (मयाश्रयिन्) के रूप मे 'माया' ईश्वर के बाहर होती है, किन्तु पूर्णत उसके नियन्त्रण मे होती है।[2]

'गीता' एव अन्य श्रुति-पाठो मे ईश्वर का उल्लेख इस रूप मे किया गया है कि उसके एक सार्वभौमि सर्वव्यापक शरीर होता है, किन्तु जैसाकि हम पहले कह चुके हैं, उसका शरीर एक आध्यात्मिक शरीर होता है, एक ज्ञानमय एव आनन्दमय शरीर (ज्ञानानन्दात्मको हय अर्मा)। उसका यह सार्वभौमि शरीर सर्व गुणो, 'माया' एव उसके प्रभावो से अतीत होता है। प्रभु का यह सार्वभौम सर्वातीत आध्यात्मिक शरीर आद्योपान्त आनन्द, ज्ञान एव लीला मे पूर्ण होता है।[3] यथार्थ दर्शन मे सर्वेश्वरवाद

त्रिविधा मता)। 'युक्ति-मल्लिका' पृ० १८८। एक अन्य मत भी है जो 'माया' को पाच प्रकार की मानता है, वह ईश्वर की शक्ति' एव 'तेजस्' का समावेश करता है।

[1] यह उपादान नैयायिको के परमाणुओ से भी अनन्तगुणा अधिक रेणुमय कहा जाता है (तार्किकाभिमत परमाणुतोऽप्यनन्त गुणित सूक्ष्म-रेणुमयी) 'भाव-विलासिनी' पृ० १८६। श्रीमद्भागवत जो मध्व एव उनके अनुयायियो द्वारा प्रामाणिक माना जाता है, वासुदेव, सकर्षण, प्रद्युम्न एव अनिरुद्ध की चार पत्नियो का 'माया' 'जया' 'कृति' एव 'शान्ति' के रूप मे वर्णन करता है, जो वासुदेव, सकर्षण प्रद्युम्न, एव अनिरुद्ध के रूप मे हरि के चार रूपो के अनुरूप देवी 'श्री' के चार रूप मात्र है।

के लिए कोई स्थान नहीं होता, अतएव उन वैदिक अवतरणों की, जो जगत् एव ईश्वर के तादात्म्य को अनुमोदित करते हुए प्रतीत होते हैं, इस रूप में व्याख्या की जानी चाहिए कि वे ईश्वर की सर्व-नियन्त्रक शक्ति का वर्णन करते हैं।[1] पुन, जब यह कहा जाता है कि जीव ईश्वर के अंश हैं, तब उसका यह तात्पर्य नहीं होता कि वे किसी दिवकीय अर्थ मे अथवा किसी ऐसे वास्तविक विभाजन के अर्थ में, जैसाकि भौतिक विषयो का किया जा सकता है, अंश होते है। उसका अर्थ केवल यही होता है कि जीव कुछ बातो मे ईश्वर के सदृश होते है और साथ ही उनसे बहुत न्यून होते हैं।[2]

इस सबध मे यह निर्देश किया जा सकता है कि जैसे ईश्वर सर्व-व्यापी है वैसे जीव स्वरूपत परमाण्वीय होते है। यद्यपि सर्वव्यापी चैतन्य गुण से सम्पन्न होने के कारण वे एक ऐसे दीपक की भाति अपने शरीर के किसी भी भाग का सदा स्पर्शानुभव कर सकते है जो एक स्थान मे रहकर भी अपनी किरणो के द्वारा चारो ओर के स्थानो को प्रकाशित कर सकता है।[3]

प्रलय के अन्त मे ईश्वर सृष्टि की इच्छा करता है, और अपनी इच्छा के द्वारा 'प्रकृति' की साम्यावस्था को विक्षुब्ध करता है तथा उसके तीन 'गुणो' को पृथक् करता है और फिर 'महत्,' 'बुद्धि,' 'मनस्' के विभिन्न पदार्थ एव पच महाभूत तथा उनके अभिमानी देवताओ का सृजन करता है, फिर वह सम्पूर्ण सचराचर जगत मे परिव्याप्त हो

हुए 'भाव-विलासिनी' (पृ० १९८) एक काल्पनिक व्युत्पत्यात्मक अर्थ देती है, वह कहती है कि प्रथम अक्षर 'श' का अर्थ है आनन्द, 'र' का अर्थ है 'क्रीडा' और 'ईर' का अर्थ है 'चैतन्य'। एक अन्य स्थान मे 'वरदराज' परमेश्वर के 'केवलानुभवानन्द स्वरूपी' तथा 'सर्व-बुद्धि-दृक्' होने का कथन करते हैं 'विदितोऽसि भवान् साक्षात् पुरुष प्रकृते पर केवलानुभवानन्दस्वरूपस् सर्व-बुद्धि-दृक्।'

—'युक्ति-मल्लिका,' पृ० २०१।

[1] अत पुरुषैवेति प्रथमा पचमी यदा
सदा सर्व-निमित्तत्व-महिमा, पु सि वर्ण्यते।
यदा तु सप्तमी सर्वाधारत्व वर्णयेत्तदा
सूक्तस्यैकार्थता चैव सत्येव स्यान्न चान्यथा। —वही, पृ० २११।

[2] 'तद्-सादृशत्वे सति ततो न्यूनत्व जीवस्य अशत्व न तु एकदेशत्व।'

—न्यायामृत, पृ० ६०६।

[3] 'न्यायामृत' पृ० ६१२, इस मत पर निश्चित रूप से आपत्ति की जाती है कि परमाण्वीय आत्मन् विभिन्न स्पर्शानुभवो के लिए विभिन्न क्रमागत क्षणो मे शरीर के विभिन्न भागो का स्पर्श करता है।

जाता है ।[1] अस्तित्व की सर्व अवस्थाओं में (यथा, जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, मूर्च्छा एव मोक्ष) ईश्वर ही अपनी अभिव्यक्ति के विविध रूपों द्वारा सर्व जीवोंका नियन्त्रण करता है, तथा इन अवस्थाओं के निर्माण में जगत की स्थिति को बनाए रखता है ।[2] जगत् का 'प्रलय' भी उसी की इच्छा से होता है ।[3] इसके अतिरिक्त सर्व जीवों में जो भी ज्ञान सासारिक अनुभव अथवा मोक्ष के लिए उत्पन्न होता है, और उक्त ज्ञान जिस किसी भी साधन से उत्पन्न किया जाता है, उनका एक सामान्य चरम कारण ईश्वर होता है ।[4]

मोक्ष

बधन सासारिक विषयों की आसक्ति के कारण होता है तथा मोक्ष ईश्वर के अपरोक्ष ज्ञान से उत्पन्न होता है (अपरोक्ष ज्ञान विष्णो) । यह अनेक प्रकार से उत्पन्न होता है, अर्थात् सासारिक जीवन के दु खों का अनुभव, सज्जनों का समागम, इस जगत् अथवा स्वर्ग में सुखों के उपभोग की सर्व इच्छाओं का त्याग, आत्म-सयम एव आत्म-विनिग्रह, स्वाध्याय, सद्गुरु के साथ ससर्ग, उसके उपदेशानुसार शास्त्रों का अध्ययन उन शास्त्रों के सत्य की अनुभूति, अपने विश्वास को दृढ करने के लिए सम्यक् अर्थ पर विचार-विमर्श, गुरु के प्रति समुचित श्रद्धा-भाव, अपने से हीन व्यक्तियों पर दया, समान व्यक्तियों से प्रेम, वरिष्ठ व्यक्तियों के प्रति आदर-भाव, सुख अथवा दु ख को उत्पन्न करने वाले कर्मों से निवृत्ति, निषिद्ध कर्मों से निवृत्ति, ईश्वर के प्रति पूर्ण शरणागति, पच भेदों की अनुभूति (ईश्वर-जीव, जीव-जीव, जीव-जगत्, ईश्वर-जगत्,

---

[1] 'पदार्थ-सग्रह-व्याख्यान,' पृ० १०६–८ ।

[2] उपरोक्त पाच अवस्थाओं (जाग्रत, स्वप्न आदि) को नियत्रित करने वाली परमेश्वर की पाँच अभिव्यक्तियाँ क्रमश 'प्राज्ञ,' 'विश्व,' 'तैजस्,' 'भगवान' और 'तुरीय भगवान्' कहलाती है ।

[3] इस सम्प्रदाय में दो प्रकार के 'प्रलय' होते है (अ) 'महाप्रलय' जिसमें 'प्रकृति' के अतिरिक्त समस्त वस्तुओं का नाश हो जाता है, केवल पूर्ण अधकार शेष रहता है, और क्रम-बद्ध क्षणों के रूप में काल की उत्पत्ति के अतिरिक्त 'प्रकृति' अपनी समस्त सृजनात्मक प्रक्रिया बन्द कर देती है ।

जड़-जड़-भेद), 'प्रकृति' और 'पुरुष' के भेद की अनुभूति, विभिन्न प्रकार के मानवों एव अन्य उच्च व निम्न प्राणियों के विशाल स्तर के भेद का परिज्ञान तथा सम्यक् 'उपासना'। यहाँ उल्लिखित गुरु, जिनसे उपदेश लेना चाहिए, दो भिन्न प्रकार के माने गए है—कुछ तो 'नित्य गुरु' होते है तथा अन्य केवल 'अनित्य गुरु' होते हैं। पूर्वोक्त तो वे होते है जो अपने शिष्यो के स्वभाव एव आवश्यकताओं को समझ सकते हैं तथा उन्हे ऐसा उचित उपदेश देते है जिनके द्वारा वे विष्णु की उस विशेष अभि-व्यक्ति का साक्षात्कार करने मे समर्थ बन सके जिसको प्राप्त करने की उनमे योग्यता हो, अनित्य गुरु वे होते है जो केवल हमे ईश्वर के सबध मे उपदेश देते है। एक अन्य अर्थ मे वे सभी व्यक्ति हमारे गुरु होते है जो ज्ञान एव धार्मिक अनुशासन मे हमसे श्रेष्ठ होते है। 'उपासना' के सबध मे यह कहा गया है कि वह दो प्रकार की होती है—धर्म एव दर्शन शास्त्रो के सतत अभ्यास के रूप मे उपासना तथा 'ध्यान' के रूप मे 'उपासना,'[1] क्योंकि कुछ व्यक्ति ऐसे होते है जो शास्त्रो के सम्यक् अभ्यास द्वारा प्रभु की यथार्थ एव अपरोक्ष अनुभूति को प्राप्त नही कर सकते, तथा अन्य ऐसे व्यक्ति होते है जो उसे ध्यान के द्वारा प्राप्त करते हैं। 'ध्यान' का अर्थ है अन्य सभी वस्तु का तिरस्कार करके भगवद् का अखण्ड स्मरण करना,[2] और आत्मन्, सत् एव शुद्ध चैतन्य व आनन्द के स्वामी के रूप मे ईश्वर पर ऐसा ध्यान तभी सम्भव होता है जब शास्त्रो के अध्ययन एव विवेकपूर्ण चिन्तन व विचार-विमर्श के द्वारा एक पूर्ण विश्वास उत्पन्न हो जाता है, जिसके फलस्वरूप सर्व मिथ्या विचारो का निवारण हो जाता है और सर्व सशय दूर हो जाते है।

ईश्वर ही बधन एव मोक्ष का कारण होता है।[3] जब एक व्यक्ति ईश्वर के स्वरूप का प्रत्यक्ष साक्षात्कार कर लेता है, तब उसमे 'भक्ति' का उदय होता है, क्योंकि

---

[1] उपासना च द्विविधा, सतत शास्त्राभ्यास रूपा-ध्यान-रूपा च।

—मध्व-सिद्धान्त-सार, पृ० ५००।

[2] ध्यान च इतर तिरस्कार-पूर्वक-भगवद्विपयका खण्ड-स्मृति ।
वही, पृ० ५०२। यह 'ध्यान' निदिध्यासन' के समरूप ही होता है।

[3] ईश्वर अन्य सकल वस्तुओ को स्थित रखता है, जो सभी पूर्णत उस पर निर्भर करती है। वह केवल अनित्य एव नित्य-अनित्य वस्तुओ की सृष्टि और विनाश करता है। पुन, लक्ष्मी के अतिरिक्त सर्व प्राणियो के प्रति वही प्रथम 'अविद्या' सत्व, रजस् व तमस्, के रूप मे, अथवा काम की द्वितीय 'अविद्या' के रूप मे, अथवा 'प्रारब्धकर्म' की क्रियाओ की अविद्या' के रूप मे, अथवा लिंग शरीर के रूप मे, अथवा अन्तत अपनी इच्छा के रूप मे 'प्रकृति' की 'भाव-रूपा-अविद्या' के आवरण को खडा करता है। अन्तिम, हरि की शक्ति ही सर्व अविद्या का यथार्थ उपादान होती है, 'अविद्या'

उसके व्यक्तिगत, प्रत्यक्ष एव अपरोक्ष ज्ञान के बिना कोई भक्ति नही हो सकती। 'भक्ति' परमेश्वर के प्रति एक ऐसे निरन्तर प्रेम-प्रवाह मे निहित होती है जो सहस्रो बाधाओ मे क्षत अथवा प्रभावित नही हो सकती, जो स्वात्म-प्रेम एव आत्मीय वस्तुओ के प्रति प्रेम से अनेक गुणा अधिक होता है, और जो इस ज्ञान से उत्पन्न होता है कि परमेश्वर अनन्त शुभ एव कल्याणकारी गुणो से सम्पन्न है।[1] और जब ऐसी भक्ति का उदय होता है तब परमेश्वर का 'अत्यर्थ-प्रसाद' होता है, और जब परमेश्वर का हम पर ऐसा प्रसाद होता है तब हम मोक्ष की प्राप्ति कर सकते है।

यद्यपि जीव स्वरूप से स्व-प्रकाश होते है, तथापि ईश्वर की इच्छा से उनका स्व-प्रकाश चैतन्य 'अविद्या' मे आवृत्त हो जाता है। जब, मनस् अथवा 'अन्त करण' की वृत्ति के रूप मे ईश्वर का अपरोक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है, तब उक्त वृत्ति 'अविद्या' का निवारण करने मे सहायक होती है, क्योकि यद्यपि 'अविद्या' का मनस् से प्रत्यक्ष साहचर्य नही होता, तथापि उक्त मानसिक प्रगति उसको प्रभावित कर सकती है, चूंकि वे दोनो पृथक्-पृथक् जीव से सबधित होते हैं। साधारणत ज्ञान का उदय केवल अप्रारब्ध कर्मो का नाश करता है, जबकि 'प्रारब्धकर्म' शेष रहते हैं और सुख-दु ख, ज्ञान-अज्ञान को उत्पन्न करते है। अत साधारणत ईश्वर-साक्षात्कार जीव के साथ 'प्रकृति' एव 'गुणो' के साहचर्य को नष्ट करने मे सहायक होता है, तथा जब तक पीडा एव सुख के उपभोग के द्वारा प्रारब्ध कर्मो की समाप्ति नही हो जाती तब तक उसके 'कर्मों,' और इन्द्रियो, पाँच प्राणो एव मनस् मे निर्मित 'लिंग-देह' को नष्ट करने मे सहायक होता है।[2] प्रलय-काल मे मुक्त आत्माए परमेश्वर के गर्भ मे प्रविष्ट हो जाती हैं तथा वे किसी आनन्द का उपभोग नही कर सकती, किन्तु पुन सृष्टि के पश्चात् वे आनन्द का उपभोग करने लगती है। मुक्त आत्माओ का आनन्द चार प्रकार का होता है:

तो निमित्त-मात्र होती है (परमेश्वर शक्तिरेव स्वरूपावरण मुख्या, अविद्या तु निमित्त मात्र), क्योकि, 'अविद्या' नष्ट हो जाती है तो भी जब तक ईश्वर की इच्छा नही होती तब तक चरम आनन्द का उदय नही होता। पुन, वही चेतन सत्ताओ को ज्ञान, स्वरूपत सुख के अयोग्य असुरो के अतिरिक्त सबको सुख, स्वरूपत दु ख के लेश-मात्र से रहित लक्ष्मी के अतिरिक्त सबको दु ख प्रदान करता है।

—'तत्त्व-सख्यान-विवरण' और 'तत्त्व-सख्यान-टिप्पण,' पृ० ८३–७।

[1] परमेश्वरे निरतिशय निरवद्यानन्तानवधि-कल्याण-गुणत्व ज्ञानपूर्वक स्वात्मात्मीय-समस्त-वस्तुभ्य अनेक गुणाधिक अन्तराय-सहस्रेणापि अप्रतिबद्ध निरन्तर प्रेम-प्रवाह।

'सालोक्य,' 'सामीप्य,' 'सारूप्य' एवं 'सायुज्य' ('सार्ष्टि' की गणना 'सायुज्य') के एक प्रकार के रूप में की गई है, पांचवें प्रकार के मोक्ष के रूप में नहीं। 'सायुज्य' का अर्थ है आत्माओं का ईश्वर के शरीर में प्रवेश तथा स्वयं ईश्वर के शरीर में ईश्वर के आनन्द के साथ उनका तादात्म्यीकरण, 'सार्ष्टि-मोक्ष,' जो 'सायुज्य-मोक्ष' का एक प्रकार होता है—का अर्थ है उन्ही शक्तियों का उपभोग करना जो ईश्वर में होती हैं तथा उक्त उपभोग केवल ईश्वर के शरीर में प्रविष्ट होकर ईश्वर की विशिष्ट शक्तियों में अपना एकाकार करने से सम्भव हो सकता है। इस प्रकार के मोक्ष के योग्य केवल देव-गण ही होते है, हां, वे अपनी इच्छानुसार ईश्वर से बाहर भी आ सकते है और उससे पृथक् भी रह सकते है, 'सालोक्य मोक्ष' का अर्थ है वैकुण्ठ में निवास करना तथा वहां ईश्वर के सहवास मे रहकर उसके निरन्तर दर्शन से सन्तोष एवं आनन्द का अनुभव करना। 'सामीप्य-मोक्ष' का अर्थ है ईश्वर के समीप निरन्तर निवास, जिसका उपभोग सत-गण करते है। 'सारूप्य-मोक्ष' का उपभोग ईश्वर के परिचारक करते हैं जिनके ईश्वर के समान ही बाह्य रूप होते हैं।[1] मुक्त आत्माओं मे आनन्द की अवस्थाओं एव अन्य विशेषाधिकारों की दृष्टि मे भेद को स्वीकार करना मध्व-सम्प्रदाय के सिद्धान्तो मे से एक मुख्य सिद्धान्त है, क्योंकि, यदि उसे स्वीकार नहीं किया जाय तो यह प्रमुख द्वैतवादी सिद्धान्त खण्डित हो जायगा कि सर्व जीव सर्वदा एक दूसरे मे भिन्न होते हैं।[2] यह पहले कहा जा चुका है कि मोक्ष केवल 'भक्ति' द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है, जिसमे निरन्तर विशुद्ध 'स्नेह' का समावेश होता है।[3] केवल देव-गण एव श्रेष्ठ मानव ही उसके योग्य होते हैं, जबकि साधारण मानव केवल पुनर्जन्म के योग्य होते है और अधम मानव एव असुर सदा नरक मे दुःख भोगते हैं। देव-गण नरक मे नही जा सकते, और न असुर कभी मोक्ष को प्राप्त कर सकते है तथा साधारण व्यक्ति न मोक्ष को प्राप्त करते है और न नरक मे जाते हैं।[4]

आठ वर्ष से लेकर अस्सी वर्ष की आयु वाले सभी मानवो के लिए आज्ञात्मक कर्त्तव्य के रूप मे मध्व 'एकादशी' के उपवास और ललाट पर खडी काली रेखा का तिलक

[1] कहा जाता है कि ईश्वर के दो द्वारपाल जय और विजय 'सारूप्य-मोक्ष' का उपभोग करते हैं।

[2] 'मुक्ताना च न हीयन्ते तारतम्य च सर्वदा।'
'महाभारत-तात्पर्य-निर्णय,' पृ० ४।=देखिए 'न्यायामृत' भी।

[3] 'अच्छिद्रसेवा' और 'निष्कामत्व' का भी 'भक्ति' के लक्षणों की परिभाषा मे उल्लेख किया गया है। दान, तीर्थ-यात्रा, तपस् आदि भी ईश्वर की 'सेवा' के गौण उपसाधन माने जाते हैं। —वही, पृ० ५।

[4] वही, पृ० ५।

लगाने पर अत्यधिक वल देते हैं जो आज दिन तक भी उनके अनुयायियो की विशेषता है। हमे वडी भक्ति से परमेश्वर कृष्ण की निरन्तर उपासना करनी चाहिए और जगत् के दु खो से रक्षण करने के लिए उसकी प्रार्थना करनी चाहिए। हमे नरक के क्लेशो का विचार करना चाहिए और पापो से दूर रहने का प्रयत्न करना चाहिए तथा सदा परमेश्वर हरि के नाम का सकीर्त्तन करना चाहिए और अपने सभी कर्मों को फल की इच्छा किए विना परमेश्वर को समर्पित करना चाहिए।[1]

अध्याय २१

वल्लभ का दर्शन

वल्लभ द्वारा 'ब्रह्म-सूत्र' की व्याख्या

वेदान्त के अधिकांश सम्प्रदाय वेदों के अन्तिम भाग उपनिषदों के मूल-पाठ में सन्निहित उपदेश के चरम अभिप्राय के सबंध में पृच्छा पर आधारित है। 'मीमांसा' शास्त्र इस मान्यता के आधार पर वैदिक पाठों के स्वरूप की पृच्छा में निरत रहता है कि सभी वैदिक पाठों की व्याख्या इस रूप में की जानी चाहिए कि वे लोगों को कुछ प्रकार के कार्यों को करने अथवा अन्य प्रकार के कार्यों को न करने का व्यादेश देते हैं। उसकी यह भी मान्यता है कि उक्त व्यादेशों का आज्ञा-पालन 'धर्म' को उत्पन्न करता है तथा उनकी अवज्ञा 'अधर्म' को उत्पन्न करती है। वेदों का स्वाध्याय भी इस व्यादेश की आज्ञानुसार किया जाना चाहिए कि वेदों का अध्ययन करना आवश्यक है, अथवा गुरु द्वारा वेदों का उपदेश दिया जाना चाहिए या हमें उपनयन सस्कार में दीक्षित होने के लिए एक ऐसे गुरु को अगीकार करना चाहिए जो हमें सविस्तार वेदों का उपदेश देगा। मीमासा एव वेदान्त के सभी व्याख्याकार इस बात पर सहमत हैं कि वेदों के अध्ययन में विद्यार्थी द्वारा अर्थ के बोध का समावेश होता है, यद्यपि व्यादेश के यथातथ्य स्वरूप के सबध में तथा जिस यथावत ढग से उक्त आशय कथित होता है उसके सबध में मतभेद हैं। यदि ब्रह्मचारिन को अपने घर ही में वेदों का अध्ययन करना है तथा एक गुरु से उनके अर्थ को समझना है तो सामान्यत यह तर्क किया जा सकता है कि उपनिषद्-पाठों के सबध में आगे विचार-विमर्श की कोई सभावना नहीं रह जाती, और यदि यह स्वीकार कर लिया जाता है, तो समस्त 'ब्रह्म-सूत्र' जिसका उद्देश्य उक्त विचार-विमर्श में प्रवेश करना है, निरर्थक हो जाता है। यह युक्ति दी जा सकती है कि उपनिषद्-पाठों के गर्भ में साक्षात्कार-विद्या छिपी हुई है जो शब्दों के पाठगत अर्थ के भावबोध से प्रकट नहीं की जा सकती। किन्तु, यदि यह साक्षात्कार विद्या शब्द के पाठगत अर्थ के द्वारा प्रकट नहीं की जा सकती, तो यह मानना युक्तियुक्त नहीं है कि हम उनके द्वारा मान्य गहन एव रहस्यात्मक सत्यों का अवबोध कोरे बौद्धिक विचार-विमर्श द्वारा प्राप्त कर सकते हैं। स्वय उपनिषद् यह कहते हैं कि हम उपनिषदों के सम्यक् अर्थ का बोध तमस् एव परमात्मा के प्रसाद के द्वारा ही कर सकते हैं।[1]

---

[1] अ-लौकिको हि वेदार्थो न युक्त्या प्रतिपद्यते तपसा वेद-युक्त्या तु प्रसादात्परमात्मन ।
—'ब्रह्म-सूत्र' पर वल्लभ का 'भाष्य' (चौखम्भा सस्करण) पृ० १३।

इसके प्रति वल्लभ का उत्तर यह है कि, चूंकि विविध प्रकार के उपदेशों को प्रस्तुत करने वाले विविध प्रकार के 'शास्त्र' होते हैं, और चूंकि वैदिक पाठ स्वय इतने जटिल हैं कि उनके सम्यक् बल को समझना सरल नही है, इसलिए जब तक कोई ऐसा 'शास्त्र' नही हो जो स्वय इन कठिनाइयो का विवेचन करे और पाठगत तुलनाओ एव विरोधो के द्वारा उनको सुलझाने का प्रयास करे, तब तक एक साधारण व्यक्ति को उनके समुचित अर्थ के सम्बन्ध में दैव सशय हो सकता है, यह अस्वीकार नही किया जा सकता कि एक ऐसे विवेचन की एक वास्तविक आवश्यकता है, जैसाकि स्वयं व्यास द्वारा 'ब्रह्म-सूत्र' मे किया गया था ।[1]

रामानुज के अनुसार 'ब्रह्म-सूत्र' 'मीमासा-सूत्र' का अनुवर्ती हैं, यद्यपि दोनो कृतियाँ विभिन्न विषयो का निरूपण करती हैं, तथापि उनमे उद्देश्य की अविच्छिन्नता है। इसलिए 'ब्रह्म-सूत्र' के अध्ययन के पूर्व 'मीमासा-सूत्र' का अध्ययन किया जाना चाहिए। भास्कर के अनुसार 'मीमासा-सूत्र' का अनुप्रयोग सार्वभौम है, सर्व द्विजो को अपने दैनिक कर्त्तव्यो के लिए 'मीमासा' एव 'धर्म' के स्वरूप का अध्ययन करना चाहिए। ब्रह्म-ज्ञान केवल कुछ व्यक्तियो के लिए होता है, इसलिए ब्रह्मन् के स्वरूप का विवेचन केवल उन्ही व्यक्तियो के लिए अभिप्रेत हो सकता है जो अपने जीवन के चतुर्थ आश्रम मे मोक्ष की खोज करते हैं। जो व्यक्ति मोक्ष का अन्वेषण करते हैं उन्हे भी 'धर्म' के दैनिक कार्यों को करना चाहिए, उस 'धर्म' का स्वरूप केवल 'मीमासा' के अध्ययन से ज्ञात किया जा सकता है। कुछ विद्वानो का कथन है कि ब्रह्मन् केवल उपनिषदो द्वारा निर्धारित दीर्घकालीन ध्यान की प्रक्रिया रूपी विधि से ज्ञात किया जा सकता है। उक्त ध्यान का ज्ञान केवल यज्ञो के समुचित स्वरूप के ज्ञान द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। 'स्मृतियों' मे भी यह कहा गया है कि यज्ञो के द्वारा ही ब्रह्मन् के पवित्र तन का निर्माण होना है (महा-यज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीय क्रियते तनु),[2] अत जब अडतालीस 'संस्कारो' का पालन कर लिया जाना है, तब एक व्यक्ति ब्रह्मन् के स्वरूप के अध्ययन अथवा ध्यान के योग्य बनता है। 'स्मृतियो' मे यह भी कहा गया है कि केवल तीन ऋणों-अध्ययन, विवाह एव यज्ञो का अनुष्ठान'-को चुकाने के पश्चात् ही एक व्यक्ति मोक्ष के लिए ब्रह्मन् पर अपने मनन् को केन्द्रित करने का अधिकारी बनता है। अधिकाश लोगो के अनुसार यज्ञ सबधी स्वतन्त्र ब्रह्म-ज्ञान के

लिए उपयोगी होते हैं, अत यह माना जा सकता है कि ब्रह्म-जिज्ञासा धर्म-जिज्ञासा के पश्चात् आनी चाहिए।[1]

किन्तु, यदि यज्ञ एव ब्रह्मन् के ध्यान के संयुक्त अनुपालन को स्वीकार भी कर लिया जाय, तो भी यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि ब्रह्म-जिज्ञासा धर्म जिज्ञासा के पश्चात् आनी चाहिए। इसका अर्थ केवल यही हो सकता है कि ब्रह्म-ज्ञान का स्वरूप 'धर्म' के उस स्वरूप से सबधित माना जा सकता है जिसे समुचित रूप से 'मीमासा-शास्त्र' मे ज्ञात किया जाता है। ऐसी मान्यता के अनुसार आत्मन् के स्वरूप का ज्ञान 'ब्रह्म-सूत्र' के अध्ययन से प्राप्त किया जाना चाहिए, पर चूँकि आत्मन् का ज्ञान यज्ञ-सबधी कर्मों के अनुपालन के लिए भी अनिवार्य होता है, इसलिए यह तर्क किया जा सकता है कि 'धर्म' के स्वरूप की जिज्ञासा से पूर्व 'ब्रह्म-सूत्र' से प्राप्त आत्म स्वरूप की जिज्ञासा आनी चाहिए।[2] न यह कहा जा सकता है कि जिन श्रुति-पाठो द्वारा एक व्यक्ति से आत्म-सयमी बनने की अपेक्षा की जाती है (शान्तो, दान्तो आदि) उनके आधार पर यह तर्क किया जा सकता है कि धर्म के स्वरूप की जिज्ञासा ब्रह्मन् के स्वरूप की जिज्ञासा से पूर्व आनी चाहिए, आत्म सयम की आवश्यकता का अनिवार्यत यह अर्थ नही होता है कि 'धर्म' के स्वरूप की जिज्ञासा को अग्रता दी जानी चाहिए, क्योंकि एक व्यक्ति 'मीमासा' का अध्ययन किए बिना भी आत्म-सयमी बन सकता है।

न यह कहा जा सकता है, जैसाकि शकर कहते हैं कि ब्रह्म-जिज्ञासा से पूर्व इहलौकिक एव पारलौकिक सुखो के प्रति वैराग्य, चित्त-सयम, आत्म-सयम आदि उत्पन्न होने चाहिए। इस विषय पर भास्कर वल्लभ के मत के विरोध मे तर्क करते हैं, और उसकी अस्वीकृति का कारण यह है कि उक्त गुणो की उपलब्धि अत्यधिक विरल होती है, दुर्वासा जैसे महर्षि एव अन्य लोग भी उनको प्राप्त करने मे असफल रहे। आत्म-ज्ञान के बिना भी एक व्यक्ति दु खो के कारण विषयो के प्रति विरक्त हो सकता है, तथा एक व्यक्ति सासारिक उद्देश्यो से भी चित्त-सयम एव आत्म-सयम का अभ्यास कर सकता है। इसके अतिरिक्त उक्त गुणो की प्राप्ति तथा ब्रह्म-जिज्ञासा मे कोई तार्किक सबध नही हैं। न यह तर्क किया जा सकता है कि यदि ब्रह्म-जिज्ञासा से पूर्व मीमासा-जिज्ञासा आती है, तो हम उक्त समस्त गुणो को प्राप्त कर सकते है। इसके अतिरिक्त, ब्रह्मन् के स्वरूप की जिज्ञासा केवल ज्ञान के महत्व मे विश्वास के द्वारा ही वे उत्पन्न हो सकती है, तथा उक्त महत्व के अवबोध के लिए ब्रह्म-जिज्ञासा अनिवार्य है, इस प्रकार

---

[1] वल्लभाचार्य के अनुभाष्य पर पुरुषोत्तम की टीका, पृ० २५–६।

[2] पूर्व वेदान्त-विचारेण तदवगन्तव्य नानाबलैरात्म-स्वरूपे विप्रतिपन्न-वैदिकाना वेद-वाक्यैरेव तन्निरासस्यावश्यकत्वात् ज्ञाते तयो स्व-रूपे कर्मणि सुखेन प्रवृत्ति-दर्शनम्।
—वही, पृ० २७।

चक्रक न्याय हो जाता है। यदि यह माना जाय कि, जब वेदात पाठो का ज्ञान वेदोपदेश के श्रवण द्वारा समुचित रूप से अर्जित कर लिया जाता है तब एक व्यक्ति ब्रह्म-जिज्ञासा की ओर प्रेरित हो सकता है तो यह भी आपत्तिजनक है, क्योकि, यदि वेदात-पाठो के अर्थ को उचित रूप से ग्रहण कर लिया गया है, तो ब्रह्मन् के स्वरूप की जिज्ञासा की आगे कोई आवश्यकता नही है। यदि यह माना जाय कि ब्रह्म-ज्ञान केवल 'तत्वमसि' अथवा 'त्व सत्य असि' जैसे पाठो के श्रुति-प्रमाण के द्वारा ही उत्पन्न हो सकता है, तो यह भी आपत्तिजनक है, क्योकि श्रुति-प्रमाण के द्वारा ब्रह्मन् के स्वरूप की कोई अपरोक्षानुभूति एक ऐसे अज्ञानी व्यक्ति को नही हो सकती जो उसकी व्याख्या इस रूप मे कर सकता है कि आत्मन् एव शरीर मे तादात्म्य होता है। यदि श्रुति-पाठो के द्वारा ब्रह्मन् की अपरोक्षानुभूति सम्भव है, तो मनन एव निदिध्यासन के कर्त्तव्य का व्यादेश अनावश्यक है। इसलिए यह मानना गलत है कि ब्रह्म-जिज्ञासा से पूर्व 'धर्म विचार' किया जाना चाहिए अथवा शकर द्वारा उल्लिखित अत्यधिक विरल गुणो की प्राप्ति की जानी चाहिए। पुन शास्त्रो मे यह कहा गया है कि जिन व्यक्तियो ने वेदात के यथार्थ अर्थ की अनुभूति कर ली है उन्हे ससार को त्याग देना चाहिए, अत वैराग्य वेदात-पाठो के सम्यक् अवबोध के पश्चात् होना चाहिए, पहले नही। पुन, ब्रह्म-जिज्ञासा से पूर्व व्यक्ति यह नही जान सकता कि ब्रह्मन् उपलब्धि का चरम लक्ष्य है, पश्चादुक्त के ज्ञान के बिना व्यक्ति मन की अन्य उपलब्धियो की इच्छा नही करेगा और इस प्रकार ब्रह्मन् के सबध मे विवेचन मे आवृत्त होगा। पुन, यदि काक्षित गुणो वाला व्यक्ति वेदात पाठो का श्रवण करता है, तो वह तत्काल मोक्ष प्राप्त कर लेगा और उसे उपदेश देने वाला कोई भी शेष न रहेगा।

ब्रह्म-जिज्ञासा की कोई शर्त नही हो सकती, द्विज-जाति मे से कोई भी उसका अधिकारी है। मीमासक कहते हैं कि ब्रह्म-ज्ञान पर बल देने वाले सबल वेदान्त-पाठो की व्याख्या ऐसे व्यादेशो के रूप मे की जानी चाहिए जिनके अनुपालन से 'धर्म' की उत्पत्ति होनी है, किन्तु यह व्याख्या गलत है, यद्यपि किसी भी प्रकार की 'उपासना' 'धर्म' को उत्पन्न कर सकती है, तथापि ब्रह्मन् स्वय धर्म के स्वरूप का नही होता। सब 'धर्म' क्रिया के स्वरूप के होते है (धर्मान्य च क्रिया-रूपत्वात्), किन्तु ब्रह्मन् उत्पन्न नही किया जा सकता, अतएव वह क्रिया-रूप नही होता है। ब्रह्मन् पर ध्यान करने के आनामी व्यादेश का अभिप्राय ब्रह्म-ज्ञान की महत्ता को बताना है, उक्त ध्यान ज्ञान मे यद्यपि मानसिक प्रक्रियाए होते हैं तथा किसी प्रकार की क्रियाए नही होते।

यह कहती है कि सच्चा तत्वज्ञानी यह जानता है कि वह कर्म नही करता और फिर भी सदा 'कर्म' से सबधित रहता है, वह अपने सर्व 'कर्मों' को ब्रह्मन् को समर्पित कर देता है, और किसी भी आसक्ति से रहित होकर कर्म करता है, जैसे एक कमल-पत्र जल से कदापि गीला नही होता। इसलिए निष्कर्ष यह निकलता है कि वही जिसे ब्रह्मन् ज्ञात है अपने कर्म से काक्षित फल उत्पन्न कर सकता है, अत जो 'धर्म' के स्वरूप के विवेचन मे निरत रहते है उनको ब्रह्मन् के स्वरूप का भी विवेचन करना चाहिए। जो मनुष्य ब्रह्मन् एव कर्म को जानता है उसमे अपने 'कर्म' के फलो की कोई इच्छा शेष नही रहती, क्योकि उसने अपने सर्व कर्म ब्रह्मन् को समर्पित कर दिए है। इसलिए यह कहना ठीक नही है कि केवल वे व्यक्ति ही 'कर्म' को करने के अधिकारी हैं जो कर्म-फलो की इच्छा रखते है, कर्म का चरम एव अत्यधिक अभीप्सित उद्देश्य उसके फलो का समर्पण है।[1] वल्लभ का अभिप्राय यह है कि 'पूर्व-मीमासा' और 'उत्तर-मीमासा' (अथवा 'ब्रह्म-सूत्र') दोनो ब्रह्मन् के स्वरूप को प्रतिपादित करने वाले दो भिन्न प्रकार मात्र है, दोनो मिलकर एक ही शास्त्र का निर्माण करते है। यह एक प्रकार से शकर के अतिरिक्त सभी वेदान्त के टीकाकारो का मत है, यद्यपि उनकी उपागम-विधि मे कुछ भिन्नता है।[2] इस प्रकार रामानुज के अनुसार दोनो 'मीमासाओ' से एक ही शास्त्र निर्मित होता है तथा यज्ञो का अनुष्ठान ब्रह्मन् के निरन्तर स्मरण के साथ-साथ किया जा सकता है, जो (उनके अनुसार) ब्रह्मन् की भक्ति, उपासना व अपरोक्षानुभूति मे निहित होता है। भास्कर के अनुसार यद्यपि पूर्व मीमासा का विषय उत्तर मीमासा से भिन्न होता है, तथापि उनका लक्ष्य एक ही होता है और वे एक ही शास्त्र का निर्माण करते हैं, और दोनो का ही उद्देश्य ब्रह्मन् के स्वरूप को अनुभूति गम्य करना है। भिक्षु के अनुसार 'ब्रह्म-सूत्र' का उद्देश्य उन वेदान्त-पाठो के आभासी विरोध-ग्रस्त भागो का सामजस्य करना है जिन पर 'पूर्व-मीमासा' ने विचार नही किया है। 'ब्रह्म-सूत्र' का वही उद्देश्य है जो 'पूर्व मीमासा' का है, क्योकि ब्रह्मन् के स्वरूप के सबध मे जिज्ञासा इस व्यादेश के कारण है कि ब्रह्मन् को ज्ञात करना चाहिए, तथा उसके फलस्वरूप चरम 'धर्म' की उत्पत्ति होती है। 'उत्तर-मीमासा' 'पूर्व-मीमासा' की पूरक है। मध्व के अनुसार वे व्यक्ति ही ब्रह्म-जिज्ञासा के अधिकारी है जिनमे भक्ति होती है।

[1] फल-कामाद्यनुपयोगातनेनैव तत्-समर्पणात् नित्यत्वादप्यर्थ-ज्ञानस्य न फल-प्रेप्सुर धिकारी।

—वल्लभाचार्य के अनुभाष्य, पृ० ४३ पर पुरुषोत्तम टीका।

[2] प्रकार-भेदेनापि काण्ड द्वयस्यापि ब्रह्म-प्रतिपादकतयैकवाक्यत्व-समर्थन-मीमासा-द्वयस्यैक-शास्त्रस्य सूचनेन वृत्तिका रविरोधतोऽपि बोधित ।

—वही, पृ० ४६।

वल्लभ 'ब्रह्म-सूत्र' के अध्याय १, पाद १ के द्वितीय एव तृतीय 'सूत्रो' को सयुक्त कर लेते हैं और उनका 'जन्मादास्य यत , शास्त्रयोनित्वात्' के रूप मे पठन करते है। टीकाकार कहते हैं कि यही उचित क्रम है, क्योकि सर्व 'अधिकरण' आपत्तियो, निष्कर्षों एव हेतुओ को प्रकट करते हैं, यदि तृतीय 'सूत्र' (शास्त्रयोनित्वात्) को द्वितीय मे समाविष्ट करके एक 'अधिकरण' नहीं बनाया जायगा तो हेतुओ का लोप हो जायगा। ब्रह्मन् जगत् की अभिव्यक्ति एव लोप का कारण है, और यह केवल शास्त्रो की साक्षी से ही ज्ञान किया जा सकता है। इस प्रकार ब्रह्मन् चरम व अन्तिम कर्ता है, किन्तु, यद्यपि उत्पत्ति, स्थिति, अव्यवस्था व विनाश सभी ब्रह्मन् के कर्तृत्व से सम्भव होते हैं, तथापि वे 'उसके' 'गुणो के रूप में' उसमे' सम्बंधित नही होते हैं। 'सूत्र' का अर्थ यह भी माना जा सकता है कि ब्रह्मन् वह है जिससे प्रथम (अर्थात् आकाश) उत्पन्न हुआ है।[1]

पुरुषोत्तम शकर के इस मत को अस्वीकृत करते है कि ब्रह्मन् वेदो का स्रष्टा है तथा इस आधार पर 'उसे' सर्वज्ञ माना जाना चाहिए। यह कहना कि वेद ईश्वर के द्वारा उनकी इच्छा से उत्पन्न किए गए थे, न्याय एव वैशेषिको के मत को स्वीकार करना होगा, उस दशा मे वेदो की नित्यता को त्यागना पडेगा। यदि मनुष्य के श्वास की भाँति वेद ब्रह्मन् से निकले होते तो, चूँकि सर्व नि श्वास अबुद्धिपूर्ण होता है इसलिए वेदो का उत्पादक ब्रह्मन् की सर्वज्ञता को प्रकट नही करेगा (नि श्वासात्मक-वेदोपादानत्वेन अबुद्धि-पूर्वक-नि श्वासोपादान-पुरुषदृष्टान्त-सनाथेन प्रतिसाधनेन अपास्तम्)।[2] इसके अतिरिक्त, यदि ब्रह्मन् ने वेदो की रचना उसी क्रम मे की थी जिस क्रम मे वे पूर्व 'कल्प' मे स्थित थे, तो ऐसा करने मे 'उसने' स्वय को किसी अनिवार्यता अथवा नियम के आधीन बनाया होगा, अतएव वह स्वतन्त्र नही था।[3] पुन , शकर का यह मत केवल उनके प्रमाण पर ही स्वीकार किया जा सकता है कि 'अज्ञान' से सबधित ब्रह्मन् को सर्वज्ञ ईश्वर माना जाय।

नि सन्देह यह सत्य है कि ब्रह्मन् का स्वरूप मुख्यत. उपनिषदो मे ज्ञात होता है, और इस दृष्टिकोण से 'शास्त्र-योनि'—'वह जो उपनिषदो द्वारा ज्ञान किया जाता है—' शब्द का ब्रह्मन् पर अनुप्रयोग किया जा सकता है, फिर भी यह वैध आपत्ति हो सकती है कि वेद के अन्य भागो का ब्रह्मन् से कोई सार्थक सम्बन्ध नही है। इसका उत्तर यह है कि वेदो के अन्य भागो से अनुमोदित किए गए कर्मों के द्वारा मनस् शुद्ध किया जा

सकता है, और इस प्रकार ईश्वर को अपने स्वरूप की अभिव्यक्ति के लिए अपने प्रसाद के प्रयोग के लिये अनुप्रेरित किया जा सकता है। अत एक अप्रत्यक्ष ढग से वेदो के अन्य भाग वेदो से सबधित किए जा सकते है। इसलिए वेदात का ज्ञान वेदो के अन्य भागो के शास्त्रीय व्यादेशो के उचित अनुपालन मे सहायक होता है। 'कर्म-काण्ड' और 'ज्ञान-काण्ड' लगभग एक-दूसरे के पूरक हैं तथा दोनो की आत्म-ज्ञान के लिए उपयोगिता है, यद्यपि उपनिषदो का महत्व उत्कृष्ट होना चाहिए।

हम पहले से ही जानते हैं कि रामानुज ने जगत् की उत्पत्ति से सर्वज्ञ एव सर्वशक्तिमान ईश्वर के अस्तित्व को अनुमित करने के प्रत्यय का खण्डन किया, तथा इस सिद्धान्त को स्थापित किया कि ईश्वर प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणो के द्वारा ज्ञात नही किया जा सकता, वरन् केवल श्रुति-पाठो की साक्षी से ज्ञात किया जा सकता है।

न्याय मत की प्रवृत्ति अनुमान के द्वारा ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने की रही है, इस प्रकार उदयन ईश्वर के अस्तित्व के पक्ष मे जो युक्तियाँ देते हैं, इनमे से प्रथम यह है कि—जगत, कार्य-रूप होने के कारण, उसको उत्पन्न करने वाला कोई कारण चाहिए (कार्यानुमान)। दूसरा यह है कि कोई ऐसी सत्ता होना चाहिए जिसने सृष्टि के प्रारम्भ मे अणुओ के निर्माण के लिए परमाणुओ को गतिशील बनाया (आयोजनानुमान)। तीसरा यह है कि यदि पृथ्वी ईश्वर के द्वारा धारण नही की गई होती तो वह आकाश मे आलम्बित नही रह सकती थी। (धृत्वानुमान)। चौथा यह है कि जगत के विनाश के लिए भी एक कर्ता चाहिए, जो ईश्वर होना चाहिए (विनाशानुमान)। पाँचवा यह है कि शब्दो को दिए गए अर्थ ईश्वर की इच्छा के कारण होने चाहिए (पदानुमान)। छठा यह है कि पुण्य एव पाप, जिन्हे वेदो के व्यादेश से ज्ञात किया जा सकता है, उनका वेदो के रचयिता को मौलिक परिचय होना चाहिए (प्रत्यानुमान)। सातवाँ यह है कि श्रुतियाँ ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करती हैं। आठवाँ (वाक्यानुमान) सातवें से एक-रूप ही है। नवा इस प्रकार है—परमाणुओ के सघात का निर्माण उनकी सख्या पर निर्भर करता है, क्योकि वे निरवयव है, सख्यात्मक प्रत्यय प्रत्यक्षकर्ता की सापेक्षिक मानसिक तुलना पर आश्रित होता है, सृष्टि के समय कोई ऐसी सत्ता होनी चाहिए। जैसे सख्यात्मक प्रत्यय के कारण सघात का निर्माण सम्भव होता है। यह नवा अनुमान है (सख्यानुमान)। यद्यपि ईश्वर जगत् का कारण माना जाता है, तथापि उसके शरीर हो यह आवश्यक नही है, क्योकि उत्पादक के रूप मे कारण के लिए यह अनिवार्य नही है कि उसमे शरीर का होना आवश्यक हो, किन्तु अन्य विद्वान् ऐसे हैं जिनके विचार मे ईश्वर विशेष शरीरो, राम, कृष्ण, आदि के 'अवतार' को उत्पन्न करता है जिनके द्वारा वह विशेष प्रकारो मे कार्य करता है। किन्तु विज्ञान-भिक्षु का विचार है कि साख्य के

'बुद्धि' आदि पदार्थ परिणाम होने के नाते अपने पूर्व कारणो को पूर्वगृहीत करते हैं, जिनके सबध मे कुछ प्राज्ञ ज्ञान होना चाहिए, और जिसका उद्देश्य उसके द्वारा पूर्ण हो, ऐसा व्यक्ति ईश्वर है। इस विधि मे पहले पदार्थों के एक मौलिक कारण (प्रकृति) को अनुमित किया जाता है, और ईश्वर वह है जिसे 'प्रकृति' का अपरोक्ष ज्ञान होता है जिसके फलस्वरूप वह पदार्थो की उत्पत्ति के लिए उसका रूपान्तरण करता है, और इस प्रकार स्वय अपने उद्देश्य के लिए उसका प्रयोग करता है।

कुछ विद्वान् यह मानते हैं कि उपनिषद्-पाठो मे भी ब्रह्मन् के स्वरूप को अनुमित करने के उदाहरण मिलते है, और यद्यपि बादरायण स्वय किन्ही अनुमानो का प्रयोग नही करते, तथापि वे ऐसे पाठो का विवेचन करते है जो अनुमानो के आधार हैं। नैयायिको का दृष्टिकोण यह रहा है कि अनुमान सही है क्योकि वे उपनिषद्-पाठो के अनुकूल है। किन्तु वल्लभ, रामानुज एव भास्कर से सहमत हैं कि ईश्वर के अस्तित्व के सबध मे कोई अनुमान सम्भव नही हैं, तथा उसका स्वरूप केवल उपनिषद् पाठो की साक्षी मे ही ज्ञात किया जा सकता है।[1]

ब्रह्मन् का स्वरूप

ब्रह्मन् जगत् का उपादान एव निमित्त दोनो कारण है। ब्रह्मन् के निमित्त कारणत्व के सबध मे कोई मतभेद नही है, परन्तु यह मतभेद है कि क्या ब्रह्मन् उसका सृष्टा है अथवा क्या वह उसका उपादान कारण है, चूंकि वेदात 'समवाय' सबध अथवा इस मत को स्वीकार नही करता कि ब्रह्मन् जगत् का समवायिकारण है। ब्रह्मन् के 'समवायिकारण' होने के विरुद्ध आपत्ति इस मान्यता मे और भी प्रबल हो जाती है कि यदि वह ऐसा होता तो वह विकारी होना चाहिए (समवायित्वे विकृतत्व-स्यापत्ते)। वल्लभ मानते हैं कि 'तत्तु समन्वयात्' सूत्र इस मत को स्थापित करता है कि ब्रह्मन् 'समवायिकारण' है, क्योकि वह सत्, चित् एव आनन्द के रूप मे अपने विविध स्वरूप मे सर्वदा अभिन्न रहता है। 'प्रपच' नाम, रूप व कर्म मे विभिन्न

है (प्रकृतेरपि स्वमते तदशत्वात्) ।[1] किन्तु फिर भी साख्य की उपागम-विधि को स्वीकार नही किया जा सकता । 'प्रकृति' का सुख अज्ञान के स्वरूप का होता है, और देश एव काल से परिच्छिन्न होता है, वस्तुए कुछ के लिए सुखकर होती है और अन्य युक्तियो के लिए दुखदायी होती है, वे एक काल मे सुखकर होती है और दूसरे मे सुखकर नही होती हैं, वे कुछ स्थानो मे सुखदायी होती हैं और अन्य स्थानो मे दुखदायी होती हैं । किन्तु ब्रह्मन् का आनन्द उपाधियो से अपरिच्छिन्न होता है, इस प्रकार आनन्द एव ज्ञान से सबधित आत्मन् का सबध 'प्रकृति' के सुख से भिन्न होता है (भालानन्दज्ञानेन प्राकृतिक प्रियत्वादो बाधदर्शनात्) ।[2] इस प्रकार ब्रह्मन् ज्ञान एव आनन्द के अपने यथार्थ स्वरूप मे जगत् मे परिव्याप्त है । अपनी इच्छा से ही वह स्वय को अनेकता मे अभिव्यक्त करता है, यथा अपने तीन लक्षणों चित्, सत व आनन्द को 'अतर्यामिन्' के जड जगत् मे विभिन्न अनुपातो मे अभिव्यक्त करता है। ब्रह्मन् की अनेक एव सर्व के रूप मे व्याप्ति का तत्सबधी शकरवादी निरूपण से विभेद करना चाहिए । शकर एव उनके अनुयायियो के अनुसार विषयो के प्रापचिक जगत् का यथार्थ अधिष्ठान ब्रह्मन् है, स्थूल आभास उक्त अपरिवर्तनशील सत्ता पर आरोपण मात्र होते हैं । इस मत के अनुसार स्थूल आभास ब्रह्मन् के परिणाम नही माने जा सकते, अथवा, अन्य शब्दो मे, ब्रह्मन् स्थूल विषयो का 'उपादान' कारण नही माना जा सकता । हमे ज्ञात है कि शकरवादियो मे भी जगत् के उपादान कारण के सबध मे विविध मत पाये जाते हैं । इस प्रकार 'पदार्थ-निर्णय' के लेखक के विचार मे ब्रह्मन् और 'माया' सयुक्त रूप से जगत के कारण हैं, ब्रह्मन् तो अपरिवर्तनशील कारण है 'माया' परिणामी कारण है । 'सक्षेप-शारीरिक' के लेखक सर्वज्ञात्ममुनि का विचार है कि ब्रह्मन् 'माया' के उपकरण के माध्यम से उपादान कारण होता है । वाचस्पति मिश्र के मत मे 'जीव' मे स्थित 'माया' ब्रह्मन् के साहचर्य मे सयुक्त रूप से जगत् को उत्पन्न करती है, 'माया' यहाँ 'सहकारि' कारण मानी जाती है । 'सिद्धात-मुक्तावली' के लेखक के मत मे 'माया-शक्ति' यथार्थ उपादान कारण है, न कि ब्रह्मन्, ब्रह्मन् कारण एव कार्य से अतीत होता है ।[3]

किन्तु वल्लभ उक्त मत से असहमत है क्योकि इसके अनुसार ब्रह्मन् का कारणत्व केवल अप्रत्यक्ष होता है, और आभास जो शकर के अनुसार मिथ्या आरोपण है उनका कोई कारण नही माना जाता है, अत वे मानते हैं कि ब्रह्मन् ने अपनी इच्छा से सत्, चित् एव आनन्द के तत्वो के प्राबल्य के द्वारा स्वय को जड-पदार्थ जीव एव ब्रह्मन्

[1] वल्लभ का 'अनुभाष्य' पृ० ८५ ।

[2] पुरुषोत्तम की टीका, पृ० ८६ ।

[3] देखिए 'सिद्धान्तलेश' (लैजारस का सस्करण, १८९०), पृ० १२–१३ ।

नामक अपने तीन रूपों में अभिव्यक्त किया है। इसलिए ब्रह्मन् जगत् का 'समवायि-कारण, माना जाता है।[1]

भास्कर भी यह मानते हैं कि ब्रह्मन् का एक साथ ही जगत से अभेद और भेद हैं, जैसे समुद्र का एक अर्थ में लहरों से अभेद होता है तथा अन्य अर्थ में भेद होता है। यह निर्देश अर्थ-हीन है कि एक वस्तु अपनी विरोधी नहीं हो सकती, क्योंकि उसका इस रूप में अनुभव किया जाता है। विषयों के रूप में सर्व वस्तुएं एक मानी जा सकती हैं, किन्तु इस कारण से उनके विशिष्ट लक्षणों एवं अस्तित्व का अपवर्जन नहीं हो जाता, वस्तुतः उष्ण एवं शीतल अथवा अग्नि एवं स्फुलिंग की भाँति ब्रह्मन् एवं जगत् में कोई विरोध अथवा व्याघात नहीं है, क्योंकि जगत का उनसे स्फुरण हुआ है, उसमें पालन होता है तथा उसमें लय होता है। साधारण व्याघात के उदाहरण में ऐसा नहीं होता, जब घट मृत्तिका से उत्पन्न किया जाता है, तब यद्यपि मृत्तिका एवं घट भिन्न प्रतीत हो सकते हैं, तथापि घट का मृत्तिका के बिना कोई अस्तित्व नहीं होता है—पूर्वोक्त की पश्चादुक्त में स्थिति रहती है। इसलिए कार्य के रूप में जगत में नानात्व है और कारण के रूप में उसका ब्रह्मन् से अभेद है।[2]

उससे एक रूप न होते हुए भी वल्लभ का दृष्टिकोण भास्कर के दृष्टिकोण के अति निकट है, वे मानते हैं कि वही ब्रह्मन् अपनी पूर्णता में जगत् के सर्व विषयों में तथा जीवों में विद्यमान रहता है। उसने विभिन्न रूपों में केवल कुछ गुणों को उनके प्रबल रूप में अभिव्यक्त किया है, इसलिए नानात्व में किसी विकार का समावेश नहीं होता। इसी कारण से वे 'उपादानकारण' की तुलना में 'समवायिकारण' पद को अधिक पसन्द करते हैं, उनके अनुसार 'समवायिकारण' का प्रत्यय सार्वभौम एवं निरुपाधिक व्याप्ति में निहित होता है। 'उपादान' के प्रत्यय में विकार के प्रत्यय का समावेश होता है, यद्यपि विकार से उत्पन्न कार्य 'उपादान' (अथवा उपादान कारण) में स्थित रहते हैं, और यद्यपि उनका अन्ततः उसमें विलय हो जाता है।[3] जहाँ तक ब्रह्मन् का सर्व नानात्व में अभेद माना जाता है, वल्लभ भास्कर से सहमत है।

पुन वल्लभ अन्य वेदान्त के विचारकों की भाँति 'समवाय' संबंध को अस्वीकृत करते है, यद्यपि वे ब्रह्मन् को जगत् का 'समवायिकारण' मानते हैं। उनका 'समवाय' का खण्डन शकर एवं रामानुज जैसे अन्य वेदान्त के व्याख्याकारों की ही पद्धति का अनुकरण करता है, और उसकी यहाँ पुनरावृत्ति आवश्यक नहीं है। वल्लभ के अनुसार 'समवाय' समवाय का सबध नही होता, जैसाकि न्याय लेखकों द्वारा स्वीकार किया जाता है, उनके अनुसार उसका अर्थ 'तादात्म्य' होता है। नैयायिकों के अनुसार 'समवाय' कार्य एव 'कारण' गुणो एव द्रव्यों तथा सामान्यों एव द्रव्य के मध्य स्थित समवाय का सबध होता है, किन्तु वल्लभ कहते है कि यहाँ इन युग्मों को सयुक्त करने के लिए कोई पृथक् समवाय का सबध नहीं होता, स्वय द्रव्य ही क्रिया, गुण एव कारण व कार्य के रूप मे प्रकट होता है। इस प्रकार केवल तादात्म्य की विविध रूपो मे अभिव्यक्ति ही हमे वैपरीत्य मे नानात्व का प्रत्यय प्रदान करती है, वस्तुत समवाय सबध द्वारा एक साथ सबधित माने जाने वाले विविध रूपों मे कोई भेद नही होता।[1]

अपने 'प्रस्थान-रत्नाकर' मे पुरुषोत्तम कहते हैं कि 'माया' ब्रह्मन् की एक शक्ति है, और इस प्रकार उससे अभिन्न है (मायाया अपि भगवच्छक्तित्वेन शक्तिमद-भिन्नत्वात्),[2] 'माया' और 'अविद्या' एक ही हैं। इस 'माया' के द्वारा ही ईश्वर नानात्व के रूप मे स्वय को अभिव्यक्त करता है। यह अभिव्यक्ति न तो एक दोष होता है और न एक सम्भ्रान्ति, वह विकार अथवा परिणाम के प्रत्यय को समाविष्ट किए बिना ईश्वर की विविध रूपो मे एक यथार्थ अभिव्यक्ति होती है। इस प्रकार जगत् यथार्थ है, क्योकि वह ईश्वर की यथार्थ अभिव्यक्ति है। ब्रह्मन् स्वय सत्, चित् व आनन्द स्वरूप होने के कारण स्वय को किसी भी उपकरण की सहायता के बिना अपने आंशिक पक्षो मे अभिव्यक्त कर सकता है। ब्रह्मन् को ज्ञान, आनन्द, क्रिया, काल, इच्छा, 'माया' एव 'प्रकृति' नामक अपने अंशो अथवा लक्षणों मे संकल्पित करना सम्भव है। 'काल' क्रियाशक्ति का प्रतिनिधित्व करता है। 'काल' के द्वारा सृष्टि एव प्रलय के निर्धारण का अर्थ उसकी क्रिया-शक्ति का परिसीमन होता है, इस क्रिया-शक्ति से निर्धारित होकर उसके अन्य पक्ष निरन्तर उसके साथ-साथ क्रिया करते है। अपनी इच्छा से वह अपनी आत्माओ को स्वय से भिन्न सकल्पित करता

---

[1] ननु दूषिते समवाये अयुत सिद्धयो क सम्बन्धोऽङ्गीकर्त्तव्य इति चेत्तादात्म्यमेव इति ब्रूम। कथमिति चेतित्थ प्रत्यक्षाद् यद्-द्रव्य यद्-द्रव्य-समवेत तद् तदात्मकमिति व्याप्ते कारण-कार्य-तादात्म्य द्रव्ययोर्निर्विवादम्।

—वही, पृ० ६२७।

[2] 'प्रस्थान—रत्नाकर' पृ० १५६।

अत. वह 'जीवो' मे कुछ ऐसे ही सार है जिनसे ईश्वर प्रसन्न हो सकता है और जिनको वह सम्पूर्ण ज्ञान-शक्ति प्रदान कर सकता है, ऐसे व्यक्तियो पर भ्रान्ति-पूर्ण 'माया' अपना प्रभुत्व त्याग देती है, इस प्रकार वे अपने विशुद्ध नित्य स्वरूप मे एक मुक्त अवस्था मे रहते है, किन्तु उन्हे जगत के व्यापारो को नियन्त्रित करने की शक्ति प्राप्त नही हो सकती ।

ब्रह्मन् का 'स्वरूप' दृष्टि से तथा 'कारण' दृष्टि से एक भिन्न प्रकार से वर्णन किया जा सकता है । 'स्वरूप' दृष्टि से ईश्वर रस, ज्ञान एवं ज्ञान व क्रिया के रूप मे तीन पक्षो मे देखा जा सकता है । वेदो के कर्म काण्डीय क्षेत्र में विहित कारण द्वितीय पक्ष मे उनके स्वरूप का प्रतिनिधित्व करते है । तृतीय पक्ष का प्रतिनिधित्व 'शक्ति'–भाग मे होता है जिसमे ईश्वर ज्ञान, क्रिया व आनन्द के रूप मे माना जाता है । कारण पक्ष मे 'अन्तर्यामिनो' का प्रसंग आता है, जो यद्यपि वस्तुत ब्रह्मस्वरूप होते है, तथापि 'जीवो' के अधीश्वर बनकर उनके कार्यों मे सहायता प्रदान करते है,[1] इस प्रकार 'अन्तर्यामिन्' 'जीवो' के समान ही अनन्त होते है । किन्तु उक्त 'अन्तर्यामिनो के अतिरिक्त ईश्वर एक 'अन्तर्यामिन' भी माना जाता है, और उसका 'अन्तर्यामि-ब्राह्मण' मे ऐसा ही वर्णन किया गया है ।

तत्व

काल भी ईश्वर का एक रूप माना जाता है । 'काल' के प्रसग मे कर्म एव स्वभाव का समावेश होता है । काल का स्वरूप-लक्षण सत्, चित् व आनन्द है, यद्यपि व्यवहार मे वह सत्वाश ही प्रकट होता है ।[2] वह अतीन्द्रिय होता है तथा केवल कार्यों के स्वरूप मे ही अनुमित किया जा सकता है (कार्यानुमेय) । उसकी परिभाषा नित्य व्यापक तथा सकल वस्तुओ के कारण एव अधिष्ठान के रूप मे दी जा सकती है । काल 'गुणो' की साम्यावस्था को विक्षुब्ध करने वाला प्रथम कारण होता है । सूर्य, चन्द्र आदि उसके 'आधिभौतिक' रूप है, परमाणु उसके 'आध्यात्मिक रूप है, और ईश्वर उसका 'आधिदैविक' रूप है । सूर्य एक परमाणु से गुजरने मे जितना समय लगाता है उसे काल-परमाणु कहते है, इस प्रकार वह अत्यधिक लघु होने

---

[1] अन्तर्यामिणा स्व-रूप-भूतत्वेऽपि जीवेन सह कार्ये प्रवेशात् तद् भेदानामानन्त्येऽपि कारनी-भूत-वक्ष्यमाण-तत्त्व-शरीरे प्रविश्य तत्-सहाय-करणात् कारण-कोटावेव निवेशो न तु स्व-रूप-कोटौ । —वही, पृ० १६४–५ ।

[2] एतस्यैव रूपान्तर काल-कर्म-स्वभावा कालस्याश-भूतौ कर्म-स्वभावौ तत्र अन्त सच्चिदानन्दो व्यवहारे ईशत्त्सत्वाशेन प्रकट काल इति कालस्य स्वरूप-लक्षण ।

—वही, पृ० १६५ ।

के कारण आगे विभाजित नही किया जा सकता । लघुतम काल की इकाइयो के सघात से ही काल के दीर्घ विस्तार की उत्पत्ति होती है, क्योकि काल एक ऐसा सर्व-व्यापी स्वरूप का अंगी नही है, जिसका अश लघुतर काल की इकाइयाँ होती हैं ।

'कर्म' सार्वभौम माना जाता है, वह इस या उस व्यक्ति के विशिष्ट कर्मों के विविध रूपो एव विशिष्ट अवस्थाओ के रूप मे ही अपनी अभिव्यक्ति करता है । चू कि यह सार्वभौम 'कर्म' ही विविध मानवो के विभिन्न कर्मो के रूप मे स्वय को अभिव्यक्त करता है, इसलिए आत्मन् मे स्थित एक पृथक् पदार्थ के रूप मे 'अदृष्ट' को मानना अनावश्यक है, जो एक 'कर्म' के विनष्ट होने पर शेष रहता है और एक दूरस्थ काल के पश्चात् उसके फल को प्रदान करता है, 'धर्म' एव 'अधर्म' को भी महत्वपूर्ण पदार्थों के रूप मे स्वीकार करना अनावश्यक है, क्योकि वे सब इस सर्वभौम 'कर्म' के प्रत्यय मे समाविष्ट हो जाते हैं जो स्वय को विविध अवस्थाओ मे विविध रूपो मे प्रकट करता है । इस प्रकार 'धर्म' एव 'अधर्म' पदो का अनुप्रयोग केवल तार्किक अभिव्यजना की विधि है, इस प्रकार वह इस तथ्य की व्याख्या करता है कि एक विशिष्ट कर्म कैसे 'अदृष्ट' की मध्यस्थता के बिना 'स्वर्ग' की उत्पत्ति कर सकता है, अथवा कैसे एक व्यक्ति का 'कर्म' (पुत्रेष्टि 'यज्ञ') अन्य व्यक्ति अर्थात् पुत्र मे फल उत्पन्न कर सकता है । यह शास्त्रो द्वारा की गई व्याख्या की अवस्थाओ के द्वारा निर्धारित होता है कि एक 'कर्म' को उसके कर्त्ता एव अन्य व्यक्तियो के सबध मे अपने फलो की अभिव्यक्ति कैसे करनी चाहिए ? एक फल की विशिष्ट केन्द्रो मे विशिष्ट रूपो मे उत्पत्ति का अर्थ उसका विनाश न होकर उसका लोप होता है ।[1]

'स्वभाव' को एक पृथक् तत्व माना जाता है । उसका भी ईश्वर से तादात्म्यीकरण किया जाता है, उसका व्यापार ईश्वर की इच्छा को अनुप्रेरणा मे निहित होता है । इसलिए उसकी परिभाषा के परिणाम के हेतु के रूप मे की जाती है (परिणाम-हेतुत्व तल-लक्षणम्), वह सार्वभौम होता है और अन्य सभी वस्तुओ से पूर्व अपनी अभिव्यक्ति प्राप्त करता है । किन्तु, ऐसे सूक्ष्म परिणाम हो सकते हैं जो पहले दिखाई नही देते, किन्तु जब वे प्रकट होते हैं, तो वे 'स्वभाव' के व्यापार की पूर्वापेक्षा रखते हैं, जिसके बिना वे उत्पन्न नही हो सकते थे । इसी से अठाईस 'तत्व' विकसित हुए हैं—उनको 'तत्व' कहा जाता है क्योकि वे 'तत्' अर्थात् ईश्वर के स्वरूप के होते हैं, उस

[1] तल्लक्षणं च विधि-निषेध-प्रकारेण लौकिक क्रियादि प्रदेशतोऽभिव्यञ्जन-योग्या व्यापिका क्रियेति । एतेनैवादृष्टस्याप्यात्म-गुणत्व निरासेन वेदितव्यम् । एवमापूर्वादृष्टधर्मादिपदे रूपादिमेवोच्यते । अत साधारण्येऽपि फलव्यवस्थोपपत्तेर्न कर्म-नानात्वमितरदि । ज्ञान-हिंसादौ तु धर्माधर्मादि-प्रयोगोऽभिव्यञ्जकत्वोपाधिना ज्ञानं । —वही, पृ० १६८–९ ।

प्रकार सकल 'तत्व' ईश्वर की अभिव्यक्ति होते है। 'स्वभाव' की अभिव्यक्ति मे समाविष्ट कारणता एक विशिष्टत कारणता होती है जो एक निश्चित कारण का अनुसरण करती है और 'तत्वो' के विकासात्मक क्रम को उत्पन्न करती है, इस अर्थ मे वह ईश्वर की इच्छा की कारणता से भिन्न होती है, और केवल एक सामान्य रूप मे कारण होती है। इन तत्वो मे 'सत्व' वह है जो सुख एव ज्ञान प्रकाशत्व-स्वरूप होने और सुख की अभिव्यक्ति मे बाधक न होने के कारण जीवो मे सुख एव ज्ञान के प्रति असक्ति का कारण बनता है।[1] 'रजस्' वह है जो आसक्ति-स्वरूप होने के कारण जीवो मे अभिनिवेश अथवा कर्मों की इच्छा उत्पन्न करता है। 'तमस्' वह है जो जीवो मे त्रुटिया, आलस्य, निद्रा आदि की प्रवृत्ति उत्पन्न करता है। उक्त 'गुणो' का साख्य-मत एव वल्लभ के मत (जो 'पचरात्र,' 'गीता' व 'भागवत' का अनुसरण करता है, ऐसा माना जाता है) मे अन्तर है। इस प्रकार, साख्य के अनुसार, 'गुण' स्वय क्रियाशील होते हैं, किन्तु वे अमान्य हैं, क्योकि इनसे स्वभाववाद और निरीश्वर-वाद की उत्पत्ति होगी। और न 'रजस्' की यह परिभाषा दी जा सकती है कि वह दुख स्वरूप है, क्योकि प्रामाणिक शास्त्र उसके आसक्ति रूप होने का कथन करते हैं। जब इन गुणो की ईश्वर से उत्पन्न होने की सकल्पना की जाती है तब वे ईश्वर की चिच्छक्ति-रूप एव आनन्द-रूप 'माया' के स्वरूप के माने जाते हैं।[2] इन्हे (सत्व, रजस् व तमस् को) 'माया' की उपज के रूप मे 'माया' से एक रूप मानना चाहिए। और न ये 'गुण' पदार्थ होते हैं, जैसाकि साख्य द्वारा सकलिपत किया गया है, और न ये परस्पर समस्यात्मक रूप मे मिश्रित होते हैं, वरन् उनका सहयोग केवल 'पुरुष' के निर्माण के हेतु होता है। इस प्रकार, जैसे रुई अपना विस्तार ततुओ के रूप मे करती है वैसे ही ईश्वर 'माया' के रूप मे अपनी अभिव्यक्ति करता है। निर्गुण के रूप मे ईश्वर स्वय ही अपने सर्व गुणो को उत्पन्न करता है, अपने सत्-अश मे वह 'सत्व' को उत्पन्न करता है, अपने आनन्दाश में वह 'तमस्' को उत्पन्न करता है और अपने चिद्-अश मे वह 'रजस्' को उत्पन्न करता है।[3]

'पुरुष' अथवा 'आत्मन्' की परिभाषा तीन दृष्टिकोणो से दी जा सकती है—उसकी अनादि, गुण-रहित, 'प्रकृति' के नियन्त्रक, एव अहमर्थ के विषय के रूप मे

[1] सुखानावरकत्वे प्रकाशकत्वे सुखात्मकत्वे च सति सुखास्क्त्या ज्ञानासक्त्या च देहिनो-देहाद्यासक्ति-जनक सत्त्वम्।

—'अनुभाष्य' पर टीका, पृ० १७०।

[2] एते च गुणा यदा भगवत सकाशादेव उत्पद्यन्ते तदा माया चिच्छक्ति-रूपा आनन्द-रूपा विज्ञेया।

—वही, पृ० १७१।

[3] सदशात् सात्वम्, आनन्दाशात् तम चिदशात् रजस्।

—वही, पृ० १७२।

व सप्रत्यक्षनीय के रूप मे परिभाषा की जा सकती है, उसकी केवल स्व-प्रकाशक के रूप मे भी परिभाषा की जा सकती है, और, पुन, उसकी इस रूप मे भी परिभाषा की जा सकती है कि वह यद्यपि जगत् के गुणो अथवा दोषो से वस्तुत· प्रभावित नही होता है, तथापि उनसे साहचर्य रखता है। एक स्व-प्रकाश व आनन्दमय स्वरूप की आत्म-सत्ता सर्व-प्रकार के विषयो के अभाव मे भी एक प्रकार की चेतना एव आनन्द होते है, जैसाकि सुषुप्ति अवस्था मे होते हैं। इस प्रकार चैतन्य ही आत्मन् के यथार्थ स्वरूप का प्रतिनिधित्व करता है, जो हमारे साधारण अनुभव मे विविध प्रकार के अज्ञान मे सम्बन्धित होता है और स्वय को ज्ञान के विषयो से परिसीमित करता है। 'पुरुष' एक है, यद्यपि वह भगवद् की इच्छा के कारण 'माया' की भ्रान्ति-जनक शक्ति के द्वारा अनेक के रूप मे भासित होता है। इस प्रकार कर्त्ता एव भोक्ता का प्रत्यय भ्रान्ति के कारण उत्पन्न होता है। इसी कारण से मोक्ष सम्भव होता है, क्योकि यदि 'पुरुष' स्वभावत स्वतन्त्र व मुक्त नही होता तो उसे किसी भी साधन से मुक्त करना सम्भव नही होगा। चूकि 'पुरुष' स्वभावत स्वतन्त्र होता है, इसीलिए जब वह एक बार मुक्त हो जाता है तब उसका फिर कोई बन्धन नही हो सकता। यदि बन्धन बाह्य अशुद्धताओ से साहचर्य के रूप का होता तो मोक्ष मे भी किसी भी समय उक्त अशुद्धताओ से साहचर्य का फिर अवसर बना रहता, चूकि सर्व बन्धन व अशुद्धताए भ्रान्ति के कारण होते हैं इसलिए जब एक बार वह टूट जाता है तब फिर से किसी बधन की कोई सभावना नही रहती।[1] परन्तु 'प्रकृति' दो प्रकार की होती है—(अ) 'अज्ञान' मे सबधित प्रकृति—जो विकासात्मक क्रम का कारण होती है, और (ब) ईश्वर मे स्थित—'प्रकृति' जो ईश्वर अथवा ब्रह्मन् मे सर्व वस्तुओ को धारण करती है। 'जीव' अथवा प्रापचिक व्यक्ति 'पुरुष' का एक अश माना जाता है। यह स्मरण रखना चाहिए कि 'पुरुष' के प्रत्यय का ब्रह्मन् के प्रत्यय से तादात्म्य होता है, इस कारण से 'जीव' एक ओर तो 'पुरुष' का अश माना जा सकता है, और दूसरी ओर अविकारी ब्रह्मन् का अश माना जा सकता है। 'जीव' के विभिन्न प्रकार के अनुभव यद्यपि 'कर्म' से उत्पन्न प्रतीत होते हैं, तथापि वस्तुत वे भगवद्-इच्छा मे उत्पन्न होते हैं, क्योंकि जिस किसी का भी ईश्वर उत्थान चाहता है, उससे वह सत्कर्म करवाता है, और जिस किसी का भी वह पतन चाहता है उससे वह असत्कर्म करवाता है। 'प्रकृति' अपने प्रमुख अर्थ मे ब्रह्मन् मे एक-रूप होती है, वह ब्रह्मन् का ऐसा

---

[1] एव तस्य केवलत्वे सिद्धे यस्तस्मिन् कर्तृवादिना सगुणत्वप्रत्यय स सृष्ट्यनुकूल भगवदिच्छया प्रकृत्याद्यविवेक कृत अतैव च मुक्ति-योग्यत्वम्। अन्यथा बन्धस्य स्वाभाविकत्वापत्तौ मोक्ष-शास्त्र-वैयर्थ्यापत्ते स्वाभाविकस्य नाशायोगात् प्रवृत्ति-विधौ नु अनुष्ठान-लक्षणाप्रामाण्यापत्तेश्च मोऽय न नाना, किन्त्वेकैव सर्वत्र।
—वही, पृ० १७५–६।

स्वरूप है जिससे वह जगत् की सृष्टि करता है। जिस प्रकार ब्रह्मन् एक ओर सत्, चित् व आनन्द से एक-रूप होता है, तथा दूसरी ओर वह उनसे सबधित माना जाता है, उसी प्रकार 'प्रकृति' 'गुणो' का तादात्म्य तथा उनकी स्वामिनि मानी जा सकती है। यही वल्लभ-मत की 'प्रकृति' का सांख्य-मत की 'प्रकृति' से विभेद है। 'महत्' आदि अन्य तत्व न्यूनाधिक सांख्य-प्रणाली के अनुसार ही 'प्रकृति' से निरमित होते हुए माने जाते हैं, परन्तु 'मनस्' को एक 'इन्द्रिय' नही माना जाता।

प्रमाण

पुरुषोत्तम कहते है कि 'ज्ञान' अनेक प्रकार का होता है। इनमे से 'नित्य-ज्ञान' चार प्रकार का होता है–ईश्वर का स्वरूप जिसमे उनका सर्व सत्ताओ से तादात्म्य होता है और वह 'मोक्ष-स्वरूप' होता है, उनके महान् व भद्र गुणो की अभिव्यक्ति, सृष्टि के प्रारम्भ मे वेदो के रूप मे उसकी अभिव्यक्ति, ईश्वर के सकल ज्ञेय रूपो मे शाब्दिक ज्ञान के रूप मे उसकी अभिव्यक्ति। शाब्दिक ज्ञान मे उसका रूप स्वय को व्यक्तियो मे अभिव्यक्त करता है, इसी कारण से शब्दो के माहत्यं के बिना कोई ज्ञान नही हो सकता–गू गो मे भी, जिनके वाणी नही होती, सकेत होते है जो भाषा का स्थान लेते हैं। यह पाँचवे प्रकार का ज्ञान है। फिर, एक प्रकार का इन्द्रिय-ज्ञान होता है और चार प्रकार का मानसिक ज्ञान होता है। मानसिक ज्ञान मे वह ज्ञान जो 'मनस्' द्वारा उत्पन्न होता है 'सशय' कहलाता है, मनस् का व्यापार 'सकल्प' एव 'विकल्प' होता है। 'बुद्धि' का व्यापार सशय का अतिक्रमण करके निश्चय के रूप मे ज्ञान को उत्पन्न करता है जो एक दोलायमान स्वरूप का होता है। स्वप्नो का ज्ञान ज्ञान से सबधित 'अहकार' से उत्पन्न होता है। 'चित्त' सुपुप्ति की अवस्था मे आत्मन् का प्रत्यक्षीकरण करता है। इस प्रकार 'अन्त करण' का चतुर्विध ज्ञान होता है, यह एव इन्द्रिय-ज्ञान तथा पूर्व-कथित पांच प्रकार के ज्ञान दस प्रकार के ज्ञान को निर्मित करते हैं। एक अन्य दृष्टिकोण से 'काम,' 'सकल्प,' 'विचिकित्सा,' 'श्रद्धा,' 'अश्रद्धा,' 'धृति,' 'अधृति,' 'ह्री,' 'धी,' 'भी' सभी मनस् होते है। सुख एव दु ख भी उसी मे स्थित रहते हैं क्योकि वे इन्द्रियो से सबधित नही होते। ज्ञान केवल तीन क्षणो तक ही नही रुकता, किन्तु तबतक बना रहता है जबतक कि उसका ज्ञान के अन्य विषयो के द्वारा अतिक्रमण नही हो जाता, और तब भी वह 'सस्कार' के रूप मे शेष रहता है। यह इस तथ्य से सिद्ध होता है कि 'मनस्' तब उसकी ओर अपना ध्यान निर्दिष्ट करता है तब वह उसे स्मृति मे खोज सकता है, चू कि मनस् अन्य विषयो मे व्यस्त रहता है इसलिए उक्त ज्ञान की खोज नही की जा सकती। 'स्मृति' को उचित अभ्यास से दृढ़ बनाया जा सकता है, तथा वस्तुओ का विस्मरण अथवा त्रुटिपूर्ण स्मरण विविध प्रकार के दोषो के कारण हो सकता है, इन उदाहरणो मे भी ज्ञान का विनाश नही होता, बल्कि 'माया' के प्रभाव से वह आवृत्त रहता है।

होता है। प्रत्यक्ष मे जिस सिद्धान्त का अनुसरण किया जाता है वह नानात्व के रूप मे ब्रह्मन् की ब्रह्माण्डीय अभिव्यक्ति के अनुरूप होता है, जिसमे विशुद्ध ब्रह्मन् अपनी इच्छा एव विचार के द्वारा स्वय को अनेकता के रूप मे प्रकट करता है, यद्यपि वह सर्व काल मे स्वय मे एक बना रहता है, प्रत्यक्षीकरण की दशा मे इन्द्रिया अपने प्राथमिक अनुप्रयोग से 'सत्व' को प्रवाहित करती है जिसके फलस्वरूप विशुद्ध सत् का सप्रत्यक्ष होता है, जो बाद मे इन्द्रियो के साहचर्य मे क्रियाशील 'अन्त करण' के 'रजस' तत्व के द्वारा नाम रूप से सम्बन्धित हो जाता है। सविकल्पक ज्ञान दो प्रकार का होता है,– विशिष्ट–बुद्धि 'और' 'समूहालम्बन-बुद्धि', पूर्वोक्त का अर्थ है सम्बन्धित ज्ञान ('लाठी लिए हुए एक मनुष्य'), तथा पश्चादुक्त का अर्थ है वस्तुओ के समूह के रूप मे ज्ञान ('एक लाठी और एक पुस्तक') सरल विषयो (यथा घट) का ज्ञान एक सम्बन्धित ज्ञान माना जाता है। ये सभी विविध प्रकार के सविकल्पक ज्ञान वस्तुत एक ही प्रकार के होते है, क्योकि वे सब इन्द्रियो द्वारा सत् की अभिव्यक्ति एव 'अन्त करण' द्वारा नाम-रूप के आरोपण के सरल व्यापार मे निहित होते हैं।

एक अन्य दृष्टिकोण से सविकल्पक ज्ञान पाँच प्रकार का हो सकता है,–(१) सशय, (२) विपर्यास, (३) निश्चय, (४) स्मृति और (५) स्वरूप।

'सशय' की परिभाषा एक ही विषय मे दो या अनेक विरोधी धर्मों के ज्ञान के पैर रूप मे की जाती है (एकस्मिन धर्मिणि विरुद्ध-नाना-कोट्य-अवगाहि ज्ञान सशयम्)। 'विपर्यय' की परिभाषा इन्द्रियो के सम्पर्क मे जो विषय है उनसे भिन्न बाह्य विषयो के ज्ञान-रूप मे की जाती है। 'निश्चय' का अर्थ है विषयो का सम्यक् ज्ञान, उक्त ज्ञान का स्मृति से विभेद करना आवश्यक है, क्योकि ज्ञान (अनुभव) का अर्थ सदा एक विषय का प्रत्यक्षीकरण होता है जबकि स्मृति केवल आभ्यनरिक होती है यद्यपि वह एक पूर्व अनुभव के द्वारा उत्पन्न होती है। उक्त सम्यक् ज्ञान प्रत्यक्षीकरण, अनुमान, शब्द और सादृश्य ('उपमिति' जो सादृश्य के ज्ञान से सम्बन्धित इन्द्रियो के द्वारा उत्पन्न होती है (सादृश्यादि सदकृतेन्द्रियार्थ-ससर्गज्ञान) हो सकता है।

यह सम्यक् ज्ञान दो प्रकार का हो सकता है–प्रत्यक्ष और परोक्ष। प्रत्यक्ष इन्द्रिय और उसके विषय के सत् सम्पर्क से उत्पन्न होता है (इन्द्रियार्थ सत्-सम्प्रयोग-जन्य-ज्ञानम्)।[1] स्मृति की परिभाषा एक ऐसे ज्ञान के रूप मे की जाती है जो न निद्रा से और न बाह्य विषयो से उत्पन्न होता है, बल्कि पूर्व सस्कारो से उत्पन्न होता है, जो पूर्व ज्ञान के सूक्ष्म अस्तित्व मे निहित होते है। स्वप्नानुभव विशिष्ट सृष्टि होते है, अतएव साधारण अनुभव के वस्तु जगत से उनका विभेद किया जाना चाहिए, वे ईश्वर द्वारा 'माया' से निर्मित किये जाते हैं। वस्तुत यह मध्व के मत से भिन्न है, क्योकि उसके अनुसार स्वप्नानुभव किसी भी सामग्री से रहित होते हैं और सृष्टि नही

[1] प्रस्थानरत्नाकर, पृ० २०।

माने जाने चाहिए, वे विचार द्वारा उत्पन्न भ्रम-मात्र होते हैं। वल्लभ के अनुसार स्वप्नानुभव सृष्टि होने के कारण उनके ज्ञान को भी यथार्थ मानना चाहिए। सुषुप्ति स्वप्नानुभवो की एक जाति-विशेष होती है जिसमे आत्मन् स्वय को अभिव्यक्त करता है (तत्र आत्म-स्फुरणतु स्वत स्व)। चिन्तन (सकल्प या विकल्प के रूप मे, अथवा अन्वय व्यतिरेक विधि के द्वारा, अथवा मानसिक सशय अथवा ध्यान के रूप मे) का स्मृति के अन्तर्गत समावेश किया जाता है। लज्जा, भय (ह्री, भी) आदि अहकार के व्यापार है ज्ञानात्मक वृत्तियो के नही। प्रत्यभिज्ञा को सम्यक् ज्ञान (निश्चय) माना जाता है। अभ्यास-जन्य दृढ ज्ञान की दशा मे तो पूर्वानुभव-सस्कार 'सहकारी' के रूप मे कार्य करते है और प्रत्यभिज्ञा की दशा मे स्मृति 'सहकारिणी' के रूप मे कार्य करती है।[1] इस प्रकार प्रत्यभिज्ञा स्मृति के कारण उत्पन्न मानी जाती है, पूर्वानुभव-सस्कार के कारण नही। इस अधिमान्यता का कारण यह है कि यद्यपि प्रत्यभिज्ञा मे पूर्वानुभव-सस्कार की प्रक्रिया होती है तथापि स्मृति का व्यापार उसमे प्रत्यक्ष सहायता प्रदान करता है। प्रत्यभिज्ञा का स्मृति से यह अन्तर है कि जहाँ पश्चादुक्त पूर्वानुभव-सस्कारो से अपरोक्ष रूप मे उत्पन्न होती है, वहाँ पूर्वोक्त वर्तमान प्रत्यक्षीकरण के साहचर्य मे स्मृति की प्रक्रिया मे अपरोक्ष रूप मे तथा पूर्वानुभव-सस्कारो की प्रक्रिया से परोक्ष रूप मे उत्पन्न होती हैं।

प्रमा एव भ्रम मे विभेद इस तथ्य मे निहित है कि पश्चादुक्त मे पूर्वोक्त से कुछ अधिक होता है, इस प्रकार शुक्ति-रजत के उदाहरण मे प्रमा शुक्ति के प्रत्यक्षीकरण मे निहित होती है, किन्तु मिथ्या ज्ञान उस पर आगे रजत के आरोपण मे निहित होता है, इस अतिरिक्त तत्व ही मे भ्रम निहित होता है।[2] कुछ ऐसे उदाहरण हो सकते हैं जो अशत सत्य होते है और अशत मिथ्या होते हैं तथा इनमे प्रमा की प्रबलता होने अथवा न होने के अनुसार ज्ञान को सत्य अथवा मिथ्या कहा जा सकता है। पुरुषोत्तम की इस कसौटी के अनुसार चित्रकला, कला-सृष्टि एव नाटकीय प्रतिरूपणो मे प्रत्यक्षीकरण मे प्रमा की प्रबलता होती है क्योकि वे अनुकरण के द्वारा ऐसे आनन्द

---

[1] अभ्यास-जन्ये दृढ-प्रतीति-रूपे ज्ञाने यथा पूर्वानुभव-सस्कार सहकारी तथा प्रत्यभिज्ञाया स्मृति सहकारिणी, विशेषणतावच्छेदक-प्रकारक निश्चयार्थ तस्या अवश्यमपेक्षणात्। अतो यथाऽनुग्राहकातर-प्रवेशेऽपि यथार्थानुभवत्वानपायादभ्यासज्ञान निश्चय-रूप तथा स्मृत्या विषयेण च पूर्व-स्थित-ज्ञानस्योद्दीपनात् प्रत्यभिज्ञाऽपि इति ज्ञेयम्। —वही, पृ० २५।

[2] भ्रम-प्रमा-समूहालम्बन तु, एक-देश-विकृतमनन्यवद् भवतीति न्यायेन भ्रमाधिक्ये विपर्यासैव। प्रमाधिक्ये च निश्चय।

—'प्रस्थानरत्नाकर,' पृ० २५–२६।

को उत्पन्न करते हैं जो उन वास्तविक विषयो द्वारा उत्पन्न किया जा सकता था—जिनका उन्होने अनुकरण किया है ।

पुरुषोत्तम 'करण' एव 'कारण' मे विभेद करते हैं । 'करण' उत्पन्न किए जाने वाले कार्यो के गतिशील कर्ता से सम्बन्धित एक असाधारण कर्ता होता है (व्यापार-वदसाधारणम्), 'कारण' शक्ति का वह आधार होता है जो आकृतियो के आविर्भाव एव तिरोभाव को उत्पन्न कर सके (आविर्भाव-शक्त्याधारत्व कारणत्वम्) । वह जो विशेष आकृतियो को उत्पन्न करता है, अथवा कुछ आकृतियो के तिरोभाव के लिए कार्य करता है, उसे क्रमश उनका कारण माना जाता है, इसलिए वह शक्ति जो एक उपादान कारण के कार्यो को हमारे व्यवहार के लिये अभिव्यक्त कर सकती है, उसे उक्त कार्य का 'आविर्भाव-कारण' माना जाता है । 'आविर्भाव' वस्तुओ का वह पक्ष होता है जिसके द्वारा अथवा जिसके कारण उनका अनुभव किया जा सके अथवा वे व्यवहार योग्य बन सकें, और उसका अभाव 'तिरोभाव' कहलाता है ।[1] उक्त आविर्भाव एव तिरोभाव की शक्तिया प्रधान रूप से ईश्वर मे होती हैं, तथा गौण रूप से उन विषयो मे होती है जिनके साथ उसने उन्हे विशिष्ट रूपो मे सम्बन्धित किया है । 'कार्य-नियत-पूर्व-वृत्ति' के रूप मे कारण की नैयायिक परिभाषा को अवैध माना जाता है क्योकि उसमे अन्योन्याश्रय-दोष का समावेश होता है । कार्य के सम्बन्ध मे नियत पूर्वता मे कारणता के प्रत्यय का समावेश होता है और कारणता मे निरुपाधिकता का समावेश होता है ।

कारण दो प्रकार का होता है—तादात्म्य (इसे 'समवायि' भी कहा जाता है) और निमित्त । पर इस तादात्म्य मे भेदाभेद के प्रत्यय का समावेश होता है, जिसमे भेद अभेद के एक प्रकार के रूप मे प्रतीत होता है, और अभेद को कारणता का सार-तत्व माना जाना चाहिए । पुरुषोत्तम द्रव्य एव गुण के प्रत्यय का परित्याग करते है, जिसकी 'समवाय' के सम्बन्ध के आधार पर व्याख्या की जाती है, और जिसमे द्रव्य को गुण का कारण माना जाता है, एक गुण द्रव्य के समकालीन अभिव्यक्ति मात्र होता है, और पश्चादुक्त को पूर्वोक्त का कारण नही माना जा सकता । 'उपादान कारण' का प्रत्यय दो प्रकार का होता है—अपरिवर्तनशील (यथा, घट आदि मे मृत्तिका की अपरिवर्तनशीलता), और परिवर्तनशील (यथा, निमित्त कारण मनस् के व्यापार के रूप मे ज्ञान की अभिव्यक्ति । उपादान कारण मे समाविष्ट अवयवो का सयोग

---

[1] उपादानस्य कार्यं या व्यवहार-गोचर करोति सा शक्तिराविर्भाविका ।
आविर्भावश्च व्यवहार-योग्यत्वम् । तिरोभावश्च तदयोग्यत्वम् ।
—वही, पृ० २६ ।

अथवा उनकी गति को एक पृथक् कारण नही माना जाता है, जैसाकि नैयायिको द्वारा माना जाता है, वरन् उसे उपादान कारण का एक भाग माना जाता है।

एक 'हेतु' के स्वरूप को निर्धारित करने वाली व्याप्ति का स्वरूप दो प्रकार का होता है—'अन्वय' और 'व्यतिरेक'। 'अन्वय' का अर्थ है एक तत्व का ऐसा भावान्वय कि केवल उसके सत्व से ही (उसके साथ उपस्थित अनेक निरर्थक तत्वो अथवा उपाधियो के मध्य मे) कार्य उत्पन्न होता है।[1] 'व्यतिरेक' का अर्थ है उस तत्व का अभाव जिसमे कार्याभाव का समावेश होता है, अर्थात् वह तत्व जो कार्य के अभाव मे अनुपस्थित रहता है (कार्यातिरेकेणानवस्थानम्)। कारणता का व्यापार वह व्यापार होता है जो कारण एव कार्य के मध्य एक कडी के रूप मे अस्तितव रखता है, इस प्रकार इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष का गतिशील कारण इन्द्रियो का व्यापार होता है। ईश्वर की इच्छा के उदाहरण मे जगत् की उत्पत्ति के लिए किसी गत्यात्मक व्यापार को अनिवार्य नही माना जाता।

'प्रत्यक्ष-प्रमाण' की परिभापा विभिन्न प्रकार के प्रत्यक्षीकरणो के अनुभव इन्द्रिय-शक्तियो के अनुसार की जाती है। इस प्रकार छ 'प्रमाण' होते है, अर्थात् दृष्टि-सवधी, स्पर्श-सवधी, रस-सवधी, श्रवण-सवधी, घ्राण-सवधी, एव मानसिक, शकर के अद्वैत-मत के विपरीत यहां मनस् को एक इन्द्रिय-शक्ति माना गया है। सर्व शक्तियाँ परमाण्वीय स्वरूप की मानी जाती है। दृश्येन्द्रिय रूप का प्रत्यक्ष तभी कर सकती है जब एक 'अभिव्यक्ति रूप' (उद्भूत-रूपवत्व) होता है, प्रेतो के परमाणु दृष्टि-गोचर नही होते क्योकि उनका कोई उद्भूत रूप नही होता। इसलिए विभिन्न इन्द्रियो द्वारा सर्व इन्द्रिय गुणो के प्रत्यक्षीकरण के लिए हमे यह मानना पडता है कि स्पर्श गन्ध आदि इन्द्रिय-गुणो के प्रत्यक्षीकरण के लिए उक्त गुण उद्भूत होने चाहिए।

शकर के अद्वैतवादी वेदात के समान यहाँ तमस् (अधकार) को एक पृथक् तत्व माना जाता है न कि प्रकाश का अभाव मात्र माना जाता है। स्वय अभाव को उस आश्रय के भावात्मक अस्तितव के रूप मे माना जाता है जिसमे अभाव निषेध किए गए विषय के आविर्भाव अथवा तिरोभाव के सबध मे प्रकट होता है। इस प्रकार एक घट के 'प्रागभाव' के उदाहरण मे उस उपादान कारण को ही घट का प्रागभाव माना जाता है जो घट के आविर्भाव मे सहायक होगा। 'ध्वसाभाव' के उदाहरण मे वह कारण घट के तिरोभाव मे सहायक होता है, और इस प्रकार उस विशेप गुण से सबधित होता है जिसे ध्वसाभाव माना जाता है। इस प्रकार अभाव के प्रत्यय का

---

[1] तत्र स्व-स्व-व्याप्येतर-यावत्कारण-सत्त्वे यत्सत्त्वे अवश्य यत्सत्त्वमन्वय।

—वही, पृ० ३२।

कारण के प्रत्यय मे समावेश किया जाता है, अत अभाव 'समवायिकारण' का एक विशिष्ट प्रकार है, और इसलिए उसका उससे तादात्म्य होता है।

वस्तुओ के दृष्टि-प्रत्यक्ष की विधि के सबध मे साख्य और वेदात एक 'वृत्ति' की उपस्थिति को स्वीकार करते हैं ('वृत्ति' का अर्थ मानसिक अवस्था होता है) जब एक वस्तु की ओर देखकर हम अपनी आँखो को बंद कर लेते है, तब उस विषय की एक पश्चात्-प्रतिमा का उदय होता है। यह पश्चात् प्रतिमा स्वय उस विषय मे स्थित नही हो सकती, क्योकि हमारी आँखें बन्द होती हैं, वह 'अहकार' अथवा 'बुद्धि' मे स्थित होनी चाहिए। सारय और वेदात के द्वारा यह माना जाता है कि उक्त 'वृत्ति' निकट एव सुदूर बाह्य विषयो तक जाती है और इस प्रकार 'बुद्धि' एव विषय मे एक सबध को स्थापित करती है। सहज ही यह आपत्ति उठाई जा सकती है कि उक्त 'वृत्ति' एक द्रव्य नही होती अतएव वह दूर-दूर तक गमन नही कर सकती। साख्य और वेदात यह प्रत्युत्तर देते है कि चूकि ऐसा गमन प्रत्यक्षीकरण के तथ्यो द्वारा सिद्ध होता है इसलिए हमे उसे स्वीकार करना पडता है, ऐसा कोई नियम नही है कि केवल अस्तित्ववान द्रव्य ही गमन करने की योग्यता रखते हैं, और द्रव्य के अभाव मे कोई गमन नही होना चाहिए। किन्तु नैयायिको का मत है कि कुछ किरणें आँखो से विकीर्ण होती हैं और विषय तक जाती है, जिससे 'मनस्' एव 'आत्मन्' के साहचर्य मे इन्द्रिय-सन्निकर्ष उत्पन्न होता है और फलत इन्द्रिय-प्रत्यक्ष होता है, इसलिए वे एक पृथक् 'वृत्ति' के अस्तित्व को स्वीकार नही करते। किन्तु पुरुषोत्तम 'वृत्ति' को स्वीकार करते हैं, पर उसी रूप मे नही जिस रूप मे वेदाती और साख्य स्वीकार करते है, उनके अनुसार यह 'वृत्ति' 'बुद्धि' की एक अवस्था होती है जो काल-तत्व के द्वारा उत्पन्न की जाती है और जिसके 'सत्व' गुण की प्रबलता को अभिव्यक्त किया है। इस प्रकार काल को 'बुद्धि' मे स्थित एक तत्व के रूप मे स्वीकार किया जाता है, न कि इन्द्रियो मे स्थित तत्व के रूप मे जैसाकि शकर के वेदान्त मे माना जाता है ('वेदान्त परिभाषा' मे धर्म राजा-ध्वरन्द्रि द्वारा की गई व्याख्या के अनुसार)। उनके अनुसार काल का कोई वर्ण नही होता, किन्तु फिर भी उसको दृश्येन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष किया जा सकता है। किन्तु पुरुषोत्तम के अनुसार काल बुद्धि का एक निर्धारक होता है, तथा अन्य उपसाधनो सहित मानसिक प्रकाश के लिए उत्तरदायी होता है, वे आगे कहते हैं कि विषय से उत्पन्न किरणें नेत्र-गोलक का वेधन करती हैं और उसमे कतिपय सस्कारो को उत्पन्न करती हैं जो नेत्र के बद होने के कारण किरणो के रुक जाने पर भी शेष रहते हैं। ये नेत्र-पटल-गत सस्कार 'सत्व-गुण' की अभिव्यक्ति रूपिणी 'बुद्धि' मे प्रकाश की उत्पत्ति के उपसाधन होते हैं।[1] इस प्रकार 'वृत्ति' 'बुद्धि' की एक अवस्था होती है।

[1] उक्त सन्निकर्ष-जन्यमपि सविकल्पक ज्ञान चक्षुपादि-भेदेन बुद्धि-वृत्त्या जन्यत इति

शुक्ति-रजत के मिथ्या प्रत्यक्ष मे यह माना जाता है कि 'रजस्' की शक्ति से पूर्वकाल मे अनुभूत रजत के सस्कार प्रत्यक्षीकरण के विपय पर आरोपित हो जाते है, तथा 'तमस्' के द्वारा शुक्ति का स्वरूप आच्छादित हो जाता है, इस प्रकार एक शुक्ति का रजत के रूप मे प्रत्यक्षीकरण होता है।

निर्विकल्पक ज्ञान, उस अवस्था मे उदित होता है जब 'बुद्धि' इन्द्रिय-प्रक्रिया के प्राथमिक क्षण मे सक्रिय होती है, और वह सविकल्पक तब बनता है जब इन्द्रिय-शक्ति के साहचर्य मे 'वृत्ति' के रूप मे बुद्धि रूपान्तरित होती है। यद्यपि एक 'वृत्ति' के उदय होने पर पूर्व 'वृत्ति' तिरोहित हो जाती है तथापि वह 'सस्कार' के रूप मे बनी रहती है, जब ये 'सस्कार' वाद मे विशिष्ट कारणो अथवा अवस्थाओ के द्वारा जाग्रत किए जाते हैं, तब हममे स्मृति उत्पन्न होती है।

किन्तु ईश्वर-साक्षात्कार साधारण प्रत्यक्षीकरण से उत्पन्न नही होता। ईश्वर के स्वरूप का साक्षात्कार केवल उसके अनुग्रह से प्राप्त किया जा सकता है, जो सर्व-भूतो मे 'भक्ति' का वीज होता है, व्यक्ति मे यह अनुग्रह भक्ति के रूप मे अभिव्यक्त होता है।[1]

'प्रमाण' के रूप मे 'अनुमान' की यह परिभाषा दी जाती है कि वह एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा प्रभावशाली ज्ञान प्राप्त किया जाता है, दूसरे शब्दो मे अनुमान वह ज्ञान है जो एक अन्य ज्ञान के माध्यम से प्राप्त किया जाता है, और हाँ, यह प्रक्रिया 'व्याप्ति-ज्ञान' से प्रभावित होती है। 'व्याप्ति' का अर्थ है 'साध्य' मे 'हेतु'

वृत्तिर्विचार्यते। तत्र नेत्र-निमीलने कृते वहिर्दृष्ट-पदार्थस्येव कश्चिदाकारो नेत्रान्तर्भासते। स आकारो न वाह्य-वस्तुन। आश्रयमतिहाय तत्र तस्याशक्य-वचनत्वात्। अत स आन्तरस्यैव कस्यचन भवितुमर्हतीति

या बुद्धि-वृत्ति सस्काराधानद्यार्थं जन्यतैतिउच्यते सा वृत्तिर्बुद्धेर्न तत्वान्तर नाप्यन्त करण परिणामान्तरम्। किन्तु बुद्धि-तत्त्वस्य काल-क्षुब्ध सत्त्वादि गुण-कृतोऽवस्था विशेषैव। न च तस्यावस्था विशेपत्वे निर्गमाभावेन विषयाससर्गात् तदाकारकत्व वृत्तेर्दुर्घटत्वमिति शक्यम्। माया गुणस्य रज-सश्चचलत्वेन विक्षेपकत्वेन च दर्पणे मुखस्येव नेत्र-गोलकेऽपि वाह्य विपयाकार समर्पण-तदाकारस्य सुघटत्वात्। स एव मायिक आकारो नयन किरणेपु नेत्र-मुद्रणे प्रत्यावृत्तेपु गोलकान्तरनुभूयते।
—प्रस्थानरत्नाकर, पृ० १२३–२५।

[1] वरण चानुग्रह। स च धर्मान्तरमेव, न तु फलादिष्टा। यस्यानुग्रहमिच्छामीति-वाक्यात्। स च भक्ति-वीज-भूत। अतो भक्त्या मामभिजानाति भक्त्या त्वनन्यया शक्य भक्त्याऽहमेकया ग्राह्य इत्यादिपु न विरोध। —वही, पृ० १३७।

का निरुपाधिक अस्तित्व, अर्थात् जहाँ-जहाँ एक 'हेतु' होता है, वहाँ-वहाँ एक 'साध्य' होता है, और जहाँ-जहाँ 'साध्य' का अभाव होता है, वहाँ-वहाँ 'हेतु' का अभाव होता है, 'हेतु' वह होता है जिसके द्वारा हम एक अनुमान मे अग्रसर होते हैं, और 'साध्य' स्वीकृति अथवा निषेध होता है। 'साख्य-प्रवचन-सूत्र' का अनुसरण करते हुए पुरुषोत्तम कहते हैं कि, जब एक गुण अथवा धर्म का एक निरुपाधिक अस्तित्व होता है, तब उनमे परस्पर अथवा एकागी व्याप्ति हो सकती है, जब 'हेतु' के वृत्त को 'साध्य' के वृत्त से सपात होता है, तब 'समव्याप्ति' होती है, और जब 'हेतु' का वृत्त 'साध्य' के वृत्त के अन्तर्गत होता है, तब 'विषम-व्याप्ति' होती है।[1]

पुरुषोत्तम 'केवलान्वयि' प्रकार के अनुसार को स्वीकार नही करते, क्योकि ब्रह्मन् मे 'साध्य' का अभाव होता है। यह आपत्ति अवैध है कि उक्त परिभाषा ऐसे अनुमान के उदाहरण (जिसमे कोई अभावात्मक सत्ताए उपलब्ध नही होती) मे लागू नही होती, अर्थात्, यह ज्ञान है, चूंकि यह परिभाषा-योग्य है, क्योकि ब्रह्मन् न तो ज्ञेय है और न परिभाषा-योग्य है। एक विषय एक रूप मे ज्ञेय होने पर भी अन्य रूप मे कदाचित् ज्ञेय न हो। अत उपरोक्त अनुमान मे भी अभावात्मक उदाहरण उपलब्ध होते है, इसलिए 'केवलान्वयि' प्रकार के अनुमान को स्वीकार नही किया जा सकता, जहाँ यह मान लिया जाता है कि व्याप्ति का निर्धारण केवल अन्वय के द्वारा ही किया जाना चाहिए।[2]

जब 'साध्य' के साथ 'हेतु' का समानाधिकरण्य एक अथवा अनेक उदाहरणो मे देखा जाता है, तब उससे आशिक सस्कारो की जाग्रति हो जाती है और उनके द्वारा अनिवार्य समानाधिकरण्य की स्मृति का उदय होता है, तथा तदनुसार 'हेतु' द्वारा 'साध्य' का निर्धारण होता है। जब हम रसोई मे वह्नि एव धूम्र का सह-अस्तित्व देखते हैं, तब धूम्र एव वह्नि का अनिवार्य समानाधिकरण्य ज्ञात होता है, तत्पश्चात् जब पर्वत मे धूम्र देखा जाता है और वह्नि के साथ धूम्र के समानाधिकरण्य का स्मरण किया जाता है, तब धूम्र वह्नि के अस्तित्व को निर्धारित करता है, इस सम्यक् ज्ञान को 'अनुमिति' कहा जाता है। 'लिंग' ही 'अनुमिति' का कारण होता है। पुरुषोत्तम दो प्रकार के 'अनुमान' को स्वीकार करते हैं, अर्थात्, 'केवल-व्यतिरेक' जहाँ भावात्मक

[1] नियत-धर्म-साहित्ये उभयोरेकतरस्य वा व्याप्तिरिति। उभयो समव्याप्तिकयो कृतकत्वानित्यत्वादि-रूपयोरेकतरस्य विषम-व्याप्तिकस्य धूमादेर्नियत-धर्म-साहित्ये अ—व्याभिचरित-धर्म-रूपे सामानाधिकरण्ये व्याप्ति।

—प्रस्थानरत्नाकर, पृ० १३९—४०।

[2] सर्वत्रापि केनचिद् रूपेण ज्ञेयत्वादि-सत्वेऽपि रूपान्तरेण तदभावस्य सर्वजनीनत्वाच्च केवलान्वयि-साध्यकानुमानस्यैवाभावात्। —वही, पृ० १४१।

उदाहरण उपलब्ध नही होते हैं और व्याप्ति केवल अभाव के द्वारा होती है, तथा 'अन्वय-व्यतिरेक' जहां व्याप्ति को अन्वय-व्यतिरेक की सयुक्त प्रणाली के द्वारा ज्ञात किया जाता है।

अनुमान के द्वारा अन्य व्यक्तियो को दृढता से मनवाने के लिए साधारणत पाच तर्क-वाक्यो को स्वीकार किया जाता है, वे है 'प्रतिज्ञा', 'हेतु', 'उदाहरण', 'उपनय', और 'निगमन'। इस प्रकार 'पर्वत वह्निमान है,' 'प्रतिज्ञा' है, 'चू कि वह धूम्रवान है' हेतु है, 'यथा रसोई-घर मे' 'उदाहरण' है, जो-जो धूम्रवान होता है वह-वह वह्निवान होता है, तथा जो-जो धूम्रवान नही होता वह-वह वह्निमान नही होता 'उपनय' है, 'इसलिए अभी तो धूम्र दृष्टिगोचर होता है वह भी वह्नि से सम्बन्धित है' 'निगमन' है। किन्तु इनको पृथक् तर्क-वाक्य मानने की आवश्यकता नही है, वे एक ही सश्लिष्ट तर्क-वाक्य के अवयव हैं।[1] किन्तु वस्तुतः पुरुषोत्तम इन तीन को अधिमान्यता देते हैं, अर्थात्, 'प्रतिज्ञा,' 'हेतु' और 'दृष्टान्त'।

पुरुषोत्तम 'उपमान' अथवा अनुपलब्धि को पृथक् 'प्रमाण' नही मानते। 'उपमान' वह 'प्रमाण' होता है जिसके द्वारा ऐसे दो विषयो की समरूपता का पूर्व ज्ञान, जिनमे से एक ज्ञान होता है, हमे अन्य को तब ज्ञात करने मे समर्थ बनाता है जब हम उसको देखते है, इस प्रकार एक मनुष्य जो एक भैस को नही जानता, किन्तु जिसे यह बता दिया जाता है कि भैस देखने मे गाय के समान होती है, भैस को वन में देखता है और उसे भैस के रूप मे ज्ञात करता है। उसका दर्शन होते ही उसे स्मरण होता है कि एक भैस ऐसा पशु होता है जो देखने मे गाय के समान होता है, और इस प्रकार वह जान जाता है कि वह एक भैस है। यहां समरूपता की स्मृति की सहायता से प्रत्यक्ष उक्त पशु के एक भैस होने के नवीन बोध का कारण होता है, अत जिसे 'उपमान' कहा जाता है वह प्रत्यक्ष के अन्तर्गत आता है।

पार्थसारथी मिश्र की भांति पुरुषोत्तम भी 'अर्थापत्ति' को एक पृथक् 'प्रमाण' मानते है। इस 'अर्थापत्ति' का अनुमान से विभेद करना चाहिए। इसका एक विशिष्ट उदाहरण यह दिया जा सकता है कि हम जब एक व्यक्ति को घर मे नही पाते है तब यह मान लेते हैं कि उसका घर के बाहर अस्तित्व है, एक जीवित व्यक्ति की घर मे अनुपस्थिति के ज्ञान से कारण एव कार्य के रूप मे सबधित नही होता, और फिर भी वे समकालिक होते हैं। जीवित व्यक्ति की घर के बाहर उपस्थिति की मान्यता के आधार पर ही घर मे उसके अभाव की व्याख्या की जा सकती है, जीवन एव घर मे अभाव का जटिल प्रत्यय घर के बाहर उसके अस्तित्व के प्रत्यय को प्रेरित

[1] वही, पृ० १४३।

रिक्त मतो का उपदेश देकर भ्रान्ति उत्पन्न करते है। ईश्वर की भक्ति न करके 'शास्त्रो' की उपासना करने से बडी अन्य कोई भ्रान्ति नही है, ऐसे उपासक सदा बंधन मे रहते है और जन्म एव पुनर्जन्म से पीडित होते हैं। अपने ज्ञान की पराकाष्ठा सर्वज्ञता है, 'धर्म' की पराकाष्ठा अपने मन का सतोष है, 'भक्ति' की पराकाष्ठा तब आती है जब ईश्वर प्रसन्न होता है। 'मुक्ति' की प्राप्ति से जन्म एव पुनर्जन्म का विनाश होता है, किन्तु जगत् ब्रह्मन् की अभिव्यक्ति होने के कारण उसका कदापि विनाश नही होता जबतक कृष्ण उसको अपने अन्तर्गत पुन विलीन करने की इच्छा नही करता। ज्ञान एव अज्ञान दोनो 'माया' के सघटक तत्व है।

ईश्वर के माहात्म्य के पूर्ण ज्ञान सहित उसके प्रति सुदृढ एव सर्वाधिक स्नेह मे 'भक्ति' निहित होती है, केवल उसी से मुक्ति हो सकती है, अन्यथा नही।[1] यद्यपि 'भक्ति' 'साधना' है और 'मोक्ष' साध्य है, तथापि साधनावस्था ही सर्वोत्तम होती है। जो व्यक्ति ब्रह्मानन्द मे प्रविष्ट हो जाते हैं उनको अपनी आत्मा मे उस आनन्द की अनुभूति होती है, किन्तु वे भक्त जो उक्त अवस्था मे प्रविष्ट नहीं होते और न 'जीवन्मुक्ति' की अवस्था मे प्रविष्ट होते है, पर अपनी सर्व इन्द्रियो एव 'अन्त करण' से ईश्वर का आनन्द लेते है, साधारण गृहस्थी होने पर भी 'जीवमुक्तो' से श्रेष्ठ होते है।[2]

'जीव' स्वरूपत आणविक होता है, तथापि चू कि उसमे ईश्वर के आनन्द की अभिव्यक्ति होती है, इसलिए उसे सर्व-व्यापी माना जा सकता है। शुद्ध चित् के रूप मे उसके स्वरूप का प्रत्यक्षीकरण साधारण इन्द्रियो द्वारा नही किया जा सकता, किन्तु केवल 'योग' के द्वारा अथवा जिस दिव्य दृष्टि से हम ईश्वर-साक्षात्कार करते हैं उसी के द्वारा ऐसा सम्भव हो सकता है। अद्वैत वेदान्त के इस मत का, कि 'जीव' 'अविद्या' से उत्पन्न होते है, इस आधार पर प्रत्याख्यान किया जाता है कि, यदि 'अविद्या' का सम्यक् ज्ञान के द्वारा विनाश होता तो 'अविद्या' के भ्रम से निर्मित व्यक्ति की शारीरिक रचना का विनाश हो जाता और फलत 'जीव-मुक्ति' असम्भव हो जाती।

---

[1] माहात्म्य-ज्ञान-पूर्वस्तु सुदृढ सर्वतोऽधिक, स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्न चान्यथा। —'तत्त्वार्थ दीप' पृ० ६५।

[2] स्वानन्द-भक्ताना तु गोपिकादि-तुल्याना सर्वेन्द्रियैस् तथान्त करणे स्वरूपेण भगवदानन्दानुभव। अतो भक्ताना जीवन-मुक्त्यपेक्षया भगवत्कृपा-सहित-गृहाश्रमेव विशिष्यते।

—'तत्त्वदीपन' पर वल्लभ की टीका, पृ० ७७।

ब्रह्मन् का 'सच्चिदानद' के रूप मे वर्णन किया गया है—वह सर्वव्यापी, स्वतन्त्र एव सर्वज्ञ है। वह सजातीय, विजातीय-स्वगत-द्वैत मे रहित है—अर्थात् जीव, जड एव अन्तर्यामिन् सबधी द्वैत से रहित है। ये भगवान के तीन रूप है, तथा उससे भिन्न नही है।[1] वह अन्य सहस्रो शुभ गुणो, पवित्रता, भद्रता, दयालुता आदि मे सबधित है, वह जगत् का धारण-कर्त्ता एव 'माया' का नियता है। ईश्वर एक ओर तो जगत् का 'समवाय' एव 'निमित्त कारण' है, अपनी सृष्टि मे हर्षित होता है, और कभी-कभी उसको अपने मे परावर्तित करने मे आनन्द लेता है, दूसरी ओर वह सर्व विरुद्ध धर्मो का आश्रय है, और विविध रूपो मे मोहित करता है तथा जगत की अभिव्यक्ति के आविर्भाव एव तिरोभाव का कारण होता है। वह चल भी है और कूटस्थ भी है।[2] चू कि सृष्टि उसकी एक अभिव्यक्ति है, इसलिए जीवन की विषमताओ के लिए उस पर क्रूरता अथवा पक्षपात का दोष नही लगाया जा सकता। विषमता की व्याख्या करने का यह प्रयास, कि वह 'कर्म' से उत्पन्न होती है, हमे इस कठिनाई मे डाल देता है कि ईश्वर 'कर्म' के अधीन है और स्वतत्र नही है, उससे इस बात की भी व्याख्या नही होती कि विभिन्न व्यक्ति विभिन्न 'कर्मों' को क्यो करते है। यदि अन्तर्यामिन् के रूप मे ईश्वर स्वय हमसे शुभ अथवा अशुभ कार्यो को करवाता है, तो वह हमे उनके लिए उत्तरदायी नही ठहरा सकता, तथा कुछ मे सुख तथा कुछ मे दुख का वितरण नही कर सकता, किन्तु इस मत के अनुसार उक्त सर्व कठिनाइया हल हो जाती हैं कि सम्पूर्ण सृष्टि आत्म-सृष्टि है तथा आत्माभिव्यक्ति एव 'जीव' ईश्वर के अतिरिक्त कुछ भी नही हैं।[3] ईश्वर जगत का सृष्टा है, फिर भी वह 'सगुण' अथवा 'गुण-सम्पन्न' इस कारण से नही है कि जिन तत्वो से उसके गुणो का निर्माण होता है वे उसके विरुद्ध नही जा सकते और उसे अपनी स्वतन्त्रता से वञ्चित नही कर सकते। चू कि वह गुणो का नियता है, इसलिए उनका अस्तित्व एव अनस्तित्व उस पर आश्रित रहता है। इस प्रकार ईश्वर की स्वतत्रता का प्रत्यय अनिवार्यत उसके 'सगुण' व 'निर्गुण' दोनो होने के प्रत्यय को प्रेरित करता है। शकर का यह मत

---

[1] स-जातीय विजातीय-स्वगत-द्वैत-वर्जितम् स-जातीया जीवा, विजातीया जडा, स्वगता अन्तर्यामित। त्रिष्वपि भगवान अनुस्यूतस् त्रिरूपश्च भवतीति तैर्निरूपित द्वैत भेदस्तद् वर्जितम्।

—'तत्वार्थदीप' और उस पर टीका, पृ० १०६।

[2] सर्व-वादानवसर नाना-वादानुरोधि तत्। अनन्त-मूर्ति तद् ब्रह्म कूटस्थ चलमेव च। विरुद्ध सर्व-धर्माणामाश्रय युक्त्यगोचरम्। आविर्भाव तिरोभावैर्मोहन बहु-रूपत।

—वही, पृ० ११५।

[3] आत्म-सृष्टेर्न वैषम्य नैर्घृण्य चापि विद्यते। पक्षान्तरेऽपि कर्म स्यान् नियत तत् पुनर्हृत्। —वही, पृ० १२९-३०।

कि ब्रह्मन् 'अविद्या' के वधन से जगत् के रूप में भासित होता है एक भ्रान्त उपदेश (प्रतारणा-शास्त्र) है, क्योकि वह ईश्वर के गौरव को कम करता है, तथा उसका सर्व भक्तो के द्वारा वहिष्कार किया जाना चाहिए।

जो व्यक्ति ईश्वर को सव कुछ मानता है तथा स्वय को उससे विकीर्ण मानता है, और जो उसकी प्रेम-पूर्वक सेवा करता है, वही भक्त कहलाता है। ज्ञान अथवा प्रेम के अभाव मे केवल एक निम्न कोटि का भक्त होता है, किन्तु दोनो के अभाव मे कोई व्यक्ति भक्त हो ही नही सकता, यद्यपि शास्त्रो का श्रवण करके वह अपने पापो का निवारण कर सकता है। उच्चतम भक्त सव कुछ त्याग देता है, उसका मन केवल कृष्ण से ओतप्रोत रहता है, उसके लिए पुत्र, कुल, धन, घर आदि का कोई महत्व नही होता अपितु वह पूर्णत ईश्वर-प्रेम मे निमग्न रहता है। किन्तु ईश्वर के अनुग्रह के अतिरिक्त अन्य किसी भी प्रकार से कोई भी भक्ति मार्ग पर आरूढ नही हो सकता। 'कर्म' स्वय ईश्वर की इच्छा के स्वरूप का होने के कारण अपने आपको भक्त के प्रति उसकी दया अथवा क्रोध के रूप मे अभिव्यक्त करता है, वह अपनी दया से उसके निकट आता है और चाहे यह पतित अवस्था मे भी क्यो न हो उसका उद्धार करता है, तथा जो उसके आदेशो का पालन नही करते अथवा गलत राह पर अग्रसर होते है उनके पास वह क्रोधपूर्वक अभिगमन करता है और उन्हे पीडित करता है। कहा जाता है कि कर्म का नियम रहस्यमय है, इसका कारण यह है कि हमे यह ज्ञात नही है कि ईश्वर की इच्छा स्वय को किस रूप मे व्यक्त करेगी, कभी-कभी उसके अनुग्रह से वह एक पापी का भी उद्धार कर सकता है, जिसे फिर अपना दण्ड नही भोगना पडता।

'शाण्डिल्य-सूत्र' मे 'भक्ति' को ईश्वर के प्रति परम अनुरक्ति (परानुरक्ति) के रूप मे परिभाषित किया गया है। 'अनुरक्ति' 'राग' ही को कहते हैं, इसलिए 'परानुरक्तिरीश्वरे' श्लोक का अर्थ है आराध्य-विषय के प्रति परम राग (आराध्य-विषयक-रागत्वम्)।[1] यह राग सुख से सबधित होता है (सुख-नियतो राग)। हमे स्मरण है कि 'विष्णु-पुराण' मे प्रहलाद यह इच्छा व्यक्त करता है कि वह ईश्वर के प्रति उसी प्रीति का अनुभव करे जिसका अविवेकी जन विषयो के प्रति अनुभव करते हैं।[2] हमे ईश्वर मे परमानन्द की प्राप्ति होनी चाहिए, ईश्वर के प्रति ऐसा

[1] 'शाण्डिल्य-सूत्र' १ २ (स्वप्नेश्वर द्वारा टीका)।

[2] या प्रीतिरविवेकाना विषयेष्वनपायिनी तामनुस्मरत सा मे हृदयान् मापसर्पतु।
—'विष्णु-पुराण' १ २० ६।

विवेचन मे प्रविष्ट होते है। वे यह अस्वीकार करते है कि 'भक्ति' एक प्रकार का ज्ञान अथवा एक प्रकार की 'श्रद्धा' है, और न 'भक्ति' एक प्रकार का कर्म अथवा उपासना है। रामानुज 'भक्ति' की परिभाषा 'ध्रुवाम् स्मृति' के रूप मे देते हैं और उसे एक प्रकार का ज्ञान ही मानते है। विविध प्रकार की उपासना अथवा उससे सम्बन्धित कर्म-काण्ड 'भक्ति' को उत्पन्न करते है, किन्तु वे स्वय 'भक्ति' नही माने जा सकते। 'भक्ति-चिन्तामणि' मे 'भक्ति' को 'योगे वियोगवृत्ति प्रेम' के रूप मे परिभाषित किया गया है, अर्थात् वह ऐसा प्रेम है जिसमे जब दोनो साथ होते हैं तब वे विलग होने से भयभीत रहते है, और जब वे साथ-साथ नही होते तब उनमे सयोग की व्याकुल उत्कण्ठा बनी रहती है।[1] शाण्डिल्य, हरिदास और गुप्ताचार्य भी इसी मत का अनुसरण करते हैं। किन्तु गोविन्द्र चक्रवर्ती इस प्रेम का यह लक्षण बताते हैं कि वह एक ऐसा प्रगाढ व्यसन है जो अनेक विपत्तियो एव सकटो के होते हुए भी निरन्तर बना रहता है,[2] और परमार्थ ठक्कुन अपनी 'प्रेम-लक्षण-चन्द्रिका'[3] मे उसको किसी विषय के प्रति एक अनिवर्चनीय लालसा के रूप मे परिभाषित करते है। अपनी 'प्रेमरसायन' मे विश्वनाथ उसकी एक प्रेम-पूर्ण लालसा अथवा इच्छा के रूप मे परिभाषा देते है कि वह ऐसा प्रेम है जिसका चरमोत्कर्ष प्रगाढ आनन्द मे होता है।[4]

गोपेश्वर जी महाराज 'भक्ति' की उक्त सभी परिभाषाओ से असहमति प्रकट करते हैं जो लालसा और इच्छा को उसका प्रमुख तत्त्व मानती है। कोई भी इच्छा एक 'पुरुषार्थ' नही बन सकती, एक पुत्र अथवा किसी भी अन्य प्रिय सबधी के प्रति प्रेम मे हम किसी प्रकार की इच्छा का योगदान नही देखते, इसके अतिरिक्त, इच्छा एक अप्राप्त विषय की ओर सकेत करती है, जबकि 'भक्ति-अनुराग' ऐसा नही करता।

कुछ विद्वान कहते है कि भक्ति मन के द्रवित होने के कारण होती है, यह भी मान्य नही है, क्योकि उसका विषय के प्रति कोई उल्लेख नही होता। अन्य विद्वान उसको ऐसे विषय अथवा उपाधि के रूप मे परिभाषित करते हैं जिसके प्रति प्रेम

[1] अदृष्टे दर्शनोत्कण्ठा दृष्टे विश्लेष भीरुता नादृष्टेन न दृष्टेन भवता लभ्यते सुखम्।
—भक्ति-मार्तण्ड, पृ० ७५।

[2] गाढ-व्यसन-साहस्र-सम्पातेऽपि निरन्तर न हीयते यदीहेति स्वादु तत्प्रेम-लक्षणम्।
—वही।

[3] वस्तु-मात्र-विषयिणी वचनानर्हा समीहा प्रेम।
—वही।

[4] यथा योगे वियोगे-वृत्ति प्रेम तथा वियोगे योग-वृत्तिरपि प्रेम। —वही।

'भक्ति' के एक फल अथवा उसके एक लक्षण का 'सर्वात्म-भाव' के रूप मे वर्णन किया गया है। प्रेम की प्रगाढ सकल्पना के द्वारा प्रेमी सर्वत्र अपने प्रिय के दर्शन करता है, तथा वियोग मे भी वह अपने प्रिय को चारो ओर प्रत्यक्ष देखता है, किन्तु, ईश्वर सब-कुछ होने के कारण, यह स्वाभाविक ही है कि भक्त उसका सर्व वस्तुओ मे दर्शन करे, क्योकि वे सब ईश्वर की अभिव्यक्तिया है।[1] सर्वात्म-भाव अद्वैतवाद एक का उदाहरण नही माना जा सकता, जैसा कि 'मर्यादा-मार्ग' के अनुगामियो द्वारा व्याख्या की गई है, वह तीव्र प्रेम से सबध रखता है। 'पुष्टि-मार्ग' (वल्लभ सम्प्रदाय) का यह मत हरिचरण द्वारा भी स्वीकार किया गया है, जिनको गोपेश्वर ने अपने मत के समर्थन मे उद्धृत किया है।[2]

'भक्ति' को 'अलकार-शास्त्र' मे वर्णित अन्य 'रसो' के समानान्तर एक रस माना जाता है, इसलिए, वह 'मनस्' एव शरीर को तीव्र आनन्द से प्लावित कर देता है, मानो वे *भगवद्-रूप हो जाते हैं,*[3] इस *प्रकार प्रेम 'भक्ति-रस' का 'स्थायी-भाव'* है। कुछ विद्वानो ने उसकी द्रवित हृदय मे ईश्वर के प्रतिविम्ब के रूप मे परिभाषा दी है, इसके प्रति पुरुषोत्तम ने अपने 'प्रतिविम्बवाद' मे तथा गोपेश्वर ने इस आधार पर आपत्ति की है कि निराकार ईश्वर का कोई प्रतिविम्ब नही हो सकता, तथा इस आधार पर भी कि इस मत के अनुसार 'भक्ति' ईश्वर से एक-रूप हो जायगी, और प्रेम का द्रवित हृदय से तादात्म्यीकरण करना कठिन है।[4] यदि 'आत्मानुभव' के

---

१ विगाढ-भावेन सर्वत्र तथानुभव-रूप यत्कार्य तादृशप्रियत्वानुभव, इति [illegible]
भावो लक्षित ।

—'भाष्य-प्रकाश' पर 'ब्रह्म-सूत्र,' 'भक्ति-मार्तण्ड' पृ० ८५ [illegible]

२ अत सर्वात्म-भावो हि त्यागात्मापेक्षया युत भावस्वरूपफलक [illegible]
देहादि-स्फूर्ति-रहितो विषय-त्याग-पूर्वक
भावात्म-काम-सम्बन्धि-रमणादि-क्रिया ।

शकर के अद्वैतवाद की भाँति केवल आत्मन् से तादात्म्यीकरण के अवबोध के रूप मे समझा जाय, तो ईश्वर के प्रति अनुराग मे कोई आनन्द नही होगा।[1]

आत्मन् एव ब्रह्मन् के दार्शनिक तादात्म्यीकरण का कथन केवल 'भक्ति' के स्वरूप को दृढ बनाने के उद्देश्य से किया जाता है, उससे केवल यही प्रदर्शित होता है कि अनुराग के द्वारा जिस एकत्व का अनुभव किया जाता है उसकी दार्शनिक पुष्टि भी की जा सकती है। प्रेम की प्रगाढता मे कृष्ण के साथ एकत्व की भावना अभिव्यक्त होती है जिसे 'भक्ति' भाव का एक 'व्यभिचारी भाव' मानना चाहिए, तथा प्रेम उसका 'स्थायी-भाव' होता है, इस प्रकार तादात्म्य की भावना भक्ति का चरमोत्कर्ष न होकर एक व्यभिचारी-भाव मात्र है। इस प्रकार 'भक्ति' अन्तत. 'ज्ञान' मे फलित नही होती, 'ज्ञान' 'भक्ति' का एक 'अग' है।[2] जैसे ईश्वर आध्यात्मिक है वैसे 'भक्ति' भी आध्यात्मिक है, जिस प्रकार वह्नि से निकटता के अनुसार विषय न्यूनाधिक मात्रा मे तप्त होते है, उसी प्रकार की निकटता के अनुसार मनस् मे भक्ति अधिक अथवा कम तीव्रता से आविर्भूत होती है।[3]

'भक्ति' का 'फलरूप' 'साधन-रूप' और 'सगुण' मे वर्गीकरण किया जा सकता है। 'सगुण-भक्ति' विभिन्न प्रकार के ध्यान, ज्ञान व 'कर्म' का अग हो सकती है, और तदनुसार वह तीन प्रकार की होती है। ये पुन विभिन्न प्रकार के गुणो से सबधित होने के अनुसार इक्यासी प्रकार की हो सकती है। 'फल' के रूप मे 'भक्ति' एक प्रकार की होती है, और 'साधन' के रूप मे वह दो प्रकार की होती है, अर्थात्, ज्ञान के अग के रूप मे (ज्ञानागभूत), और मुक्ति-दात्री के रूप मे (भक्ति स्वातन्त्र्येन मुक्ति-दात्री)। 'ज्ञानांगभूत-भक्ति' स्वय दो प्रकार की होती है,—'सगुण' एव 'निर्गुण' जिनमे से पूर्वोक्त तीन प्रकार की होती है, 'ज्ञान-मिश्र,' वैराग्य-मिश्र,' और 'कर्म-मिश्र'।' ज्ञान-मिश्र' तीन प्रकार की हो सकती है—उत्तम मध्यम और निकृष्ट। 'वैराग्य-मिश्र' केवल एक प्रकार की होती है। 'कर्म-मिश्र' तीन प्रकार की होती है।

---

[1] केन क पश्येतिति श्रुते भेद-विलोपकत्वेन भजनानन्दान्तराय-भूत यदि स्वात्मत्वेन ज्ञान सम्पादयेद् भजनाद नादद्यात्।

—'भक्ति-मार्तण्ड' पृ० १३६।

[2] अति गाढ भावो भेदस्फूर्तिरपि एकोव्याभिचारिभाव ।
न तु सार्वदिकस्तदा स्वात्मान तत्त्वेन विशिपन्ति। —वही, पृ० १३६।

[3] यथा भगवान् मानसीयस्तद्वद् भगवत्सम्वन्ध नैकट्यात् मनस्याविर्भवन्ती भक्तिरपि मनो धर्मत्वेन व्यवह्रियते। यथा वह्नि—नैकट्य तारतम्येन भक्त्यनुभव-तारतम्यम्।
—वही, पृ० १४२।

व्यक्ति गृहस्थाश्रम मे अपने वर्णाश्रम कर्त्तव्यों का मन की पूर्ण एकाग्रता से पालन करता हुआ कृष्ण की उपासना करता है तब यह बीज सुदृढ होता है। कर्त्तव्यो मे व्यस्त रहते समय भी उसे अपना मन भगवान पर केन्द्रित रखना चाहिए, इस प्रकार वह प्रेम विकसित होता है जिसका विकास अनुराग अथवा व्यसन मे होता है। यह 'भक्ति' का सुदृढ बीज कभी नष्ट नही हो सकता, ईश्वर के प्रति प्रेम के द्वारा ही अन्य आसक्तियो का नाश होता है, और इस प्रेम के विकास से एक व्यक्ति 'व्यसन' बन जाता है तभी व्यक्ति अपना उद्देश्य सुगमता से प्राप्त कर सकता है। 'भक्ति' कभी तो स्वत स्फूर्त होती है, कभी अन्य भक्तो के ससर्ग से उदित होती है और कभी अनुकूल अभ्यास से उत्पन्न होती है।[1] 'भक्ति' के क्रमिक विकास का सात अवस्थाओ के एक-आरोही क्रम मे वर्णन किया गया है, वे हैं—'भाव,' 'प्रेम,' 'प्रणय,' 'स्नेह,' 'राग,' 'अनुराग' और 'व्यसन'। भगवान के लिए 'व्यसन' जो प्रेम की प्रगाढतम अभिव्यक्ति है, भगवान के बिना रह सकने की असमर्थता है (तदविना स्थातुमशक्ति), ऐसे अनुराग से युक्त व्यक्ति के लिए घर मे ठहरना और अपने साधारण कर्त्तव्यो को करना असम्भव हो जाता है। पूर्व अवस्थाओ मे यद्यपि एक व्यक्ति घर मे एक अतिथि की भाँति रहने का प्रयत्न कर सकता है तथापि वह अपने भावोद्वेग की समुचित अभिव्यक्ति मे विविध प्रतिबन्धको का अनुभव करता है, सासारिक आसक्तियाँ दिव्या-भक्ति मे सदा बाधक होती हैं जो 'भक्ति' के विकास मे सहायक होती हैं।[2]

परन्तु वल्लभ और अद्वैतवादी 'सन्यास' के ढग के त्याग के विरुद्ध है, क्योकि वह अभीप्सित फल को उत्पन्न करने मे असमर्थ होने के कारण केवल पश्चाताप का जनक हो सकता है।[3] ज्ञान-मार्ग अपना फल सैकडो जन्मो मे उत्पन्न कर सकता है और वह अन्य अनेक साधनो पर निर्भर करता है, इसलिए ज्ञान-मार्ग के स्थान पर भक्ति-मार्ग का अनुसरण करना चाहिए।[4] 'भक्ति-मार्ग' मे त्याग 'भक्ति' एव उसके समुचित पालन की आवश्यकता से प्रेरित होता है, भावना से नही।

---

[1] देखिए पृ० ३५५ पर टिप्पणी ३।

[2] स्नेहाशक्ति-व्यसनाना विनाशन। तथा सति कृतमपि सर्वं व्यर्थं स्यात्। तेन तत् त्याग-कृत्वा यतेन।

—'भक्ति-वर्धिनी' श्लोक ६ पर बालकृष्ण की टीका।

[3] अत कलौ स सन्यास पश्चातापाय नान्यथा। पाषाण्डित्व भवेत् चापि तस्मात् ज्ञाने न सन्यसेत्।

—वल्लभ का 'सन्यास-निर्णय,' श्लोक १६।

[4] ज्ञानार्थमुत्तरग च सिद्धिर्जन्मशतै, ज्ञान च साधनापेक्ष यज्ञादि-श्रवणात् मत परम्। गोकुलनाथ के 'विवरण' सहित वल्लभ का 'सन्यास-निर्णय,' श्लोक १५।

व्यक्ति गृहस्थाश्रम मे अपने वर्णाश्रम कर्त्तव्यों का मन की पूर्ण एकाग्रता से पालन करता हुआ कृष्ण की उपासना करता है तब यह बीज सुदृढ होता है। कर्त्तव्यो मे व्यस्त रहते समय भी उसे अपना मन भगवान पर केन्द्रित रखना चाहिए, इस प्रकार वह प्रेम विकसित होता है जिसका विकास अनुराग अथवा व्यसन मे होता है। यह 'भक्ति' का सुदृढ बीज कभी नष्ट नही हो सकता, ईश्वर के प्रति प्रेम के द्वारा ही अन्य आसक्तियो का नाश होता है, और इस प्रेम के विकास से एक व्यक्ति 'व्यसन' बन जाता है तभी व्यक्ति अपना उद्देश्य सुगमता से प्राप्त कर सकता है। 'भक्ति' कभी तो स्वत स्फूर्त होती है, कभी अन्य भक्तो के ससर्ग से उदित होती है और कभी अनुकूल अभ्यास से उत्पन्न होती है।[1] 'भक्ति' के क्रमिक विकास का सात अवस्थाओ के एक-आरोही क्रम मे वर्णन किया गया है, वे हैं—'भाव,' 'प्रेम,' 'प्रणय,' 'स्नेह,' 'राग,' 'अनुराग' और 'व्यसन'। भगवान के लिए 'व्यसन' जो प्रेम की प्रगाढतम अभिव्यक्ति है, भगवान के बिना रह सकने की असमर्थता है (तदविना स्यातुमशक्ति), ऐसे अनुराग से युक्त व्यक्ति के लिए घर मे ठहरना और अपने साधारण कर्त्तव्यो को करना असम्भव हो जाता है। पूर्व अवस्थाओ मे यद्यपि एक व्यक्ति घर मे एक अतिथि की भाँति रहने का प्रयत्न कर सकता है तथापि वह अपने भावोद्वेग की समुचित अभिव्यक्ति मे विविध प्रतिबन्धको का अनुभव करता है, सासारिक आसक्तियाँ दिव्यासक्ति मे सदा बाधक होती है जो 'भक्ति' के विकास मे सहायक होती है।[2]

परन्तु वल्लभ और अद्वैतवादी 'सन्यास' के ढग के त्याग के विरुद्ध हैं, क्योंकि वह अभीप्सित फल को उत्पन्न करने मे असमर्थ होने के कारण केवल पश्चाताप का जनक हो सकता है।[3] ज्ञान-मार्ग अपना फल सैकडो जन्मो मे उत्पन्न कर सकता है और वह अन्य अनेक साधनो पर निर्भर करता है, इसलिए ज्ञान-मार्ग के स्थान पर भक्ति-मार्ग का अनुसरण करना चाहिए।[4] 'भक्ति-मार्ग' मे त्याग 'भक्ति' एव उसके समुचित पालन की आवश्यकता से प्रेरित होता है, भावना मे नही।

---

[1] देखिए पृ० ३५५ पर टिप्पणी ३।

[2] स्नेहासक्ति-व्यसनानां विनाशनं। तथा सति कृतमपि सर्वं व्यर्थं स्यात्। तेन तत् त्याग-सम्भावना यतेत।

—'भक्ति-वर्धिनी' श्लोक ६ पर बालकृष्ण की टीका।

[3] अत कलौ स सन्यास पश्चातापाय नान्यथा। पाषण्डित्व भवेत् चापि तस्मात् ज्ञाने न सन्यसेत्।

—वल्लभ का 'सन्यास-निर्णय,' श्लोक १६।

[4] ज्ञानाग्रमुत्तरग च सिद्धिर्जन्मशतै, ज्ञान च साधनापेक्ष यज्ञादि-श्रवणान् मतम्। गोकुलनाथ के 'विवरण' सहित वल्लभ का 'सन्यास-निर्णय,' श्लोक १८।

व्यक्ति गृहस्थाश्रम मे अपने वर्णाश्रम कर्त्तव्यो का मन की पूर्ण एकाग्रता से पालन करता हुआ कृष्ण की उपासना करता है तब यह बीज सुदृढ होता है। कर्त्तव्यो मे व्यस्त रहते समय भी उसे अपना मन भगवान पर केन्द्रित रखना चाहिए, इस प्रकार वह प्रेम विकसित होता है जिसका विकास अनुराग अथवा व्यसन मे होता है। यह 'भक्ति' का सुदृढ बीज कभी नष्ट नही हो सकता, ईश्वर के प्रति प्रेम के द्वारा ही अन्य आसक्तियो का नाश होता है, और इस प्रेम के विकास से एक व्यक्ति 'व्यसन' बन जाता है तभी व्यक्ति अपना उद्देश्य सुगमता से प्राप्त कर सकता है। 'भक्ति' कभी तो स्वत स्फूर्त होती है, कभी अन्य भक्तो के ससर्ग से उदित होती है और कभी अनुकूल अभ्यास से उत्पन्न होती है।[1] 'भक्ति' के क्रमिक विकास का सात अवस्थाओ के एक आरोही क्रम मे वर्णन किया गया है, वे हैं—'भाव,' 'प्रेम,' 'प्रणय,' 'स्नेह,' 'राग,' 'अनुराग' और 'व्यसन'। भगवान के लिए 'व्यसन' जो प्रेम की प्रगाढतम अभिव्यक्ति है, भगवान के बिना रह सकने की असमर्थता है (तदविना स्थातुमशक्ति), ऐसे अनुराग से युक्त व्यक्ति के लिए घर मे ठहरना और अपने साधारण कर्त्तव्यो को करना असम्भव हो जाता है। पूर्व अवस्थाओ मे यद्यपि एक व्यक्ति घर मे एक अतिथि की भाँति रहने का प्रयत्न कर सकता है तथापि वह अपने भावोद्वेग की समुचित अभिव्यक्ति मे विविध प्रतिबन्धको का अनुभव करता है, सासारिक आसक्तियाँ दिव्यासक्ति मे सदा बाधक होती है जो 'भक्ति' के विकास मे सहायक होती हैं।[2]

परन्तु वल्लभ और अद्वैतवादी 'सन्यास' के ढग के त्याग के विरुद्ध हैं, क्योकि वह अभीप्सित फल को उत्पन्न करने मे असमर्थ होने के कारण केवल पश्चाताप का जनक हो सकता है।[3] ज्ञान-मार्ग अपना फल सैकडो जन्मो मे उत्पन्न कर सकता है और वह अन्य अनेक साधनो पर निर्भर करता है, इसलिए ज्ञान-मार्ग के स्थान पर भक्ति-मार्ग का अनुसरण करना चाहिए।[4] 'भक्ति-मार्ग' मे त्याग 'भक्ति' एव उसके समुचित पालन की आवश्यकता से प्रेरित होता है, भावना से नही।

---

[1] देखिए पृ० ३५५ पर टिप्पणी ३।

[2] स्नेहासक्ति-व्यसनाना विनाशन। तथा सति कृतमपि सर्वं व्यर्थ स्यात्। तेन तत् त्याग-कृत्वा यतेत।

—'भक्ति-वर्धिनी' श्लोक ६ पर बालकृष्ण की टीका।

[3] अत कलौ स सन्यास पश्चात्तापाय नान्यथा। पाषण्डित्व भवेत् चापि तस्मात् ज्ञाने न सन्यसेत्।

—वल्लभ का 'सन्यास-निर्णय,' श्लोक १६।

[4] ज्ञानमार्गमुत्तम न सिद्धिजन्मशतै, ज्ञान च साधनापेक्ष यज्ञादि-श्रवणात् मत परम्। गोकुलनाथ के 'विवरण' सहित वल्लभ का 'सन्यास-निर्णय, श्लोक १५।

की है, सब कुछ ब्रह्मन् हैं, तथा कोई 'साधना' नही है, कोई 'फल' नही है, और कोई भोक्ता नही है ।[1] जो व्यक्ति भगवान के आनन्दमय स्वरूप का उपभोग करने का प्रयास करता है वह सहज ही बाधाओ का निवारण कर लेता है। भक्त के रूप मे भजनानन्द का अनुभव करना स्वय ब्रह्मानन्द और विषयानन्द की अपेक्षा उत्तम है (विषयानन्द ब्रह्मानन्दापेक्षया भजनानन्दस्य माहात्वात्)। सासारिक वस्तुओ की आसक्ति से उत्पन्न मानसिक अस्थिरता भगवद् अनुग्रह की प्राप्ति मे बाधक होती है, 'कर्म' के फलो के त्याग द्वारा उसका निवारण किया जा सकता है। 'भक्ति' से उत्पन्न जिस मुक्ति का पहले कथन किया गया है उसकी उत्तम, मध्यम व अधम इन त्रिविध 'सेवाफलो' के रूप मे व्याख्या की जानी चाहिए, अर्थात् 'अलौकिक सामर्थ्य' (उत्तम-सेवाफल), 'सायुज्य' (मध्यम सेवाफल) और भजनोपयोगी देह (अधम-सेवाफल)।[2]

वल्लभ के अनुयायियों द्वारा वल्लभ वेदान्त के प्रकरणों की व्याख्या

वल्लभ के अनुयायियों द्वारा वेदान्त के विभिन्न प्रकरणो पर अनेक ऐसे प्रालेख लिखे गए जो ध्यान देने योग्य हैं। वल्लभ द्वारा अपनी 'सुबोधिनी' मे 'भागवत-पुराण' (३ ७ १०–११) पर की गई व्याख्या के अनुसार भ्रम एक वस्तु पर एक ऐसे धर्म अथवा गुण के मिथ्या आरोपण मे निहित होता है जिसमे वह वस्तुत नही होता।[3] वल्लभ से सकेत ग्रहण करके बालकृष्ण भट्ट (जिनको दल्लू भट्ट भी कहते हैं) वल्लभ सम्प्रदाय के अनुसार भ्रम का एक दार्शनिक सिद्धान्त विकसित करने का प्रयत्न करते हैं। वे कहते है कि प्रथम क्षण मे (मनस् से सबधित) नेत्र का शुक्ति से एक सम्पर्क स्थापित होता है, और उसके फलस्वरूप एक निर्विकल्पक ज्ञान (सामान्य ज्ञान) उत्पन्न होता है जो सशय एव अन्य विशिष्ट सज्ञानो से पूर्व होता है, यह सामान्य ज्ञान 'बुद्धि' के 'सत्वगुण' को जाग्रत करता है और फलत सम्यक् ज्ञान को उत्पन्न करता

---

[1] विवेकस्तु मर्मतदेव प्रभुना कृत सर्वं ब्रह्मात्मक कोऽह किंच साधन किं फल को दाता को भोक्ता इत्यादि रूप । —वही ।

[2] भक्ति-मार्गे सेवाया उत्तम-मध्यम-साधारणाधि कारक्रमेण एतत्फल-त्रयमेव, नो मोक्षादि ।

—'सेवाफल' श्लोक ६ पर हरिराज की टीका ।

[3] यथा जले चन्द्रमस प्रतिबिम्बितस्य तेन जलेन कृतो गुण कम्पादि-धर्म. आसन्नो विद्यमानो मिथ्यैव दृश्यते न वस्तुतश्चन्द्रस्य एवमनात्मनो देहदेर्धर्मो जन्म-बन्ध-दु खादिरूपो द्रष्टुरात्मनो जीवस्य न ईश्वरस्य ।

—'सुबोधिनी,' ३ ७ ११ ।

की है, सब कुछ ब्रह्मन् है, तथा कोई 'साधना' नही है, कोई 'फल' नही है, और कोई भोक्ता नही है।[1] जो व्यक्ति भगवान के आनन्दमय स्वरूप का उपभोग करने का प्रयास करता है वह सहज ही बाधाओ का निवारण कर लेता है। भक्त के रूप मे भजनानन्द का अनुभव करना स्वय ब्रह्मानन्द और विषयानन्द की अपेक्षा उत्तम है (विषयानन्द ब्रह्मानन्दापेक्षया भजनानन्दस्य माहात्वात्)। सासारिक वस्तुओ की आसक्ति से उत्पन्न मानसिक अस्थिरता भगवद् अनुग्रह की प्राप्ति मे बाधक होती है, 'कर्म' के फलो के त्याग द्वारा उसका निवारण किया जा सकता है। 'भक्ति' से उत्पन्न जिस मुक्ति का पहले कथन किया गया है उसकी उत्तम, मध्यम व अधम इन त्रिविध 'सेवाफलो' के रूप मे व्याख्या की जानी चाहिए, अर्थात् 'अलौकिक सामर्थ्य' (उत्तम-सेवाफल), 'सायुज्य' (मध्यम सेवाफल) और भजनोपयोगी देह (अधम-सेवाफल)।[2]

वल्लभ के अनुयायियों द्वारा वल्लभ वेदान्त के प्रकरणों की व्याख्या

वल्लभ के अनुयायियों द्वारा वेदान्त के विभिन्न प्रकरणो पर अनेक ऐसे प्रालेख लिखे गए जो ध्यान देने योग्य हैं। वल्लभ द्वारा अपनी 'सुबोधिनी' मे 'भागवत-पुराण' (३ ७ १०–११) पर की गई व्याख्या के अनुसार भ्रम एक वस्तु पर एक ऐसे धर्म अथवा गुण के मिथ्या आरोपण मे निहित होता है जिसमे वह वस्तुत नही होता।[3] वल्लभ से सकेत ग्रहण करके बालकृष्ण भट्ट (जिनको दल्लू भट्ट भी कहते हैं) वल्लभ सम्प्रदाय के अनुसार भ्रम का एक दार्शनिक सिद्धान्त विकसित करने का प्रयत्न करते हैं। वे कहते है कि प्रथम क्षण मे (मनस् से सबधित) नेत्र का शुक्ति से एक सम्पर्क स्थापित होता है, और उसके फलस्वरूप एक निर्विकल्पक ज्ञान (सामान्य ज्ञान) उत्पन्न होता है जो सशय एव अन्य विशिष्ट सज्ञानो से पूर्व होता है, यह सामान्य ज्ञान 'बुद्धि' के 'सत्वगुण' को जाग्रत करता है और फलत सम्यक् ज्ञान को उत्पन्न करता

---

[1] विवेकस्तु ममैतदेव प्रभुना कृत सर्वं ब्रह्मात्मक कोऽह किंच साधन किं फल को दाता को भोक्ता इत्यादि रूप। —वही।

[2] भक्ति-मार्गे सेवाया उत्तम-मध्यम-साधारणाधिकारक्रमेण एतत्फल-त्रयमेव, नो मोक्षादि।

—'सेवाफल' श्लोक ६ पर हरिराज की टीका।

[3] यथा जले चन्द्रमस प्रतिबिम्बितस्य तेन जलेन कृतो गुण कम्पादि-धर्म आसन्नो विद्यमानो मिथ्यैव दृश्यते न वस्तुतश्चन्द्रस्य एवमनात्मनो देहदेर्धर्मो जन्म-बन्ध-दु खादिरूपो द्रष्टुरात्मनो जीवस्य न ईश्वरस्य।

—'सुबोधिनी,' ३ ७ ११।

'भक्ति' के फलों का 'अलौकिक सामर्थ्य,' 'सायुज्य' और 'सेवोपयोगी देह' के रूप मे पहले ही वर्णन किया जा चुका है, तथा उनका वल्लभ के 'सेवाफल' में आगे और विवेचन किया गया है, जिस पर विविध टीकाकारों ने अपने अनेक मतभेद प्रकट किया है। इस प्रकार देवकीनन्दन और पुरुषोत्तम के मत में 'अलौकिक-सामर्थ्य' का अर्थ यह है कि भगवान मे एक विशिष्ट 'आवेश' होता है अथवा वह भक्त को एक विशेष प्रेरणा प्रदान करता है जिसके कारण वह भगवान के पूर्ण आनन्द के स्वरूप की अनुभूति करने मे समर्थ होता है। किन्तु हरिराज का मत है कि उसका अर्थ भगवान के विरहानुभव की योग्यता होना है, कल्याणराय का मत है कि उसका अर्थ भगवान के साथ वैकुण्ठ मे दिव्य गायन करने की सामर्थ्य होता है। गोपीश का मत है कि उसका अर्थ भगवान के अलौकिक भजनानन्दानुभव की 'स्वरूप योग्यता' है।[1] 'भक्ति' का द्वितीय फल (सायुज्य) पुरुषोत्तम, तथा गोपीश, और देवकीनन्दन के द्वारा भक्त का 'भगवत्स्वरूप मे लय होना माना जाता है, पर हरिराज उसे भगवान के निरतर साहचर्य की योग्यता मानते हैं।

'उद्वेग,' 'प्रतिबंध' और 'भोग' 'भक्ति' के बाधक माने जाते हैं। 'उद्वेग' का अर्थ दुष्ट व्यक्तियों द्वारा उत्पन्न किया गया भय अथवा पापों के द्वारा उत्पन्न की गई मानसिक अस्थिरता होता है, 'प्रतिबन्ध' का अर्थ सामान्य बाधाए होता है, और 'भोग' का अर्थ शरीर एव मन के सुख-दुःखो की साधारण अनुभूतियाँ है। इन बाधाओं का निवारण उनको उत्पन्न करने वाले कारणों के मिथ्या स्वरूप के अवबोध से किया जा सकता है, किन्तु यदि भक्त के अतिक्रमणों से भगवान क्रोधित हो जाता है और अपना अनुग्रह प्रदान नही करता तो बाधाओं का निवारण नही किया जा सकता।[2] जिस सम्यक् ज्ञान के द्वारा बाधाओं को उत्पन्न करने वाले मिथ्या बोध का निवारण किया जा सकता है वह इस विश्वास मे निहित होता है कि प्रत्येक वस्तु प्रभु ने प्रदान

[1] तत्र अलौकिक सामर्थ्यं नाम पर प्राप्ति-विवरण श्रुत्युक्त-भगवत्स्वरूपानुभवे प्रदीप-वदावेश इति सूत्रोक्त-रीतिक-भगवदावेशजा योग्यता यया रसात्मकस्य भगवत' पूर्ण-स्वरूपानन्दानुभव । श्री देवकीनन्दनादावप्येवमाहु । श्री हरिरायास्तु भगवद्विरहानुभव-सामर्थ्यमित्याहु । श्री कल्याणरायास्तु भगवता सह गानादि-सामर्थ्य मुख्यानामेवेत्याहु । तथा गोपीनान्त्वलौकिक-भजनानन्दानुभवे स्वरूप-योग्यता इत्याहु ।

—'सेवाफल,' श्लोक १ पर पुरुषोत्तम की टीका।

[2] कदाचित् दु सगादिना अति-पक्षपाति-प्रभु-प्रिय प्रद्वेषेण तद्द्रोहे प्रभोरतिक्रोधेन प्रार्थनयापि क्षमा-सम्भावना-रहितेन तस्मिन् प्रभु' फल-प्रतिबन्ध करोतीति स भगवत् कृत प्रतिबन्ध । —'सेवाफल' श्लोक ३ पर हरिराज की टीका।

की है, सब कुछ ब्रह्मन् है, तथा कोई 'साधना' नही है, कोई 'फल' नही है, और कोई भोक्ता नही है।[1] जो व्यक्ति भगवान के आनन्दमय स्वरूप का उपभोग करने का प्रयास करता है वह सहज ही बाधाओ का निवारण कर लेता है। भक्त के रूप मे भजनानन्द का अनुभव करना स्वय ब्रह्मानन्द और विषयानन्द की अपेक्षा उत्तम है (विषयानन्द ब्रह्मानन्दापेक्षया भजनानन्दस्य माहात्वात्)। सासारिक वस्तुओ की आसक्ति से उत्पन्न मानसिक अस्थिरता भगवद् अनुग्रह की प्राप्ति मे बाधक होती है, 'कर्म' के फलो के त्याग द्वारा उसका निवारण किया जा सकता है। 'भक्ति' से उत्पन्न जिस मुक्ति का पहले कथन किया गया है उसकी उत्तम, मध्यम व अधम इन त्रिविध 'सेवाफलो' के रूप मे व्याख्या की जानी चाहिए, अर्थात् 'अलौकिक सामर्थ्य' (उत्तम-सेवाफल), 'सायुज्य' (मध्यम सेवाफल) और भजनोपयोगी देह (अधम-सेवाफल)।[2]

वल्लभ के अनुयायियों द्वारा वल्लभ वेदान्त के प्रकरणों की व्याख्या

वल्लभ के अनुयायियों द्वारा वेदान्त के विभिन्न प्रकरणो पर अनेक ऐसे प्रालेख लिखे गए जो ध्यान देने योग्य हैं। वल्लभ द्वारा अपनी 'सुबोधिनी' मे 'भागवत-पुराण' (३ ७ १०–११) पर की गई व्याख्या के अनुसार भ्रम एक वस्तु पर एक ऐसे धर्म अथवा गुण के मिथ्या आरोपण मे निहित होता है जिसमे वह वस्तुत नही होता।[3] वल्लभ से सकेत ग्रहण करके बालकृष्ण भट्ट (जिनको दल्लू भट्ट भी कहते हैं) वल्लभ सम्प्रदाय के अनुसार भ्रम का एक दार्शनिक सिद्धान्त विकसित करने का प्रयत्न करते हैं। वे कहते है कि प्रथम क्षण मे (मनस् से सबधित) नेत्र का शुक्ति से एक सम्पर्क स्थापित होता है, और उसके फलस्वरूप एक निर्विकल्पक ज्ञान (सामान्य ज्ञान) उत्पन्न होता है जो सशय एव अन्य विशिष्ट सज्ञानो से पूर्व होता है, यह सामान्य ज्ञान 'बुद्धि' के 'सत्वगुण' को जाग्रत करता है और फलत सम्यक् ज्ञान को उत्पन्न करता

---

[1] विवेकस्तु ममैतदेव प्रभुना कृत सर्वं ब्रह्मात्मक कोऽह किंच साधन किं फल को दाता को भोक्ता इत्यादि रूप। —वही।

[2] भक्ति-मार्गे सेवाया उत्तम-मध्यम-साधारणाधि कारक्रमेण एतत्फल-त्रयमेव, नो मोक्षादि।

—'सेवाफल' श्लोक ६ पर हरिराज की टीका।

[3] यथा जले चन्द्रमस प्रतिबिम्बितस्य तेन जलेन कृतो गुण कम्पादि-धर्मः आसन्नो विद्यमानो मिथ्यैव दृश्यते न वस्तुतश्चन्द्रस्य एवमनात्मनो देहदेर्धर्मो जन्म-बन्ध-दु खादिरूपो द्रष्टुरात्मनो जीवस्य न ईश्वरस्य।

—'सुबोधिनी,' ३ ७ ११।

होते है। इन मिथ्या प्रत्ययो का निवारण दोषो के दूर पर सम्भव होता है, न कि भ्रम के अधिष्ठान के ज्ञान द्वारा, इस प्रकार एक जज्झर अथवा घट की बौद्धिक सृष्टि मिथ्या हो सकती है, यद्यपि इसमे प्रापचिक जज्झर अथवा घट के निषेध का समावेश नही होता।[1] अत जगत् की सृष्टि एव जगत् के विनाश विषयक प्रत्यय ऐसे मिथ्या प्रत्यय हैं जिनकी हमने सृष्टि की है। 'जीव' ईश्वर का अश होने के नाते सत्य है, वह जब जन्म एव पुनर्जन्म के चक्र का विषय माना जाता है तभी मिथ्या होता है। इस प्रकार जगत्-प्रपच सत्य अथवा मिथ्यात्व उसको प्रत्यक्ष करने की पद्धति पर निर्भर करता है,[2] अत जब एक व्यक्ति जगत् का प्रत्यक्षीकरण करता है और उसे ब्रह्मन् के रूप मे ज्ञात करता है तब जगत् के यथार्थ नानात्व से सबधित उसका बौद्धिक प्रत्यय तिरोहित हो जाता है। यद्यपि वस्तुत प्रत्यक्ष किया गया जगत् यथावत बना रह सकता है।[3] इस प्रकार 'माया' की सृष्टि बाह्य न होकर आन्तरिक होती है। इसलिए दृश्य जगत् स्वरूपत मिथ्या नही है, केवल ईश्वर से पृथक् एक स्वतन्त्र सत्ता के रूप मे उसका प्रत्यय मिथ्या होता है। 'माया' शब्द का प्रयोग दो अर्थों मे किया जाता है—ईश्वर की उस शक्ति के रूप मे जिसके द्वारा वह सब कुछ बन सकता है, तथा भ्रम को उत्पन्न करने वाली शक्ति के रूप मे और पश्चादुक्त पूर्वोक्त का एक अग होती है।

किन्तु पुरुषोत्तम अपने 'ख्यातिवाद' मे एक भिन्न व्याख्या प्रस्तुत करते है। उनका कथन है कि शुक्ति-रजत का भ्रम 'माया' के द्वारा बुद्धि-वृत्ति के विषयगत व बहिर्गत से उत्पन्न होता है, इस प्रकार प्रक्षेपित वृत्ति ही एक विषय के रूप मे ज्ञात की जाती है।[4] यह बहिर्गत विक्षेप पूर्व सस्कारो के उदय से सबधित होता है। यह मानना गलत है कि आत्मन् ही भ्रम का अधिष्ठान होता है, क्योंकि शुक्ति-रजत के प्रत्यक्षीकरण मे आत्मन् तो आत्म-चेतना का अधिष्ठान होता है, किसी मे भी "मै रजत हूँ" प्रत्यय उपस्थित नही होता।

---

[1] अत्रापि बौद्धेव घटो मिथ्या, न तु प्रपचान्तर्वर्तीति निष्कर्ष।

—वही, पृ० ६।

[2] तथा च सिद्ध विषयता-वैशिष्ट्येन प्रपचस्य सत्यत्व मिथ्यात्वच। एव स्वमते प्रपचस्य पारमार्थिक-विचारे ब्रह्मात्मकत्वेन सत्यत्वम्। —'वादावली,' पृ० ८।

[3] तथात्र चक्षु-सयुक्त-प्रपच-विषयके ब्रह्मत्व-ज्ञाने उत्पन्ने बौद्ध एव प्रपचो नश्यति। न तु चक्षुर्गृहीतोऽयमित्यर्थ। —वही, पृ० ८।

[4] अत शुक्ति-रजतादि-स्थले मायया बहिक्षिप्त-बुद्धि-वृत्ति-रूप ज्ञानमेवार्थाकारेण ख्यायत इति मन्तव्यम्।

—वही, पृ० १२१।

है। ये विशिष्टीकृत गुण स्वय को भिन्न-भिन्न प्रदर्शित करते है, वे जिन वस्तुओ से सम्बन्धित होते हैं उनके भेदो के प्रत्यय को उत्पन्न करते हैं, और स्वय को विभिन्न रूपो मे व्यक्त करते हैं। यद्यपि वे इस प्रकार भिन्न-भिन्न प्रतीत होते है, तथापि वे ईश्वर की इच्छा से एकीकृत होते है। क्रिया-शक्ति से सम्बन्धित अश स्वय को जड पदार्थ के रूप मे अभिव्यक्त करता है। जब चैतन्य-शक्ति अस्पष्ट रूप मे अभिव्यक्त होती है तब वह 'जीव' होती है।[1] जगत् के दृष्टिकोण से ब्रह्मन् 'विवर्तकारण' होता है, ईश्वर की आत्म-सृष्टि के दृष्टिकोण से वह 'परिणाम' होता है।[2]

विट्ठल द्वारा वल्लभ के विचारों की व्याख्या

वल्लभ के पुत्र विट्ठल ने 'विद्वान्मण्डन' नामक एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा था, जिस पर पुरुषोत्तम द्वारा 'सुवर्णसूत्र' नामक एक टीका है। इस रचना के प्रमुख विचारो का अब विवरण दिया जाता है।

अनेक ऐसे उपनिषद्-पाठ हैं जो यह घोषणा करते है कि ब्रह्मन् किन्ही विशिष्ट गुणो से रहित (निर्विशेष) है, और अन्य वे हैं जो कहते हैं कि वह विशिष्ट गुणो से युक्त है, अर्थात् वह 'सविशेष' है। पूर्वोक्त मत के समर्थक कहते है कि विपक्षी द्वारा आरोपित 'गुणो' अथवा 'धर्मो' के अस्तित्व का अधिष्ठान उन्हे कही न कही मानना पडेगा। यह अधिष्ठान गुणो से रहित होना चाहिए, और यह गुण-रहित सत्ता उन पाठो द्वारा अस्वीकृत नही की जा सकती जो ब्रह्मन् के गुण-सम्पन्न होने की घोषणा करते हैं, क्योकि पश्चादुक्त पूर्वोक्त की मान्यता के आधार पर ही सम्भव हो सकता है, अथवा दूसरे शब्दो मे पूर्वोक्त पश्चादुक्त का 'उपजीव्य' है। परन्तु, यह तर्क दिया जा सकता है कि जो श्रुति-पाठ ब्रह्मन् के गुण-रहित होने की घोषणा करते हैं वे ऐसा गुणो के निषेध द्वारा ही करते हैं, तो गुणो को मुख्य माना जा सकता है, क्योकि गुण-रहित का निर्धारण केवल गुणो के निषेध द्वारा ही किया जा सकता है। इसका उत्तर यह है कि, चूकि श्रुति-पाठ निर्गुण पर बल देते है, इसलिए निर्गुण का गुणो के माध्यम से अवबोध करने का प्रयास विरोध-ग्रस्त है, ऐसे विरोध मे गुण एव निर्गुण दोनो के अभाव का समावेश हो जाएगा और हम 'शून्यवाद' पर आ जाएगे। यदि, पुन, यह तर्क दिया जाता है कि गुणो का निषेध केवल सामान्य व्यावहारिक गुणो का उल्लेख करता है न कि वेदो द्वारा मान्य गुणो का, तो एक उचित आपत्ति उठती है, क्योकि 'श्रुति-पाठ' निश्चयपूर्वक यह घोषणा करते हैं कि ब्रह्मन् पूर्णत

[1] देखिए पुरुषोत्तम का 'सृष्टिभेदवाद,' पृ० ११५।

[2] एव च अन्तरा सृष्टि प्रति विवर्तोपादानत्वमात्म-सृष्टि प्रति परिणाम्यु-पादानत्व ब्रह्मण। —वही, पृ० ११३।

अकथनीय व अनिर्वचनीय हैं। किन्तु आगे यह तर्क दिया जा सकता है कि, यदि ब्रह्मन् को कुछ ऐसे गुणो का अधिष्ठान मान लिया जाय जिनका उसके प्रति निपेध किया गया हो, तो ऐसा निपेध भी अस्थायी रूप से सापेक्ष हो जायगा और निरपेक्ष रूप से लागू नही होगा। एक घट तपाने से पूर्व काला होता है, और जब उसे तपा लिया जाता है तब वह काला न रहकर भूरा हो जाता है। प्रस्तावित उत्तर यह है कि सोपाधिक के रूप मे ब्रह्मन् के प्रति गुणो को स्वीकार किया जाता है, और निरुपाधिक के रूप मे ब्रह्मन् के प्रति गुणो का निपेध किया जाता है। जब एक व्यक्ति का हृदय सोपाधिक ब्रह्मन् की उपासना द्वारा शुद्ध हो जाता है तब वह ब्रह्मन् के निरुपाधिक स्वरूप का अवबोध करता है। ऐसे ब्रह्मन् के स्वरूप की घोपणा के प्रयोजन से श्रुति-पाठ उसके निर्गुण होने का कथन करते है, वे उसको गुण-सम्पन्न तब घोपित करते है जब वह 'अविद्या' से उपाधिग्रस्त हो जाता है। इसका विट्ठल यह उत्तर देते है कि, यदि ब्रह्मन् को जगत् का स्वामी माना जाय तो उसे निर्गुण नही कहा जा सकता है। यह तर्क नही किया जा सकता कि इन गुणो का 'अविद्या' से उपाधिग्रस्त ब्रह्मन् के सबध मे कथन किया गया है, क्योकि, चूंकि ब्रह्मन् और 'अविद्या' दोनो अनादि हैं इसलिए सृष्टि-क्रम निरतर बना रहेगा, सृष्टि-क्रम एक बार 'अविद्या' द्वारा आरम्भ होने पर किसी अन्य वस्तु के द्वारा समाप्त नही किया जा सकेगा। वेदान्त पाठो मे इच्छा-शक्ति से सबधित ब्रह्मन् जगत् का कारण माना जाता है, ब्रह्मन् के अन्य गुणो को उसकी इच्छा से अनुप्रेरित माना जा सकता है। शकरवादी मत जिसके अनुसार इच्छा सोपाधिक ब्रह्मन् से प्रवृत्त होती है—मे विभिन्न प्रकार की इच्छाओ का कोई कारण नही बताया जा सकता। यदि यह कहा जाय कि विभिन्न प्रकार की इच्छाओ व गुणो का प्रतिभास सोपाधिक के गुणो को स्वीकार करने की आवश्यकता नही रहती, अत यह मानना गलत है कि ब्रह्मन् उन 'गुणो' से पृथक् अस्तित्व रखता है जिनका वह उपाधियो के द्वारा अधिष्ठान होता है। 'ब्रह्म-सूत्र' मे भी ब्रह्मन् के प्रति जिज्ञासा का सूत्रपात करने के तुरन्त पश्चात् बादरायण उसके स्वरूप का लक्षण यह बताते हैं कि उससे जगत् की सृष्टि एव विनाश अग्रसर होते है, किन्तु 'ब्रह्म-सूत्र' का कथन है कि उक्त सृजनात्मक व्यापार केवल एक सोपाधिक ब्रह्मन् का उल्लेख करते हैं। यह कहना गलत है कि चूंकि विशुद्ध ब्रह्मन् के स्वरूप की व्याख्या करना कठिन है इसलिए 'ब्रह्म-सूत्र' पहले जगत् की सृष्टि का कथन करता है और फिर उसका निपेध करता है, क्योकि जगत् का सभी के द्वारा प्रत्यक्ष किया जाता है, और उसकी सृष्टि का कथन करके फिर उसके निपेध करने मे कोई अर्थ नही होता—यह तो इस कथन के समान होगा कि "मेरी माँ बाँझ है"। यदि जगत् का अस्तित्व नही होता तो वह उस रूप मे भासित नही होता। वह 'वासना' के कारण नही हो सकता, क्योकि, यदि जगत् का कदापि अस्तित्व नही होता, तो उसका कोई अनुभव नही होता और कोई 'वासना' नही होती। 'वासना' को उत्पन्न करने

होकर लोग आत्मोन्नति के लिए अनेक प्रयत्नो मे जुटे रहते हैं।[1] इस व्याख्या के अनुसार भी यह समझाना कठिन है कि उक्त मिथ्या प्रत्यय कैसे उदित होता है और वह किसमे स्थित रहता है। जीव स्वय भ्रम का एक अग होने के कारण उसका एक द्रष्टा नही हो सकता, और न 'अविद्या' और 'ब्रह्मन्' सवध के स्वरूप की व्याख्या की जा सकती है, वह सयोग का सवध नही हो सकता क्योकि 'अविद्या' और ब्रह्मन् दोनो आत्म-व्याप्त होते है, वह भ्रम भी नही हो सकता, चूंकि भ्रम से पूर्व कोई भ्रम नहीं होता, वह विलक्षण नही हो सकता, क्योकि उस दशा मे एक मुक्त व्यक्ति भी भ्रम मे पड सकता है। पुन, यदि 'अविद्या' और उसका सबध दोनो अनादि है तथा 'जीव' भी अनादि है, तो यह नि रित करना कठिन है कि क्या 'अविद्या' ने 'जीव' की सृष्टि की अथवा 'जीव' ने 'अवि ा' की सृष्टि की है।

इसलिए यह मानना पडेगा कि 'जीवो' का बधन अथवा उनका अस्तित्व अनादि नही है। उनका बधन 'अविद्या' से उत्पन्न किया जाता है जो ईश्वर की एक शक्ति है, और वह केवल उन्ही 'जीवो' के प्रति क्रियान्वित होती है जिन्हे ईश्वर बद्ध करना चाहता है। इस कारण से हमे सर्प एव अन्य प्राणियो के सदृश अनेक प्राणियो को स्वीकार करना पडता है जो कभी भी 'अविद्या' की बधन-शक्ति के अधीन नही थे।[2] सर्व वस्तुए 'आविर्भाव' एव 'तिरोभाव' के रूप मे भगवद्-कृपा से प्रकट होती है और लुप्त होती हैं। आविर्भाव-शक्ति वह है जिसके द्वारा वस्तुओ मे अनुभव का विषय बनने की योग्यता आती है (अनुभव-विषयत्व-योग्यता-विर्भाव), और तिरोभाव-शक्ति वह है जिसके द्वारा वस्तुए इतनी आच्छादित हो जाती हैं कि वे अनुभव के योग्य नही रहती (तद्-विपय-योग्यतातिरोभाव)। इसलिए जब वस्तुओ का प्रत्यक्षीकरण नही होता तव भी उनका अस्तित्व वना रहता है, साधारण इन्द्रियानुभव मे अस्तित्व की परिभाषा प्रत्यक्षीकरण विषयक योग्यता के रूप मे दी जाती है, किन्तु पारमार्थिक अर्थ मे वस्तुए जब प्रत्यक्ष नही की जाती तब भी वे ईश्वर मे अस्तित्व रखती हैं। इस मत के अनुसार भूतकाल मे घटित होने वाली सभी वस्तुए तथा भविष्यकाल मे घटित होने वाले सभी कार्य ईश्वर मे अस्तित्व रखते है और उसकी इच्छा के अनुसार उसका आविर्भाव और तिरोभाव होता है।[3]

---

[1] अस्मिन् पक्षे जीवस्य वस्तुतो ब्रह्मत्वे भेदभानस्य जीव-पदवाच्यतायाश्च दुष्टत्व न तु स्वरूपातिरेकत्व न वा मोक्षस्य अपुरुषार्थत्व न वा पारलौकिक-प्रयत्न-प्रतिरोध।
—'विद्वन्-मण्डन' पर पुरुपोत्तम का 'सुवर्ण-सूत्र,' पृ० ३७।

[2] यद् वन्धने तदिच्छा तमेव स वध्नाति। —पुरुपोत्तम का 'सुवर्ण-सूत्र' पृ० ३५।

[3] अस्मिन् काले अस्मिन् देशे इद कार्यं इद भवतु इति इच्छा-विपयत्वमाविर्भाव तदा तत्र तस्मा भवतु इति इच्छा-विपयत्व तिरोभाव। —वही, पृ० ५६।

'जीव' ईश्वर का एक अश माना जाता है, 'जीव' के इस स्वरूप को शास्त्रो की आप्तता के द्वारा ही ज्ञात किया जा सकता है। ईश्वर का अश होने के कारण उसमे ईश्वर का पूर्णत्व नही होता अतएव वह उसके समान सर्वज्ञ नही हो सकता। 'जीव' के विभिन्न दोष ईश्वर की इच्छा के कारण होते हैं। अत 'जीव' को अनुभव की विविधता प्रदान करने के लिए ईश्वर ने अपनी सर्वशक्तिमान शक्ति को 'जीव' मे आच्छादित कर दिया है तथा उसके नैतिक प्रयत्नो को उपलब्ध करने के लिए उसे बधन से सबधित कर दिया है और स्वतत्र बना दिया है। आनद के रूप मे अपने स्वरूप को आच्छादित करके ईश्वर का एक अश 'जीव' के रूप मे प्रकट होता है। हमे ज्ञात है कि मध्व के अनुयायी भी जीव को ईश्वर का अश मानते है, किन्तु उनके अनुसार वे उससे भिन्न होते हैं, और ब्रह्मन् एव 'जीव' का तादात्म्य केवल एक दूरस्थ अर्थ मे होता है। निम्बार्को के अनुसार 'जीव' ईश्वर से भिन्न होते हैं, और फिर भी उसके समान होते है। वे भी 'जीवो' को ईश्वर के अश मानते है, किन्तु उसके साथ जीवो के भेद एव अभेद दोनो पर बल देते है। रामानुज के अनुसार ईश्वर 'जीवो' को अपने अन्तर्गत धारण करता है और अपनी इच्छा से 'जीव' के ज्ञान के स्वरूप का विस्तार एव सकोच करके उनके सकल व्यापारो पर आधिपत्य रखता है। भास्कर के अनुसार 'जीव' का स्वभावत ईश्वर से तादात्म्य होता है, और केवल परिच्छिन्नात्मक उपाधियो के द्वारा ही वह उससे भिन्न प्रतीत होता है। विज्ञान भिक्षु के अनुसार, यद्यपि 'जीव' ईश्वर से नित्य भिन्न होते हैं, तथापि वे सजातीय होने के कारण उससे अविभक्त होते हैं।[1]

किन्तु वल्लभानुयायी यह मानते हैं कि 'जीव' ईश्वर के अश होने के कारण उससे एकरूप होते है, वे 'आविर्भाव' एव 'तिरोभाव' के रूप मे उसके व्यापार के द्वारा 'जीवो' के रूप मे प्रतीत होते हैं, जिसके कारण ईश्वर मे पाए जाने वाली कुछ शक्तियो एव गुणो का जीवो मे आच्छादन हो जाता है, और कुछ अन्य शक्तियो की अभिव्यक्ति हो जाती है। जड पदार्थ की अभिव्यक्ति भी इसी प्रक्रिया के द्वारा होती है, उसमे चित के रूप मे ईश्वर का स्वरूप आच्छादित हो जाता है, और केवल उसका सत् रूप अभिव्यक्त होता है। इस प्रकार ईश्वर की इच्छा 'जीव' एव जड दोनो की मूलभूत निर्धारक होती है। इससे विभिन्न जीवो मे शक्ति एव गुण की विविधता की भी व्याख्या हो जाती है जो सब ईश्वर की इच्छा के कारण होती है। किन्तु इस मत के विरोध मे एक गम्भीर आपत्ति है, क्योकि फिर शुभ एव अशुभ 'कर्म' व्यर्थ हो जाते

[1] जीवाना नित्य-भिन्नत्वमगीकृत्य अविभाग-लक्षणमगीकृत्य सजातीयत्वे सति अविभाग-प्रतियोगित्वमशत्व तदनुयोगित्व च अशित्वम्।

—'सुवर्ण-सूत्र' पृ० ८५।

है। इसका उत्तर यह है कि ईश्वर अपने आत्मानन्द के हेतु जीव को विभिन्न योग्यताओ एव शक्तियो से सम्पन्न करके अपने मनस् मे कार्यो और उनके फलो की एक ऐसी योजना धारण किए रहता है कि जो कोई अमुक कार्य करेगा उसे अमुक फल प्रदान किए जाएगे। वह ऐसा केवल विभिन्न प्रकार से अपने रसानुभव के लिए करता है। इस प्रकार 'कर्म' का नियम भगवान पर निर्भर करता है और उसके अधीन रहता है।[1] पर वल्लभ कहते हैं कि ईश्वर ने कार्यो के शुभत्व एव अशुभत्व की व्याख्या शास्त्रो मे कर दी है। ऐसा करके वह जो 'जीव' एक प्रकार की कार्य-विधि का अनुसरण करने पर तुला हुआ है उससे वैसे ही कार्य करवाता है। 'जीव' की इच्छा ही उसके द्वारा किए जाने वाले 'कर्म' का कारण होती है, व्यक्ति की इच्छा उसके पूर्व सस्कारो के द्वारा निर्धारित होती है, किन्तु उन सब मे भगवद्-इच्छा ही अन्तिम विधायक होती है। इस सम्बन्ध मे हम 'मर्यादामार्ग' 'पुष्टिमार्ग' के भेदो का विभेदीकरण कर सकते है—'मर्यादामार्ग' इस बात से सतुष्ट है कि मूल विधान मे कुछ कर्मों का कुछ फलो से सबध होना चाहिए, और व्यक्ति को स्वेच्छा से कर्म करने को छोड देता है, परन्तु 'पुष्टिमार्ग' ईश्वर की क्रीडात्मक क्रिया को जीव के प्रयत्नो और 'कर्म' के नियम का कारण मानता है।[2]

उपनिषदो का कथन है कि जैसे स्फुलिंग अग्नि से विकीर्ण होते हैं, उसी प्रकार 'जीवो' का भी ब्रह्मन् से विकीरण हुआ है। यह उदाहरण बताता है कि 'जीव' ईश्वर के अश हैं, स्वरूप मे परमाण्वीय हैं (वे उससे विकीर्ण हुए है और पुनः उसी मे लय हो जाते हैं)। ईश्वर मे लय (ब्रह्म-भाव) का अर्थ यह है कि जब भगवान सतुष्ट होता है तब वह 'जीव' मे अपने आनन्द स्वरूप तथा ऐश्वर्य को प्रकट करता

[1] क्रीडैव मुक्त्या अन्यत्सर्वमुपसर्जनीभूत तथा च तदपेक्षया भगवान् विचित्र-रसानुभवार्थमेव य करिष्यति तमेव य करिष्यति तमेव करिष्यामीति स्वयमेव कार्यादौ चकार।

—विद्वन्-मण्डन, पृ० ९१।

[2] आचार्यस्तु यथा पुत्र यतमान—बल वा पदार्थ-गुण-दोषौ वर्णयनपि यत्-प्रयत्नाभिनिवेश पश्यति तथैव कारयति। फल—दानार्थं श्रुतौ कर्मापेक्षा-कथनात् फलदाने कर्मापेक्ष कर्म-कारणे जीव-कृत-प्रयत्नापेक्ष, प्रयत्ने तत्-कर्मापेक्ष स्वर्गादि कामे च लोकप्रवाहापेक्ष कार्यतीति न ब्रह्मणो दोषगन्धोऽपि, न चैवमनीश्वरत्व। मर्यादामार्गस्य तथैव निर्माणात्। यत्र त्वन्यथा तत्र पुष्टि-मार्गांगीकार इत्याहु। अयमपि पक्ष स्वकृतमर्यादया एव हेतुत्वेन कथनान् मर्यादाकरणे च क्रीडेच्छम् ऋते हेत्वन्तरस्य सम्भवादस्मदुक्तान्नातिरिच्यते।

—विद्वन्-मण्डन, पृ० ९२।

है ।[1] मुक्ति-काल मे भक्तो का भगवान मे लय हो जाता है, वे उससे अभिन्न हो जाते है, और उससे पृथक् कोई अस्तित्व नही रखते । अवतार के समय भगवान अपनी स्वेच्छा से अपने उन अशो को अवतीर्ण कर सकता है जो उसमे लीन मुक्त प्राणियो के रूप मे अस्तित्व रखते थे ।[2]

यह आपत्ति की जाती है कि 'जीवो' को स्वरूप मे परमाण्वीय नही माना जा सकता क्योकि उपनिषद् उन्हे सर्व-व्यापी के रूप मे वर्णित करते है । इसके अतिरिक्त, यदि 'जीव' स्वरूप मे आणविक है तो वे शरीर के सभी अगो मे चेतन नही होगे । यहाँ चन्दन का सादृश्य उपयुक्त नही है जो एक स्थान मे रहकर चारो ओर की वायु को सुगधित बना देता है, क्योकि चारो ओर की सुगध सूक्ष्म कणो की उपस्थिति के कारण होती है । आत्मन् के सबध मे ऐसा नही हो सकता, चैतन्य आत्मन् का एक गुण होने के कारण तब तक क्रियान्वित नही हो सकता जब तक आत्मन् द्रव्य उपस्थित न हो । दीपक एव उसकी किरणो का सादृश्य भी निरर्थक है, दीपक का विभु स्वरूप नही होता, क्योकि प्रकाश सूक्ष्म प्रकाश कणो की उपस्थिति के फलस्वरूप होता है । इसका विट्ठल यह उत्तर देते हैं कि बादरायण स्वय 'जीवो' के स्वरूप को परमाण्वीय बताते हैं । न यह आपत्ति वैध है कि गुण द्रव्य के अभाव मे क्रियान्वित नही हो सकते । नैयायिक भी यह स्वीकार करते है कि 'समवाय' का सबध उसके द्वारा सबधित पदो के विना स्थित रह सकता है । यह आपत्ति कि एक द्रव्य की सुगध सूक्ष्म कणो की उपस्थिति के कारण होती है—वैध नही है, क्योकि एक डिब्बे मे बन्द एक कस्तूरी का टुकडा चारो ओर अपनी सुगन्ध फैलाता है, और ऐसे उदाहरणो मे कस्तूरी के सूक्ष्म कणो के लिए डिब्बे के बाहर आने की कोई सम्भावना नही होती, जब कोई लहसुन का स्पर्श करता है तब हाथ धो लेने पर भी गध का निवारण नही होता । इसलिए यह स्वीकार करना पडेगा कि किसी द्रव्य की गध स्वय उस द्रव्य से अधिक अवकाश मे स्थित रह सकती है । अन्य विद्वानो के विचार मे आत्मन् अग्नि के समान है, और जैसे अग्नि उष्णता व प्रकाश से सबधित होती है, उसी प्रकार चैतन्य आत्मन् से सबधित होता है, उनका यह तर्क है कि चैतन्य स्वरूप होने के कारण

---

[1] ब्रह्म भावश्च भगवदुक्त-साधनकरणेन सतुष्टात् भगवत आनन्द-प्राकट्यात् स्वगुण-स्वरूपैश्वर्यादि प्राकट्याच्चेति ज्ञेयम् । —वही, पृ० ९६ ।

[2] मोक्षे जीव-ब्रह्मणोरभिन्नत्वादभिन्नस्वभावेनैव निरूपणादित्यर्थ । तेनादि मध्या-वसानेषु शुद्ध-ब्रह्मण एवोपादानत्वात् · स्वावता—रसमये क्रीडार्थं साक्षाद् योग्यास्त एव भवन्तीति तानप्यवतारयतीति पुनर्निर्गम-योग्यत्वम्, इदमेव, मुक्तानुप-सृप्य व्यापदेशादिति सूत्रेणोक्तम् मुक्ता अपि लीला-विग्रह कृत्वा भजन्ति इति । —वही, पृ० ९७ ।

आत्मन् आणविक नही हो सकता। यह भी अवैध है, क्योकि उपनिषद्-पाठ यह घोषणा करते हैं कि ज्ञान आत्मन् का गुण है तथा उसका उससे तादात्म्य नही है। उष्णता व प्रकाश का भी अग्नि मे तादात्म्य नही होता, कुछ हीरो और 'मत्रो' की शक्ति से अग्नि की उष्णता की अनुभूति नहीं होती, उष्ण जल मे उष्णता होती है, यद्यपि उसमे प्रकाश नही होता। इसके अतिरिक्त उपनिषद्-पाठ निश्चयपूर्वक आत्मन् के शरीर मे अभिगमन की घोषणा करते हैं, और यह तभी सम्मत हो सकता है यदि आत्मन् परमाण्वीय हो। यह आपत्ति कि उपनिषद्-पाठ आत्मन् के ब्रह्मन् से तादात्म्य की घोषणा करते है 'जीवो' के परमाण्वीय स्वरूप की अस्वीकृति के रूप मे स्वीकार नही की जा सकती, क्योकि यह तादात्म्यीकरण इस तथ्य पर आधारित है कि जीवो मे पाया जाने वाला ज्ञान अथवा अन्त प्रज्ञा वस्तुत भगवान का गुण है। 'जीव' ब्रह्मन् से अपने परमाण्वीय स्वरूप मे उद्भूत होते है तथा ब्रह्मन् अपने गुणो को उनमे अभिव्यक्त करता है ताकि वे उसकी दास्यता कर सकें। इस प्रकार भगवद्-सेवा मानव का धर्म है, उससे सतुष्ट होकर भगवान कभी-कभी मानव को अपने अन्तर्गत प्रविष्ट करा लेता है, अथवा अन्य काल मे जब वह अपना सर्वोच्च अनुग्रह प्रदान करता है तब वह उसे अपने निकट स्थापित कर लेता है जिसमे कि वह उसके दास्य के मधुर भावावेश का आनन्द ले सके।[1]

शकरवादियो के मत मे ब्रह्मन् 'निर्विशेष' है तथा सकल विशिष्टता 'अविद्या' जन्य है। यह मत दोषपूर्ण है, क्योकि कल्पित 'अविद्या' 'जीवो' मे स्थित नहीं हो सकती, यदि वह होती तो वह ब्रह्मन् के स्वरूप को प्रभावित नही कर सकती थी। न वह ब्रह्मन् मे स्थित हो सकती है, क्योकि ब्रह्मन् विशुद्ध होने के नाते सकल 'अविद्या' का विनाशकर्त्ता होता है, पुन, यदि 'अविद्या' अनादि काल से ब्रह्मन् मे स्थित होती तो कोई 'निर्विशेष' नही हो सकता था। अत यह स्वीकार करना पडेगा कि ब्रह्मन् मे ज्ञान व कर्म की शक्ति होनी है, तथा ये शक्तिया उसके लिए नैसर्गिक हैं एव उनसे एकरूप है। इस प्रकार अपनी शक्तियो के साहचर्य मे ईश्वर को सविशेष व निर्विशेष दोनो मानना पडेगा, परन्तु ब्रह्मन् के मूर्त्त-रूप ब्रह्मन् से भिन्न नही माने जाने चाहिए अथवा उसके गुण नही माने जाने चाहिए, वे स्वय ब्रह्मन् से एक-रूप होते हैं।[2]

यदि 'माया' को ब्रह्मन् की शक्ति माना जाय, तो वल्लभ उसे स्वीकार करने को तैयार है, किन्तु यदि 'माया' को मिथ्या माना जाय तो वे ऐसे पदार्थ के अस्तित्व को अस्वीकृत करते हैं। सर्व ज्ञान और सर्व भ्रान्ति ब्रह्मन् मे उद्भूत होते हैं, तथा वह तथाकथित विरोधी गुणो से एकरूप है। यदि एक पृथक् 'माया' को स्वीकार किया जाय तो यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि उसकी पदवी क्या है? 'जड' होने के कारण वह स्वय कर्त्ता नही मानी जा सकती, यदि वह ईश्वर पर आश्रित है तो उसे केवल एक साधन के रूप मे सकल्पित किया जा सकता है—किन्तु यदि ईश्वर स्वरूपत अनन्त शक्तियो से सम्पन्न है तो उसे ऐसे जड साधन की आवश्यकता नही हो सकती। इसके अतिरिक्त, उपनिषद् यह घोषणा करते हैं कि ब्रह्मन् विशुद्ध सत्ता है। यदि हम उन्ही उपनिषद्-पाठो का अनुकरण करें तो ब्रह्मन् को 'गुणो' से इस अर्थ मे सबधित नही माना जा सकता कि वे 'गुण' सत्व, रजस व तमस गुणो के रूपान्तरण है। अत यह मानना पडेगा कि 'माया' ब्रह्मन् के स्वरूप को उसके विशिष्ट गुणो मे निर्धारित अथवा रूपान्तरित करती है। यह कहना भी आपत्तिजनक है कि 'माया' की अभिव्यक्ति ईश्वर की इच्छा से की जाती है, क्योकि, यदि ईश्वर की इच्छा स्वत शक्तिशाली है तो उसे अपने उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए किसी 'उपाधि' की आवश्यकता नही हो सकती। वस्तुत ईश्वर और उसके गुणो मे किसी भेद अथवा विभेद का कथन करना सम्भव नही है।

वल्लभ का जीवन (१४८१-१५३३)

वल्लभ यज्ञनारायण भट्ट की वश-परम्परा मे उत्पन्न हुए थे, उनके परदादा गगाधर भट्ट थे, दादा गणपति भट्ट, और पिता लक्ष्मण भट्ट थे। कहा जाता है कि उन सबने मिलकर एक सौ 'सोम-याग' किए थे। उनका परिवार दक्षिण भारत के तेलगु ब्राह्मणो का परिवार था, और जिस ग्राम के वे निवासी थे उसे ककरखम्ह्ल कहा जाता था, उनकी माता का नाम जल्लमगरू था। एन० जी० घोष द्वारा लिखित वल्लभाचार्य की रूपरेखा का अनुसरण करते हुए ग्लेसनेप्प उनकी जन्मतिथि १४७९ ईस्वी देते है, किन्तु सभी परम्परागत विवरण एक मत से यह मानते है कि वे बनारस के निकट परम्पारण्य मे सवत् १५३५ (१४८१ ईस्वी) के वैशाख मास मे कृष्ण-पक्ष की एकादशी को उत्पन्न हुए थे। उनकी जन्म-घडी के सबध मे कुछ मतभेद हैं, किन्तु यह बहुत सम्भव है कि वह रात्रि की प्रारम्भिक घडी थी जब वृश्चिक पूर्वी क्षितिज पर था। जब लक्ष्मण भट्ट बनारस नगर पर मुसलमानो के आक्रमण का समाचार सुनकर वहाँ से पलायन कर रहे थे, तब वल्लभ एक वृक्ष के नीचे सातवें मास मे ही गर्भ-मुक्त हुए, उन्होने आठवें वर्ष मे अपने पिता से दीक्षा प्राप्त की और वे विष्णुचित्त को सौंप दिए गए, जिनके पास उन्होने अपना प्राथमिक अभ्यास आरम्भ

किया। उनका वेदाध्ययन अनेक शिक्षको की देख-रेख मे हुआ जिनमे त्रिरम्मलय, अन्धनारायण दीक्षित और माधवयतीन्द्र थे। ये सव शिक्षक मध्व-सम्प्रदाय के थे। अपने पिता के देहावसान के पश्चात् वे तीर्थ-यात्रा पर निकल पडे और उनके दामोदर, शम्भू, स्वभू, स्वयभू व अन्य कई शिष्य होने लगे। दक्षिण मे विद्यानगर के सम्राट के दरवार मे एक शास्त्रार्थ की सूचना मिलने पर वे अपने शिष्यो सहित 'भागवत-पुराण' और ईश्वर के प्रस्तर प्रतीक (शालिग्राम शिला) को साथ लेकर उस स्थान के लिए रवाना हुए। शास्त्रार्थ ब्रह्मन् के सविशेष स्वरूप की समस्या पर था, विष्णुस्वामी सम्प्रदायी होने के नाते वल्लभ ने ब्रह्मन् के सविशेप स्वरूप के पक्ष मे तर्क किया और कई दिन तक चलने वाले दीर्घ विवाद के पश्चात् वे विजयी रहे। यहाँ उनकी महान् मध्व उपदेशक व्यासतीर्थ से भेटें हुई। विद्यानगर से वे पम्पा की ओर गए और वहाँ से ऋष्यमुख पर्वत, वहाँ से कामाकाष्नी, तदनतर काची, चिदम्वरम् और रामेश्वरम् गए। वहाँ से वे उत्तर की ओर लौटे और कई स्थानो से होते हुए महिष-पुरी आए तथा उस स्थान के सम्राट द्वारा उनका उत्तम स्वागत किया गया, वहाँ से वे मोलुलकोट (जिसे यादवाद्रि भी कहते हैं) आए। तत्पश्चात् वे उदिपि गए और वहाँ से गोकर्ण, जहाँ से वे पुन विद्यानगर (विजयनगर) के निकट आए और सम्राट के द्वारा उनका उत्तम स्वागत किया गया। तव वे पाण्डुरग की ओर चले, वहाँ से नासिक फिर रेवा नदी के किनारे होते हुए महिष्मती गए, वहाँ से विसाल, वेत्रवति नदी के किनारे एक नगर से घललागिरि और वहाँ से मथुरा गए। मथुरा से वे वृन्दावन, सिद्धपुर जैनो के अर्हत्पट्टन, वृद्धनगर गए और वहाँ से विश्वनगर गए। विश्वनगर से गुजरात गये और गुजरात से भारुच होते हुए सिन्धु नदि के मुहाने तक गए। वहाँ से वे भमक्षेत्र, कपिलक्षेत्र गए, फिर प्रभास और रैवत और फिर द्वारका गए। वहाँ से वे सिन्ध नदी के किनारे-किनारे पजाव की ओर अग्रसर हुए। वहाँ से वे कुरुक्षेत्र आए तदनतर हरद्वार, ऋपिकेश, गगोत्रि और यमुनोत्रि गए। हरद्वार लौटने पर वे केदार और वदरिकाश्रम गए। फिर वे कन्नौज आए, फिर गगा के किनारे, अयोध्या और इलाहावाद आए, और वहाँ से वनारस आए। वनारस से वे गया और वैद्यनाथ आए और फिर वे गगा व समुद्र के सगम पर आए। फिर वे पुरी आए। पुरी मे वे गोदावरी गए, दक्षिण की ओर अग्रसर हुए और पुन विद्यानगर आए। फिर वे काठियावाड प्रदेश मे होकर पुन द्वारका की ओर अग्रसर हुए, वहा से वे पुष्कर आए, पुष्कर से पुन वृन्दावन और फिर वदरिकाश्रम आए। वे पुन वनारस आए और गगा के सगम तक आकर वे वनारस लौट गए, जहाँ उन्होने देवन भट्ट की पुत्री महालक्ष्मी से विवाह किया। विवाह के पश्चात् वे पुन वैद्यनाथ के लिए रवाना हुए और वहाँ से वे पुन द्वारका के लिए अग्रसर हुए, और वहाँ से फिर वदरिकाश्रम, वहा से वे वृन्दावन आए। वे पुन· वनारस लौटे। फिर वे वृन्दावन आए। वृन्दावन से वे वनारस आए, जहाँ उन्होने एक महा 'सोमयाग'

निगूढार्थ-दीपिका' थी, एक अन्य विठ्ठल के शिष्य मुरलीधर द्वारा ('अरणुभाष्य-व्याख्या'), और किसी अज्ञात लेखक द्वारा 'वेदान्त-चन्द्रिका' रची गई थी। वल्लभ द्वारा लिखित 'कारिकाओ' पर स्वय उनकी टीका के प्रथम भाग पर पीताम्बरजी महाराज द्वारा 'आवरण-भग' टीका लिखी गई। तत्वार्थ-दीपिका तीन विभागो मे विभक्त है, जिनमे से प्रथम, 'शास्त्रार्थ-प्रकरण' मे दार्शनिक स्वरूप की १०५ कारिकाए समाविष्ट हैं, द्वितीय विभाग, 'सर्वनिर्णय-प्रकरण' एव कर्तव्यो से सबधित विषयो का विवेचन करता है, तृतीय विभाग 'भागवतार्थ-प्रकरण'—जिसमे 'भागवत-पुराण' के द्वादश अध्यायो का साराश समाविष्ट है—पर पुरुषोत्तमजी महाराज द्वारा एक टीका थी जिसे भी 'आवरण-भग' कहा जाता था। उस पर कल्याणराज द्वारा एक अन्य टीका भी थी, जो बम्बई मे १८८८ मे प्रकाशित हुई थी।

वल्लभ के लघु ग्रन्थो मे सर्व प्रथम हम 'सन्यास-निर्णय' का उल्लेख कर सकते हैं, जो बाईस श्लोको से निर्मित है, जिनमे वे तीन प्रकार के सन्यास का विवेचन करते है—'कर्ममार्ग' का 'सन्यास,' 'ज्ञानमार्ग' का 'सन्यास' और 'भक्तिमार्ग का सन्यास'। उस पर कम से कम सात टीकाए गोकुलनाथ, रघुनाथ, गोकुलोत्सव, दो गोपेश्वरो, पुरुषोत्तम और एक उत्तरवर्ती वल्लभ द्वारा लिखी गई। इनमे से गोकुलनाथ (१५५४—१६४३) विठ्ठलनाथ के चौथे पुत्र थे, उन्होने 'श्री सर्वोत्तम-स्तोत्र,' 'वल्लभाष्टक,' 'सिद्धात-मुक्तावली,' 'पुष्टि-प्रवाह मर्यादा,' 'सिद्धात-रहस्य,' 'चतु श्लोकी,' 'धैर्याश्रय,' 'भक्ति-वर्धिनी' और 'सेवाफल' पर भी टीकाए लिखी। वे एक महान् यात्री और गुजरात मे वल्लभ मत के प्रचारक थे, तथा वल्लभ की 'सुबोधिनी' टीका को लोकप्रिय बनाने के लिए बहुत प्रयत्न किया। विठ्ठलनाथ के पाँचवें पुत्र रघुनाथ का जन्म १५५७ मे हुआ था, उन्होने वल्लभ के 'षोडश-ग्रन्थ' तथा वल्लभाष्टक,' 'मधुराष्टक,' 'भक्ति-हस' और 'भक्ति हेतु' पर भी टीकाए लिखी, साथ ही 'पुरुषोत्तम-नाम-सहस्र,' 'नाम-चन्द्रिका' पर भी टीकाए लिखी। कल्याणराज के कनिष्ठ भ्राता और हरिराज के चाचा गोकुलोत्सव का जन्म १५८० मे हुआ था, उन्होने भी 'षोडश-ग्रथ' पर एक टीका लिखी। घनश्याम के पुत्र गोपेश्वर का जन्म १५९८ मे हुआ था, अन्य गोपेश्वर कल्याणराज के पुत्र व हरिराज के कनिष्ठ भ्राता थे। पुरुषोत्तम नामक टीकाकार १६६० मे उत्पन्न हुए। विठ्ठलराज के पुत्र वल्लभ, अन्य टीकाकार, रघुनाथ (वल्लभाचार्य के पाँचवें पुत्र) के प्र—प्रपोत्र १५७५ मे उत्पन्न हुए, और उन्होने वल्लभाचार्य के 'अरणुभाष्य' पर एक टीका लिखी। यह वल्लभ पहले वाले वल्लभ से भिन्न थे जो विठ्ठलेश्वर के पुत्र थे।

वल्लभ का 'सेवाफल' आठ श्लोको की एक लघु पुस्तिका है जिसमे भगवद् उपासना की बाधाओ और उसके फलो का विवेचन किया गया है, उस पर कल्याण-राज द्वारा टीका की गई थी। वे विठ्ठलनाथ के द्वितीय पुत्र गोविन्दराज के पुत्र थे

और १५७१ मे जन्मे थे, वे हरिराज के पिता थे और उन्होंने 'षोडश-ग्रन्थ' पर टीकाए लिखी तथा उपासना के कर्मकाण्डो पर भी लिखी। इस कृति पर देवकीनन्दन द्वारा भी टीका की गई, जो नि सन्देह पुरुषोत्तम से पूर्व थे। एक देवकीनदन, रघुनाथ (विठ्ठलनाथ के पाँचवें पुत्र) के पुत्र का जन्म १५७० मे हुआ, इसी नाम के एक प्रपोत्र १६३१ मे उत्पन्न हुए थे। उस पर हरिधन जो अन्यथा हरिराज भी कहे जाते हैं– की भी एक टीका थी, जो १५६३ मे उत्पन्न हुए थे, उन्होने अनेक लघु ग्रथ लिखे। उस पर विठ्ठल के पुत्र वल्लभ की एक अन्य टीका भी थी। दो अन्य वल्लभ भी थे– एक तो देवकीनन्दन के पौत्र जो १६१६ मे उत्पन्न हुए, और दूसरे विठ्ठलराज के पुत्र जो १६७५ मे उत्पन्न हुए, यह सम्भव है कि 'सेवाफल' की टीका के लेखक वही वल्लभ थे जिन्होने 'सुबोधिनी-लेख' लिखा। पुरुषोत्तम, गोपेश और एक तेलगु ब्राह्मण, लालु भट्ट द्वारा अन्य टीकाए हैं, उनका दूसरा नाम बालकृष्ण दीक्षित था। वे सम्भवत सत्रहवी शताब्दी के मध्य मे जीवित थे, उन्होने वल्लभ के 'अणुभाष्य' पर 'अणुभाष्य-निगूढार्थ-प्रकाशिका' और 'सुबोधिनी' पर एक टीका ('सुबोधिनी-योजन-निबध-योजन-सेवाकौमुदी'), 'निर्णयार्णव' 'प्रमेय-रत्नार्णव' और 'षोडश ग्रन्थ' पर एक टीका लिखी। कल्याणराज भट्ट द्वारा एक अन्य टाका है। उन्होने 'तैत्तिरीय उपनिषद्' पर विल्व मगल के 'कृष्ण-कर्णामृत' पर, और 'भक्ति-वर्धिनी' पर टीकाए लिखी। श्रीनाथ भट्ट के पौत्र और गोपीनाथ भट्ट के पुत्र लक्ष्मण भट्ट द्वारा भी एक टीका है और अन्य दो अज्ञात लेखको द्वारा टीकाए हैं।

वल्लभ की 'भक्ति-वर्धिनी' ग्यारह श्लोको की एक लघु पुस्तिका है जिस पर द्वारकेश गिरधर बालकृष्ण भट्ट (उत्तरवर्ती वल्लभ के पुत्र), लालु भट्ट, जयगोपाल भट्ट, वल्लभ, कल्याणराज, पुरुषोत्तम, गोपेश्वर, कल्याणराज और बालकृष्ण भट्ट द्वारा टीकाए लिखी गई हैं, एक अन्य अज्ञात लेखक की टीका भी है।

'सन्यास-निर्णय' 'सेवाफल' और 'भक्ति-वर्धिनी' वल्लभ के 'षोडश-ग्रन्थ' मे समाविष्ट हैं, अन्य ग्रन्थ 'यमुनाष्टक,' 'बालबोध,' 'सिद्धान्त-मुक्तावली,' 'पुष्टि-प्रवाह-मर्यादा,' 'सिद्धान्त-रहस्य,' 'नवरत्न,' 'अन्त करण-प्रबोध,' 'विवेकधैर्याश्रय,' 'कृष्णाश्रय,' 'चतु श्लोकि,' 'भक्ति-वर्धिनी,' 'जलभेद' और 'पचपाद्य' हैं। 'यमुनाष्टक' पवित्र नदी यमुना की स्तुति मे नौ श्लोको का एक लघु ग्रन्थ है, जिसमे वल्लभ कहते हैं कि सुख (काम) और दु ख की निवृत्ति (मोक्ष) जगत् मे दो प्रमुख पुरुषार्थ है, दो अन्य 'धर्म' और 'अर्थ' गौण पुरुषार्थ हैं, क्योकि 'अर्थ' के द्वारा 'धर्म' की प्राप्ति हो सकती है, और 'धर्म' के द्वारा 'काम' की प्राप्ति हो सकती है। 'मोक्ष' की प्राप्ति विष्णु के प्रसाद से की जा सकती है। 'सिद्धात-मुक्तावली' 'भक्ति' पर इक्कीस श्लोको का एक लघु ग्रन्थ है, जो ईश्वर के प्रति सर्व वस्तुओ के परित्याग पर बल देते हैं। 'पुष्टि-प्रवाह-

मर्यादा' पच्चीस श्लोको का एक लघु ग्रन्थ है जिसमे वल्लभ कहते हैं कि पाँच प्रकार के स्वाभाविक दोप होते है, अहकार-जन्य, देशज, कालज, दुष्कर्म-जन्य और सयोगज। ईश्वर के प्रति अपनी सर्व वस्तुओं के समर्पण द्वारा इन दोपो की निवृत्ति हो सकती है, ईश्वरार्पण के पश्चात् हमे वस्तुओ को भोगने का अधिकार है। 'नवरत्न' एक नौ श्लोको का ग्रन्थ है जिसमे सर्व वस्तुओ के ईश्वर के प्रति परित्याग एव समर्पण पर वल दिया गया है। 'अन्त करण-प्रवोध' एक दस श्लोको का ग्रन्थ है जो आत्म-परीक्षण एव क्षमा के हेतु ईश्वर से प्रार्थना की आवश्यकता पर वल देते है, और इस मन को यह प्रवोध करने की आवश्यकता वताते है कि सर्व वस्तुओ पर ईश्वर का स्वामित्व है। 'विवेक-धैर्याश्रय' सत्रह श्लोको का एक लघु ग्रन्थ है। वह हमे ईश्वर मे पूर्ण विश्वास रखने का आग्रह करता है, और यह अनुभव करने का आग्रह करता है कि यदि ईश्वर के द्वारा हमारी इच्छाओ की पूर्त्ति नही की गई है तो उसका कोई कारण होना चाहिए जिसके प्रति वह अवगत है, वह सर्वज्ञ है और सदा हमारे कल्याण का ध्यान रखता है। इसलिए किसी भी वस्तु की प्रवल इच्छा करना अनुचित है, ईश्वर के भरोसे पर सव वस्तुओ को छोडना और जैसा वह उचित समझे वैसा ही उसे प्रवध करने देना ही सर्वोत्तम है। 'कृष्णाश्रय' ग्यारह श्लोको का एक ग्रन्थ है जो सभी वातो मे कृष्ण, प्रभु पर निर्भर करने की आवश्यकता की व्याख्या करते हैं। इसी आश्रय का चार श्लोको का एक ग्रन्थ 'चतु श्लोकि' है। 'भक्ति-वर्विनी' एक ग्यारह श्लोको का ग्रन्थ है जिसमे वल्लभ कहते हैं कि हम सव मे ईश्वर-प्रेम का वीज विद्यमान है, केवल वह विभिन्न कारणो से अवरुद्ध रहता है, जव वह स्वय को प्रकट करता है तव हम जगत् के सर्व प्राणियो को प्रेम करना आरम्भ कर देते हैं, जव वह तीव्रता मे अभिवृद्ध होता है तव हमारे लिए सासारिक विपयो के प्रति आसक्त होना असम्भव हो जाता है। जव ईश्वर प्रेम इतना तीव्र हो जाता है, तव उसका विनाश नही हो सकता। 'जलभेद' मे वीस श्लोक हैं जो भक्तो के विभिन्न प्रकारो एव भक्ति की पद्धतियो का प्रतिपादन करते हैं। 'पचपाद्य' पाँच श्लोको का एक ग्रन्थ है।

कहा जाता है कि वल्लभ के पुत्र विठ्ठल दीक्षित अथवा विठ्ठलेश (१५१८-८८) ने निम्न लिखित रचनाए लिखी—'अवतार-तारतम्य-स्तोत्र' 'आर्या,' 'कृष्ण-प्रेमामृत,' 'गीत-गोविन्द-प्रथमाष्टपदी-विवृति,' 'गोकुलाष्टक,' 'जन्माष्टमी-निर्णय' 'जलभेद-टीका,' 'ध्रवापद-टीका' 'नाम-चन्द्रिका,' न्यामादेशविवरण-प्रवोध' 'प्रेमामृत-भाष्य,' 'भक्ति-हस,' 'भक्ति-हेतु-निर्णय,' 'भगवत्-स्वतन्त्रता,' 'भगवद्गीता-तात्पर्य,' 'भगवद्गीता-हेतु-निर्णय,' 'भागवत-तत्वदीपिका,' 'भागवत-दशमस्कन्ध-विवृति,' 'भुजग-प्रयाटाष्टक,' 'यामुनाष्टक-विवृति,' 'रससर्वस्व,' 'राम-नवमी-निर्णय' 'वल्लभाष्टक,' 'विद्वन्-मण्डन,' 'षट्पदी,' 'सन्यास-निर्णय-विवरण,' 'समयप्रदीप,' 'सर्वोत्तम-स्तोत्र' सटीक, 'सिद्धान्त-

कि ईश्वर का अनुग्रह स्वच्छन्दता से प्रवाहित होता है और अन्य अवस्थाओ के सहयोग की अपेक्षा नही रखता, क्योकि शास्त्र ईश्वरानुग्रह के स्वच्छन्द प्रयोग का कथन करते है। जिन व्यक्तियो को ईश्वर 'मर्यादा मार्ग' मे प्रवृत्त करता है वे कर्त्तव्य-पालन, चित्त-शुद्धि, भक्ति आदि के द्वारा कालान्तर मे अपने मोक्ष की प्राप्ति करते है, किन्तु जिन व्यक्तियो को वह अपना विशेष अनुग्रह प्रदान करता है उनको 'पुष्टि-भक्ति' के मार्ग मे अगीकार कर लिया जाता है, वे नियत कर्त्तव्यो के अनुपालन के विना भी 'भक्ति' की प्राप्ति कर लेते हैं। कर्त्तव्यो का निर्धारण केवल उन्ही व्यक्तियो के लिए होता है जो 'मर्यादा-मार्ग' मे होते है, 'मर्यादा' अथवा 'पुष्टि मार्ग' का अनुसरण करने की प्रवृत्ति स्वतन्त्रव स्वत स्फूर्त भगवदिच्छा पर निर्भर करती है,[1] अतएव 'मर्यादा-मार्ग' मे भी 'भक्ति' ईश्वरानुग्रह के कारण होती है न कि कर्त्तव्यो के अनुपालन से।[2] भगवदिच्छा को सर्व कर्मो-चाहे उन्हे हम स्वय करें अथवा चाहे वे प्राकृतिक व भौतिक कारणो से घटित हो—के सवध के प्रति विठ्ठल का मत हमे निमित्तवादी सिद्धात का स्मरण दिलाता है जो लगभग उसी काल मे प्रतिपादित किया गया था जव विठ्ठल ने उसका निरूपण किया। वे कहते है कि, जो भी कार्य घटित हुए, हो रहे है अथवा होगे वे उनके तत्काल पूर्व मे स्थित भगवदिच्छा के कारण घटित होते हैं इस प्रकार सकल कारणता पूर्व क्षण मे स्वत स्फूर्त भगवदिच्छा के कारण होती है।[3] इसलिए तथाकथित कारणो व अवस्थाओ, अथवा 'प्रागभाव' अथवा निपेघात्मक कारणो व अवस्थाओ के अभाव की कारणता को अस्वीकृत किया जाता है, क्योकि ये सभी तत्व कार्य है, अतएव घटित होने के लिए भगवदिच्छा पर आश्रित रहते है, क्योकि उसके अभाव मे कुछ भी घटित नही हो सकता। भगवदिच्छा सकल कार्यों व घटनाओ की चरम कारण है। चूंकि भगवदिच्छा इस प्रकार सर्व घटनाओ अथवा विनाशो की एकमात्र कारण है, इसलिए वही किसी व्यक्ति मे 'भक्ति' के उदय की एकमात्र कारण है। उसी की इच्छा से लोग विभिन्न प्रकार की प्रवृत्तियो से सवधित होते है, किन्तु वे भिन्न-भिन्न प्रकार से कार्य करते हैं तथा उनमे 'भक्ति' होती है अथवा नही होती

[1] येपु जोवेषु यथा भगवदिच्छा तथैव देषा प्रवृत्तेरावश्यकत्वात्।

'भक्ति-हेतु-निर्णय,' पृ० ७।

[2] विठ्ठल के 'भक्ति-हस' (पृ० ५६) मे यह कहा गया है कि 'भक्ति' का अर्थ 'स्नेह' होता है 'भक्तिपदस्य शक्ति स्नेहैव'। उपासना स्वय 'भक्ति' नही होती, किंतु उसे उत्पन्न कर सकती है, चू कि 'भक्ति' स्नेह स्वरूप होती है, इसलिए उसके सवध मे कोई विधि नही हो सकती।

[3] यदा यदा यत् यत् काय्र्य भवति भावि अभूद् वा तत्-तत्कालोपाधौ क्रमिकेणैव तेन तेन हेतुना तत् तत् काय्र्यं करिष्ये इति तत पूर्वं भगवदिच्छा अस्त्यासीद् वा इति मन्तव्यम्।

—वही, पृ० ९।

है। कहा जाता है कि विठ्ठल अकबर से भिन्न थे। उनकी अन्य कृतियाँ थी 'पुष्टि-प्रवाह-मर्यादा' और 'सिद्धात मुक्तावली' पर टीकाए, 'अणुभाष्य-पूर्ति' ('अणुभाष्य' पर एक टीका), 'निबन्ध प्रकाश,' 'सुबोधिनी टिप्पणी' ('सुबोधिनी' पर एक टीका), जिसे अन्यथा 'सन्यासावच्छेद' भी कहते है। वल्लभाचार्य के प्रथम पुत्र गोपीनाथजी महाराज थे जिन्होने 'साधनदीपक' एव अन्य लघु रचनाए लिखी। विठ्ठल उनके द्वितीय पुत्र थे। विठ्ठल के सात पुत्र और चार कन्याए थी।

विठ्ठल के प्रपौत्र, विठ्ठल के शिष्य व पुरुषोत्तम के पिता पीताम्बर ने 'अवतार-वादावली,' 'भक्तिरसत्ववाद,' 'द्रव्य-शुद्धि' और उस पर टीका तथा 'पुष्टि-प्रवाह-मर्यादा' पर एक टीका लिखी। पुरुषोत्तम का जन्म १६७० मे हुआ था, उन्होने निम्नलिखित ग्रन्थ लिखे—'सुबोधिनी-प्रकाश' ('भागवत-पुराण' पर वल्लभ की टीका 'सुबोधिनी' पर एक टीका), 'उपनिषद्-दीपक' वल्लभ की 'तत्वार्थ-दीपिका' पर उनकी 'प्रकाश' नामक टीका पर 'आवरण-भग,' 'प्रार्थना-रत्नाकर,' 'भक्ति-हस-विवेक,' 'उत्सव प्रतान,' 'सुवर्ण-सूत्र' ('विद्वन्मण्डन' पर एक टीका), और 'षोडश-ग्रन्थ-विवृत्ति'। कहा जाता है कि उन्होने चौबीस दार्शनिक एव धर्मशास्त्रीय ग्रथ लिखे, जिनमे से इस लेखक को सत्रह उपलब्ध हुए है, अर्थात्, 'भेदाभेद-स्वरूप-निर्णय,' 'भगवत्-प्रतिकृति-पूजनवाद,' 'सृष्टिभेदवाद,' 'ख्यातिवाद,' 'अधकारवाद,' 'ब्राह्मणत्वादि-देवतादि-वाद,' 'जीव-प्रतिबिम्बत्व-खण्डन वाद,' 'आविर्भाव तिरोभाव-वाद,' 'प्रतिबिम्बवाद,' 'भक्त्युत्कर्ष-वाद,' 'ऊर्ध्व-पुण्ड्र वाद,' 'माला धारण-वाद,' 'उपदेश-विषय-शका-निरासवाद,' 'मूर्त्ति-पूजन-वाद,' 'शख-चक्र-धारण-वाद'। उन्होने 'सेवाफल' 'सन्यास-निर्णय' व 'भक्ति-वर्धिनी' पर टीकाए, 'भाष्य-प्रकाश' और 'उत्सव-प्रतान' भी लिखे। उन्होने इन टीकाओ को भी लिखा—'निरोध-लक्षण,' 'जलभेद,' 'पचपाद्य' और 'सिद्धान्त-मुक्तावली' व 'बालबोध' पर विठ्ठल के 'भक्ति-हस' पर 'तीर्थ' नामक टीका। उन्होने 'गायत्री' पर विठ्ठल के भाष्य पर एक उपभाष्य 'वल्लभाष्टक' पर एक टीका, 'वेदात-करणमाल' और 'शास्त्रार्थ-प्रकरण-निबन्ध' तथा 'गीता' पर एक टीका भी लिखी। कहा जाता है कि उन्होने नौ सौ सहस्र श्लोक लिखे, और वे नि सन्देह वल्लभ सम्प्रदाय के सबसे प्रमुख सदस्यो मे से एक है।

विठ्ठल के शिष्य मुरलीधर ने वल्लभ के 'भाष्य' पर 'भाष्य-टीका' नामक एक टीका लिखी, 'परतत्वाजन,' 'भक्ति-चिन्तामणि,' 'भगवन्नाम-दर्पण' 'भगवन्नाम-वैभव' भी लिखी। १६४८ मे उत्पन्न, विठ्ठल के प्रपौत्र वल्लभ ने 'सुबोधिनी-लेख' 'सेवाफल' पर एक टीका, 'षोडश-ग्रन्थ' पर एक टीका, 'गीता-तत्व-दीपनी' तथा अन्य रचनाए लिखी। कल्याणराज के पुत्र व विठ्ठल के प्रपौत्र गोपेश्वरजी महाराज १५९५ मे उत्पन्न हुए थे, और उन्होने वल्लभ के 'प्रकाश' पर 'रश्मि' नामक टीका सुबोधिनी बुभुत्र-बोधिनी' और हरिराज के 'शिक्षापत्र' पर एक हिन्दी टीका लिखी।

अन्य गोपेश्वर, जो योगी गोपेश्वर के नाम से विहित हैं, और जो 'भक्ति-मार्तण्ड' के थे, लम्बे समय के पश्चात् १७८१ मे उत्पन्न हुए थे। १८४५ मे उत्पन्न गिरिधरजी ने 'भाष्य-विवरण' व अन्य रचनाए लिखी।

विठ्ठल के शिष्य मुरलीधर ने वल्लभ के 'अणुभाष्य' पर एक टीका, 'शाण्डिल्य-सूत्र' पर एक टीका, 'परतत्वाजन,' 'भक्ति-चिन्तामणि,' 'भगवन्नाम दर्पण' और 'भगवन्नाम-वैभव' लिखे। १५५७ मे उत्पन्न रघुनाथ ने वल्लभ के 'भक्ति-हस' पर 'नाम-चन्द्रिका' नामक टीका तथा उनके 'भक्ति-हेतु-निर्णय' और 'वल्लभाष्टक' पर टीकाए ('भक्ति-तरगिणी' और 'भक्ति-हेतु-निर्णय-विवृति') भी लिखी। उन्होने 'पुरुषोत्तम-स्तोत्र' और 'वल्लभाष्टक' पर भी एक टीका लिखी। वल्लभ ने, जो अन्यथा गोकुलनाथ के नाम से विदित हैं, और जो १५५० मे उत्पन्न हुए थे, 'प्रपच-सार-भेद' और वल्लभाचार्य की 'सिद्धात-मुक्तावली,' 'निरोध-लक्षण,' 'मधुराष्टक,' 'सर्वोत्तमस्तोत्र,' 'वल्लभाष्टक' व 'गायत्री-भाष्य' पर टीकाए लिखी। विठ्ठल के पुत्र गोविन्दराज के पुत्र कल्याणराज १५७१ मे उत्पन्न हुए थे और उन्होने 'जलभेद' एव 'सिद्धात मुक्तावली' पर टीकाए लिखी। १५८० मे उत्पन्न उनके भ्राता गोकुलत्सव ने 'त्रिविधा-नामावली-विकृति' पर एक टीका लिखी। रघुनाथ के पुत्र और विठ्ठल के पौत्र देवकीनन्दन (१५७०) ने वल्लभाचार्य के 'बाल-बोध' पर 'प्रकाश' नामक टीका लिखी। विठ्ठल के पौत्र घनश्याम (१५७४) ने विठ्ठल की 'मधुराष्टक-निवृति' पर एक उप-टीका लिखी। व्रजनाथ के पुत्र व वल्लभाचार्य के शिष्य कृष्णचन्द्र गोस्वामी ने 'ब्रह्मसूत्र' पर 'भाव-प्रकाशिका' नामक एक सक्षिप्त टीका अपने पिता व्रजनाथ की 'ब्रह्म-सूत्र' पर 'मरीचिका' नामक टीका के नमूने पर लिखी। इन व्रजनाथ ने 'सिद्धात-मुक्तावली' पर भी एक टीका लिखी। कल्याणराज के पुत्र हरिराज (१५९३) ने 'शिक्षा पात्र' तथा 'सिद्धात-मुक्तावली,' 'विरोध-लक्षण,' 'पचपाद्य,' 'मधुराष्टक' पर टीकाए और कल्याणराज की 'जलभेद' पर टीका की प्रतिरक्षा मे एक 'परिशिष्ट' लिखा। 'घनश्याम' के पुत्र गोपेश (१५९८) ने 'निरोध-लक्षण' 'सेवाफल' और 'सन्यास-निर्णय' पर टीकाए लिखी। हरिराज के भ्राता गोपेश्वरजी महाराज (१५९८) ने हरिराज के 'शिक्षापात्र' पर एक हिन्दी टीका लिखी। विठ्ठल के शिष्य द्वारकेश ने 'सिद्धात-मुक्तावली' पर एक टीका लिखी। कल्याणराज के शिष्य जयगोपाल भट्ट ने 'सेवाफल' और 'तैत्तिरीय उपनिषद् पर टीकाए लिखी। विठ्ठल के प्रपौत्र वल्लभ (१६४८) ने 'सिद्धात-मुक्तावली,' निरोध,' 'लक्षण,' सेवाफल,' 'सन्यास-निर्णय' 'भक्ति-वर्धिनी,' 'जलभेद' और 'मधुराष्टक पर टीकाए लिखी। श्यामल के पुत्र व्रजराज ने विरोध-लक्षण पर एक टीका लिखी। इन्दिवेश और गोवर्धन भट्ट ने क्रमश 'गायत्र्यर्थ-विवरण' और 'गायत्र्यर्थ' लिखे। श्रीधर स्वामि ने वल्लभ के 'अणुभाष्य' पर 'बाल-बोधिनी' टीका लिखी। विठ्ठल के प्रपौत्र गिरिधर ने 'विद्वन्मण्डन' का अनुसरण करते हुए

'सिद्धाद्वैत-मार्तण्ड' और 'प्रपन्नवाद' लिखे। उनके शिष्य रामकृष्ण ने 'सिद्धाद्वैत-मार्तण्ड' पर 'प्रकाश' नामक टीका तथा 'शुद्धाद्वैत-परिष्कार' नामक एक ग्रन्थ रचना लिखी। योगी गोपेश्वर (१७८७) ने वादकथा, 'आत्मवाद,' 'भक्ति-मार्तण्ड,' 'चतुर्थाधिकरण-माला,' पुरुषोत्तम के 'भाष्य-प्रकाश' पर 'रश्मि' नामक टीका और पुरुषोत्तम के 'वेदान्ताधिकरणमाला' पर एक टीका लिखी। गोकुलोत्सव ने वल्लभ की 'त्रिविधा-नामावली' पर एक टीका लिखी। व्रजेश्वर भट्ट ने 'ब्रह्मविद्या-भावन' हरिदास ने 'हरिदास सिद्धान्त' इच्छाराम ने वल्लभ के 'अणुभाष्य' पर 'प्रदीप' और इच्छाराम के शिष्य निर्भयराम ने 'अधिकरण-संग्रह' लिखे।

विष्णुस्वामिन्

परम्परा से विष्णुस्वामिन् विशुद्धाद्वैत सम्प्रदाय के प्राचीनतम संस्थापक माने जाते है जिसका वल्लभ द्वारा जीर्णोद्धार किया गया। श्रीधर भी 'भागवत-पुराण' पर अपनी टीका मे विष्णुस्वामिन् का उल्लेख करते हैं, और सम्भवत उन्होंने 'भागवत-पुराण' पर एक टीका लिखी थी, किन्तु ऐसी कोई रचना अब उपलब्ध नही है। विष्णुस्वामिन् के मत का एक संक्षिप्त विवरण 'सकलाचार्य-मत-संग्रह' (एक अज्ञात लेखक द्वारा) मे मिलता है, जो वल्लभ के मत का साराश-मात्र है, उसमे कुछ भी नवीनता नही है जिस पर यहाँ विचार हो सके। फिर भी यह रचना वल्लभ के दर्शन का समावेश नही करती, जिससे यह माना जा सकता है कि वह कदाचित् वल्लभ के आगमन से पूर्व लिखी गई थी, तथा उसमे समाविष्ट विष्णुस्वामिन् का मत या तो विष्णुस्वामिन् के पारम्परिक विवरण से प्राप्त किया गया था अथवा उनकी कुछ रचनाओ से जो वर्तमान समय मे उपलब्ध नही हैं। इसलिए यह असम्भव है कि 'सकलाचार्य मत-संग्रह' मे विष्णुस्वामिन् का विवरण वस्तुत वल्लभ के मत का संक्षिप्त कथन है जिसे प्राचीन लेखक विष्णु स्वामिन् पर आरोपित कर दिया गया है। किन्तु वल्लभ स्वय अपने मत के जन्मदाता के रूप मे विष्णुस्वामिन् का कभी उल्लेख नही करते, वल्लभ के अनुयायियो मे इस संबध मे मतभेद है कि वल्लभ ने विष्णु-स्वामिन् के पदचिह्नो का अनुसरण किया अथवा नही। यह आग्रह किया जाता है कि जहाँ वल्लभ ने उपनिषदो के विशुद्ध अद्वैतवादी पाठो पर बल दिया और ब्रह्मन् को अभेदात्मक, स्वय से एकरूप व अपने गुणो से एकरूप माना, वहाँ विष्णुस्वामिन् ने वेदात-पाठो मे निहित द्वैत पर बल दिया।[1] वल्लभ स्वय 'भागवत-पुराण' (३ ३२

[1] इस प्रकार निर्भयराम 'अधिकरण-संग्रह' (पृ० १) मे कहते हैं तस्यापि दुर्बोधत्वेन व्याख्यानसापेक्षतया तस्य व्याख्यातारो विष्णुस्वामि-मध्व-प्रभृतयो ब्रह्माद्वैत-वादस्य सेव्य-सेवक-भावस्य च विरोध मन्वाना अभेद-बोधक-श्रुतिषु लक्षणया भेद-परत्व शुद्ध भेदमगीचक्रु ।

३७) पर अपनी 'सुबोधिनी' टीका मे विष्णुस्वामिन् के मत का इस रूप मे वर्णन करते हैं कि वह 'तमस्' गुण के द्वारा ब्रह्मन् व जगत् मे भेद का प्रतिपादन करता है, तथा इसका स्वय अपने मत से विभेद करते है जो ब्रह्मन् का पूर्णत निर्गुण के रूप मे प्रतिपादन करता है।[1] 'सकलाचार्य-मत-सग्रह' मे दिया हुआ विष्णुस्वामिन् का अल्प विवरण हमे यह खोज करने मे कोई सहायता नही देता है कि क्या उनका मत वल्लभ के मत से भिन्न था, और, यदि, वह भिन्न था तो किन-किन विपयो मे। यह भी असम्भव नही है कि 'सकलाचार्य-मत-सग्रह' के लेखक ने स्वय विष्णुस्वामिन् की किसी रचना को नही देखा था और उससे वल्लभ के मत को विष्णुस्वामिन् पर स्थानान्तरित कर दिया, जो कुछ परम्पराओ के अनुसार शुद्धाद्वैत मत के जन्मदाता थे।[2]

'वल्लभ-दिग्विजय' के अनुसार दक्षिण मे पाण्ड्या राज्य का एक विजय नामक राजा था। उसके एक देवस्वामिन् नामक पुरोहित था जिसका पुत्र विष्णुस्वामिन् था। उत्तर-भारत मे एक महान् धार्मिक-सुधारक, शुकस्वामिन् वेदात मे उनके सहपाठी थे। विष्णुस्वामिन् द्वारका, वृन्दावन होते हुए पुरी गए और तत्पश्चात् घर लौट आए। वृद्धावस्था मे उन्होने अपने घरेलू देवताओ को अपने पुत्र को सौप दिया, और वैष्णव परिपाटी से ससार-त्याग करके वे काची आए। उनके वहाँ कई शिष्य थे, यथा, श्रीदेवदर्शन, श्रीकण्ठ, सहस्रार्चि, शटधृति, कुमारपद, परभूत व अन्य। अपनी मृत्यु से पूर्व उन्होने अपने मत के अध्यापन का कार्य-भार श्रीदेवदर्शन को सौप दिया। उनके सात सौ प्रमुख अनुयायी थे जो उनके मत का उपदेश देते थे, उनमे से एक राजविष्णुस्वामिन् आन्ध्र प्रदेश मे एक उपदेशक बन गया। कहा जाता है कि इस काल मे विष्णुस्वामिन् के मठ और ग्रथ बौद्धो द्वारा जला दिए गए थे। एक तमिल सन्त, बिल्व-मगल श्रीरगम् के मठाधीश की गद्दी के उत्तराधिकारी बने। बिल्वमगल ने काची के मठाधीश की गद्दी देवमगल को सौप दी, और वृन्दावन चले गए। फिर प्रभाविष्णुस्वामिन् मठाधीश की गद्दी के उत्तराधिकारी बने, उनके अनेक शिष्य थे, यथा, श्रीकण्ठगर्भ, सत्यवती पण्डित, सोमगिरि, नरहरि, श्रान्तनिधि व अन्य। अपनी मृत्यु से पूर्व उन्होने श्रान्तनिधि को अपनी गद्दी पर अभिषिक्त किया। विष्णुस्वामिन् के गुरुओ मे एक गोविन्दाचार्य थे, जिनके शिष्य वल्लभाचार्य बताए जाते है। विष्णुस्वामिन् की तिथि का अनुमान लगाना कठिन है, किन्तु यह सम्भावना हो सकती है कि बारहवी अथवा तेरहवी शताब्दी मे विद्यमान थे।

[1] ते च साम्प्रत विष्णुस्वाम्यनुसारिण तत्ववादिनो रामानुजश्च तमो रज-सत्वैर्भिन्ना अस्मत्प्रतिपादिताच्च नैर्गुण्यादस्य। —वही, पृ० १।

[2] जदुनाथजी महाराज द्वारा लिखित 'वल्लभ-दिग्विजय' मे इस परम्परा का निश्चय रूप से सम्थापन पाया जाता है।

चैतन्य को देखा था। चैतन्य का देहावसान शक १४५५ (१५३३ ई०) मे हुआ, और 'चैतन्य-भागवत' अल्प काल के पश्चात् लिखी गई। कृष्णदास कविराज की रचना 'चैतन्य चरितामृत' उसके बहुत काल पश्चात् लिखी गई थी। यद्यपि उसकी समाप्ति की वास्तविक तिथि के सबध मे कुछ विवाद है, तथापि यह लगभग निश्चित है कि वह शक १५३७ (१६१६ ई०) मे पूरी हुई थी। 'प्रेम-विलास' मे दी गई अन्य तिथि शक १५०३ (१५८१ ई०) है, और जिसका प्राध्यापक राधा गोविन्द नाथ ने उक्त रचना के अपने विद्वत्तापूर्ण सस्करण मे भली प्रकार से विरोध किया है। 'चैतन्य-चन्द्रोदय-नाटक' कवि कर्णपूर द्वारा शक १४९४ (१५७२ ई०) मे लिखा गया था। इस प्रकार यह प्रकट होता है कि चैतन्य के जीवन-चरित्र के सबसे प्रामाणिक विवरण के लिए हमे इस रचना और वृन्दावनदास की 'चैतन्य-भागवत' का उल्लेख करना चाहिए। पर कविराज कृष्णदास का 'चैतन्य-चरितामृत' सबसे अधिक विद्वत्तापूर्ण जीवन-चरित्र है। सार्वभौम भट्टाचार्य द्वारा 'चैतन्य-सहस्र-नाम,' परमानन्दपुरी की 'गोविन्द-विजय,' गौरीदास पण्डित द्वारा चैतन्य के गीत, परमानन्द गुप्त की 'गौडराज–विजय' और गोपाल वसु द्वारा चैतन्य के गीत भी उपलब्ध है।

चैतन्य का जीवन

मैं यहाँ मुख्यत 'चैतन्य-भागवत' 'चैतन्य-चन्द्रोदय-नाटक' व 'चैतन्य-चरितामृत' का अनुसरण करते हुए चैतन्य के जीवन का केवल एक सक्षिप्त विवरण देने का प्रयास करूँगा।

नवद्वीप मे जगन्नाथ मिश्र और उनकी पत्नी शची रहते थे। बसन्त ऋतु की पूर्णिमा के दिन (फाल्गुन मास मे), जब चन्द्रग्रहण था तब शक १४०७ (१४८५ ई०) मे उनके यहाँ चैतन्य का जन्म हुआ था। उस समय नवद्वीप कई ऐसे वैष्णवो का निवास–स्थान था जो सिलहट व भारत के अन्य भागो से प्रवासित हुए थे। इस प्रकार वहाँ श्रीवास पण्डित, श्रीराम पण्डित, चन्द्रशेखर, मुरारिगुप्त, पुण्डरीक विद्या-निधि, चैतन्य-वल्लभ दत्त निवास करते थे। इस प्रकार सम्पूर्ण वातावरण एक ऐसे महान् अग्नि-स्फुलिंग के लिए तैयार था जिसे दहनशील सामग्री मे फैकना चैतन्य का कार्य था। शान्तिपुर मे अद्वैत, जो चैतन्य से कही अविक वयोवृद्ध महान् वैष्णव थे, सदा जन-समुदाय के सामान्य थोथेपन पर खेद प्रकट करते थे और किसी ऐसे महापुरुष की अभिलाषा करते थे जो नवीन अग्नि की सृष्टि कर सके। चैतन्य के ज्येष्ठ बन्धु विश्वरूप एक सन्यासी बन कर निकल गए थे, और तब चैतन्य जो अपने माता-पिता के पास एकमात्र पुत्र शेष रहे थे, नीलाम्बर चक्रवर्ती की पुत्री अपनी विधवा माता शची देवी द्वारा विशेष लाड-प्यार से पाले गए।

इस समय नवद्वीप मुसलमान शासको के अधीन था जो अत्याचारी हो गए थे। विशारद पण्डित के पुत्र और एक महान् पण्डित, सार्वभौम भट्टाचार्य, उडीसा के हिन्दू राजा, प्रतापरुद्र की शरण लेने के लिए वहाँ चले गए थे।

चैतन्य ने सुदर्शन-पण्डित की सस्कृत पाठशाला (टोल) मे अध्ययन किया। सम्भवत इस पाठशाला मे उनका अध्ययन कलाप व्याकरण और कतिपय 'काव्यो' तक ही सीमित रहा। कुछ उत्तरकालीन जीवन-चरित्र लेखको का कथन है कि उन्होने न्याय (तर्क-शास्त्र) भी पढा था, किन्तु इसकी पुष्टि मे कोई सम्यक् प्रमाण उपलब्ध नही है। परन्तु उन्होने घर पर ही कुछ 'पुराणो' का विशेषत महान भक्ति-ग्रन्थ 'श्रीमद्भागवत' का अध्ययन किया था। एक विद्यार्थी के रूप मे वे वास्तव मे बहुत ही प्रतिभाशाली थे, किन्तु वे अत्यधिक अभिमानी भी थे, और अपने सहपाठियो को वाद-विवाद मे पराजित करने मे विशेष आनन्द लेते थे। अपने प्रारम्भिक जीवन से ही भक्ति-गीतो मे उनकी प्रबल रुचि थी। कृष्ण के साथ अपना एकाकार करने मे विशेष आनन्द लेते थे। उनके साथियो मे निम्नलिखित का उल्लेख किया जा सकता है श्रीनिवास पण्डित व उनके तीन भाई, वासुदेव दत्त, मुकुन्द दत्त व लेखक जगाई, श्रीगर्भ पण्डित, मुरारिगुप्त, गोविन्द, श्रीधर, गगादास, दामोदर, चन्द्रशेखर, मुकुन्द, सजय, पुरुषोत्तम, विजय, वक्रेश्वर, सनातन, हृदय, मदन और रामानन्द। चैतन्य ने अपने पिता से भी वेदो मे कुछ शिक्षण प्राप्त किया था। उन्होने विष्णु पण्डित और गगादास पण्डित से भी शिक्षण प्राप्त किया था। अपने जीवन के इस काल मे उनका हरिदास और गदाधर से घनिष्ट परिचय हो गया था।

चैतन्य की पहली पत्नी, लक्ष्मी देवी, जो वल्लभ मिश्र की पुत्री थी, सर्प-दश से मर गई, फिर उन्होने विष्णुप्रिया से विवाह किया। अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् वे पश्चात्-अत्येष्टि सस्कार का अनुष्ठान करने के लिए गया गए, कहा जाता है कि वहाँ उन्होने परमानन्द पुरी, ईश्वर पुरी, रघुनाथ पुरी, ब्रह्मानन्द पुरी, अमर पुरी, गोपाल पुरी और अनन्त पुरी जैसे सत महानुभावो से भेंट की। उनको ईश्वर पुरी ने दीक्षा दी, और उन्होने ससार को त्यागने का निश्चय कर लिया। किन्तु वे नवद्वीप लौटे और कुछ काल तक 'भागवत-पुराण' का उपदेश देते रहे।

नवद्वीप मे नित्यानन्द नामक एक 'अवधूत' उनके साथ रहने लगे। उनकी मित्रता ने चैतन्य मे भगवद्-प्रेम के भावावेग की अग्नि को और अधिक प्रज्वलित किया, और वे दोनो अन्य सहचरो सहित अहर्निश नृत्य एव सगीत मे व्यतीत करने लगे। इसी काल मे उनके व नित्यानन्द के प्रभाव से दो शराबी, जगाई और मेधाई,

वैष्णव प्रेम-पथ मे सपरिवर्तित हुए। थोडे काल के पश्चात् अपनी माता की अनुमति से उन्होने सन्यास ग्रहण कर लिया और कटवा की ओर प्रस्थान किया, तथा वहाँ से अद्वैत से भेंट करने के लिए शान्तिपुर गए। इस स्थान से वे अपने अनुयायियो सहित पुरी के लिए रवाना हुए।

यह है चैतन्य के प्रारम्भिक जीवन की सक्षिप्त रूपरेखा, सर्व रुचिपूर्ण घटनाओ से रहित तथा उनके विभिन्न जीवन-चरित्र लेखको मे इस पर बहुत अशो मे एक-मत हैं।

कृष्णदास कविराज की बगला रचना 'चैतन्य-चरितामृत' सम्भवत उनका एक आधुनिकतम जीवन-चरित्र है, परन्तु अपनी गूढता के कारण वह सहज ही चैतन्य की अन्य जीवन-कथाओ से लोकप्रियता मे आगे बढ गई है। वह चैतन्य के जीवन को तीन भागो मे विभाजित करते हैं 'आदिलीला' (प्रथम भाग) 'मध्यलीला' (द्वितीय भाग), और 'अन्त्यलीला' (अन्तिम भाग)। प्रथम भाग पहले चौबीस वर्षो के विवरण से निर्मित है, जिसके अन्त मे चैतन्य ने ससार का परित्याग किया। वे अन्य चौबीस वर्षों तक जीवित रहे, और ये दो भागो मे विभाजित हैं—उनके जीवन के द्वितीय और अन्तिम भाग। इन चौबीस वर्षों मे से छ वर्ष तीर्थ-यात्रा मे व्यतीत हुए, यह मध्यवर्ती काल कहलाता है। शेष अठारह वर्ष उन्होने पुरी मे व्यतीत किए, जो अन्तिम काल को निर्मित करते हैं, जिनमे से छ वर्ष पवित्र प्रेम-पथ के उपदेश मे व्यतीत हुए और शेष बारह वर्ष प्रगाढ हर्षोन्मादो मे व अपने प्रिय प्रभु कृष्ण की विरह-जन्य पीडा की अनुभूति मे व्यतीत हुए।

अपने जीवन के चौबीसवें वर्ष मे न्सयास-ग्रहण के पश्चात् माघ (जनवरी) मास मे उन्होने वृन्दावन के लिए प्रस्थान किया और तीन दिन तक राढ प्रदेश (बगाल) मे यात्रा की। उन्हे वृन्दावन की राह ज्ञात नही थी, और नित्यानन्द उन्हे शान्तिपुर ले गए। चैतन्य की माता कई अन्य लोगो, श्रीवास, रामई, विद्यानिधि, गदाधर, वक्रेश्वर, मुरारि, युक्लाम्बर, श्रीधर, व्यय, वासुदेव, मुकुन्द, बुद्धिमन्त खान, नन्दन और सजय के सहित उनसे मिलने के लिए शान्तिपुर आई। शान्तिपुर से चैतन्य गगा के किनारे-किनारे बालेश्वर (उडीसा-स्थित) होते हुए नित्यानन्द, पडित जगदानन्द, दामोदर पण्डित, और मुकुन्द दत्त के साथ पुरी के लिए रवाना हुए। फिर वे याजपुर और साक्षीगोपाल के निकट से होते हुए पुरी आए। वहाँ पहुँच कर वे सीधे जगन्नाथ के मन्दिर मे गए, उन्होने मूर्ति की ओर दृष्टिपात किया और वे मूर्छित हो गए। सार्वभौम भट्टाचार्य, जो उस समय पुरी मे निवास करते थे, उनको अपने घर पर लाए, वहाँ नित्यानन्द, जगदानन्द, दामोदर सभी आए और उनके साथ रहने लगे। यहाँ चैतन्य

सुविख्यात उपदेशक को पराजित किया, जो अद्वैतवादी सिद्धातो को मानते थे। वृन्दावन मे उन्होंने श्री रूप गोस्वामी, उद्धवदास माधव व अन्य लोगो से भेंट की। तत्पश्चात् उन्होने वृन्दावन व मथुरा छोड दिए और गगा-तट से होते हुए इलाहवाद गए। वहाँ वे वल्लभ भट्ट और रघुपति उपाध्याय से मिले और उन्होंने श्रीरूप को सविस्तार धार्मिक उपदेश दिया। बाद मे चैतन्य सनातन से मिले और उनको और धार्मिक उपदेश दिया। वे बनारस लौटे, जहाँ उन्होने प्रकाशानन्द को पढाया, फिर वे पुरी लौट आए और वहाँ कुछ समय विताया। 'चैतन्य-चरितामृत' मे चैतन्य की ईश्वरीय प्रेरणावस्था मे उनके हर्षोन्माद का वर्णन करने वाली कई कथाए कही गई हैं, एक अवसर पर वे हर्षोन्माद की अवस्था मे समुद्र मे कूद पडे थे और एक मछुए ने उन्हे वाहर निकाला। परन्तु यह दुर्भाग्य का विषय है कि हमे उनकी मृत्यु के सबध मे ठीक-ठीक पता नही है।

चैतन्य का भावावेशवाद

चैतन्य के धार्मिक जीवन मे भक्ति के ऐसे अनन्य शारीरिक विकृतिजन्य लक्षण अभिव्यक्त होते है जिनकी कदाचित् किसी भी अन्य ज्ञात सत के जीवन मे कोई समानता नही पाई जाती। सम्भवत उनकी निकटतम समानता सत फ्रासिस आफ असिसी के जीवन मे पाई जा सकती है, परन्तु चैतन्य का भावना-प्रवाह अधिक आत्म-केन्द्रित व प्रगाढ प्रतीत होता है। अपने मार्मिक जीवन के प्रारम्भ मे वे न केवल 'कीर्तन' नामक एक विचित्र प्रकार के आत्मोन्मत्त गीति नृत्य मे निमग्न रहते थे, वरन् वे पुराणो मे कथित कृष्ण के जीवन की विभिन्न घटनाओ का प्राय अनुकरण भी किया करते थे। किन्तु अपने सन्यास जीवन की परिपक्वता के साथ-साथ उनका उन्माद और कृष्ण के प्रति उनका प्रेम इतना अभिवृद्ध हो गया कि उनमे लगभग पागलपन एव मिरगी के लक्षण विकसित हो गए। उनके रोम-रन्ध्रो से रक्त चूने लगता, उनके दात किट-किटाने लगते, उनका शरीर एक क्षण ही मे सकुचित हो जाता, और आगामी क्षण मे फूलता हुआ प्रतीत होता। वे अपना मुख फर्श पर रगड लिया करते और रोने लगते तथा रात्रि मे उन्हे नीद नही आती थी। एक वार वे समुद्र मे कूद पडे, कभी-कभी ऐसा प्रतीत होता कि उनकी हड्डियो के जोड विस्थापित हो गए हैं, और कभी-कभी ऐसा प्रतीत होता कि उनका शरीर सकुचित हो गया है। उनके गीतो का एक-मात्र आशय यह था कि उनका हृदय प्रभु कृष्ण के लिए पीडित और विदीर्ण हो रहा है। उन्हे रामानन्द राय के स्वप्न, चण्डीदास और विद्यापति की कविताए, विल्व-मगल का 'कृष्ण कर्णामृत' तथा जयदेव के 'गीत-गोविन्द' को पढने मे अनुरक्ति थी, इनमे से अधिकाश रत्यात्मक भाषा मे कृष्ण-प्रेम के रहस्य-गीत थे। ऐसी हर्षोन्मत्त 'भक्ति' का विवरण हमे 'पुराणो' 'गीता' अथवा भारत के किसी भी अन्य धार्मिक साहित्य मे

कहीं भी उल्लेख नहीं होगा, 'भागवत-पुराण' में निर्दिष्ट [illegible] और इस प्रकार से उस 'भक्ति' का पूर्वाभास देते हैं जो हम चैतन्य के जीवन में दिखाई देती है—परन्तु चैतन्य के जीवन के बिना दार्शनिक [illegible] साहित्य [illegible] का इतिहास अपूर्ण, धर्म में विशुद्ध भावावेशवाद की [illegible] सबसे अधिक [illegible] रूप में प्रकट रहा। चैतन्य ने लगभग कुछ भी नहीं लिखा, उनके उपदेश बहुत थे, और हमारे पास उन परिसंवादों का कोई प्रामाणिक अभिलेख नहीं है जिनमें उन्होंने भाग लिया बतलाते हैं। उन्होंने बहुत कम उपदेश दिए, उनका उपदेश प्रायः उनकी भावात्मक श्रद्धा एवं कृष्ण-प्रेम के प्रदर्शन में निहित रहता था, फिर भी जो प्रभाव उन्होंने अपने समकालीन व्यक्तियों तथा अपनी मृत्यु के पश्चात् भी कुछ शताब्दियों पर डाला वह असाधारण था। उनके समय से संस्कृत व बंगला साहित्य को एक नवीन प्रेरणा मिली, और एक अर्थ में बंगाल भक्ति-रस गीति-काव्य से सिक्त हो गया। उनके जीवन-चरित्-लेखकों द्वारा दिए गए विवरणों से हम जो कुछ संग्रहीत कर सकते हैं उसके अतिरिक्त उनके अपने दर्शन का कोई विवरण देना हमारे लिए कठिन है। जैसाकि हम आगे देखेंगे, उनके सम्प्रदाय के सदस्यों में जीव गोस्वामी और बलदेव विद्याभूषण ही सम्भवत ऐसे व्यक्ति हैं जिन्होंने एक प्रकार के दर्शन का निर्माण करने का प्रयास किया।

चैतन्य के दार्शनिक मत के विषय में 'चैतन्य-चरितामृत' से संग्रह

कृष्णदास कविराज, जिन्हे अन्यथा कविराज गोस्वामी कहते हैं, चैतन्य के समकालीन नही थे, किन्तु वे उनके अनेक महत्वपूर्ण अनुयायियो के सम्पर्क मे आए इसलिए यह मानना उचित है कि उन्हे उनमे प्रचलित चैतन्य के जीवन की घटनाओ का परम्परागत विवरण उपलब्ध हुआ था। वह पुरी मे वासुदेव सार्वभौम के साथ चैतन्य के उस विचार-विमर्श का विवरण देते हैं जिसमे पश्चादुक्त ने अद्वैतवादी मत को खण्डित करने का प्रयास किया था। उक्त मान्य वार्तालाप यह प्रदर्शित करता है कि चैतन्य के अनुसार ब्रह्मन् 'निर्विशेष' नही हो सकता, ब्रह्मन् के निर्विशेषत्व को सिद्ध करने का कोई भी प्रयास केवल विपरीत दिशा मे उन्मुख होगा, उसके सविशेषत्व को सिद्ध करेगा और इस तथ्य की स्थापना करेगा कि वह सर्व सम्भव शक्तियो से सम्पन्न है। ये शक्तियाँ अपने स्वरूप मे तीन प्रकार की होती हैं—'विष्णु-शक्ति' 'क्षैत्रज्ञ-शक्ति' और 'अविद्या-शक्ति'। 'विष्णु-शक्ति' के रूप मे प्रथम शक्ति पर पुन तीन दृष्टिकोण से विचार किया जा सकता है, 'ह्लादिनी,' 'सौधिनी,' और 'सवित'। ये तीनो शक्तियाँ आनन्द, सत् व चित् ईश्वर की 'परा-शक्ति' (अथवा 'विष्णु-शक्ति') मे एकत्र रहती हैं। 'क्षेत्रज्ञ-शक्ति' अथवा 'जीव-शक्ति' (जीवात्माओ के रूप मे ईश्वर की शक्ति), और 'अविद्या-शक्ति' (जिसके द्वारा जगदाभासो की सृष्टि होती है) ईश्वर के परा पक्ष मे

अस्तित्व नही रखती। वस्तुत. ब्रह्मन् सर्व 'प्राकृत' गुणो से रहित है, किन्तु वह वस्तुतः अप्राकृत गुणो से पूर्ण है। इसी दृष्टिकोण से उपनिषदो ने ब्रह्मन् का 'निर्गुण' (गुण-रहित) के रूप मे और सर्व शक्तियो से रहित (नि शक्तिक) सत्ता के रूप मे भी वर्णन किया है। जीवात्माए 'माया-शक्ति' के नियत्रण मे रहती है, किन्तु ईश्वर 'माया-शक्ति' का नियन्ता होता है और उसके माध्यम से जीवात्माओ का भी नियत्रक होता है। ईश्वर अपनी अचिन्त्य शक्तियो से जगत् की सृष्टि करता है और फिर भी स्वय मे अपरिवर्तित रहता है। इस प्रकार जगत् मिथ्या नही है, पर, एक सृष्टि होने के कारण नाशवान है। 'ब्रह्म-सूत्र' की शकरवादी व्याख्या गलत है और उपनिषदो के आशय के अनुरूप नही है।

'चैतन्य चरितामृत' की 'मध्य-लीला' के अध्याय ८ मे हमे प्रेम के आदर्श की क्रमिक श्रेष्ठता के सबध मे चैतन्य और रामानन्द के मध्य जो प्रसिद्ध वार्तालाप हुआ था वह मिलता है। रामानन्द कहते हैं कि ईश्वर के प्रति भक्ति वर्ण-धर्म के अनुपालन से उत्पन्न होती है। यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि 'भक्ति-रसामृत-सिन्धु' के अनुसार 'भक्ति' दार्शनिक ज्ञान 'कर्म' अथवा 'वैराग्य' की इच्छा से किसी भी प्रकार से प्रभावित हुए बिना तथा अपने स्वार्थ की अभिलाषा से सम्बन्धित हुए बिना स्वय को कृष्ण की सेवा-मात्र के लिए उसके प्रति अनुरक्त करने मे निहित होती है।[1]

'चैतन्य-चरितामृत' मे उद्धृत 'विष्णु-पुराण' इस मत को मानता है कि वर्ण-धर्म एव आश्रम-धर्म के अनुपालन के द्वारा ही ईश्वर की उपासना की जा सकती है। किन्तु प्रश्न यह है कि क्या वर्ण-धर्म व आश्रम-धर्म का ऐसा अनुपालन एक व्यक्ति को 'भक्ति' की प्राप्ति करवा सकता है अथवा नही। यदि 'भक्ति' का अर्थ केवल ईश्वर के लिए ही उसकी सेवा करना है (आनुकूल्येन कृष्णानुसेवनम्), तो वर्ण-धर्म का अनुपालन उसकी प्राप्ति की ओर एक अनिवार्य चरण नही माना जा सकता, उसका एकमात्र योगदान चित्त की शुद्धि हो सकता है जिसके द्वारा चित्त ईश्वर के अनुग्रह को ग्रहण करने के योग्य बन जाय। रामानद के इस उत्तर से सतुष्ट न होकर चैतन्य उनसे आग्रह करते हैं कि वे 'भक्ति' की अधिक अच्छी व्याख्या करें। उत्तर मे रामानद कहते हैं कि एक और भी उन्नत अवस्था वह होती है जिसमे भक्त अपने सर्व धर्म-पालन मे ईश्वर के प्रति अपने सकल स्वार्थो का त्याग कर देता है, किन्तु एक और भी अधिक उन्नत अवस्था होती है जिसमे एक व्यक्ति अपने ईश्वर-प्रेम के द्वारा अपने

[1] अन्याभिलाषिताशून्य ज्ञान-कर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुसेवन भक्तिरुत्तमा।

—'भक्तिरसामृत-सिन्धु' १ १ ९।

सर्व धर्मों का त्याग कर देता है। जब तक एक व्यक्ति स्वय अपने लाभ के सबध के सर्व विचारो का परित्याग नही कर सकता, तबतक वह प्रेम-मार्ग मे अग्रसर नही हो सकता। आगामी उन्नत अवस्था वह है जिसमे भक्ति ज्ञान से अभिसिंचित हो जाती है। किन्तु, विशुद्ध भक्ति मे ज्ञान का कोई भी अवरोधक प्रभाव नही होना चाहिए, दार्शनिक ज्ञान और कोरा वैराग्य भक्ति के मार्ग मे बाधक होते है। ईश्वर के स्वरूप का ज्ञान और मानव व ईश्वर के घनिष्ट सबध का ज्ञान भक्ति के लिए अबाधक माना जा सकता है। हमारे मन की ईश्वर के प्रति सहज एव अनन्य आसक्ति ही 'प्रेम-भक्ति' कहलाती है, वह पाँच प्रकार की होती है—'शान्त' (शान्त प्रेम) 'दास्य' (ईश्वर का सेवक) 'सख्य (ईश्वर से मित्रता),' 'वात्सल्य' (ईश्वर के प्रति ममता) और 'माधुर्य' (मधुर प्रेम, अथवा प्रेमी के रूप मे ईश्वर का प्रेम)। अत विभिन्न प्रकार के प्रेम श्रेष्ठता के क्रम मे उपरोक्त विधि से व्यवस्थित किए जा सकते है, वस्तुत अपने पति अथवा प्रेमी के रूप मे ईश्वर का प्रेम उच्चतम होता है। वृन्दावन मे कृष्ण की प्रेम-कथाओ मे गोपियो का कृष्ण के प्रति प्रेम, और विशेषत राधा का कृष्ण के प्रति प्रेम इस उच्चतम प्रेम का प्रतिरूप है। रामानद अपना सम्भाषण इस कथन से समाप्त करते है कि प्रेम के उच्चतम शिखर पर प्रेमी और प्रेमिका एकत्व मे विलीन हो जाते हैं, तथा उन दोनो के माध्यम से प्रेम की एक अद्वितीय अभिव्यक्ति फलीभूत होती है। जब प्रेमी और प्रेमिका प्रेम के मधुर दुग्ध-प्रवाह मे अपना व्यक्तित्व खो बैठते है तब प्रेम अपने उच्चतम स्वरमान को प्राप्त कर लेता है।

बाद मे, 'मध्य लीला,' अध्याय २९ मे 'शुद्ध भक्ति' के स्वरूप की व्याख्या करते हुए चैतन्य कहते हैं कि शुद्ध भक्ति वह होती है जिसमे भक्त सर्व कामनाओ सर्व औपचारिक उपासना, सर्व ज्ञान व कर्म का परित्याग कर देता है और अपनी सर्व इन्द्रिय-शक्तियो से कृष्ण के प्रति आसक्त हो जाता है। एक सच्चा भक्त ईश्वर से कुछ भी नही चाहता, किन्तु केवल उसे प्रेम करने से सतुष्ट रहता है। उसमे मानवी प्रेम के समरूप ही लक्षणो का प्रदर्शन होता है, जो श्रेष्ठता की पराकाष्ठा पर पहुँच जाते हैं।

'मध्य-लीला' के अध्याय २२ में यह कहा गया है कि भक्ति की तीव्रता की भिन्नता भावावेश की प्रगाढता की भिन्नता पर निर्भर करती है। जो व्यक्ति कृष्ण का भक्त होता है उसमे प्रारम्भिक नैतिक गुण होने चाहिए, उसे दयालु, सत्यवक्ता, सबके प्रति समान, अहिंसक, उदार-चित्त, कोमल, विशुद्ध, नि स्वार्थी, अपने व अन्य व्यक्तियो के प्रति शान्तिमय होना चाहिए, उसे परोपकारी होना चाहिए, कृष्ण को अपना एकमात्र आश्रय मान कर उसी पर आधारित रहना चाहिए, किन्हीं अन्य इच्छाओ

मे आसक्त नही होना चाहिए, कृष्ण की उपासना करने के प्रयत्न के अतिरिक्त अन्य कोई प्रयत्न नही करना चाहिए, स्थिर रहना चाहिए अपनी सर्व वासनाओ को पूर्ण वश मे रखना चाहिए, उसे असावधान नही रहना चाहिए, अन्य व्यक्तियो का आदर करने के लिए तत्पर रहना चाहिए, नम्रता से पूर्ण होना चाहिए, सर्व दु खो को धैर्यपूर्वक सहन करने के लिए तत्पर रहना चाहिए, उसे अन्य सच्चे भक्तो के साहचर्य मे आसक्त रहना चाहिए—ऐसे मार्ग से ही उसमे कृष्ण-प्रेम का क्रमश उदय होगा। एक सच्चे वैष्णव को स्त्रियो तथा उन सभी वस्तुओ का साथ त्याग देना चाहिए जो कृष्ण के प्रति आसक्त नही हैं। उसे वर्ण-धर्म एव आश्रम-धर्म का परित्याग कर असहाय अवस्था मे कृष्ण पर आश्रित रहना चाहिए। कृष्ण पर आश्रित रहना और उसके प्रति आत्म-समर्पण करना एक वैष्णव का चरम धर्म है। कृष्ण-प्रेम एक मनुष्य के हृदय मे जन्मजात होता है, तथा वह उत्तेजक अवस्थाओ मे अभिव्यक्त होता है। ईश्वर प्रेम ईश्वर की 'ह्लादिनी' शक्ति की अभिव्यक्ति होता है, और चूकि वह जीवात्माओ का एक सघटक तत्त्व होता है इसलिए ईश्वर के प्रति जीवात्माओ का आकर्षण मानव-जीवन का एक मूलभूत तथ्य है, वह कुछ काल तक गुप्त रह सकता है, किन्तु वह उपयुक्त अवस्थाओ मे जाग्रत होकर रहता है।

जीवात्माए ईश्वर की ह्लादिनी और 'सवित' शक्ति दोनो की अशभागी होती हैं, तथा 'माया-शक्ति' जड पदार्थ मे अभिव्यक्त होती है। इन दो शक्ति-समुदायो के मध्य मे होने के कारण जीवात्माए 'तटस्थ-शक्ति' कहलाती हैं। एक जीवात्मा एक ओर जड शक्तियो व आकर्षणो से प्रवृत्त होती है, और ईश्वर की 'ह्लादिनी-शक्ति' से वह ऊपर की ओर प्रेरित होती है। इसलिए एक मनुष्य को ऐसा पथ ग्रहण करना चाहिए कि जडात्मक आकर्षणो एव इच्छाओ की शक्ति क्रमशः घट जाय, जिसके फलस्वरूप वह ईश्वर की 'ह्लादिनी-शक्ति' के द्वारा आगे आकर्षित हो सके।

चैतन्य के कुछ साथी

चैतन्य के एक अति प्रियपात्र नित्यानद थे। उनके जन्म और मृत्यु की यथार्थ तिथि का पता लगाना कठिन है, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि वे चैतन्य से कुछ वर्ष बडे थे। वह जाति के ब्राह्मण थे, परन्तु 'अवधूत' बन जाने के कारण जाति-भेद नही मानते थे। वह चैतन्य के दूत थे जो पुरी मे चैतन्य की अनुपस्थिति मे बगाल मे वैष्णव धर्म का प्रचार करते थे, कहा जाता है कि उन्होने बगाल के अनेक बौद्धो व निम्न जाति के हिन्दुओ को वैष्णववाद मे सपरिवर्तित किया। जीवन की प्रौढावस्था मे नित्यानन्द ने सन्यास-व्रत को तोड दिया और कलना के गौरदास

सर्खेल के भाई सूरजदास सर्खेल की दो कन्याओ से विवाह कर लिया, ये दो पत्निया वसुधा और जाह्नवी थी। नित्यानन्द के पुत्र वीरचन्द जिन्हे वीरभद्र भी कहते हैं, वैष्णव इतिहास के उत्तरवर्ती काल मे एक प्रमुख विद्वान् हुए।

प्रतापरुद्र पुरुषोत्तमदेव के पुत्र थे, जो १४७८ मे सिंहासनारूढ हुए और प्रतापरुद्र स्वय १५०३ मे सिंहासनारूढ हुए। वे बहुत विद्वान् थे और साहित्यिक विवादो मे रुचि लेते थे। अपने ग्रन्थ 'उडीसा का इतिहास' (१८९१ मे प्रकाशित) मे श्री स्टर्लिंग उनके सबध मे कहते हैं कि उन्होने अपनी सेना लेकर रामेश्वरम् पर चढाई कर दी थी और विजनगर नामक प्रसिद्ध नगर को ले लिया, उन्होने मुसलमानो से भी युद्ध किया था और उन्हे पुरी पर आक्रमण करने से रोका। पुरी मे चैतन्य के कार्यों की तिथि मुख्यत: १५१६ और १५३३ के मध्य मे पडती है। रामानन्द राय प्रतापरुद्र के एक मत्री थे, और उनकी मध्यस्थता से चैतन्य प्रतापरुद्र के सम्पर्क मे आए जो उनके एक अनुयायी हो गए। प्रतापरुद्र के सपरिवर्तन सहित चैतन्य की प्रतिष्ठा ने उडीसा के जन समुदाय पर एक गम्भीर प्रभाव डाला और इसके फलस्वरूप वहाँ वैष्णववाद का महत्वपूर्ण प्रचार एव बौद्ध-धर्म का क्षय हुआ।

चैतन्य के काल मे हुसेनशाह गौड के नवाब थे। इस्लाम मे सपरिवर्तित दो ब्राह्मण, जिनके सकर मलिक और दबिर खास मुसलमानी नाम थे, उनके दो उच्च अधिकारी थे, उन्होने चैतन्य को रामकेलि मे देखा था और वे उनसे अत्यधिक प्रभावित हुए थे। पीछे अपनी समस्त सपत्ति उन्होने निर्धनो मे बाट दी और सन्यासी होकर वे सनातन और रूप नाम से विख्यात हुए, कहा जाता है कि रूप चैतन्य से बनारस मे मिले, जहाँ उन्हे उनसे उपदेश मिला, उन्होने अनेक मूल्यवान सस्कृत रचनाए लिखी, यथा—'ललित माधव' 'विदग्धमाधव' 'उज्जवल-नीलमणि,' 'उत्कलिका-वल्लरी' (१५५० मे लिखित) 'उद्धव-दूत' 'उपदेशामृत' 'कार्पण्य-पु जिका,' 'गङ्गाष्टक' 'गोविन्द-विरुदावली' 'गौराङ्गकल्पतरु' चैतन्याष्टक, दान केलि कौमुदी, नाटक चद्रिका, 'पद्यावली,' 'परमार्थ-सदर्भ,' 'प्रीति-सदर्भ,' 'प्रेमेन्दु सागर,' 'मथुरा-महिमा,' 'मुकुन्द-मुक्ता-रत्नावली-स्तोत्र-टीका,' 'यामुनाष्टक,' 'रसामृत' 'विलाप कुसुमाजलि,' 'व्रज-विलासस्तव,' 'शिक्षादशक,' 'सक्षेप भागवतामृत,' 'साधन-पद्धति' 'स्तवमाला' 'हसदूत-काव्य,' 'हरिनामामृत-व्याकरण' 'हरेकृष्ण-महामन्त्रार्थ-निरूपण,' 'चन्द्रोष्टादशक'।

सनातन ने निम्नलिखित रचनाए लिखी—'उज्ज्वल–रस–कथा' 'उज्ज्वल-नीलमणि-टीका,' 'भक्ति-विन्दु,' 'भक्ति-सदर्भ,' 'भागवत-क्रम-सदर्भ,' 'भागवतामृत' 'योग-शतक-व्याख्यान,' 'विष्णु-तोषिणी,' 'हरिभक्ति-विलास,' भक्ति-रसामृत-सिन्धु। जब हुसैन शाह ने यह सुना कि सनातन उन्हे छोड देने का विचार कर रहे हैं, तब उन्होने उन्हे कारागार मे डाल दिया, परन्तु सनातन ने कारागार के अध्यक्ष को

घूस दे दी, जिसने उन्हे मुक्त कर दिया। उन्होने तुरन्त गगा पार कर सन्यास-जीवन ग्रहण कर लिया, और अपने भाई रूप से भेंट करने के लिए मथुरा गए, तथा चैतन्य से भेंट करने हेतु पुरी लौटे। पुरी मे कुछ माह तक रह कर वह वृन्दावन गए। इस वीच रूप भी पुरी चले गए थे और वह भी वृन्दावन लौट आए। यह दोनो महान् भक्त थे और उन्होने अपना जीवन कृष्ण की उपासना मे व्यतीत किया।

अद्वैताचार्य का वास्तविक नाम कमलाकर भट्टाचार्य था। उनका जन्म १४३४ मे हुआ था, और इस प्रकार वह चैतन्य से वावन वर्ष वडे थे, वह सस्कृत के वहुत वडे पण्डित थे और शान्तिपुर मे निवास करते थे। वह अपना अध्ययन समाप्त करने के लिए नवद्वीप गए। इस समय लोग वहुत जडवादी वन गए थे, अद्वैत इस पर वहुत दु खी थे, और अपने मन मे उनके मानस-परिवर्तन के लिए किसी महान् शक्ति के उदय के लिए प्रार्थना करते थे। सन्यास-ग्रहण करने के पश्चात् चैतन्य शान्तिपुर मे अद्वैत के यहाँ गए थे, जहाँ दोनो हर्षोन्माद युक्त नृत्यो का आनन्द लेते थे, उस समय अद्वैत लगभग पचहत्तर वर्ष के थे। कहा जाता है कि चैतन्य से भेंट करने के लिए पुरी गए थे। कुछ विद्वानो के अनुसार अद्वैत १५३६ मे परलोकवासी हुए थे, तथा अन्य विद्वानो के अनुसार १५८४ में (जो अविश्वसनीय है)।

अद्वैत और नित्यानन्द के अतिरिक्त चैतन्य के अनेक अन्य साथी थे जिनमें एक श्रीवास अथवा श्रीनिवास थे। यह सिलहट के एक ब्राह्मण थे जो नवद्वीप मे आकर वस गए थे और यथेष्ठ धनाढ्य थे। उनकी ठीक-ठीक जन्म-तिथि वताना सम्भव नही है, किन्तु १५४० से वहुत पूर्व उनकी मृत्यु हो चुकी थी (जव जयानद ने अपना 'चैतन्य-मगल' लिखा)। सभवत जिस समय चैतन्य का जन्म हुआ वह चालीस वर्ष के थे। वालक चैतन्य श्रीवास के घर वहुधा जाया करते थे। यद्यपि अपने प्रारम्भिक जीवन मे वह न्यूनाधिक आस्था-रहित थे तथापि 'भागवत' के अध्ययन के प्रति अनुरक्त थे। नवद्वीप मे रहते समय अद्वैत के निरतर साथी थे। जव गया से लौटने पर चैतन्य का मन ईश्वरोन्मुखी हुआ, तव श्रीवास का घर हर्षोन्माद युक्त नृत्यो की रगभूमि वन गया। इसके उपरात श्रीवास चैतन्य के एक महान् शिष्य वन गए। चैतन्य के जीवन-कथाकार, वृन्दावनदास की माता नारायणी श्रीवास की एक भतीजी थी।

प्रतापरुद्र के मत्री एव 'जगन्नाथ-वल्लभ' के लेखक रामानन्दराय की चैतन्य अत्यधिक प्रशसा करते थे। वे मध्य भारत मे विद्यानगर के मूल-निवासी थे। 'चैतन्य-चरितामृत' मे वर्णित प्रसिद्ध वार्तालाप प्रदर्शित करता है कि कैसे स्वय चैतन्य ने परा भक्ति के सवध मे रामानन्द से शिक्षा ली। अपनी ओर से रामानन्द राय भी चैतन्य के प्रति वहुत आसक्त थे और प्राय उनके साथ समय व्यतीत करते थे।

अध्याय ३३

चैतन्य के अनुयायी जीव गोस्वामी व बलदेव विद्याभूषण का दर्शन

तत्व-मीमांसा

जीव गोस्वामी चैतन्य के तुरन्त पश्चात् सम्पन्नता को प्राप्त हुए थे। उन्होंने 'भागवत-पुराण' पर एक टीका लिखी जो उनके प्रमुख ग्रन्थ 'षट्-सदर्भ' का द्वितीय अध्याय (भागवत-सदर्भ) है। इस अध्याय मे वे कहते हैं कि जब महान् ऋषि अपना परम तत्व से तादात्म्यीकरण करते हैं तब उनके मन प्रभु की विविध शक्तियो की अनुभूति करने मे असमर्थ रहते है। उस समय प्रभु का स्वरूप एक सामान्य रूप मे लक्षित होता है (सामान्येन लक्षित तथैव स्फुरत्, पृ० ५०), और उस अवस्था मे ब्रह्मन् की शक्तियाँ उससे भिन्न प्रत्यक्ष नही की जाती। परम तत्व अपनी स्वरूप शक्ति (स्वरूपास्थितया एव शक्त्या) के कारण अपनी अन्य सर्व शक्तियो का मूलाश्रय बन जाता है (परासामपि शक्तिना मूलाश्रयरूपम्), और भक्ति-भाव के द्वारा भक्तो को विभिन्न शक्तियो का स्वामी प्रतीत होता है, तब वह भगवान् कहलाता है। विशुद्ध आनन्द तो विशेष्य है, और अन्य समस्त शक्तियाँ उसकी विशेषण होती है, अन्य समस्त शक्तियो से विशिष्ट होने पर वह 'भगवान' कहा जाता है।[1] इस प्रकार ब्रह्मन् का प्रत्यय भगवान द्वारा निर्दिष्ट सम्पूर्ण व्यक्तित्व की आंशिक अभिव्यक्ति होता है, यही भगवान सर्व प्राणियो व उनकी गतिविधियो के नियन्त्रक के पक्ष मे परमात्मन् के रूप मे अभिव्यक्त होता है। ब्रह्मन्, भगवान् व परमात्मन् के तीन नामो का प्रयोग पूर्ण मिश्रित अर्थ के विभिन्न पक्षो पर जो बल दिया जाता है उसके अनुसार किया जाता है, इस प्रकार ज्यो-ज्यो ईश्वर के एक विशेष पक्ष का आविर्भाव उपासक के अनुभव मे होता है, वह उसे ब्रह्मन्, भगवान अथवा परमात्मन् के नाम से सबधित कर लेता है।[2]

---

[1] आनन्द-मात्र विशेष्य समस्ता' शक्तय विशेषणानि विशिष्टो भगवान्।
—षट्-सदर्भ, पृ० ५०।

[2] तत्रैकस्यैव विशेषण-भेदेन तदविशिष्टत्वेन च प्रतिपादनात् तथैव तत्-तदुपासक-पुरुषानुभव-भेदाच्च आविर्भाव-नाम्नोर्भेद। —वही, पृ० ५३।

ब्रह्मन् पक्ष की अनुभूति तब होती है जब उपासक के मन के सम्मुख विशिष्ट गुणो एव शक्तियो का आविर्भाव नही होता। उपासक के आत्मस्वरूप के रूप मे शुद्ध चैतन्य का बोध करने मे शुद्ध चैतन्य के रूप मे ब्रह्मन् का बोध भी हो जाता है, आत्म-स्वरूप के ब्रह्मन् के साथ तादात्म्य का बोध विशेष भक्ति-साधना के द्वारा उदित होता है।[१] शकर द्वारा व्याख्या किए गए वेदात के अद्वैतवादी सम्प्रदाय के अनुसार आत्मन् का ब्रह्मन् से तादात्म्य 'तत् त्वमसि' नामक वेदान्त महावाक्य के उपदेश के द्वारा उदित होता है। किन्तु यहाँ तादात्म्य भक्ति-साधना अथवा उससे उत्पन्न ईश्वरानुग्रह के द्वारा आविर्भूत होता है।

भगवान का धाम 'वैकुण्ठ' कहा जाता है। इस शब्द की दो व्याख्याए हैं, एक अर्थ मे वह 'माया' से आवृत्त ब्रह्मन् से स्वरूप से एकरूप कहा जाता है,[२] अन्य व्याख्या मे वह एक ऐसी सत्ता कहा जाता है जो न तो 'रजस्' एव 'तमस्' की अभिव्यक्ति है, और न 'रजस्' व 'तमस्' से सबधित जड 'सत्व' की। भगवान की स्वरूप शक्ति की अभिव्यक्ति होने के कारण अथवा शुद्ध 'सत्व' के रूप मे उसे एक भिन्न द्रव्य से युक्त माना जाता है। यह शुद्ध 'सत्व' साख्यवादियो के जड 'सत्व' से भिन्न होता है, जो 'रजस्' व 'तमस्' से सबधित होता है, और इस कारण से उसे 'अप्राकृत' अर्थात् 'प्राकृत' से परे माना जाता है। इसी कारण उसे नित्य एव अपरिवर्तनशील माना जाता है।[३] साधारण 'गुण' जैसे–'सत्व,' 'रजस्' और 'तमस्' 'काल-शक्ति' की प्रक्रिया से उत्पन्न होते है, किन्तु 'सत्व-वैकुण्ठ' 'काल' के नियत्रण मे नही होता।[४]

---

१ वही, पृ० ५४। ननु सूक्ष्म-चिद्-रूपत्व पदार्थानुभवे कथ पूर्ण-चिदाकार-रूप-मदीय-ब्रह्म-स्वरूप स्फुरतु तत्राह, अनन्यबोध्यात्मतया चिदाकारता-साम्येन शुद्धत्व पदार्थैक्य-बोध्य-स्वरूपतया। यद्यपि तादृगात्मानुभवानन्तर तदनन्य-बोध्यता-कृतौ साधक-शक्तिर्नास्ति तथापि पूर्व तदर्थमेव कृतया सर्वत्राऽपि उपजीव्यया साधन-भक्त्या आराधितस्य श्रीभगवत प्रभावादेव तदपि तत्रोदयते। –वही, पृ० ५४।

२ यतो वैकुण्ठात् पर ब्रह्माख्य तत्त्व पर भिन्न न भवति। स्वरूप-शक्ति-विशेषा-विष्कारेण मायया नावृत तदेव तद्-रूपम्। –वही, पृ० ५७।

३ यत्र वैकुण्ठे रजस् तमश्च न प्रवर्तते। तयोर्मिश्र सहचर जड यत् सत्त्व न तदपि। किन्तु अन्यदेव तच्च या सृष्टि स्थापयिष्यमाणा।
मायात परा भगवत्-स्वरूप-शक्ति तस्या
वृत्तित्वेन चिद् रूप शुद्ध–सत्त्वाख्य सत्त्वम्। –वही, पृ० ५८।

४ यह मत कि 'गुणो का विकार' 'काल' की गति से होता है, सांख्य के साधारण प्राचीन मत मे स्वीकार नही किया जाता, पर यह 'रामानुज सम्प्रदाय' का एक सिद्धात है।

इस प्रकार 'वैकुण्ठ' किन्ही गुणो से रहित होने के कारण एक अर्थ मे निर्विशेष (भेदरहित) माना जा सकता है, किन्तु एक अन्य अर्थ मे यह कहा जा सकता है कि उसमे भी भेद का अस्तित्व होता है, यद्यपि वे केवल शुद्ध 'सत्व' अथवा ईश्वर की स्वरूप-शक्ति के रूप के हो सकते हैं।[1]

'स्वरूप-शक्ति' और 'मायाशक्ति' परस्पर विरुद्ध होती हैं, तथापि वे दोनो ईश्वर मे धारण की जाती है।[2] ईश्वर की शक्ति एक साथ ही 'स्वाभाविक' और 'अचिन्त्य' होती है। आगे यह आग्रह किया जाता है कि साधारण जगत् मे भी वस्तुओ की शक्तियाँ अचिन्त्य होती हैं, अर्थात् न तो उनका वस्तुओ के स्वरूप से निगमन किया जा सकता है, और न उनका साक्षात् प्रत्यक्ष किया जा सकता है, किन्तु उनको मानना पडता है क्योकि ऐसी मान्यता के विना कार्य की व्याख्या सम्भव नही होगी। 'अचित्य' शब्द का यह भी अर्थ होता है कि यह कहना कठिन है कि शक्ति द्रव्य से एक रूप है अथवा वह उससे भिन्न है, एक ओर तो शक्ति को द्रव्य से वाह्य नही माना जा सकता तथा दूसरी ओर यदि वह उससे एक रूप होती तो कोई परिवर्तन, कोई गति, कोई कार्य नही हो सकता था। द्रव्य का प्रत्यक्ष किया जाता है। परन्तु शक्ति का नहीं, किन्तु, चूंकि एक कार्य अथवा एक परिवर्तन उत्पन्न होता है इसलिए उपपत्ति यह होती है कि द्रव्य ने अपनी शक्ति अथवा शक्तियो के माध्यम से व्यापार किया होगा। इस प्रकार, द्रव्य मे स्थित शक्तियो के अस्तित्व को तर्क द्वारा सिद्ध नही किया जा सकता, किन्तु एक उपपत्ति के रूप मे स्वीकार किया जाता है।[3] ब्रह्मन् के सबध मे भी ऐसा ही होता है, उसकी शक्तियाँ उसके स्वरूप से एकरूप होती हैं, अतएव उससे सह-नित्य होता है। 'अचिन्त्यत्व' को प्रत्यय प्रत्यक्षत विरुद्ध प्रत्ययो का सामजस्य करने के हेतु प्रयुक्त किया जाता है (दुर्घट-घटकत्व ह्यचिन्त्यत्वम्)। 'अन्तरग-स्वरूप-शक्ति' ब्रह्मन् के स्वरूप मे स्थित रहती है (स्वरूपेण) तथा 'वैकुण्ठ' आदि नामो से सूचित उसकी विविध अभिव्यक्तियो के रूप मे भी स्थित रहती है (वैकुण्ठादि-स्वरूप-वैभव-रूपेण)।[4] द्वितीय शक्ति (तटस्थ शक्ति) का प्रतिनिधित्व

[1] ननु गुणाद्यभावान् निर्विशेष एवासौ लोक इत्याशक्य तत्र विशेषस्तस्या शुद्ध सत्त्वात्मिकायाः स्वरूपानतिरिक्त–शक्तिरेव विलास–रूप इति।

—षट्-सदर्भ, पृ० ५६।

[2] ते च स्वरूप शक्ति माया शक्ति परस्पर–विरुद्धे तथा तयोर्वृत्तय स्व-स्व-गण एव परस्परा-विरुद्धा अपि बह्वय तथापि तासामेक निधान तदेव। —वही, पृ० ६१।

[3] लोके हि सर्वेपा भावाना मणि-मन्त्रादीना शक्तय अचिन्त्य-ज्ञान-गोचरा अचिन्त्य तर्कसह यज्ज्ञान कार्यान्यथानुपपत्ति-प्रमाणक तस्य गोचरा सन्ति।

—वही, पृ० ६३–४।

[4] वही, पृ० ६५।

शुद्ध जीवात्माओ द्वारा किया जाता है। तृतीय शक्ति (वहिरग-माया-शक्ति) का सर्व ब्रह्माण्डीय पदार्थों के विकास-क्रम एव उनकी मूल 'प्रधान' के द्वारा प्रतिनिधित्व किया जाता है। यहाँ सूर्य, उसकी किरणों और परावर्तन के फलस्वरूप अभिव्यक्त विभिन्न रगो के सादृश्य को प्रस्तुत किया जाता है। 'माया' की वाह्य शक्ति (वहिरग शक्ति) जीवो को प्रभावित कर सकती है किन्तु ब्रह्मन् को नही।

'माया' की 'भागवत' (श्रीधर की व्याख्या के अनुसार) मे इस रूप मे परिभाषा दी जाती है कि वह किसी भी विषय के विना अभिव्यक्त होती है और फिर भी मिथ्या प्रतिबिम्ब की भाँति वह अपने स्वरूप मे प्रत्यक्ष नही की जा सकती।[1] इसकी 'भागवत्-सदर्भ' मे एक भिन्न रूप मे व्याख्या की गई है, जहाँ यह कहा गया है कि 'माया' वह है जो परम सत्ता अथवा ब्रह्मन् के बाहर प्रतीत होती है, और ब्रह्म-प्राप्ति के पश्चात् जिसका आभास समाप्त हो जाता है। अपने स्वरूप मे उसका कोई आभास नही होता, अर्थात् ब्रह्मन् के आश्रय के विना वह अपनी अभिव्यक्ति नहीं कर सकती, इस प्रकार वह 'जीव-माया' और 'गुण-माया' इन दो रूपो मे ब्रह्मन् से सवधित रहती है। जिस 'आभास' के सादृश्य की श्रीधर द्वारा 'मिथ्या प्रतिविम्ब' के रूप मे व्याख्या की गई थी उसकी यहाँ सूर्य-मण्डल के वाहर से सूर्य के प्रकाश के परावर्तन के रूप मे व्याख्या की जाती है। सूर्य के प्रकाश का अस्तित्व, सूर्य-मण्डल के आश्रय के विना नही हो सकता। किन्तु यद्यपि ऐसा नही होता, तथापि सूर्य के प्रकाश का स्वतन्त्र कार्य हो सकता है और वह प्रतिविम्वित अथवा परावर्तित होने पर मण्डल के वाहर क्रीडा कर सकता है, जैसे, वह एक मनुष्य की आँखो को चकाचौध कर सकता है, और उन्हे अपने यथार्थ स्वरूप के प्रति अघा वना सकता है, तथा स्वय को विविध रगो मे अभिव्यक्त कर सकता है। इसी प्रकार तम का सादृश्य यह प्रदर्शित करता है कि यद्यपि जहाँ प्रकाश होता है वहाँ तम का अस्तित्व नही हो सकता, तथापि वह स्वय नेत्रो के प्रकाश के विना प्रत्यक्ष नही किया जा सकता। 'प्रकृति' और उसके विकार केवल अभिव्यक्तियाँ अथवा आभास मात्र हैं, जिनकी 'माया' की शक्ति के द्वारा ब्रह्मन् के वाहर सृष्टि की जाती है, 'माया' की प्रक्रिया 'प्राण' 'मनस्' व इन्द्रियो के व्यापार तथा शरीर इस कारण सम्भव होते हैं वे कि ईश्वर की मौलिक 'स्वरूप-शक्ति' से परि-व्याप्त होते हैं।[2] जिस प्रकार एक लोहे का टुकडा, जो अग्नि से अपनी उष्णता प्राप्त करता है, स्वय उस अग्नि को जला अथवा किसी रूप मे प्रभावित नही कर सकता, उसी प्रकार 'माया' एव उसके आभास, जो ईश्वर की स्वरूप-शक्ति मे अपना

---

[1] ऋतेऽर्थं यत्प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि तद्विद्यादात्मनो माया यथा भास यथा तम।

[2] स्वरूप-भूताख्यामन्तरगा शक्ति सर्वस्यापि प्रवृत्यन्यथानुपपत्त्या।

—वही, पृ० ६६।

कोई 'माया' नही होती, क्योंकि वह स्वय 'माया' अथवा 'स्वरूप-शक्ति' के रूप का होता है, इस प्रकार 'वैकुण्ठ' मोक्ष से एक-रूप होता है।

जब एक बार यह स्वीकार कर लिया जाता है कि परमेश्वर की अचिन्त्य शक्ति समस्त विरोध-ग्रस्त दृश्य-घटनाओ की व्याख्या कर सकती है, तथा 'योग-माया' के द्वारा परमेश्वर किसी भी रूप, आभास अथवा दृश्य-घटना की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति कर सकता है, तब गौडीय सम्प्रदाय के वैष्णवो के लिए उक्त प्रत्यय को धर्मशास्त्रीय उपयोग मे लाना सरल हो गया। उन्होने परमेश्वर और उसकी शक्तियो के तत्त्वमीमासात्मक प्रत्यय को अवैष्णव स्वरूप की उपेक्षा करके, उक्त तत्त्वमीमासात्मक सूत्र के विस्तार द्वारा 'भागवत' मे वर्णित वृन्दावन के कृष्ण की जीवन-घटनाओ के धर्मशास्त्रीय स्वरूप मे अपने धार्मिक विश्वास की प्रतिरक्षा करने का प्रयास किया। इस प्रकार वे मानते थे कि अपने शरीर एव वस्त्र व आभूषण आदि सहित कृष्ण, 'गोपियाँ' जिनके साथ वे रास-लीला करते थे, और यहाँ तक कि वृन्दावन की गौए और वृक्ष भी सीमित रूपो मे भौतिक अस्तित्व रखते हुए भी उसी काल मे परमेश्वर की स्वरूप-शक्ति की अभिव्यक्ति के रूप मे असीम और आध्यात्मिक होते है। वैष्णव किसी भी विरोध से नही डरते थे, क्योकि चातुर्य से आविष्कृत तत्त्वमीमासात्मक सूत्र के अनुसार परमेश्वर की शक्ति का तार्कातीत स्वरूप ऐसा था कि उसके द्वारा वह सभी प्रकार के सीमित रूपो मे स्वय को अभिव्यक्त कर सकता था, और फिर भी शुद्ध आनन्द व चित् के रूप मे अपने चरम स्वरूप मे स्थित रह सकता था। विरोध केवल आभासी है, क्योकि स्वय इस मान्यता से ही कि, परमेश्वर की शक्ति तर्कातीत है, सीमित के असीम से, सान्त के अनन्त से तादात्म्यीकरण की कठिनाई हल हो जाती है।[1] 'षट्-सदर्भ' का लेखक यह सिद्ध करने के लिए अत्यधिक परिश्रम करता है कि 'भागवत-पुराण' मे वर्णित कृष्ण का आभासी भौतिक रूप ब्रह्मन् से एकरूप है। यह एक ऐसी अवस्था नही है जिसमे एकरूपता की ब्रह्मन् से 'अत्यन्त तादात्म्य' के रूप मे अथवा ब्रह्मन् पर अवलम्बन के रूप मे व्याख्या की जानी चाहिए, यदि ब्रह्मन् शुद्ध चित्त मे अपनी अभिव्यक्ति करता है तो वह किसी भी प्रकार के गुणात्मक भेद से रहित अद्वैत के रूप मे

---

[1] वही, पृ० ७०—९२। सत्य-ज्ञानानन्तानन्दैक-रस मूर्तित्वाद् युगपदेव सर्वमपि तत्तद्-रूप वर्ततैव, किन्तु यूय सर्वदा सर्व न पश्यथेति (पृ० ८७)। ततश्च यदा तव यत्राशे तत्तदुपासना फलस्य यस्य रूपस्य प्रकाशनेच्छा तदैव तत्र तद् रूप प्रकाशते इति। इय कदेत्यस्य युक्ति। तस्मात् तत्तत् सर्वमपि तस्मिन् श्री कृष्ण रूपेऽन्तर्भूतमित्येवमत्रापि तात्पर्यमुपसहरति (पृ० ९०)। तदित्थम् मध्यमाकारैव सर्वाधारत्वात् विभुत्व साधितम्। सर्व-गतत्वादपि साध्यते। चित्र वतैतदेकेन वपुषा युगपत् पृथक् गृहेषु द्वयष्ट-साहस्र स्त्रिय एक उदावहत्।

तत्त्व प्राप्त करते है, स्वय ईश्वर अथवा उसकी स्वरूप-शक्ति को किसी भी रूप मे प्रभावित नही कर सकते।

'जीव' शरीर को ज्ञात कर सकते हैं, किन्तु वे परम तत्त्व एव सर्व वस्तुओ के चरम द्रष्टा को ज्ञात नही कर सकते। 'माया' के द्वारा ही विभिन्न वस्तुए एक आभासी स्वतत्र अस्तित्व रखती हैं, और जीवो के द्वारा ज्ञात की जाती हैं, किन्तु ब्रह्मन् का यथार्थ व अनिवार्य स्वरूप सर्व वस्तुओ मे सदा एक-रूप रहता है, और, चूंकि उस अवस्था मे कोई द्वैत नही होता है इसलिए कुछ भी ज्ञेय नही होता है और न ही उससे पृथक् कोई रूप होता है। जो परम तत्त्व सर्व वस्तुओ को अभिव्यक्त करता है वह स्वय को भी अभिव्यक्त करता है—वह्नि की उष्ण रश्मिया जो अपना अस्तित्व वह्नि से प्राप्त करती हैं, वे स्वय वह्नि को नही जला सकती।[1] 'गुण,' 'सत्व,' 'रजस्' व 'तमस्'—'जीव' मे स्थित रहते है, न कि ब्रह्मन् मे, इसी कारण से, जब तक 'जीव' 'माया' की शक्ति से अज्ञान मे रहते है, तब तक द्वैत का आभास होता है, जो ज्ञाता एव ज्ञेय के आभास को भी उत्पन्न करता है। पुन 'माया' दो प्रकार की कही गई है, 'गुण-माया' जो 'जडात्मिका' होती है, और 'आत्म-माया' जो ईश्वर की शक्ति होती है। 'जीव-माया' का प्रत्यय भी होता है, जो पुन तीन प्रकार की होती है—सृजनात्मक (भू), रक्षात्मक (श्री) और विनाशात्मक (दुर्गा)। 'आत्म-माया' ईश्वर की 'स्वरूप-शक्ति' होती है।[2] एक अन्य अर्थ मे 'माया' को तीन 'गुणो' से निर्मित माना जाता है। 'योग-काया' शब्द के भी दो अर्थ होते हैं—जब उसका प्रयोग योगियो अथवा ऋषियो की शक्ति के अर्थ मे किया जाता है तब उसका अर्थ योगाभ्यास से प्राप्त चमत्कार पूर्ण शक्ति होता है, जब उसका ईश्वर (परमेश्वर) के लिए प्रयोग किया जाता है, तब उसका अर्थ शुद्ध चैतन्य के रूप मे उसकी चिच्छक्ति की अभिव्यक्ति होता है (चिच्छक्ति विलास)। जब 'माया' का प्रयोग 'आत्म-माया' अथवा स्वय परमेश्वर की 'माया' के रूप मे किया जाता है, तब उसके तीन अर्थ होते है, अर्थात् उसकी 'स्वरूप-शक्ति' ज्ञान व क्रिया से समाविष्ट उसकी इच्छा (ज्ञान-किए), तथा चैतन्य के रूप मे उसकी शक्ति का विलास (चिच्छक्ति-विलास)।[3] इस प्रकार, 'वैकुण्ठ' मे

[1] स्वरूप-वैभवे तस्य जीवस्य रश्मि—स्वानीयस्य मण्डलस्थानीयो य आत्मा परमात्मा स एव स्वरूप-शक्त्या सर्वमभूत, 'अनादित एव भवन्नास्ते, न तु तत् प्रवेशेन, तत्तत्र इतर स जीव केनेतरेण करण-भूतेन क पदार्थं पश्येत्, न केनापि कमपि पश्ये-तित्यर्थं, नहि रश्मय स्वशक्त्या सूर्य-मण्डलान्तरगत—वैभव प्रकाशयेयु, न चारिष्चो वह्नि निर्दहेयु। —षट्-सन्दर्भ, पृ० ७१।

[2] मीयते अनया इति माया-शब्देन शक्ति मात्रमपि भण्यते। —वही, पृ० ७३।

[3] वही, पृ० ७३—४।

की उपासना का विषय होता है। अन्तर्यामिन के रूप मे परमेश्वर का यह रूप 'परमात्मन' कहा जाता है।

आगे यह माना जाता है कि परमात्मन् अपनी अभिव्यक्ति तीन रूपो मे करता है—प्रथम उन जीवो एव प्रकृति की समष्टि के अधिष्ठाता स्वामी के रूप मे जो वह्नि से स्फुलिगो के सदृश्य उसमे से उत्पन्न हुए हैं—सकर्षण अथवा महाविष्णु, द्वितीय सर्व जीवो की समष्टि के अन्तर्यामी के रूप मे (समष्टि-जीवान्तर्यामी)—'प्रद्युम्न'। प्रथम और द्वितीय अवस्था मे अन्तर यह है कि प्रथम अवस्था मे तो 'जीव' और 'प्रकृति' एक अभिन्न अवस्था मे होते है, जबकि द्वितीय मे 'जीवो' की समष्टि प्रकृति से पृथक् हो जाती है और स्वतत्र रूप मे स्थित रहती है। परमेश्वर का तृतीय पक्ष वह है जिसमे वह प्रत्येक मनुष्य मे उसके अन्तर्यामी के रूप मे निवास करता है।

'जीवो' को परमाणु मे परमाण्वीय कहा जाता है, वे सख्या मे अनत होते हैं और परमेश्वर के अश-मात्र होते हैं। 'माया' परमात्मन् की शक्ति होती है और इस शब्द का प्रयोग विभिन्न प्रसगो मे भिन्न-भिन्न अर्थो मे किया जाता है, उसका अर्थ स्वरूप-शक्ति, बाह्य शक्ति हो सकता है, और उसका 'प्रधान' के अर्थ मे भी प्रयोग किया जा सकता है।[1]

'षट्-सदर्भ' का लेखक इस साधारण वेदात मत का निषेध करता है कि ब्रह्मन् शुद्ध चैतन्य है तथा वस्तुओ ('विषय' अथवा 'माया' अथवा 'अज्ञान') का 'आश्रय' है। वह 'माया' और ब्रह्मन् के सबध को अनुभवातीत एव तार्कातीत मानता है। जिस प्रकार एक विशेष औषधि मे विभिन्न व विरोधी शक्तियाँ निवास कर सकती हैं, उसी प्रकार आभासो को उत्पन्न करने वाली विभिन्न शक्तियाँ परमेश्वर मे निवास कर सकती हैं, यद्यपि उसके साहचर्य का रूप सर्वथा अव्याख्येय व अचिन्त्य हो सकता है। द्वैत का आभास ब्रह्मन मे 'अज्ञान' की उपस्थिति के कारण नहीं होता अपितु उसकी अचिन्त्य शक्तियो के कारण होता है। जगत् के द्वैत का चरम अद्वैतवाद से सामजस्य परमेश्वर की अनुभवातीत एव तर्कातीत शक्तियो के अस्तित्व की मान्यता के आधार पर ही किया जा सकता है। इस तथ्य से यह भी व्याख्या हो जाती है कि परमात्मन्

---

[1] तदेव सन्दर्भ-द्वये शक्ति-त्रय-विवृत्ति कृता। तत्र नामाभिन्नता-जनित-भ्रान्ति हानाय सग्रह श्लोका माया स्यादन्तरगाया बहिरगाच्च सा स्मृता प्रधानेऽपि क्वचिद् दृष्टा तद्-वृत्तिर्मोहिनी च सा आद्ये त्रये स्यात् प्रकृतिश् चिच्छक्तिस्त्वन्तरगिका शुद्ध-जीवेऽपि ते दृष्टे तयेश-ज्ञान-वीर्ययो। चिन्तया-शक्ति-वृत्योस्तु विद्या-शक्तिरुदीर्यते चिच्छक्ति-वृत्तौ मायाया योग-माया समा स्मृता प्रधानाव्याकृता-व्यक्त त्रैगुण्ये प्रकृते पर न माया न चिच्छक्तावित्यादुह्यम् विवेकिभि। —वही, पृ० २४५।

की उपासना का विषय होता है। अन्तर्यामिन के रूप मे परमेश्वर का यह रूप 'परमात्मन' कहा जाता है।

आगे यह माना जाता है कि परमात्मन् अपनी अभिव्यक्ति तीन रूपो मे करता है—प्रथम उन जीवो एव प्रकृति की समष्टि के अधिष्ठाता स्वामी के रूप मे जो वह्नि से स्फुलिगो के सदृश्य उसमे से उत्पन्न हुए हैं—सकर्षण अथवा महाविष्णु, द्वितीय सर्व जीवो की समष्टि के अन्तर्यामी के रूप मे (समष्टि-जीवान्तर्यामी)—'प्रद्युम्न'। प्रथम और द्वितीय अवस्था मे अन्तर यह है कि प्रथम अवस्था मे तो 'जीव' और 'प्रकृति' एक अभिन्न अवस्था मे होते है, जबकि द्वितीय मे 'जीवो' की समष्टि प्रकृति से पृथक् हो जाती है और स्वतत्र रूप मे स्थित रहती है। परमेश्वर का तृतीय पक्ष वह है जिसमे वह प्रत्येक मनुष्य मे उसके अन्तर्यामी के रूप मे निवास करता है।

'जीवो' को परमाण मे परमाण्वीय कहा जाता है, वे सख्या मे अनत होते हैं और परमेश्वर के अश-मात्र होते हैं। 'माया' परमात्मन् की शक्ति होती है और इस शब्द का प्रयोग विभिन्न प्रसगो मे भिन्न-भिन्न अर्थों मे किया जाता है, उसका अर्थ स्वरूप-शक्ति, बाह्य शक्ति हो सकता है, और उसका 'प्रधान' के अर्थ मे भी प्रयोग किया जा सकता है।[1]

'षट् सदर्भ' का लेखक इस साधारण वेदात मत का निषेध करता है कि ब्रह्मन् शुद्ध चैतन्य है तथा वस्तुओ ('विषय' अथवा 'माया' अथवा 'अज्ञान') का 'आश्रय' है। वह 'माया' और ब्रह्मन् के सबध को अनुभवातीत एव तार्कातीत मानता है। जिस प्रकार एक विशेष औषधि मे विभिन्न व विरोधी शक्तियाँ निवास कर सकती है, उसी प्रकार आभासो को उत्पन्न करने वाली विभिन्न शक्तियाँ परमेश्वर मे निवास कर सकती हैं, यद्यपि उसके साहचर्य का रूप सर्वथा अव्याख्येय व अचिन्त्य हो सकता है। द्वैत का आभास ब्रह्मन मे 'अज्ञान' की उपस्थिति के कारण नही होता अपितु उसकी अचिन्त्य शक्तियो के कारण होता है। जगत् के द्वैत का चरम अद्वैतवाद से सामजस्य परमेश्वर की अनुभवातीत एव तर्कातीत शक्तियो के अस्तित्व की मान्यता के आधार पर ही किया जा सकता है। इस तथ्य से यह भी व्याख्या हो जाती है कि परमात्मन्

[1] तदेव सन्दर्भ-द्वये शक्ति-त्रय-विवृत्ति कृता। तत्र नामाभिन्नता-जनित-भ्रान्ति हानाय सग्रह-श्लोका माया स्यादन्तरगाया वहिरगाच्च सा स्मृता प्रधानेऽपि क्वचिद् दृष्टा तद्-वृत्तिर्मोहिनी च सा आद्ये त्रये स्यात् प्रकृतिश् चिच्छक्तिस्त्वन्तरगिका शुद्ध-जीवेऽपि ते दृष्टे तथेश-ज्ञान-वीर्ययो। चिन्तया-शक्ति-वृत्योस्तु विद्या-शक्तिरुदीर्यते चिच्छक्ति-वृत्तौ मायाया योग-माया समा स्मृता प्रधानाव्याकृता-व्यक्त त्रैगुण्ये प्रकृते पर न माया न चिच्छक्ताविर्याद्युह्यम् विवेकिभि। —वही, पृ० २४५।

की शक्ति परमात्मन् के एकत्व व विशुद्धता को प्रभावित किए विना अपना जड प्रतिभा मे कैसे रूपान्तरण कर सकती है।[1] इस प्रकार सूक्ष्म 'जीव' और जगत् की सूक्ष्म जडात्मक शक्तियाँ, दोनो का विकीरण परमात्मन् से होता है, जिससे जगत् के चित् एव अचित् दोनो अशो की उत्पत्ति होती है। परमात्मन् स्वय मे उत्पत्ति का 'निमित्त-कारण' माना जा सकता है, जवकि अपनी शक्तियो के साहचर्य मे वह जगत् का 'उपादान-कारण' माना जा सकता है।[2] चूंकि परमात्मन् की शक्ति का परमात्मन् के स्वरूप से तादात्म्य होता है, इसलिए अद्वैतवाद की स्थिति का सम्यक् सरक्षण होता है।

अशो और अशी के सबध पर 'षट्-सदर्भ' के लेखक का कथन है कि अशी अशो का सघात नही होता, और न अशी अशो का रूपातरण अथवा अशो मे उत्पन्न एक विकार होता है। और न अशी का अशो से भेद अथवा अभेद माना जा सकता है, अथवा उससे साहचर्य माना जा सकता है। यदि अशी अशो से सर्वदा भिन्न होता तो अशो का अशी से कोई सबध नही होता, यदि अश अशी मे अन्तर्निहित होते तो कोई भी अश अशी मे कही भी पाया जा सकता था। इसलिए अशो और अशी का सबध तर्कातीत स्वरूप का होता है। इस स्थिति से 'षट्-सदर्भ' का लेखक इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि जहाँ कही भी किसी अशी का आभास होता है, वह आभास उस परमात्मन् की अभिव्यक्ति के कारण होता है, जो चरम कारण एव परम सत्ता है (तस्मादैक्य-बुद्धयालम्बन रूप यत् प्रतीयते तत् सर्वत्र परमात्मन् लक्षण सर्वकारणम-स्त्येव, पृ० २५२)। इसलिए पृथक अशियो की सर्व अभिव्यक्तियाँ सादृश्यता के कारण उत्पन्न मिथ्या आभास देती हैं, क्योकि जहा कही भी एक अशी होता है वहाँ परमात्मन् की अभिव्यक्ति होती है। इस प्रकार सर्व जगत् को एक माना जा सकता है, अतएव सकल द्वैत मिथ्या है।[3]

जिस प्रकार अग्नि-लकडी, स्फुलिंग व धूम से पृथक् होती है (यद्यपि पश्चादुक्त दो को प्राय अग्नि से त्रुटिपूर्वक एकरूप माना जाता है), उसी प्रकार पृथक् द्रष्टा

---

[1] वही, पृ० २४६।

[2] वही, पृ० २५०।

[3] तस्मात् सर्वैक्य-बुद्धि-निदानात् पृथग् देहैक्य-बुद्धि. सादृश्यभ्रम स्यात्, पूर्वपरावयवा-नुसन्धाने सति परस्परमाश्रयैकत्व स्थितत्वेना वयवत्वसाधारण्येन चैक्यासादृश्यात् प्रत्यवयवमेकतया प्रतीते, सोऽय देह इति भ्रमैव भवतीऽत्यर्थ, प्रति-वृक्ष तदिद वन इतिवत्।

—षट्-सन्दर्भ, पृ० २५३।

अथवा ब्रह्मन् कहा जाने वाला आत्मन् भी उन पच भूतो (इन्द्रियाँ, अन्त करण और प्रधान) से प्रथक् होता है जिनको एक साथ 'जीव' की सज्ञा दी जाती है।[1]

जो व्यक्ति परमात्मन् पर अपना मन स्थिर रखते है तथा जगत् को उसकी अभिव्यक्ति समझते है वे फलत उसमे स्थित परम सत्ता के तत्व का ही प्रत्यक्ष करते है, किन्तु जो व्यक्ति जगत् को परमात्मन् की अभिव्यक्ति के रूप मे देखने के अभ्यस्त नही हैं वे उसे अज्ञान के प्रभाव रूप मे ही प्रत्यक्ष करते हैं, इस प्रकार उनके लिए परमात्मन् उस शाश्वत सत्ता के रूप मे प्रकट नही होता जो जगत् मे परिव्याप्त है। जो व्यक्ति शुद्ध स्वर्ण का व्यापार करते है वे उन विविध रूपो (कगन, हार आदि) को मूल्य नही देते जिनमे स्वर्ण अभिव्यक्त होता है, क्योकि उनकी मुख्य अभिरुचि शुद्ध स्वर्ण मे होती है, किन्तु अन्य वे व्यक्ति होते हैं जिनकी मुख्य अभिरुचि शुद्ध स्वर्ण मे नही होती वरन् उसके विविध मिथ्या रूपो मे होती है। इस जगत् की उत्पत्ति परमात्मन् के द्वारा अपनी अन्तर्निहित शक्ति के माध्यम से स्वय को उपादान कारण बनाकर की गई है, जैसे ही जगत् की उत्पत्ति होती है, वह उसमे प्रविष्ट हो जाता है तथा उसका प्रत्येक अश मे नियत्रण करता है, और अतिम अवस्था मे ('प्रलय' काल के समय) वह अभिव्यक्ति के विविध रूपो मे स्वय को पृथक् कर लेता है, और अपनी निजी अन्तर्निहित शक्ति से सम्पन्न होकर अपने विशुद्ध सत् के रूप मे पुन स्थित हो जाता है। इस प्रकार 'विष्णु-पुराण' मे यह कहा गया है कि अज्ञानी व्यक्ति जगत् को विशुद्ध ज्ञान के रूप मे देखने के स्थान पर उसे विषयो के दृश्य व स्पर्श-योग्य जगत् के रूप मे देख कर विभ्रात होते हैं, किन्तु जो व्यक्ति हृदय से पवित्र एव ज्ञानी होते हैं वे अखिल जगत् को परमात्म-स्वरूप, शुद्ध चैतन्य-स्वरूप मे देखते हैं।

जगत् की स्थिति

इस प्रकार वैष्णव तत्र मे जगत् (रज्जु-सर्प के सदृश) मिथ्या नही है, किन्तु (घट के सदृश) नाशवान है। जगत् की कोई सत्ता नही है, क्योकि, यद्यपि वह मिथ्या नही है, तथापि उसका भूत, वर्तमान व भविष्य मे कोई अबाधित अस्तित्व नही होता, केवल उसी वस्तु को सत् माना जा सकता है जो न तो मिथ्या होती है और न काल मे बाधित अस्तित्व रखती है। ऐसी सत्ता का केवल परमात्मन् अथवा उसकी

[1] यथोल्मुकात् विस्फुलिगाद् धूमादपि स्वसम्भवातप्यात्मत्वेन विमताद्यथाग्नि पृथगुल्मुकात् भूतेन्द्रियान्त करणात् प्रधानाज्जीव-सज्ञितातात्मा तथा पृथग् द्रष्टा भगवान् ब्रह्म-सज्ञित।

—वही, पृ० २५४।

नही रह सकती, अतएव किसी परिवर्तन अथवा उपयोग को उत्पन्न करने की शक्ति एक नित्य एव स्थायी गुण न होने के कारण सत्ता का पारिभाषिक लक्षण नही मानी जा सकती, इसलिए शुक्ति-रजत के सदृश एक मिथ्या आभास, जिसका केवल एक दृश्य रूप है किन्तु जिसमे कोई अन्य उपयोग अथवा परिवर्तनो को उत्पन्न करने की शक्ति नही होती, उसे सत् नही माना जा सकता। केवल वही सत् है जो मिथ्या विषयो अथवा उन विषयो के सभी उदाहरणो मे उपस्थित होता है जिनमे किसी प्रकार का उपयोग होता है, सत् वही है जो मिथ्या अथवा सापेक्षत वस्तुगत सर्व प्रकार के अनुभवो के अधिष्ठान एव आधार के रूप मे स्थित रहता है। हमारे चारो ओर विद्यमान तथाकथित यथार्थ जगत् यद्यपि नि सन्देह परिवर्तनो अथवा उपयोग को उत्पन्न करने की शक्ति से सम्पन्न है, तथापि वह नाशवान है। परन्तु 'नाशवान' शब्द केवल इसी अर्थ मे प्रयुक्त किया गया है कि जगत् उस मूल कारण—परमात्मन् की शक्ति मे पुन. लय हो जाता है—जिससे वह उत्पन्न हुआ था। केवल इस तथ्य से कि हम जगत् के साथ व्यवहार करते है और वह कुछ उद्देश्य अथवा उपयोग की पूर्ति मे सहायक होता है यह सिद्ध नही होता कि वह सत् है, क्योकि हमारा आभार और हमारा व्यवहार केवल अध परम्परा के आधार पर उनमे किसी यथार्थता को माने बिना अग्रसर हो सकता है। पारस्परिक विश्वास पर आधारित परम्पराओ की शृ खला का प्रचलन किसी अधिष्ठान के बिना उनकी यथार्थथा अथवा उनकी 'विज्ञान' स्वरूपता को सिद्ध नही कर सकता। इस प्रकार परम्पराओ का प्रचलन उनकी सत्यता को सिद्ध नही कर सकता। इस प्रकार जगत् न तो मिथ्या है और न नित्य है, अपितु वह सत् है, और फिर भी अपने आभासी रूप मे नही रहता, किन्तु ब्रह्मन् की शक्ति के अतर्गत अपनी अव्यक्त अवस्था मे स्वय को विलीन कर देता है, और इस अर्थ मे 'सत्यकार्यवाद' और 'परिणामवाद' दोनो सत्य हैं।[1]

यह मानना गलत है कि मूलत जगत् का कोई अस्तित्व नही था तथा अन्तत भी वह पूर्ण रूप से नष्ट हो जायगा, क्योकि, चूंकि पूर्ण सत्ता किसी भी अन्य प्रकार के अनुभव से रहित होती है, और एकरस आनन्दानुभव स्वरूप की होती है, इसलिए शुक्ति-रजत की भाति एक मिथ्या अध्याय के रूप मे जगत् की व्याख्या करना असम्भव है। इसी कारण से जगत् की सृष्टि की व्याख्या 'परिणाम' (अथवा विकास) के सादृश्य के आधार पर करनी चाहिए, शुक्ति-रजत अथवा रज्जु-सर्प की भाँति मिथ्या आभासो के सादृश्य के आधार पर नही। अपनी अचिन्त्य, अनिर्धारित व अज्ञेय शक्ति के द्वारा ब्रह्मन् अच्युत रहकर भी जगत् की उत्पत्ति करता है,[2] इस प्रकार ब्रह्मन् को

---

[1] 'षट्-सदर्भ' पृ० २५६।

[2] अतो अचिन्त्य-सख्या स्वरूपादच्युतस्यैव तव परिणाम-स्वीकारेण द्रविण-जातीना

परमेश्वर के प्रति उसकी भक्ति के आनद मे निहत होती है।[1] आगे यह माना गया है कि जगत् के साधारण अनुभव की व्याख्या जगत्-सबधी सादृश्यताओ के द्वारा सुचारू रूप से की जा सकती है, किन्तु परमेश्वर जीव, आत्माओ और जगत् के मध्य स्थित अनुभवातीत सबध की इस प्रकार कोई व्याख्या नही की जा सकती। उपनिषद्-पाठ जीव एव 'परमेश्वर' के तादात्म्य की घोषणा करते है, किन्तु उनका तात्पर्य केवल यही है कि 'परमेश्वर' और 'जीव' समान रूप से शुद्ध चैतन्य है।

परमेश्वर और उसकी शक्तियाँ

'षट्-सदर्भ' का पुनरावलोकन करने पर यह समस्या हमारे सम्मुख खडी होती है कि ब्रह्मन् शुद्ध चैतन्य और अपरिवर्तनशील है वह 'प्रकृति' के साधारण 'गुणो' से किस प्रकार सबधित हो सकता है। क्रीडा की साधारण सादृश्यता परमेश्वर पर लागू नही हो सकती, बच्चे क्रीडा मे आनद लेते हैं अथवा अपने साथियो द्वारा खेलने के लिए प्रोत्साहित किए जा सकते हैं, किन्तु परमेश्वर स्वय मे तथा अपनी शक्तियो मे आत्म-सिद्ध है वह किसी के द्वारा क्रिया मे प्रोत्साहित नही किया जा सकता, वह सदा प्रत्येक वस्तु से विलग रहता है, और किसी प्रकार के भावावेश से प्रभावित नही होता, क्योकि 'वह' गुणातीत है, इसलिए गुण और उनके कार्यो से सबधित नही किया जा सकता। हम यह भी प्रश्न उठा सकते है कि कैसे 'जीव,' जो परमेश्वर से एकरूप है, अनादि 'अविद्या' से सबधित हो सकता है। उसके शुद्ध चैतन्य स्वरूप होने के कारण उसकी चेतना काल, दिक, उपाधियो अथवा किसी आन्तरिक या बाह्य कारण के द्वारा किसी रूप मे 'आवृत्त' नहीं होनी चाहिए। इसके अतिरिक्त, चू कि परमेश्वर सकल शरीरो मे 'जीव' के रूप मे विद्यमान रहता है, इसलिए 'जीव' दु ख अथवा 'कर्म' के बधन मे नही रहना चाहिए। ऐसी कठिनाइयो का हल परमेश्वर की 'माया-शक्ति' के विवेकातीत स्वरूप मे मिलता है जो तार्कातीत होने के कारण साधारण तर्क-शास्त्र के उपकरणो से ग्रहण नही की जा सकती। परमेश्वर की शक्ति को 'अतरग' और 'बहिरग' रूपो मे सकल्पित किया जाने वाला सत्य व्याख्या करता है कि घटना परमेश्वर की बहिरग शक्ति के क्षेत्र मे घटित होती है वह स्वय उसकी अतरग शक्ति को प्रभावित नही कर सकती, इस प्रकार यद्यपि परमेश्वर 'जीवो' के रूप मे 'माया' और उससे उत्पन्न जगत-प्रपच के प्रभाव मे हो सकता है तथापि वह सर्वकाल मे अपने अतरग स्वरूप मे अप्रभावित रहता है। परमेश्वर की तीन प्रकार की शक्तियो ('स्वरूप' अथवा 'अतरग' 'बहिरग' और 'तटस्थ') के मध्य स्थित तर्कातीत एव विवेकातीत विभेद

[1] सत्य न सत्य न कृष्ण-पादाब्जामोदमन्तरा जगत् सत्य असत्य वा कोऽय तस्मिन् दुराग्रह।
—वही, पृ० २६९।

तथा उनके साथ उसका सबध उन कठिनाइयो की व्याख्या कर देता है जो साधारणत अजेय प्रतीत होती है। यह तर्कातीत सकल्पना ही इस बात की व्याख्या कर देती है कि कैसे परमेश्वर 'माया' के प्रभाव मे रहकर भी उसका नियन्त्रक हो सकता है।[1] 'जीव' वस्तुत दु खो के प्रभाव मे नही होता, किन्तु फिर भी वह परमेश्वर की 'माया' के द्वारा ऐसा प्रतीत होना है, जिस प्रकार स्वप्नो मे एक व्यक्ति को सर्व प्रकार के असत्य एव विकृत अनुभव हो सकते है, उसी प्रकार परमेश्वर की 'माया' के द्वारा जीव पर जगदानुभव आरोपित किए जाते है। विशुद्ध 'जीव' मे अशुद्धता का आभास उसकी 'उपाधि' के रूप मे क्रियान्वित 'माया' के प्रभाव से उत्पन्न होता है—जैसे गतिहीन चन्द्रमा बहती हुई नदी की लहरो पर कम्पायमान प्रतीत होता है। 'माया' प्रभाव के द्वारा 'जीव' अपना 'प्रकृति' से तादात्म्य स्थापित कर लेता है और 'प्रकृति' के गुणो को अपने गुण समझता है।[2]

अपने भक्तों के साथ भगवान का संबंध

इसी साहश्य के आधार पर परमेश्वर के अवतारो की भी व्याख्या की जानी चाहिए। जगत् की स्थिति के लिए परमेश्वर का 'अवतार' लेना अथवा किसी प्रकार का प्रयास करना आवश्यक नही है, क्योकि वह सर्वव्यापी शक्तिमान है, 'पुराणो' मे वर्णित परमेश्वर के सकल अवतार 'भक्तो' को सतुष्ट करने के उद्देश्य से दिए गए हैं। वे उसके 'भक्तो' की सहानुभूति के लिए परमेश्वर की स्वरूप शक्ति की अभिव्यक्ति से आविष्कृत किए जाते हैं (स्वरूपा-शक्त्याविष्करण)। इससे स्वभावत यह लक्षित होता है कि परमेश्वर अपने भक्तो के दु ख एव पीडा से प्रभावित होता है, तथा वह उनके सुख से प्रसन्न होता है। परमेश्वर की स्वरूप शक्ति की सारभूत प्रक्रिया को 'ह्लादिनी' कहा जाता है, और इस 'ह्लादिनी' की सारभूत 'भक्ति' होती है, जो विशुद्ध आनन्द-स्वरूप होती है। 'भक्ति' भगवान एव भक्त दोनो मे एक द्विविध सबध मे स्थित रहती है।[3] भगवान आत्म-सिद्ध है, क्योकि 'भक्ति' का अस्तित्व भक्त मे होता

---

[1] षट्-सदर्भ, पृ० २७०।

[2] यथा जले प्रतिबिम्बितस्यैव चन्द्रमसो जलोपाधिकृत कम्पादि-गुणो धर्मो दृश्यते न त्वाकाश स्थितस्य तद्वदनात्मन प्रकृति-रूपोपाधेर्धर्म आत्मन शुद्धस्या सन्नपि अहमेव सोऽयमित्यावेशात् मायया उपाधि—तादात्म्यापन्नाहकाराभासस्य प्रतिबिम्ब-स्थानीयस्य तस्य द्रष्टुराध्यात्मिकावस्थस्यैव यद्यपि स्यात् शुद्ध असौ तदभेदाभिभावेन त पश्यति।
—वही, पृ० २७२।

[3] परम सार भूताया अपि स्वरूप-शक्ते सार भूता ह्लादिनी नाम या वृत्तिस्तस्यैव सार-भूतो वृत्ति विशेषो भक्ति सा च रत्यपर-पर्याया। भक्तिर्भगवति भक्तेषु निक्षिप्तं—निजोभय कोटि सर्वदा तिष्ठति। —वही, पृ० २७४।

इसलिए परमेश्वर के लिए जगत् की रक्षा अथवा स्थिति के हेतु अवतार की अवस्थाओ से गमन करना आवश्यक नही है, किन्तु फिर भी वह परमेश्वर को की गई प्रार्थनाओ की सतुष्टि के लिए ऐसा करता है। परमेश्वर के सकल अवतार भक्तो की कामनाओ की पूर्ति के लिए होते है। अपने भक्तो की कामनाओ की पूर्ति मे परमेश्वर के व्यवहार की अगाधता परमेश्वर की स्वरूप-शक्ति के तर्कातीत रूप की अगाधता मे निहित होती है। यद्यपि परमेश्वर के समस्त कार्य पूर्णत स्वतत्र एव स्व-निर्धारित होते है तथापि वे किसी न किसी प्रकार से मनुष्य के शुभाशुभ कर्मों के अनुकूल होते है। जब परमेश्वर अपने भक्तो से द्वेष रखने वालो को दण्ड देता है, तब भी उक्त दण्ड उसमे द्वेष के उदय के कारण नही दिया जाता है, प्रत्युत उसकी 'ह्लादिनी-वृत्ति' के रूप मे क्रियाशील उसके आनद स्वरूप के कारण दिया जाता है।[1] किंतु 'षट्-सदर्भ' का लेखक इस तथ्य की व्याख्या करने मे असमर्थ है कि निष्पक्ष एव वासना-रहित परमेश्वर अपने भक्तो के लिए राक्षसो का विनाश क्यो करता है और वह स्पष्टत यह स्वीकार करता है कि परमेश्वर की महानता का अवर्णनीय स्वरूप तब दृष्टिगोचर होता है जब सबके प्रति पूर्ण निष्पक्ष होने पर भी वह कुछ के प्रति पक्षपात करता है। यद्यपि वह 'माया' के प्रभाव से अतीत होते हुए भी अपने भक्तो पर दया करने के लिए वह स्वय को 'माया' के रूप मे प्रकट करता हुआ तथा उसके प्रभाव से अविष्ट होता है। परमेश्वर के अनुभवातीत 'सत्व' गुण की अवस्था से 'प्रकृति' के साधारण 'गुणो' को उसके द्वारा अगीकार करने की अवस्था तक सक्रमण तर्कातीत होता है तथा उसकी व्याख्या नही की जा सकती। किन्तु 'षट्-सदर्भ' का लेखक सदा इन तथ्यो पर बल देने का प्रयास करता है कि परमेश्वर एक ओर तो अपने भक्तो के हितो की पूर्ति के अपने उद्देश्य से प्रेरित होता है, तथा दूसरी ओर उसकी सर्वक्रियाए पूर्णत आत्म-निर्धारण एव अन्य व्यक्तियो के हितो से प्रेरित होने मे असगति होती है। वह आगे कहता है कि यद्यपि साधारणतया यह प्रतीत हो सकता है कि परमेश्वर सासारिक घटना-चक्र मे अथवा अपने भक्तो के जीवन मे कुछ निर्णायक अवसरो पर क्रिया मे प्रवृत्त होता है, तथापि चू कि जगत् की उक्त घटनाए 'माया' के रूप मे उसकी निजी शक्ति की अभिव्यक्ति के कारण भी घटित होती हैं, इसलिए जगत् की घटनाओ और उसके निजी प्रयत्नो मे जो समानान्तरवाद दृष्टिगोचर होता है उससे यह मत असत्य नही हो जाता कि पश्चादुक्त आत्म निर्धारित होते है। इस प्रकार उसके निजी प्रयत्न स्वभावत 'भक्ति' की प्रेरणा के कारण स्वय उसके द्वारा उत्तेजित किए जाते

---

[1] अथ यदि केचित् भक्तानामेव द्विषन्ति तदा तदा भक्त-पक्ष पातान्त-पातित्वाद भगवता स्वय तद्द्वेषे अपि न दोष प्रत्युत भक्त-विषयक-नद् न्ते पोषकत्वेन् ह्लादिनी-वृत्ति-भूतानन्दोल्लास विशेष एवासौ।

—'षट्-सदर्भ,' पृ० २७८।

हैं, जिसमे परमेश्वर की स्वरूप-शक्ति की स्वय परमेश्वर मे स्थिति के रूप मे द्विविध अभिव्यक्ति होती है। यह पहले कहा जा चुका है कि 'भक्ति' परमेश्वर की स्वरूप-शक्ति की सारभूत तत्त्व होती है जिसके सघटक तत्त्व भक्त और भगवान होते है। इस प्रकार सासारिक घटनाओ के द्वारा परमेश्वर की शक्तियो की प्रेरणा अथवा उत्तेजना केवल एक आभास-मात्र (प्रवृत्याभास) होती है जो परमेश्वर की आत्म-निर्धारित क्रिया के अनुकूल घटित होनी है। आगे यह कहा जाता है कि जगत् की सृष्टि करने मे परमेश्वर की क्रिया भी अपने भक्तो को सतुष्ट करने मे उसकी रुचि से प्रेरित होती है। काल उसकी क्रिया को अभिनिश्चित करने वाला लक्षण होता है, और जब काल की गति के माध्यम से परमेश्वर सृष्टि मे स्वय को प्रवृत्त करने का निश्चय करता है, तब भक्तो के प्रति दया के कारण 'प्रकृति' मे विलीन अपने भक्तो की सृष्टि करने की इच्छा करता है। किन्तु उनकी सृष्टि करने के लिए उसे 'प्रकृति' की साम्यावस्था को विक्षुब्ध करना पडता है, और इस उद्देश्य से विचार के रूप मे उसकी स्वत स्फूर्त क्रिया (जीव-माया के रूप मे) उसकी शक्ति को उसकी 'स्वरूप-शक्ति' से पृथक् कर देती है, इस प्रकार पूर्वोक्त की साम्यावस्था विक्षुब्ध हो जाती है, और 'रजस्' प्रबल हो जाता है। ऐसा कहा जा सकता है कि यह विक्षोभ एक आभासी ढग से उद्दीप्त होता है (तच्छ्लेषतात्मकप्रभावेनैवोद्दीप्त) अथवा 'काल' की शक्ति से उत्पन्न होता है।[1] जब परमेश्वर अपनी नानात्मक सृष्टि मे स्वानन्द लेने की इच्छा करता है, तब वह 'सत्व' को उत्पन्न करता है, और जब वह अपनी सम्पूर्ण सृष्टि के साथ सुप्त होने की इच्छा करता है, तब वह 'तमस्' की सृष्टि करता है। इस प्रकार परमेश्वर के सकल सृजनात्मक कार्य उसके भक्तो के लिए आरम्भ किए जाते हैं। परमेश्वर के निद्रामग्न होने की अवस्था अंतिम प्रलय की स्थिति होती है। पुन, यद्यपि परमेश्वर सब मे 'अन्तर्यामिन्' के रूप में अस्तित्व रखता है, तथापि वह उस रूप मे दृष्टिगोचर नही होता, अपितु वह केवल भक्त के लिए ही वस्तुत अपने यथार्थ 'अन्तर्यामिन्' स्वरूप मे प्रकट होता है।

'षट्-सदर्भ' का लेखक पचरात्रो के चार 'व्यूहों' के सिद्धात के विपरीत तीन 'व्यूहो' के सिद्धात के पक्ष मे है। इसलिए वह एक, दो, तीन और चार व्यूहो की विभिन्न परम्पराओ के लिए 'महाभारत' का उल्लेख करता है, और कहता है कि इस असगति की व्याख्या एक अथवा अधिक 'व्यूहो' के अन्य 'व्यूहो' मे समावेश के द्वारा की जा सकती है। 'भागवत-पुराण' को भी यह सज्ञा इसी तथ्य के कारण दी गई है कि वह 'भगवान्' को प्रमुख 'व्यूह' के रूप मे स्वीकार करता है।[2] इस ब्रह्मन् के

[1] वही, पृ० २८३।
[2] वही।

सबध मे 'जिज्ञासा' की रामानुज द्वारा ध्यान के रूप मे व्याख्या की गई है, परन्तु 'षट्-सदर्भ' के अनुसार यह 'ध्यान' एक निश्चित रूप मे भगवान की उपासना के अतिरिक्त कुछ भी नही है, क्योकि किसी भी 'ध्यान' (अथवा परमेश्वर की उपासना) मे लीन होना तबतक सरल नही होता जबतक कि उसे ऐसे रूप से सबधित न कर लिया जाय जिस पर व्यक्ति अपने मन को स्थिर कर सके। ब्रह्मन् का अपरिवर्तन-शील सत्य के रूप मे वर्णन किया जाता है, और चू कि केवल दु ख परिवर्तनशील होता है इसलिए उसको पूर्णत आनन्दमय मानना चाहिए। ब्रह्मन् को 'सत्यम्' भी माना जाता है क्योकि वह आत्म-निर्धारक होता है, और उसका अस्तित्व किसी अन्य सत्ता के अस्तित्व अथवा इच्छा पर निर्भर नही करता। वह स्व-प्रकाशत्व के रूप मे अपनी शक्ति द्वारा 'माया' के रूप मे अपनी अन्य शक्ति पर आधिपत्य रखता है, और स्वय मे उससे अस्पर्श्य रहता है। इससे यह प्रकट होता है कि यद्यपि 'माया' उसकी एक शक्ति है तथापि स्वरूपत वह 'माया' से अतीत होता है। 'माया' से उद्भूत यथार्थ सृष्टि अग्नि, जल और पृथ्वी तत्त्वो से निर्मित होती है जो एक दूसरे के अशो मे हिस्सा बटाते हैं। शकरवादी कहते हैं कि जगत् एक यथार्थ सृष्टि नही है, किन्तु शुक्ति मे रजत के सदृश एक मिथ्या अध्यारोपण होता है, किन्तु ऐसा भ्रम केवल समानता के कारण ही हो सकता है, और, यदि उसके द्वारा शुक्ति रजत के रूप मे सकल्पित की जा सकती है, तो यह भी सम्भव है कि रजत भी शुक्ति के रूप मे कुसकल्पित की जा सकती है। यह सत्य नही है कि भ्रम का 'अधिष्ठान' एक होना चाहिए और भ्रम का अनेकत्व होना चाहिए, क्योकि अनेक वस्तुओ के सघात मे एक वस्तु का भ्रम होना सम्भव है, अनेक वृक्षा, पर्वतो और काहरो की सस्थिति से एक घन-खण्ड का सयुक्त प्रभाव उत्पन्न हो सकता है। विषयो के जगत् का सदा प्रत्यक्ष किया जाता है, जबकि ब्रह्मन् का स्व-प्रकाशत्व के रूप मे प्रत्यक्ष किया जाता है, और ब्रह्मन् को भी यदि मिथ्या मानना सम्भव है तो उसका यह तात्पर्य हो जायगा कि ब्रह्मन् को जगत् का अधिष्ठान नही माना जा सकता। इसलिए जगत् को यथार्थ मानना चाहिए। यह अद्वैतवादी मत असत्य है कि ब्रह्मन् पूर्णत निर्विशेष है, क्योकि ब्रह्मन् का नाम ही स्वय यह प्रदर्शित करता है कि वह सर्वाधिक महान् है। जगत् भी न केवल उसमे से उद्भूत हुआ है, बल्कि उसमे स्थित रहता है और अन्तत उसमे ही विलीन हो जायगा। इसके अतिरिक्त, कार्य की कारण से कुछ समानता होनी चाहिए तथा दृश्य एव स्पर्श-योग्य जगत् जिसका परमेश्वर कारण है, स्वभावत यह सकेत करता है कि कारण स्वय गुण-रहित नही हो सकता।[1] इस मान्यता के आधार पर भी कि ब्रह्मन् की इस रूप मे परिभाषा दी जानी चाहिए कि वह ऐसी सत्ता है

[1] साध्य-धर्माव्यभिचारि-साधन-धर्मान्वित-वस्तुविषयत्वान्न तावप्रमाण।
—'षट् सदर्भ,' पृ० २७।

जिससे जगदाभास उत्पन्न हुआ है, वह ब्रह्म [illegible] विशेषात्मक गुण है, और यदि ब्रह्म को स्व-प्रकाश भी माना जाय तो स्वप्रकाशत्व स्वयं एक ऐसा गुण है जो ब्रह्म का अन्य वस्तुओं से भेद प्रदर्शित करता है। यदि स्वप्रकाशत्व एक विशेषात्मक गुण है, और यदि ब्रह्म को इससे युक्त माना जाय तो उसे निर्विशेष नहीं माना जा सकता।[1]

भक्ति का स्वरूप

'षट् सन्दर्भ' का लेखक 'कृष्ण-सन्दर्भ' में लिखता है इस तत्त्वदर्शी प्रिय विषय का विवेचन करता है कि भगवान राम सम्पूर्ण ऐश्वर्य की अभिव्यक्ति है। उक्त विवेचन का यहाँ विस्तारपूर्वक वर्णन करना उचित नहीं है, अतएव उसे छोड़ देना चाहिए।

'भक्ति सन्दर्भ' मे 'षट्-सन्दर्भ' का लेखक 'भक्ति' के स्वरूप का निरूपण करता है। यह कहता है कि, यद्यपि 'जीव' परमेश्वर की शक्ति के अंश होते हैं, तथापि परम तत्त्व के सत्य ज्ञान के अनादि अभाव के कारण उनका चित्त उससे विमुख हो जाता है, तथापि परम तत्त्व के सत्य ज्ञान के अनादि अभाव के कारण उनका चित्त उससे विमुख हो जाता है, और इस दुर्बलता के कारण उनका आत्म ज्ञान 'माया' से आच्छादित हो जाता है, वे 'प्रधान' ('सत्व', 'रजस्' और 'तमस्') को स्वयं से एक-रूप समझने के अभ्यासी हो जाते हैं, और फलत जन्म एव पुनर्जन्म के चक्रो से सबधित दु खो से पीडित होते हैं। किन्तु जिन 'जीवो' ने अपनी धर्म-साधना द्वारा पूर्वजन्म से परमेश्वर के प्रति झुकाव पैतृक सम्पत्ति के रूप मे प्राप्त किया है, अथवा परमेश्वर की विशेष दया से जिनके ज्ञान चक्षु खुल गए हैं, वे स्वभावत परमेश्वर की ओर प्रवृत्त होते है और जब भी वे धार्मिक उपदेश का श्रवण करते हैं तभी उसके स्वरूप की अपरोक्षानुभूति करते है। परमेश्वर की उपासना के द्वारा ही परमेश्वर की अपरोक्षानुभूति का उदय होता है, जिससे सकल दु खो का नाश हो जाता है। उपनिषदो मे यह कहा गया है कि एक व्यक्ति को ब्रह्म के एकत्व का प्रतिपादन करने वाले उपनिषद् पाठो का श्रवण करना चाहिए तथा उन पर ध्यान करना चाहिए।

[1] जगज्जन्मादि भ्रमो यतस्तद् ब्रह्मेति स्वोत्प्रेक्षा पक्षे च न निर्विशेष वस्तु-सिद्धि भ्रम-मूलमज्ञान साक्षि ब्रह्मेति उपगमात्। साक्षित्वं हि प्रकाशैकरसतया उच्यते। प्रकाशत्व तु जडाद्व्यावर्तकं स्वस्य परस्य च व्यवहार-योग्यतापादन-स्वभावेन भवति। तथा सति सविशेषत्व तदभावे प्रकाशतैव न स्यात्तुच्छतैव स्यात्।

—वही, पृ० २६१।

मे अथवा उनसे पृथक् उसके त्रिविध रूप मे अथवा उसके किसी एक रूप मे कर सकता है। एक व्यक्ति मे शुभ कर्मो का प्रभाव स्वर्ग की प्राप्ति नही होता, वरन् 'भक्ति' की उत्पत्ति के द्वारा परमेश्वर की सतुष्टि मे सफलता की प्राप्ति होता है। उपनिषदो के 'निदिध्यासन' का अर्थ भगवान् के नाम एव विभूति के कीर्त्तन द्वारा उसकी 'उपासना' करना होता है, जब कोई व्यक्ति परमेश्वर के प्रति पूर्ण आसक्ति से उसकी उपासना करता है, तब उसके 'कर्म' के सकल बधन टूट जाते हैं। किन्तु अपने मन मे परमेश्वर की ओर उन्मुख होने की स्वाभाविक प्रवृत्ति को उत्पन्न करना तथा उसके नाम एव विभूतियो के कीर्त्तन मे परम सतोष की प्राप्ति करना वस्तुत कठिन होता है। सच्चे भक्तो के साहचर्य से एक व्यक्ति का मन क्रमश परमेश्वरोन्मुख होता है, तथा 'भागवत-पुराण' जैसे धार्मिक साहित्य के अध्ययन से यह प्रवृत्ति अधिक प्रबल बनती है। इसके फलस्वरूप मन 'रजस्' एव 'तमस्' (इच्छाओ एव दु खो) से मुक्त हो जाता है, और परमेश्वर के प्रति आसक्ति मे अधिक विस्तार होने पर परमेश्वर के स्वरूप एव उसके साक्षात्कार का ज्ञान उदित होता है, फलत अहकार नष्ट होता है, सकल सशय विलीन होते है, तथा 'कर्म' का सर्व बधन नष्ट होता है। भगवन्नाम के कीर्त्तन और उसके स्वरूप का वर्णन करने वाले धार्मिक पाठो के श्रवण द्वारा एक व्यक्ति परमेश्वर के स्वरूप के सबध मे अपने वस्तुगत अज्ञान का निवारण करता है, गहन चिन्तन एव ध्यान से वह परमेश्वर सबधी अपने मिथ्या विचारो के विनाश द्वारा अपने आत्मगत अज्ञान का निवारण करता है तथा परमेश्वर के साक्षात्कार एव प्रत्यक्ष दर्शन से परमेश्वर के स्वरूप के अवबोध मे बाधक व्यक्तिगत अपूर्णता को नष्ट करता है। 'भक्ति' का अनुष्ठान कर्म के अनुष्ठान से इस बात मे भिन्न है कि पूर्वोक्त साधन-काल और साध्य-काल दोनो मे सुखदायी होता है, पश्चादुक्त नही होता।[1] इस प्रकार एक व्यक्ति को नित्य अथवा अन्य कर्मो के अनुष्ठान अथवा ज्ञान या वैराग्य के अनुष्ठान को सर्व प्रयत्न त्याग देना चाहिए।[2] 'भक्ति' के बिना ये सब निष्फल रहते हैं, क्योकि जबतक कर्म भगवान को समर्पित नही किए जाते, वे एक व्यक्ति को 'कर्म' के बधन से अवश्य ही पीडित करते हैं, तथा 'भक्ति' के बिना कोरा ज्ञान बाह्य होता है और वह न तो साक्षात्कार उत्पन्न कर सकता है और न आनन्द, इस प्रकार न तो 'नित्य' कर्म करने चाहिए और न नैमित्तिक कर्म, प्रत्युत केवल भक्ति का अनुष्ठान करना चाहिए। यदि 'भक्ति' की चरम सफलता प्राप्त कर ली जाती है तो फिर कहना ही क्या है, किन्तु, यदि भक्ति का अनुष्ठान वर्तमान जीवन मे सफलतापूर्वक न किया जा सके तो भी भक्त के भाग्य मे कोई दण्ड नही होता, क्योकि भक्ति-रसिक को ज्ञान अथवा कर्म के अनुष्ठान

[1] कर्मानुष्ठानवन्न साधन-काले साध्य-काले वा भक्त्यानुष्ठान दु ख-रूप प्रत्युत सुख-रूपमेव। —वही, पृ० ४५७।

[2] वही, पृ० ४५७।

का कोई अधिकार नहीं होता (भक्तिरसिकस्य कर्मानाधिकारात्)।[1] परमेश्वर सर्व मानवों की चेतन प्रक्रियाओ मे अपनी प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति करता है, और वह सर्वांतरात्मा है[2] और केवल उसी की उपासना की जानी चाहिए। चूंकि 'भक्ति' स्वरूपत. मुक्ति से एकरूप होती है, इसलिए हमारा चरम लक्ष्य 'भक्ति' है (भक्तिरेवाभिधेय वस्तु)। जो मनुष्य भक्ति-मार्ग मे है उन्हे आत्म-चिन्तन के हेतु दुःखमय प्रयास करने की कोई आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि स्वय भक्ति भक्तिमय भावावेश के सम्बल से एक सहज व सरल ढग से आत्म-चिन्तन उत्पन्न कर देगी। 'भक्ति' का स्थान इतना उच्च है कि वे व्यक्ति जो सतत्व अथवा 'जीवनमुक्ति' की अवस्था को प्राप्त कर चुके हैं, तथा जिनके पाप भस्म हो चुके हैं, यदि भगवान के प्रति अनादर करते हैं तो उनका भी भगवान की इच्छा से पतन हो सकता है और उनके पापो का पुनर्विकास हो सकता है।[3] जब 'भक्ति' के द्वारा 'कर्म' के बंधन का नाश हो जाता है, तब भी 'भक्ति' के उच्चतर विकास की गुंजायश रहती है जिसके द्वारा व्यक्ति अपने स्वरूप के और भी अधिक पवित्र रूप की प्राप्ति करता है। इस प्रकार 'भक्ति' शाश्वत अपरोक्षानुभूतियो की अवस्था है जो बंधन की अशुद्धताओ की पूर्ण निवृत्ति के पश्चात् भी विद्यमान रहती है। परमेश्वर सर्व वस्तुओ का परम प्रदाता है, उसकी इच्छा से निकृष्टतम मनुष्य भी देवता मे रूपान्तरित हो सकते हैं, और देवता भी निकृष्टतम मानवो मे रूपान्तरित हो सकते हैं। 'भक्ति' का अस्तित्व सकल अशुभो का सर्व-निवारक माना जाता है, इस प्रकार 'भक्ति' न केवल सर्व प्रकार के दोषो को दूर करती है, अपितु उसकी शक्ति से 'प्रारब्ध-कर्म' भी नष्ट हो जाते हैं।[4] अत एक सच्चा 'भक्त' न सामान्य मुक्ति की कामना करता है न किसी अन्य वस्तु की वरन् केवल भक्ति-मार्ग का अनुसरण करने के लिए चिंतित रहता है।

एक भक्त के लिए भगवान के समान अन्य कोई वस्तु वाञ्छनीय नही होती। भगवान की यह भक्ति पूर्णत. 'निर्गुण' हो सकती है। भगवान का यथार्थ ज्ञान 'निर्गुण' हो सकता है। भगवान का यथार्थ ज्ञान 'निर्गुण' का ज्ञान होना चाहिए, अतएव उसकी यथार्थ भक्ति भी 'निर्गुण' होनी चाहिए, क्योकि, 'भक्ति' चाहे किसी

---

[1] वही, पृ० ४६०।

[2] सर्वेषां धी-वृत्तिभि अनुभूत सर्वं येन स एकैव सर्वान्तरात्मा।

—वही, पृ० ६०।

[3] जीवन्मुक्ता अपि पुनर्बन्धन यान्ति कर्मभि यद्यचिन्त्य—महा—शक्तौ भगवत्य—पराधिन।

—'षट्-सन्दर्भ,' पृ० ५०५।

[4] वही, पृ० ५१६।

भी रूप में अपनी अभिव्यक्ति करे उसका परमार्थ सदैव निर्गुण ईश्वर होता है। 'निर्गुण' शब्द का अर्थ यह है कि वह समस्त 'गुणों' से अतीत होता है। पहले यह व्याख्या की जा चुकी है कि 'भक्ति' परमेश्वर की स्वरूप शक्ति की अभिव्यक्ति के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, अतएव उसका स्वरूप सदा केवल परमेश्वर ही होता है, और इसलिए उसे 'गुणों' से अतीत मानना चाहिए, किन्तु अपनी अभिव्यक्ति में 'भक्ति' गुणों के अनुगत एवं गुणों से रंजित होकर रूपों में सगुण प्रतीत हो सकती है। भगवान् का ज्ञान भी द्विविध रूप में घटित होता हुआ माना जा सकता है, तथाकथित ब्रह्मवादियों के उदाहरण में आत्मा एवं परमात्मा के तादात्म्य रूप में, और भक्तों के उदाहरण में एक प्रकार के द्वैत रूप में। इस प्रकार से, यद्यपि 'भक्ति' ज्ञान और कर्म में निहित होती है, तथापि उसे 'निर्गुण' मानना चाहिए, क्योंकि, वह सभी 'गुणों' से अतीत केवल परमेश्वर का उल्लेख करती है। इस प्रकार स्पष्टतः 'भक्ति' एक अनुभवातीत प्रक्रिया है। यह निःसन्देह सत्य है कि कभी-कभी उसका 'सगुण' के रूप में वर्णन किया जाता है, किन्तु उन सभी उदाहरणों में भक्ति का ऐसा वर्णन केवल अन्तःकरण के नैतिक, क्रियात्मक अथवा भावनात्मक गुणों के साहचर्य के कारण ही हो सकता है।[1] वस्तुतः 'भक्ति' का अर्थ 'भगवान के साथ निवास करना' होता है, चूंकि भगवान् स्वयं गुणातीत है, इसलिए भगवान के साथ अथवा भगवान के अन्तर्गत निवास करने का अर्थ अनिवार्यतः एक गुणातीत अवस्था होनी चाहिए। किन्तु, अन्य विद्वान् उपासनात्मक कर्म के रूप में एवं ईश्वर प्राप्तिमय ज्ञान के रूप में 'भक्ति' का विभेद करते है, तथा उनके अनुसार केवल पश्चादुक्त को ही गुणातीत (निर्गुण) माना जाता है। परन्तु, यद्यपि वास्तविक उपासना का कार्य 'गुणों' में एवं गुणों के द्वारा अभिव्यक्त होता है, तथापि उसको निर्धारित करने वाला आध्यात्मिक कर्म जडात्मक प्रभावों से अतीत माना जाना चाहिए।[2]

यहाँ यह प्रश्न स्वभावतः उठ सकता है कि यदि परमेश्वर सदा आनन्द-स्वरूप होता है तो भक्त के लिए उसको अपनी भक्ति के द्वारा संतुष्ट करना कैसे सम्भव है? यह पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है, तथा आगे और कहा जा सकता है कि 'भक्ति' परमेश्वर के निजी आनन्दमय स्वरूप की आत्म-सिद्धि का एक प्रकार है, उसकी प्रक्रिया की विधि ऐसी है कि यहाँ भगवान की 'ह्लादिनी' शक्ति भक्त को अपने संघटक तत्त्व के रूप में अपने अन्तर्गत लेकर क्रियान्वित होती है, तथा उसका स्वरूप ऐसा है कि वह न

[1] यत् तु श्री कपिल देवेन भक्तेरपि निर्गुण सगुणावस्था कथितास्तत् पुनः पुरुषान्तःकरण गुणा एव तस्यामुपचर्यन्ते इति स्थितम्। —वही, पृ० ५२०।

[2] वही, पृ० ५२२।

होता है[1] परन्तु यदि कोई व्यक्ति काल मे भगवन्नाम का सकीर्तन करता है, तो केवल एक ही सकीर्तन सर्व पापो के निवारण एव भगवान के अनन्य माहत्म्य के लिए यथेष्ट होता है।[2]

'श्रद्धा' के अभाव मे एक व्यक्ति के लिए ज्ञान अथवा कर्म मार्ग का अनुसरण करना सम्भव नही होता, पर फिर भी जो व्यक्ति 'भक्ति-मार्ग' का अनुसरण करना चाहते है उनके लिए तो 'श्रद्धा' एक अपरिहार्य अवस्था होती है। जब एक बार धार्मिक 'भक्ति' का उदय हो जाता है, तब भक्त को ज्ञान एव कर्म-मार्ग का परित्याग कर देना चाहिए। अपनी सफलता के लिए 'भक्ति' किसी कर्मकाण्डीय प्रक्रिया की अपेक्षा नही रखती। जिस प्रकार अग्नि स्वभावत घास को स्वत जला देती है, उसी प्रकार भगवन्नाम एव भगवान की विभूतियो का सकीर्तन स्वत किसी भी मध्यस्थ प्रक्रिया के बिना अविलम्ब सभी पापो का नाश कर देता है। श्रद्धा स्वरूपत 'भक्ति' का एक अश नही होती, बल्कि वह एक ऐसी पूर्व-अवस्था है जो 'भक्ति'[3] के उदय को सम्भव बनाती है। 'भक्ति-मार्ग' का अनुसरण करते समय एक व्यक्ति को ज्ञान अथवा कर्म-मार्ग का अनुसरण करने का प्रयास नही करना चाहिए, ऐसा अभ्यास भक्ति की वृद्धि मे प्रबल बाधक सिद्ध होगा।

यदि 'भक्ति' से ईश्वर-सान्निध्य उत्पन्न होता है, तो चूंकि ईश्वर की तीन शक्तियाँ—ब्रह्मन्, परमात्मन् और भगवान् होती है, इसलिए तीन प्रकार का सान्निध्य प्राप्त करना सम्भव है, इनमे से तृतीय द्वितीय से श्रेष्ठ होता है और द्वितीय प्रथम से। रूप से सम्पन्न ईश्वर-साक्षात्कार रूप से रहित साक्षात्कार से श्रेष्ठ होता है। सच्चा भक्त तथाकथित शक्ति एव ऐश्वर्य के उच्चतर पद की तुलना मे ईश्वर की दासता के पद को अधिक मान्यता देता है,[4] इसलिए वह किन्ही अन्य तथाकथित लाभदायक फलो से असबधित शुद्ध भक्ति की कामना करता है। ऐसे भक्त, जो केवल भगवान और भगवान मात्र ही की कामना करते है, 'एकान्तिन' कहलाते है, जो अन्य प्रकार के सभी

---

[1] वही, पृ० ५३६।

[2] वही।

[3] 'भक्ति' के निम्नलिखित नौ लक्षण बतलाए जाते हैं

श्रवण कीर्तन विष्णो स्मरण पाद-सेवन अर्च्चन वन्दन दास्य सख्यमात्म-निवेदनम्।
—वही, पृ० ५४१।

किन्तु यह आवश्यक नही है कि 'भक्ति' का इन सर्व नवधा रूपो मे अनुसरण किया जाय।

[4] को मूढो दासता प्राप्य प्राभव पदमिच्छति। —वही, पृ० ५५१।

भक्तो मे श्रेष्ठ होते है, इस प्रकार की भक्ति को 'अकिंचन-भक्ति' कहा जाता है। यह तर्क किया जा सकता है कि जब सभी व्यक्ति ईश्वर के अश हैं, और अशी के अशो के रूप मे वे उसके प्रति स्वभावत आसक्त होते है, इसलिए उन सबके लिए 'अकिंचन-भक्ति' स्वाभाविक होनी चाहिए, किन्तु, इसका उत्तर यह है कि जहाँ तक ईश्वर की 'स्वरूप शक्ति' का सबध है मानव उसका अश नही होता, वरन् जहाँ तक 'वह' अपनी 'तटस्थ-शक्ति' सहित अपनी विविध शक्तियो मे सम्पन्न होता है, वही उसका अश होता है। मानव ईश्वर का अश इस अर्थ मे है कि वाह्य एव आतरिक दोनो दृष्टि मे वह ईश्वर के अपरोक्ष सबध मे होता है, किन्तु फिर भी उसमे अपनी मूल व सामान्य प्रवृत्तियाँ, रुचि तथा स्वभाव आदि होते हैं, जो उसे ईश्वर से पृथक् करते हैं। इस कारण से, यद्यपि मानव ईश्वर के जीवन मे भाग लेता है और उसका भी वही जीवन होता है, तथापि स्वय अपने विचारो व प्रवृत्तियो के कोष मे आवृत्त रहने के कारण वह ईश्वर-प्रसाद के अतिरिक्त ईश्वर-भक्ति रूपी अपने जन्म-सिद्ध अधिकार मे आसक्त नही हो सकता।[1] जब एक व्यक्ति कुटिलता आदि के सदृश महावाधक पापो के प्रभाव मे नहीं होता है, तब अन्य भक्तो के साथ उसका समागम ईश्वर को अपना अनुग्रह प्रदान करने के लिए अवसर देता है और उसके मन मे भक्ति जाग्रत होती है। यह नही कहा जा सकता कि सभी प्राणियो को अनिवार्यत मोक्ष की प्राप्ति होनी चाहिए, जीवात्माओ की सख्या अनत होती है, तथा केवल उन्ही को मोक्ष प्राप्त होगा जो उसके अनुग्रह को जाग्रत कर पाते अनादि काल से मानव ईश्वर के प्रति अज्ञ है और उससे विमुख है, तथा यह स्वाभाविक बाधा सच्चे भक्तो के साहचर्य (सत्सग) से ही दूर की जा सकती है, ईश्वर मानवो मे ऐसे उत्तम भक्तो के अनुग्रह से अवतरित होता है जो किसी न किसी काल मे अन्य साधारण व्यक्तियो की भाँति पीडित रह चुके हैं, अतएव उनके प्रति स्वभावत सहानुभूति रखते हैं।[2] ईश्वर स्वय उनके प्रति सहानुभूति नही रख सकता, क्योकि सहानुभूति मे पीडा की पूर्व-कल्पना निहित होती है, ईश्वर विशुद्ध आनन्द-स्वरूप होता है, अत उसे साधारण प्राणियो के दुःख का अनुभव नही हो सकता।

सर्वोत्तम भक्त वह है जो सर्व भूतो मे भगवान को देखता है तथा सर्व भूतो को अपनी आत्मा एव उसमे अभिव्यक्त भगवान के अतर्गत देखता है।[3] द्वितीय प्रकार का भक्त (मध्यम) वह है जो भगवान के प्रति प्रेम, उसके भक्तो के प्रति मैत्री, अज्ञानियो

---

[1] वही, पृ० ५५३।

[2] षट्-सन्दर्भ, पृ० ५५७।

[3] सर्व-भूतेषु य पश्येद् भगवद्-भावमात्मन ।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तम । —वही, पृ० ५६१।

के प्रति कृपा और अपने शत्रुओं के प्रति उपेक्षा रखता है।[1] 'प्राकृत' भक्त वह श्रद्धा-भक्ति सहित भगवान की मूर्त्ति की पूजा करता है, किन्तु उसके भक्तों अन्य व्यक्तियों के प्रति कोई विशेष भाव नहीं रखता।[2] सर्वोत्तम भक्त के अन्य विवरण भी है, जैसे 'गीता' मे कहा गया है कि वह जिसका चित्त शुद्ध एवं वा॰ व कर्म से अनाक्रांत रहता है, और जिसका मन सदा वासुदेव मे अनुरक्त रह सर्वोत्तम भक्त माना जाना चाहिए,[3] आगे कहा गया है कि सर्वोत्तम भक्त वह 'स्व' एव 'पर' अथवा अपनी एव पराई वस्तुओं मे कोई भेद नहीं करता, तथा न का सुहृद और आत्मा मे पूर्ण शान्त होता है,[4] और आगे, सर्वोत्तम भक्त वह है जि चित्त अपरोक्ष रूप से ईश्वर के अधीन होता है तथा जो प्रेम वचन के द्वारा भगवा चरण-कमलों को धारण करता है।[5]

एक अन्य दृष्टिकोण से 'भक्ति' की 'सेवा' के रूप मे अथवा सभी वस्तुओं प्राप्ति के साधन के रूप मे परिभाषा दी गई है, पूर्वोक्त को 'स्वरूप-लक्षण' त पश्चादुक्त को 'तटस्थ लक्षण' कहा जाता है तथा भक्ति त्रिविध स्वरूप की मानी ग है—केवल वाह्य भक्ति (आरोप-सिद्धि), अन्य भक्तों के साहचर्य से उत्पन्न भक्ति (सग-सिद्ध) तथा भगवान के प्रति सहज प्रेम-भाव से उत्पन्न भक्ति (स्वरूप-सिद्ध) प्रथम दो उदाहरणों मे 'भक्ति' कल्पित (कितव) कही जाती है, और अन्तिम उदाहरण मे यथार्थ (अकितव) कही जाती है।[6] भक्ति-मार्ग मे सर्वाधिक प्रत्यक्ष क्रिया भगवान के नाम एव विभूतियों का श्रवण और कीर्तन है, किन्तु उससे अप्रत्यक्ष रूप से सबधित सभी कर्मों का भगवान के प्रति समर्पण भी होता है। ऐसा करने मे भक्त अपने दुष्कृत्यों का भी समावेश करता है, वह न केवल अपने धार्मिक कर्तव्यों के फलों व जीवन के सामान्य कर्तव्यों को समर्पित ही करता है, वरन् उन कर्मों को भी समर्पित करता है जो कि वासनाओं से प्रेरित होते हैं। वह भगवान के समक्ष अपने स्वभाव

---

१ ईश्वर तदधीनेषु बालिशेषु द्विषत्स्वपि प्रेम-मैत्री—कृपोपेक्षा य करोति स मध्यम।
—वही, पृ० ५६२।

२ अर्च्चायामेव हरये पूजा य श्रद्धयते न तद्-भक्तेषु चान्येषु स भक्त प्राकृत स्मृत।
—वही, पृ० ५६४।

३ न काम-कर्म बीजाना यस्य चेतसि सम्भव
वासुदेवैक निलय स वै भागवतोत्तम। —वही, पृ० ५६४।

४ न यस्य स्व पर इति वित्तेष्वात्मनि वा भिदा सर्व-भूता-सुहृच्छान्त स वै भागवतोत्तम।
—वही, पृ० ५६५।

५ वही, पृ० ५६५।

६ षट्-सदर्भ, पृ० ५८१–२।

के सभी दोषो तथा अपने द्वारा किए गए सभी दुष्कृत्यो को स्वीकार करता है, और उसके अनुग्रह के हेतु उसकी प्रार्थना करता है जिससे उसके सकल पाप धुल जाते हैं। एक भक्त भगवान से प्रार्थना करता है कि वह उसके लिए प्रेम से उसी प्रकार उन्मत्त हो जाय जिस प्रकार एक युवती एक युवक के तथा एक युवक एक युवती के प्रेम मे रमण करता है।[1] जब एक मनुष्य स्वार्थ से प्रेरित होकर कोई कार्य करता है, तब वह असफलताओ अथवा न्यून फलो के कारण पीडित हो सकता है, किन्तु, जब वह अपने कर्मो को ईश्वर को अर्पित कर देता है, तब वह उक्त असफलताओ के कारण पीडित नही होता। सर्व कर्म एव उनके फल वस्तुत भगवान की सम्पत्ति होते हैं, केवल अज्ञान अथवा मिथ्या सकल्पनाओ के कारण हम उनका स्वायत्तीकरण कर लेते है और उनके बधनो मे बध जाते है। किन्तु यदि इन्ही कर्मों को उचित दृष्टिकोण से किया जाय तो हम उनके प्रभावो से नहीं बध सकते, इस प्रकार यदि यह अनुभूति करें कि वह हमारी सपत्ति नही है भगवान की सपत्ति है तो जो कर्म हमारे जन्म एव पुनर्जन्म के लिए उत्तरदायी हैं वे उक्त चक्र को नष्ट कर सकते है तथा हमे उनके बधन से मुक्त कर सकते है।[2] यदि यह तर्क किया जाय कि आज्ञा प्राप्त कर्मो का अनुष्ठान कर्ता मे एक नवीन व अज्ञात शक्ति (अपूर्व) को उत्पन्न करता है, तो यह भी तर्क किया जा सकता है कि मानव मे यथार्थ कर्ता उसका 'अतर्यामिन्' है, जो उसे कर्म मे प्रवृत्त करता है, अतएव कर्म इस अन्तर्यामिन्-भगवान की सम्पत्ति होता है, तथा यह मानना गलत है कि कर्म का कर्ता यथार्थ कर्ता है।[3] इस प्रकार सभी वैदिक कर्म चरम कर्ता के रूप मे केवल भगवान के द्वारा ही सम्पन्न किए जाते हैं, अतएव सभी कर्मों के फल केवल उसी की सम्पत्ति हो सकते हैं।

हमारे कर्मो का भगवान को समर्पण पुन द्विविध स्वरूप का हो सकता है--एक व्यक्ति एक कर्म को उसके द्वारा भगवान को सतुष्ट करने के स्पष्ट उद्देश्य से कर सकता है, अथवा वह उस कर्म को उसके फल की प्राप्ति इच्छा के बिना कर सकता है तथा उसको भगवान के अर्पण कर सकता है--एक तो 'कर्म-सन्यास' है और दूसरा 'फल-सन्यास'। कर्म या तो इच्छाओ से अथवा भगवान के लिए प्रेरित हो सकते हैं, अर्थात् फलो को भगवान पर छोडना अथवा भगवान को सतुष्ट करने के हेतु करना तथा कहा जाता है कि पश्चादुक्त विशुद्ध 'भक्ति' के कारण होता है। ये तीन प्रकार के कर्म

---

[1] युवतीना यथा यूनि यूनाच युवती यथा
मनोऽभिरमते तद्वन् मनो मे रमता त्वयि।

—'विष्णु-पुराणम्' पृ० ५८।

[2] वही, पृ० ५८५।

[3] वही, पृ० ५८६।

'कामनानिमित्त' 'नैष्कर्म्य-निमित्त' और 'भक्ति-निमित्त' कर्मों के रूप मे वर्गीकृत किए गए है। सच्चे भक्त अपने सभी कर्म भगवान को सतुष्ट करने के हेतु करते हैं, अन्य किसी भी हेतु से नही। पुन 'भक्ति' को 'कर्म' से सबधित माना जा सकता है, और इसलिए उसे 'सकाम' 'कैवल्य-काम' व भक्ति मात्र-काम माना जा सकता है। जब एक व्यक्ति साधारण इच्छाओं की पूर्ति के लिए भगवान की भक्ति करता है, तब उसे 'सकाम-भक्ति' माना जाता है। 'कैवल्य-काम-भक्ति' को 'कम' अथवा 'कर्म' व 'ज्ञान' से सबधित माना जा सकता है, यह उस व्यक्ति के उदाहरण मे पाया जाता है जो भगवान पर ध्यान को केन्द्रित करता है तथा 'योग' पथ पर आरूढ होता है, वैराग्य का अभ्यास करता है, और भगवान के साथ अपने एकत्व को सकल्पित करने का प्रयत्न करता है, और ऐसी प्रक्रियाओं के द्वारा स्वय को 'प्रकृति' के बधन से मुक्त कर लेता है, वह ज्ञान व कर्म के द्वारा 'जीवात्मन्' का 'परमात्मन्' से एकीकरण करने का प्रयास करता है। तीसरा प्रकार 'कर्म' से अथवा 'कर्म' व 'ज्ञान' मे सबधित हो सकता है। इनमे से प्रथम वर्ग के भक्त भगवान के नाम एव विभूतियो के सकीर्तन, उसकी निरतर उपासना और उसके प्रति अपने सभी कर्मों के समर्पण के द्वारा अपनी भक्ति को प्रकट करते है। द्वितीय वर्ग के भक्त भगवान के प्रति अपनी भक्ति मे सकल वस्तुओं के प्रति एक प्रबुद्ध दृष्टिकोण के निरतर अभ्यास का समावेश करते हैं, वे सर्व जनो को भगवान की अभिव्यक्ति मानते हैं, वे सर्व उत्तेजक परिस्थितियो मे धैर्य रखते है और स्वय को सकल वासनाओ से विरक्त बना लेते है, वे बडो के प्रति आदरयुक्त, दीन-हीनो के प्रति दयालु और अपने समतुल्यो के प्रति मैत्रीपूर्ण होते है, वे 'यम' एव 'नियम' के अतर्गत समाविष्ट सद्गुणो का अभ्यास करते है, अपना सकल अहकार विनष्ट कर देते है तथा भगवान की विभूति के चिंतन एव उसके नाम के सकीर्तन मे सलग्न रहते है। किन्तु जिसमे उच्चतम प्रकार की भक्ति अकिंचन भक्ति होती है वह ऐसा होता है कि भगवान का नाम सुनने मात्र से ही उसका मन भगवान की ओर इस प्रकार प्रवाहित हो जाता है जैसे गगा का जल समुद्र मे प्रवाहित होता है। ऐसा भक्त उसे दी गई किसी भी वस्तु को अगीकार नही करता, उसका एक मात्र सुख निरतर भगवान मे लीन रहने मे निहित होता है।

एक अन्य दृष्टिकोण से 'भक्ति' का 'वैधी' और 'रागानुग' दो वर्गों मे विभाजन किया जा सकता है। 'वैधी-भक्ति' दो प्रकार की होती है जो भक्त को भगवान के प्रति समर्पण तथा किसी भी दूरस्थ प्रयोजन के बिना उसकी उपासना के लिए प्रेरित करती है। वह 'वैधी' होती है क्योकि उक्त 'भक्ति' का प्रोत्साहन शास्त्रो से (जिन्हे अन्यथा 'विधि' अथवा शास्त्रीय आदेश भी कहते हैं) प्राप्त होता है। 'शरणापत्ति' अच्छे आचार्यो व भक्तो का समागम भगवान के नाम का श्रवण और उसके नाम एव विभूतियो का सकीर्तन आदि 'वैधी भक्ति' के अन्तर्गत आते है। इनमे से 'शरणागति'

सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है, जिसका अर्थ जीवन के सभी भय व दुखो से निराश होकर भगवान की शरण मे जाना होता है।[1] इस प्रकार 'शरणागति' मे कोई उत्तेजक कारण होना चाहिए जो एकमात्र सरक्षक के रूप मे भगवान की शरण मे जाने के लिए भक्त को प्रेरित करता है। जो व्यक्ति भगवान की ओर उसके प्रति प्रगाढ अनुराग के कारण उन्मुख होते हैं वे भी अपनी उस पूर्व अवस्था के प्रति घृणा से प्रेरित होते हैं, जब उनके मन भगवान से विमुख थे। उसमे भी इस धारणा का समावेश होता है कि अन्य कोई सरक्षक उपलब्ध नही है अथवा किसी भी ऐसे अन्य व्यक्ति अथवा प्राणी के परित्याग का समावेश होता है। जिस पर भक्त पहले आश्रित था। व्यक्ति को वैदिक अथवा 'स्मृति' के आदेशो मे सभी आशाओ का परित्याग कर देना चाहिए तथा एकमात्र आश्रय के रूप मे भगवान की ओर उन्मुख होना चाहिए। 'शरणापत्ति' की परिभाषा निम्नलिखित तत्त्वो के समावेश द्वारा की जा सकती है—(१) नित्यप्रति भगवान के अनुकूल कार्य एव विचार करना, (२) भगवान के किसी भी प्रकार से प्रतिकूल सभी वस्तुओ का वर्जन करना, (३) यह प्रबल विश्वास रखना कि वह रक्षा करेगा, (४) सरक्षण के हेतु उस पर आश्रित रहना, (५) स्वय को सम्पूर्णतः भगवान के हाथो मे समर्पित करना तथा स्वय को उस पर पूर्णत आश्रित समझना, (६) स्वय को एक अत्यधिक दीन प्राणी समझना जो भगवान के अनुग्रह के अवतरण की प्रतीक्षा मे है।[2] इनमे से प्रमुख महत्त्व भगवान को एकमात्र सरक्षक समझने पर दिया जाना चाहिए जिससे अन्य तत्त्वो का केवल घनिष्ट सबध होता है। किन्तु, भगवान के सरक्षण की प्रार्थना के पश्चात् अपने 'गुरु' से सहायता की प्रार्थना एव उसकी सेवा मे अनुरक्ति तथा उन महापुरुषो की सेवा का स्थान आता है जिनके साहचर्य से एक व्यक्ति अन्यथा अप्राप्य अधिकाश वस्तुओ की प्राप्ति कर सकता है।[3] एक प्रमुख रूप जिसमे 'वैधी-भक्ति' अभिव्यक्ति होती है वह है—स्वय को भगवान का दास मानना अथवा भगवान को हमारा परम मित्र समझना। सेवा और मैत्री के भाव इतने प्रगाढ व तीव्र होने चाहिए कि उनके फलस्वरूप एक व्यक्ति अपने व्यक्तित्व को भगवान के लिए सम्पूर्णत त्याग दें, भगवान के प्रति यह पूर्ण आत्म-त्याग शास्त्रीय दृष्टि से 'आत्म-निवेदन' कहलाता है। 'रागानुग' अथवा विशुद्ध भावावेशमय 'भक्ति' का 'वैधी-भक्ति' से विभेद करना आव-

---

[1] अथ वैधी-भेदा शरणापत्ति—श्री गुर्वादि सन्-सेवा-श्रवण-कीर्तनाद्य।
—षट्-सन्दर्भ, पृ० ५९३।

[2] शरणापत्तेर्लक्षण वैष्णव-तन्त्रे,
आनुकूलस्य सकल्प प्रातिकूल्यस्य-विवर्जनम् रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्वे वरण तथा आत्म-निक्षेप-कार्पण्ये षड्विधा शरणागति। —वही, पृ० ५९३।

[3] वही, पृ० ५९५—६०४।

श्यक है, चूकि 'रामानुग-भक्ति' केवल भक्त के भावावेगों के अनुसार या अनुसरण करती है, इसलिए उसकी विभिन्न अवस्थाओं के लक्षण बताना कठिन है। इस प्रकार की 'भक्ति' मे भक्त भगवान को मानो एक मानव के सदृश मान सकता है, तथा मानवी भावावेगों एव आवेशों का सकल उत्कण्ठा व तीव्रता सहित उसकी ओर उन्मुख हो सकता है, यथा, इस प्रकार की 'भक्ति' की अभिव्यक्ति का एक प्रमुख रूप उन उदाहरणों मे पाया जाता है जिनमे भगवान एक ऐसे प्रेम का विषय होता है जिसे मानवी सबधो मे यौन-प्रेम कहा जा सकता है। यौन-प्रेम हमारे मानवी स्वभाव के लिए सम्भव एक तीव्रतम आवेग होता है, और तदनुसार भगवान को यौन-प्रेम की आवेगमय तीव्रता से प्रेम किया जा सकता है। इस प्रेम-पथ का अनुसरण करने मे भक्त थोडी देर के लिए भगवान की दिव्यता को भूल सकता है, उसे एक सजातीय प्राणी मान सकता है, तथा उसकी ओर इस प्रकार उन्मुख हो सकता है मानो वह उसका घनिष्ट मित्र हो अथवा एक अतिशय प्रिय पति हो। ऐसी परिस्थितियो मे वह उपासना, ध्यान, उसके नाम अथवा विभूतियो के कीर्तन आदि कर्म-काण्डीय औपचारिकताओ का परित्याग कर सकता है, और केवल अपनी भावावेशजन्य प्रवृत्ति का अनुसरण कर सकता है तथा भगवान के साथ अपने भावावेश की प्रवृत्ति के अनुसार व्यवहार कर सकता है। परन्तु ऐसी अवस्थाए भी हो सकती हैं जहाँ 'रागानुग' 'वैधी' से मिश्रित होती है, जहाँ भक्त 'वैधी-भक्ति' के कुछ क्रमो का अनुसरण कर सकता है और फिर भी भगवान के प्रति आवेग-सहित अनुरक्त हो सकता है। किन्तु जो भक्त भगवान के प्रति भावावेग से केवल आगे खीचे जाते है वे स्पष्टत 'वैधी-भक्ति' की कर्त्तव्य-सीमा के ऊपर होते हैं। भगवान के प्रति उक्त आवेगमय आसक्ति के द्वारा ही नही बल्कि जब एक व्यक्ति का मन भगवान के प्रति क्रोध अथवा घृणा के तीव्र सवेग से पूर्ण होता है जिसके फलस्वरूप वह स्वय को पूर्णत विस्मृत कर देता है तथा स्वय को भगवान की उपस्थिति से सर्वथा परिव्याप्त कर देता है—एक घृणा के विषय के रूप मे भी—तब भी वह भगवान मे अपने स्वरूप को लीन करके अपना सर्वोच्च लक्ष्य प्राप्त कर सकता है। एक भक्त 'रागानुग-भक्ति' के द्वारा जिस प्रक्रिया से अपने चरम लक्ष्य की प्राप्ति करता है वह एक सर्व-व्यापी तीव्र सवेग के माध्यम से भक्त के स्वरूप के भगवान मे विलय की प्रक्रिया होती है। इस कारण से, जब भी भगवान के प्रति किसी प्रकार के प्रबल सवेग से एक मनुष्य का मन प्रभावित होता है, तब वह मानो भगवान की सत्ता मे लीन हो जाता है और फलत अपने सीमित व्यक्तित्व के पूर्ण विघटन के द्वारा अपने चरम लक्ष्य की प्राप्ति करता है।

'षट्-सदर्भ' का लेखक छठे विभाग 'प्रीति-सदर्भ' मे परम तत्त्व एव श्रेष्ठतम पुरुषार्थ के रूप मे आनद (प्रीति) के स्वरूप का निरूपण करता है। मानव का चरम लक्ष्य अथवा उद्देश्य सुख की प्राप्ति एव दु ख का विनाश होता है, जब भगवान सतुष्ट

होता है तब ही व्यक्ति दु ख के अन्तिम विनाश एव नित्य सुख की प्राप्ति कर सकता है। व्यक्ति अथवा 'जीव', परमेश्वर के यथार्थ स्वरूप का सत्य ज्ञान न होने व 'माया' से आवृत्त होने के कारण उसके यथार्थ स्वरूप को जानने मे असफल रहता है, अनेक आत्मगत उपाधियो से सबधित हो जाता है और जन्म एव पुनर्जन्म के अनादि चक्रो के दु ख को भोगता है। परम आनन्द की प्राप्ति परम तत्त्व की अपरोक्षानुभूति मे निहित होती है, यह केवल व्यक्ति के अज्ञान के अन्त एव तज्जन्य दु खो की आत्यतिक समाप्ति के द्वारा ही सम्पन्न हो सकता है। इनमे से पूर्वोक्त, यद्यपि अभावात्मक रूप मे अभिव्यक्त किया गया है, तथापि परम तत्त्व के स्वप्रकाश स्वरूप होने एव उसी की आत्माभिव्यक्ति होने के कारण वस्तुत भावात्मक होता है। पश्चादुक्त विनाश के द्वारा अभावात्मक स्वरूप होने के कारण नित्य व अपरिवर्तनशील होता है--इस रूप मे कि, जब दु खो का एक बार अन्तिम रूप से मूलोच्छेदन हो जाता है, तब आगे कोई दु ख की वृद्धि नही हो सकती। इस प्रकार भगवत् प्राप्ति ही परम सुख अथवा आह्लाद को प्राप्त करने का एकमात्र साधन है।[1] 'युक्ति' भगवत्-प्राप्ति ही है, जिसके फलस्वरूप अहकार के बधन का अत होता है, जो आत्म-स्वरूप मे स्थिति की ही अवस्था होती है। यह आत्म-स्वरूप मे स्थिति परमात्मन् के रूप मे अपने स्वरूप की अनुभूति ही होती है। परन्तु इस प्रसग मे यह ध्यान रखना आवश्यक है कि 'जीव' परमात्मन् से एकरूप नही होता, क्योकि वह केवल उसका अश है, अत उसके आनद स्वरूप का कथन केवल इस तथ्य के कारण किया जाना चाहिए कि उसका सार-तत्त्व परमात्मन् के सार-तत्त्व से उद्भूत होता है। भगवान पूर्ण अशी की प्राप्ति उसके अश की परमात्मन् के रूप मे प्राप्ति के द्वारा ही होती है (अशेन अशि-प्राप्ति)। इसकी प्राप्ति दो रूपो मे की जा सकती है, प्रथमत व्यक्ति के अज्ञान (जो केवल 'माया' की अवस्था अथवा कार्य-व्यापार है) के विनाश के साथ-साथ ब्रह्मन् के ज्ञान के प्रकाश द्वारा केवल उसकी स्वरूप-शक्तियो से निर्मित ब्रह्मत्व की प्राप्ति के रूप मे, द्वितीयत, सगुण रूप मे परमेश्वर की तर्कातीत शक्तियो से सबधित उसके सगुण स्वरूप की प्राप्ति के रूप मे। 'मुक्ति' इस जीवन मे तथा मृत्यु के पश्चात् दोनो अवसरो पर प्राप्त की जा सकती है, जब एक व्यक्ति परमेश्वर के यथार्थ स्वरूप की प्राप्ति करता है, तब उसके स्वरूप का मिथ्या अवबोध तिरोहित हो जाता है और यही उसकी 'मुक्ति' की अवस्था है, मृत्यु के समय भी परमेश्वर के यथार्थ स्वरूप का प्रकाशन हो सकता है तथा परमेश्वर के रूप मे उमके म्वरूप की एक प्रत्यक्ष व अपरोक्ष प्राप्ति हो मकती है।

---

[1] निरस्तातिशयाह्लाद-सुग्व-भावैक-लक्षणा
भेषज भगवन्-प्राप्तिरेवान्तात्यन्तिका मता।

—विष्णु-पुराण, 'षट्-मन्दर्भ,' पृ० ६७८।

चरम-सिद्धि

परम तत्त्व के स्वरूप की प्राप्ति पुन द्विविधरूपिणी हो सकती है, सूक्ष्म, अर्थात् ब्रह्मन् के रूप मे तथा स्थूल अर्थात् एक सगुण ईश्वर अथवा 'परमात्मन्' के रूप में। पश्चादुक्त अवस्था मे स्थूल प्राप्ति का वैभव और भी अभिवृद्ध हो जाता है जब एक भक्त भगवान को उसके सभी विविध रूपो मे प्राप्त करना सीख जाता है।[1] इस अवस्था मे, यद्यपि भक्त भगवान की विविध अनेकात्मक व अनत शक्तियो की अपरोक्षानुभूति करता है, तथापि वह अपने आत्म-स्वरूप का विशुद्ध आनद रूपी भगवान के स्वरूप से एकाकार करना सीखता है। भगवान के स्वरूप का ऐसा तादात्म्यीकरण स्वय को 'भक्ति' अथवा आनन्द (प्रीति) के सवेग मे अभिव्यक्त करता है, भक्त आनद के रूप मे अपने आत्म-स्वरूप की अनुभूति करता है, और भगवान के आनद अथवा प्रीति स्वरूप के माध्यम से भगवान के साथ अपने तादात्म्य की प्राप्ति करता है। ऐसे आनद की अनुभूति के द्वारा ही दु ख की नि शेष समाप्ति सम्भव होती है, तथा उसके विना भक्त भगवान की सभी विविध व अनत शक्तियो के साहचर्य मे प्राप्ति नही कर सकता। भगवान के आनद स्वरूप की अतरग अनुभूति के द्वारा भक्त के लिए उसके अन्य गुणो, लक्षणो व शक्तियो का भी प्रकाशन हो सकता है। मनुष्य स्वभावत' आनद के द्वारा आत्म-सिद्धि प्राप्त करना चाहता है, किन्तु साधारणतया वह आनद के विषय के यथार्थ स्वरूप को नही जानता, और इस प्रकार वह विविध सासारिक विषयो मे आनद की खोज करने मे अपनी शक्तियो का अपव्यय करता है। वह तभी अपने यथार्थ लक्ष्य की प्राप्ति करता है जब वह यह अनुभव कर लेता है कि भगवान सकल आनद का स्रोत है, उसी का हमारे सभी प्रयत्नो द्वारा अनुसधान किया जाना चाहिए, तथा इस विधि से ही हम पूर्ण आनद एव आनद मे चरम मुक्ति की प्राप्ति कर सकते हैं। सच्चा भक्त 'कैवल्य' की प्राप्ति का इच्छुक होता है, किन्तु, 'कैवल्य' का अर्थ 'शुद्धता' होता है, और चूंकि भगवान का यथार्थ स्वरूप एकमात्र शुद्धता है, इसलिए 'कैवल्य' का अर्थ भगवान के स्वरूप की प्राप्ति होगा। अत भगवान और केवल भगवान की प्राप्ति का आनद ही सच्चा 'कैवल्य' भगवान का परम स्वरूप माना जाना चाहिए।

'जीवन्मुक्ति' की अवस्था मे व्यक्ति आत्म-ज्ञान व भगवान से अपने सवध के ज्ञान द्वारा यह अनुभव करता है कि जगत् सत् एव असत् दोनो है, अतएव अपने वास्तविक स्वरूप मे उसका कोई यथार्थ अस्तित्व नही है, वरन् केवल स्वय उसकी 'अविद्या' के द्वारा वह उसका अश माना जाता है। जगत् का निषेध-मात्र यथेष्ट नही

---

[1] षट्-सन्दर्भ, पृ० ६७५।

होता, क्योकि यहाँ भगवान पर आधारित जीव के यथार्थ स्वरूप का भावात्मक ज्ञान भी उपस्थित होता है। इस अवस्था मे व्यक्ति सासारिक अनुभवो को अपने स्वरूप से सबधित करने के मिथ्यात्व की अनुभूति कर लेता है, तथा पूर्वोक्त को भगवान के अश के रूप मे पहचानना सीख लेता है। इस दशा मे उसे अपने प्रारब्ध कर्मों के सभी फलो को भोगना पडता है, किन्तु वह उक्त भोगो मे कोई रुचि का अनुभव नही करता, तथा उनके बधन मे नही रहता।[1] इस अवस्था मे चरमोत्कर्ष मे भगवान के यथार्थ स्वरूप के साक्षात् व अपरोक्ष प्रकाशन और आनद के रूप मे उसके स्वरूप मे भागीदार होने के साथ-साथ व्यक्ति की 'अविद्या' के रूप मे 'माया' का कार्य-व्यापार समाप्त हो जाता है, इसलिए 'माया' की पूर्ण समाप्ति को ही 'मुक्ति' की चरम अवस्था समझना चाहिए।[2]

यह ध्यान मे रखना चाहिए कि 'जीव' 'जीवो' की समष्टि निरूपित भगवान की शक्ति के साहचर्य मे परम तत्त्व का एक अश होता है। परम तत्त्व सूर्य के सदृश है तथा 'जीव' उसमे से प्रस्फुटित किरणो के समान हैं। भगवान मे अपने मूल से वे प्रस्फुटित हुए हैं और यद्यपि वे उससे स्वतत्र प्रतीत होते है तथापि उस पर पूर्णरूपेण आश्रित रहते है। उमसे बाह्य उनके अस्तित्व का कथन करना उचित नही है, क्योकि वस्तुत उससे बाह्य उक्त अस्तित्व का आभास केवल 'माया' के आवरण का प्रभाव होता है। 'जीवो' की किरणो से तुलना का अर्थ केवल यही है कि उनका उस सत्ता से कोई पृथक् अस्तित्व नही है जिसकी वे किरणें हैं, और इस अर्थ मे वे परमेश्वर पर पूर्णत आश्रित है। जब 'जीव' परमेश्वर की शक्ति माने जाते है तब तात्पर्य यह होता है कि वे ऐसे साधन हैं जिनके माध्यम से परमेश्वर अपनी अभिव्यक्ति करता है। चूँकि परमेश्वर अनत शक्तियो से सम्पन्न होता है, इसलिए यह स्वीकार करना कठिन नही है कि परमेश्वर की शक्ति की अभिव्यक्तियाँ, 'जीव' स्वय मे यथार्थ कर्ता एव भोक्ता हैं, तथा एक उग्र अद्वैतवादी का यह निर्देश अवैध है कि उनके कर्तृत्व अथवा भोक्तृत्व का कथन करना मिथ्या है, क्योकि एक जीव का कर्तृत्व परमेश्वर की शक्ति की एक अभिव्यक्ति है। उसी के द्वारा 'जीव' 'ससार-चक्र' मे भ्रमण करते है तथा परमेश्वर की स्वरूप-शक्ति की प्रक्रिया के द्वारा ही वे अपने स्वरूप के परमेश्वर से तादात्म्य को ज्ञान करना सीखते हैं और उसके प्रति भावावेश मे स्वय को तल्लीन करते हैं। यह मत गलत है कि मुक्ति की अवस्था मे आनन्द की कोई अनुभूति नही होती, क्योकि उस दशा मे मुक्ति की अवस्था वाछनीय नही होती। इसके अतिरिक्त, यह मत भी त्रुटिपूर्ण है कि मुक्तावस्था मे जीव का आनद-स्वरूप ब्रह्मन् से पूर्ण

---

[1] अस्य प्रारब्ध-कर्म-मात्राणामनभिनिवेशेनैव भोग। —वही, पृ० ६७८।

[2] वही, पृ० ६७८।

तादात्म्य हो जाता है, क्योकि कोई भी व्यक्ति आनद से एकरूप होने की इच्छा नहीं करता, वरन् उसका अनुभव करने की इच्छा करता है। इसलिए अद्वैतवाद का उग्र रूप इस बात की व्याख्या नही कर सकता कि मुक्तावस्था क्यो वाछनीय है, यदि मुक्ति को एक अत्यत वाछनीय अवस्था सिद्ध नही की जा सकती है, तो कोई कारण नही होगा कि उसकी प्राप्ति के लिए एक व्यक्ति प्रयास करे। आगे यह भी कहा जा सकता है कि, यदि परम तत्त्व विशुद्ध आनद व ज्ञान स्वरूप है तो इस बात की व्याख्या करने की कोई विधि नही है कि वह 'माया' के आवरण से क्यो प्रभावित होता है। अशी एव अश का प्रत्यय इस तथ्य की व्याख्या करता है कि यद्यपि 'जीव' परमेश्वर से भिन्न नही है, तथापि वास्तव मे उस पर आश्रित होने के कारण वे उससे पूर्णत एकरूप भी नहीं है। परमेश्वर को समझने की सम्यक् विधि है उसे विशिष्ट उपाधियो व परिसीमाओ से सबधित सकल प्राणियो के अध्यक्ष के रूप मे पहिचानना अर्थात् वह विभिन्न व्यक्तित्वो के रूप मे और होते हुए भी एकत्व के रूप मे है, इसी प्रकार 'परमात्मन्' के प्रत्यय का 'भगवान' के प्रत्यय से एकीकरण किया जा सकता है।[1]

भक्ति का आनंद

भगवान मे प्रीति द्विविध स्वरूप की हो सकती है। अर्थ के विस्तार से प्रीति भगवान के प्रति वह स्पृहा हो सकती है जो भगवान के सत्य प्रत्यय विषय ज्ञान को उत्पन्न करती है (भगवद्विषयानुकूल्यात्मकस्तदनुगत स्पृहा दिमयो ज्ञान-विशेष तत-प्रीति)। किन्तु भगवान मे प्रीति की एक अधिक अपरोक्ष अनुभूति भी होती है जो प्रत्यक्ष रूप से एक तीव्र भावनात्मक स्वरूप की होती है, इस प्रकार की 'भक्ति' 'रति' कहलाती है। इस 'भक्ति' का वर्णन प्रेम (प्रेमन्) के रूप मे भी किया जाता है। जिस प्रकार एक व्यक्ति भौतिक विषयो की ओर उनकी उपयोगिता की सकल्पना किए बिना, उनके सौन्दर्य से आकर्षित होता है, उसी प्रकार वह भगवान के दिव्य-सौन्दर्य एव विविध गुणो से भी आकर्षित हो सकता है, तथा उसके प्रति तीव्र प्रेम मे

[1] अति श्रेष्ठ प्रकार के 'भक्तो' के लिए आरक्षित उच्च प्रकार की 'मुक्ति' के अतिरिक्त अन्य निम्न प्रकारो की मुक्ति भी होती है जिनका वर्णन 'सालोक्य' (भगवान के साथ सह अस्तित्व) 'सार्ष्टि' (भगवान के समान ही 'सामीप्य') (नित्य भगवान के समीप रहने का विशेषाधिकार), 'सायुज्य' (भगवान के दिव्य व्यक्तित्व मे प्रविष्ट होने का विशेषाधिकार) के रूप मे किया गया है। परन्तु एक सच्चा 'भक्त' सदा इन विशेषाधिकारो का परित्याग करता है तथा भगवान के प्रति अपनी भक्ति से सतुष्ट रहता है।

—षट्-सन्दर्भ, पृ० ६६१।

आसक्त हो सकता है। ऊपर पहले ही कहा जा चुका है कि भगवान का आनद उसके भक्तो के हृदय मे अपनी अभिव्यक्ति करता है और भगवान के प्रति उनके आनदमय अनुभव को उत्पन्न करता है। यह भगवान के शुद्ध आनद स्वरूप से भिन्न उसके आनद का सक्रिय पक्ष माना जा सकता है। भगवान का आनद दो प्रकार का कहा जा सकता है–शुद्ध आनद के रूप मे उसका स्वरूप (स्वरूपानन्द) तथा उसकी शक्तियो के आनद के सक्रिय पक्ष मे उसका स्वरूप (स्वरूप-शक्त्यानन्द)। पश्चादुक्त पुन दो प्रकार का होता है, अर्थात् 'मानसानद' एव 'ऐश्वर्यानद' अर्थात् 'भक्ति' की सक्रिय प्रक्रिया के रूप मे आनद तथा उसके ऐश्वर्य मे आनद।[1] जब एक भक्त भगवान की महानता अथवा ऐश्वर्य की भावना से उसके प्रति अनुरक्त होता है, तब ऐसी मन स्थिति आनद अथवा 'प्रीति' का एक उदाहरण नही मानी जाती, परन्तु जब 'भक्ति' भगवान की सेवा के रूप मे अथवा उस पर अपरोक्ष आश्रय के रूप मे, अथवा तीव्र प्रेम के बधन द्वारा उस पर आसक्ति के रूप मे (यथा एक पत्नी का अपने प्रेमी के लिए, एक मित्र का अपने मित्र के लिए, एक पुत्र का अपने पिता के लिए, अथवा पिता का अपने पुत्र के लिए प्रेम-बधन) एक विशुद्ध भावनात्मक स्वरूप ग्रहण कर लेती है तब 'भक्ति' 'प्रीति' कहलाती है। जब आकर्षण बाहर से भौतिक प्रेम की भाँति प्रतीत होता है, और उक्त सवेग के सभी सुविदित उत्तेजनात्मक तत्त्व एव आनद के प्रकारो से युक्त होता है, तब 'प्रीति' अपने तीव्रतम एव उच्चतम रूप मे अभिव्यक्त होती है, परन्तु, चूंकि यह सवेग भगवान की ओर निर्देशित होता है, तथा उसमे भौतिक प्रेम की जैविक अथवा शारीरिक आसक्ति का अभाव होता है, इसलिए उसका उस प्रेम से स्पष्ट विभेद करना आवश्यक है, परन्तु उसमे कामुक प्रेम की सर्व बाह्य अभिव्यक्तिया होती हैं। इस कारण से उसका समुचित वर्णन आतरिक अनुभूति एव कामुक प्रेम की बाह्य अभिव्यक्तियो के पदो मे ही किया जा सकता है। 'प्रीति' की परिभाषा एक ऐसी सवेगात्मक अनुभूति के रूप मे दी जाती है जिसमे उसके विषय के प्रति एक स्पृहा व आकर्षण का समावेश होता है।[2] साधारण सवेगो का सकेत सासारिक इद्रिय-विषयो अथवा उनसे सबधित विचारो के प्रति होता है, परन्तु ईश्वरोन्मुख सवेगो का एकमात्र विषय परमेश्वर होता है। भगवान मे ऐसी प्रीति भगवत् कृपा से सहज ही (स्वाभाविकी) प्रवाहित होती है, और वह अधिक प्रयत्नो से उत्पन्न नही होती तथा वह मुक्ति से श्रेष्ठ होती है।[3] यह प्रीति तीव्रता मे इतनी

[1] वही, पृ० ७२२।

[2] तत्र उल्लासात्मको ज्ञान-विशेष सुखम्, तथा विषयानुकूल्यात्मकस्तदानुकूल्यानुगत-तत्स्पृहा-तदनुभव-हेतुकोल्लास-मय-ज्ञान-विशेष प्रियता। —वही, पृ० ७१८।

[3] 'भक्ति' मे समाविष्ट उत्सुकता केवल कामुकता ही नही होती किन्तु लगभग एक पीडाजनक प्रवृत्ति होती है। इस प्रकार यह कहा जाता है

विकसित हो सकती है कि भक्त पूर्णत आत्म-विस्मृत हो जाता है और स्वय को भगवान से एकरूप अनुभव करने लगता है, इस अवस्था को शास्त्रीय दृष्टि से 'महाभाव' कहा जाता है।[1] यह कहा जा सकता है कि एक सामान्य अर्थ मे 'भक्ति' 'ममता' की अद्वितीय भावना तथा उसके फलस्वरूप हृदय की तीव्र आसक्ति को उत्पन्न कर सकती है, यह सवेग विविध रूपो मे अपनी अभिव्यक्ति कर सकता है। किन्तु भक्ति का एक अन्य 'शात' रूप भी होता है जिसमे भक्त सनक एव उसके समान भक्तो की भाँति यह अनुभव करता है कि वह भगवान का है, किन्तु भगवान उसका नही है।[2] यहाँ भी भर्ता के रूप मे भगवान के स्वामित्व की एक दूरस्थ भावना वर्तमान रहती है—भर्ता (भृत्यत्व), पालनकर्ता (पाल्यत्व) अथवा एक लालनकर्ता पिता के रूप मे (लाल्यत्व) उसकी कृपा की प्रतीक्षा मे रहना। एक भक्त स्वय को एक पिता और भगवान को एक प्रिय बालक समझकर भी भगवान का अपने अन्तर मे आनद ले सकता है, इस प्रकार का सवेग 'वात्सल्य' कहलाता है। किन्तु, जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है, भगवान मे तीव्रतम प्रीति वैवाहिक प्रेम का रूप ग्रहण करती है, कामुक प्रेम (काम) तथा इस प्रकार के प्रेम (रति) मे अन्तर यह है कि पूर्वोक्त आत्म-सतुष्टि

"अजात-पक्षा इव मातर खगा
स्तन्य यथा वत्सतरा क्षुधार्ता
प्रियं प्रियेव व्युषित विषण्णो
मनो रविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वा।" —वही, पृ० ७२६।

प्रीति के विकास की प्रगाढता के अनुसार कभी-कभी दो अवस्थाओ मे विभेद किया जाता है, अर्थात्, 'उदय,' 'ईषदुद्गम' पश्चादुक्त की पुन दो अवस्थाए होती हैं। चरम अवस्था 'प्रकटोदयावस्था' कहलाती है।

[1] षट्-सन्दर्भ, पृ० ७३२ परिस्थितियो की व्याख्या करने के लिए यहाँ 'उज्ज्वल-नीलमणि' मे से एक उद्धरण दिया गया है

"राधाया भवतश्च चित्त-जतुनी स्वेदैर विलाप्य क्रमादयुजन्न अद्रि-निकुज-कुजर-पतेर्निर्धूत-भेद-भ्रमम् चित्राय स्वयमन्वरजमदिह ब्रह्माण्ड-हर्म्योदरे भूयोपिनंव-राग-हिङ्गुले-फलै शृगार-चारु कृति।

[2] सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाह न मामकीनस् त्व समुद्रो हि तरङ्ग क्वचन समुद्रो न तारङ्ग। —वही, पृ० ७३५।

हरेर्गुणा द्विविधा भक्त-चित्त सस्कार हेतवस्तदभिमान-विशेष्य-हेतवश्चान्ये (पृ० ७३३)। ज्ञान-भक्तिर्वात्सल्यम् मैत्री कान्त-भावश्च (पृ० ७३८)। यद्यपि इन सर्व विभिन्न प्रकार की 'भक्तियो' का उल्लेख किया गया है, तथापि यह स्वीकार किया जाता है कि विभिन्न अगो मे इनके पारस्परिक मिश्रण मात्र से कई अन्य रूप भी उत्पन्न हो सकते है।

खोजता है, जबकि पश्चादुक्त प्रियतम भगवान की सतुष्टि खोजता है, यहाँ औत्सुक्य उभयनिष्ठ तत्त्व होता है। ये भक्त प्रेम के अपने प्रवल सवेग के द्वारा एक अतिशय प्रेमी के रूप में भगवान के 'माधुर्य' पक्ष तक ही अपने सवध को सीमित रखते हैं। इस प्रेम के उच्चतम एव तीव्रतम रूप का उदाहरण कृष्ण के प्रति राधा का प्रेम कहा जाता है। वैष्णव लेखक प्राय इस प्रेम की व्याख्या 'अलकार-शास्त्र' मे प्रचलित साधारण लौकिक प्रेम के विश्लेषण के अनुसार करते हैं।

'भक्ति' के विषय का निरूपण करते समय रूप गोस्वामी के प्रसिद्ध ग्रथ 'भक्ति-रसामृत-सिन्धु' का सक्षिप्त उल्लेख न देना असम्भव है। यह ग्रथ 'पूर्व,' 'दक्षिण,' 'पश्चिम' व 'उत्तर' चार भागो मे विभाजित है, तथा इनमे से प्रत्येक भाग 'लहरियो' नामक अध्यायो मे विभाजित हैं। रूप के भतीजे जीव गोस्वामी 'भक्ति-सदर्भ' और 'प्रीति-सदर्भ' के अध्याय लिखने मे उपरोक्त ग्रथ मे बहुत ऋणी थे, जिस पर उन्होने 'भागवत-सदर्भ' की समाप्ति के पश्चात् 'दुर्गम-सङ्गमन' नामक एक टीका भी लिखी थी। यहाँ 'उत्तम भक्ति' की परिभाषा कृष्ण की सतुष्टि के अनुकूल (आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनम्) ऐसी मन स्थिति व तत्सवधित कर्मो के रूप मे दी जाती है जो किसी भी अन्य अभिलाषा-हेतु अथवा उद्देश्य से शून्य होती है, ऐसी 'भक्ति' शकर की भाँति उग्र अद्वैतवादियो के अद्वैतवादी दार्शनिक ज्ञान अथवा साख्य, योग व अन्य मतो के दार्शनिक ज्ञान से सवधित नही होनी चाहिए, और न 'स्मृति-साहित्य' मे व्यादिष्ट अनिवार्य अथवा आकस्मिक कर्मो के अनुष्ठान से सवधित होनी चाहिए।[1] ऐसी 'भक्ति' के छ लक्षण होते है। प्रथम, वह समस्त पाप उनके मूल एव अविद्या का नाश करती है। पाप दो प्रकार के होते हैं—वे जो परिपक्वावस्था मे नही होते (अप्रारब्ध), और जो परिपक्वावस्था मे होते हैं (प्रारब्ध) और 'भक्ति' दोनो का निवारण करती है। पापो के मूल मन के अशुभ सस्कार होते हैं जिन्हे अन्यथा 'कर्माशय' कहते हैं तथा वे भी 'भक्ति' के द्वारा विनष्ट हो जाते हैं, जो ठोस ज्ञान होने के कारण 'अविद्या' का भी नाश करते हैं। दूसरे, उसे पवित्र अथवा शुभ (शुभद) कहा जाता है। 'भक्ति' के द्वारा एक व्यक्ति ससार को सुख देता है, तथा सर्व जनो के प्रति मैत्री व प्रेम के वधन से आसक्त रहता है, चूंकि एक भक्त सबका मित्र होता है इसलिए सव प्राणी भी उसके मित्र होते है। तीसरे, एक भक्त 'भक्ति' मे अपनी प्रीति से इतना सतुष्ट रहता है कि मुक्ति उसके लिए कोई आकर्षण नही रखती। चौथे, 'भक्ति' की प्राप्ति अतिशय कठिन होती है, क्योकि अत्यधिक प्रयत्न से भी भगवत्-कृपा

[1] अन्याभिलाषिता-शून्य ज्ञान-कर्माद्यनावृतम्
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलन भक्तिरुत्तमा।
—'भक्ति-रसामृत-सिन्धु' १ १ ८।

के बिना एक व्यक्ति उसे प्राप्त नही कर सकता। पाँचवें, 'भक्ति' का आनद ब्रह्म-ज्ञान से प्राप्त मुक्ति के आनद से अनत गुणा श्रेष्ठ होता है। छठे, 'भक्ति' भगवान को इस सीमा तक वशीभूत कर लेती है कि वह पूर्णत अपने भक्त की सेवा मे लग जाता है। तनिक सी 'भक्ति' भी अधिक दार्शनिक विद्वत्ता से श्रेष्ठ होती है। दार्शनिक व तार्किक विवाद किसी निश्चित विन्दु पर नही पहुँचाते तथा एक योग्य तर्ककर्ता के द्वारा सस्थापित अभिमत का दूसरे अधिक योग्य तर्ककर्ता द्वारा सहज ही खण्डन किया जा सकता है। ऐसे तार्किक विवाद सच्चे साक्षात्कार के लिए शुष्क एव प्रभावहीन होते है।

रूप तीन प्रकार से 'भक्ति' के विभेद करते हैं—'साधन,' 'भाव' और 'प्रेमन्'।[1] 'साधन-भक्ति' ऐसे विभिन्न साधनो की सूचक है जिनको अपनाने से मानसिक सवेग सहज ही 'भाव-भक्ति' (जिसे 'साध्य-भक्ति' भी कहते है) के रूप मे प्रकट होने मे समर्थ होते है। पर रूप आगे कहते है कि सहज भक्तिमय सवेग किसी क्रिया-विधि अथवा प्रयत्न के द्वारा उत्पन्न नही किया जा सकता, क्योकि 'भक्ति' चरम श्रेय है अतएव वह नित्य होती है। कोई भी नित्य सत्ता उत्पन्न नही की जा सकती, इसलिए सच्चे भक्तिमय सवेग की सृष्टि नही की जा सकती—वह पहले से ही हृदय मे विद्यमान रहता है, और 'साधन-भक्ति' का व्यापार केवल उसको एक आनददायी रूप मे हृदय मे प्रकट करना ही है।[2] यह 'साधन-भक्ति' दो प्रकार की होती है, 'वैधी और 'रागानुग' जिनका ऊपर पहले ही विवरण दिया जा चुका है। एक व्यक्ति केवल तभी तक 'वैधी-भक्ति' के क्षेत्र मे होता है जब तक उसके हृदय मे भगवान के प्रति नैसर्गिक अनुराग का आविर्भाव नही हो जाता। कहा जाता है कि वही व्यक्ति 'वैधी-भक्ति'

[1] वही, १ २ १।

'सा भक्ति साधन भाव प्रेमा चेति त्रिधोदिता।'

इस अवतरण पर टीका करते हुए जीव गोस्वामी कहते है कि 'भक्ति' दो प्रकार की होती है, 'साधन' और 'साध्य' इनमे से दूसरी विशुद्ध भावावेशवाद की होती है और पाँच प्रकारो से निर्मित होती है—'भाव,' 'प्रेम,' 'प्रणय,' 'स्नेह' व 'राग'। 'उज्ज्वल-नील-मणि' का लेखक तीन और जोड देता है—'मान,' 'अनुराग' और 'महाभाव'। रूप ने इन अन्तिम तीन का उल्लेख नही किया है क्योकि वे 'प्रेम' के रूपान्तर मात्र है।

[2] कृति-साध्या भवेत्साध्य-भावा सा साधनाभिधा नित्य-सिद्धस्य भावस्य प्राकट्य हृदि साध्यता।

—भक्ति रसामृत-सिन्धु, १ २ २।

का योग्यतम अधिकारी होता है जो तर्क-निपुण 'शास्त्रो' मे पारगत तथा वैष्णव-धर्म में अतिशय श्रद्धा सहित दृढ-निश्चय वाला होता है।[1] 'भक्ति' के उदय मे सबसे बडी बाधा सासारिक सुख अथवा मुक्ति की कामना है। 'भक्ति-मार्ग' का अनुसरण करने वाला व्यक्ति यदि वेदो मे व्यादिष्ट अनिवार्य एव अन्य कर्मों का पालन नही करता तो भी वह पाप का भागी नही बनता, किन्तु, यदि वह एक वैष्णव के सच्चे कर्त्तव्यो का पालन नही करता तो वह दोषी होता है, परन्तु ऐसी दशा मे भी एक वैष्णव को किन्ही प्रायश्चित कर्मों को करने की आवश्यकता नही है, क्योकि भगवन्नाम का कीर्तन मात्र ही उसके पापो के निवारण के लिए यथेष्ट होता है। शास्त्रो के कोई भी आदेश एक भक्त के प्रति कोई उल्लेख नही करते। भक्ति-मार्ग का अनुसरण करने वाले व्यक्ति के लिए सम्पूर्ण नैतिक गुणो की सहिता एव अनेक कर्म-काण्डीय प्रारम्भिक अवस्थाओ के रूप मे होते हैं।[2] अनेक अनधिकारी शिष्यो मे अत्यधिक विद्वत्ता अथवा आसक्ति 'भक्ति-मार्ग' की एक बडी बाधा मानी जाती है।[3] एक 'वैधी-भक्ति' को भगवान के सौन्दर्य तथा उसके सर्व गुणो एव विभूतियो पर ध्यान लगाना चाहिए, और स्वय को उसका दास समझना सीखना चाहिए, स्वामी के रूप मे भगवान पर ध्यान करने की एक अवस्था यह है कि अपने सभी कर्मों को भगवान के समर्पण करने मे स्वय को प्रशिक्षित करना चाहिए। उसे स्वय मे यह दृढ निश्चय उत्पन्न करने का भी प्रयास करना चाहिए कि भगवान भक्तो का महानतम मित्र है, अत उसे चाहिए कि वह भगवान को अपना सर्वोत्तम मित्र समझने का प्रयत्न करे। शास्त्रोक्त कर्मों तभी तक करना आवश्यक है जब तक कि मन मे भगवान के प्रति उसके नाम के सकीर्तन, उसकी विभूतियो के श्रवण और आनदपूर्वक उनके कथन के लिए वास्तविक प्रवृत्ति का आविर्भाव न हो। ज्योही यह अवस्था आ जाती है त्योही व्यक्ति 'वैधी-भक्ति' के मार्ग पर आरूढ हो जाता है, तथा उसे उसके विशिष्ट कर्मों को करना चाहिए ताकि भक्ति निरतर एक यथार्थ तथा स्वाभाविक एव अप्रतिहत सवेग के रूप मे विकसित हो सके। यहां 'भाव-सहित' 'साध्य-भक्ति' का श्रीगणेश होता है। इस अवस्था पर आने से पूर्व ही 'साधन-भक्ति' की 'रागानुग' नामक एक अन्य अवस्था आती है। इस अवस्था का अतिक्रमण करने के पश्चात् ही व्यक्ति 'साध्य-भक्ति' की उच्चतर अवस्था एव उसके क्रमागत विकास-स्तरो पर आ सकता है। 'रागानुग-भक्ति'

---

[1] शास्त्रे युक्तो च निपुण सर्वथा दृढ-निश्चय
प्रौढ श्रद्धोऽधिकारी य स भक्तावुत्तम मत।

—वही, १ २ ११।

[2] वही, १ २ ४२ आदि।

[3] न शिष्याननुबध्नीत ग्रन्थान्नेवाभ्यासेद बहून्
न व्याख्यामुपयुजीत नारम्भानारभेत क्वचित्। —वही, १ २ ५२।

को 'रागात्मिका-भक्ति' का एक अनुकरण माना जाता है।[1] 'रागात्मिका-भक्ति' सहज राग के रूप मे 'भक्ति' होती है, राग का अर्थ 'आसक्ति' होता है। यह 'रागात्मिका-भक्ति' काम संबंधी संवेग के स्वरूप की, अथवा सख्याभाव व पैतृक भाव आदि जैसे अन्य संबंधों[2] के स्वरूप की होती है। 'रागानुग-भक्ति' वह है जिसमे कोई सहज अनुराग नही होता, परन्तु सहज भावनात्मक अनुराग के रूपो का अनुकरण करने का प्रयास होता है, तथा वह 'वैधी-भक्ति' की वृद्धि के लिए उठाए गए विविध चरणों से संबंधित हो सकती है। 'प्रेम' (आध्यात्मिक प्रेम) और 'काम' के भेद को ऊपर पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है। यद्यपि 'काम' का प्रयोग प्राय भगवान के प्रति उन्मत्त प्रेम के लिए किया जाता है, तथापि उसका प्रयोग 'प्रेम' के अर्थ मे किया गया है।[3] इस प्रकार 'रागात्मिका-भक्ति' के दो प्रकार के उपविभागो के अनुसार 'रागानुग-भक्ति' भी स्वय दो प्रकार की होती है—'कामानुग' एव 'संबंधानुग'।

'साधन-भक्ति' की द्वितीय अवस्था रागानुग के रूप मे हम 'भाव-भक्ति' की अवस्था पर आते है, जो स्वय अधिकाधिक तीव्र रूपो मे तब तक विकसित होती रहती है जब तक कि पहले ही वर्णित 'महा-भाव' की अवस्था पर नही पहुँच जाती। वह शुद्ध अलौकिक 'सत्व' (भगवान का आनद स्वरूप) की अभिव्यक्ति माना जाता है। 'भक्ति' की पहले ही एक ऐसे आचरण के रूप मे परिभाषा दी जा चुकी है जिसका अभिप्रेत भगवान की संतुष्टि होता है, तथा जिसकी दृष्टि मे कोई अन्य

[1] विराजन्तीमभिव्यक्ता व्रज वासि-जनादिषु रागात्मिकामनुसृष्टा या सा रागानुगोच्यते। —वही, १ २ १३१।

[2] कहा जाता है कि सहज अनुराग यदि भगवान के प्रति वैर-भाव का रूप लेता है तो भी वह किसी भी प्रकार की 'वैधी-भक्ति' से श्रेष्ठ होता है, जिसमे ऐसा कोई सहज अनुराग नही होता। इस प्रकार जीव के 'दुर्गम-सङ्गमन' १ २ १३५ मे कहा गया है—"यथा वैरानुबन्धेन मर्त्यस्तन्मतामियात् न तथा भक्ति-योगेन इति मे निश्चिता मति। तदपि रागमय-कामाद्यपेक्षया विधिमयस्य चित्तावेशहेतुत्वेऽत्यन्त-न्यूनत्वमिति व्यजनार्थमेव। येषु भावमयेषु निन्दितोऽपि वैरानुबन्धो विधिमय-भक्ति-यागाच्छ्रेष्ठा। भगवान के प्रति सहज वैर-भाव 'भावात्मिका' (सवेगात्मक) माना जा सकता है, परन्तु 'रागात्मिका' नही। वह 'भक्ति' भी नही माना जा सकता, क्योकि उसमे भगवान को संतुष्ट करने की कोई इच्छा नही होती, इसलिए वह एक पृथक् आधार पर अवलम्बित होता है, वह 'रागात्मिका-भक्ति' से निम्न होता है किन्तु 'वैधी-भक्ति' से श्रेष्ठ होता है।

[3] प्रेमैव गोप-रामाणा काम इत्यगमत् प्रथाम्।

—वही, १ २ १४२, १४३।

लक्ष्य अथवा उद्देश्य नही होता, इस कारण से उसमे 'भक्त' को एक प्रकार की चेष्टा करनी पडती है (चेष्टा-रूप) किन्तु यहा 'भक्ति' के अर्थ मे सशोधन करके उसके द्वारा केवल चित्त की ऐसी सवेगात्मक का निर्देश किया जाता है जिसमे तज्जन्य शारीरिक व भौतिक विकास का समावेश होता है, और जो प्रेम के विषय, प्रेम के उद्दीपनो, विभावो, स्थायी भाव को निर्धारित व अभिवृद्ध करने वाले हाव-भावो से युक्त भावनात्मक अवस्थाओ द्वारा उत्पन्न होती है।[1] भगवान के प्रति 'प्रेमन्' की प्रथमावस्था 'भाव' कही जाती है तथा वह अश्रुपात अथवा पुलक आदि स्वल्प शारीरिक प्रभावो से सवधित होती है।[2] यह भाव अलौकिक स्वरूप का तथा चिदानद से समाविष्ट भगवान की शक्ति के स्वरूप का होता है, इसलिए वह एक ओर तो 'स्व-प्रकाशक' होता है, दूसरी ओर वह उस भगवान के स्वरूप को प्रकाशित करती है जिसकी वह शक्ति है, और जिसका वह निर्देश करता है। भगवान की एक शक्ति होने के कारण वह भक्त की मनोवृत्तियो मे आविर्भूत होता है, उनसे उसका तादात्म्य हो जाता है, तथा उनसे तादात्म्य मे अपनी अभिव्यक्ति करता है। इस प्रकार भक्त मे आविर्भूत 'भक्ति' करता है। इस प्रकार भक्त मे आविर्भूत 'भक्ति' अलौकिक एव लौकिक का तादात्म्य होती है, तथा भगवद्-स्वरूप के माधुर्यानुभव एव स्वप्रकाशक मधुर आत्म-स्वरूप के आस्वाद के द्विविध कार्य-व्यापार की अभिव्यक्ति करती है। इसलिए वह अपने विषय के प्रति सविद्स्वरूप होती है तथा उसमे भगवान के मधुर स्वरूप एव स्वय 'भक्ति' के मधुर स्वरूप रति का समावेश होता है। वह सर्व 'रति' (अथवा आनद) का मूल होती है, अतएव उसे 'रति' भी कहते हैं।[3] उसकी न्यून मात्रा प्राय सब मे सामान्य होती है, उसका सतत अभिवृद्ध होने वाला उत्कृष्ट

[1] शरीरेन्द्रिय वर्गस्य विकाराणा विधायिका
भाव-विभाव-जनिताश्चित्त-वृत्तय ईरिता। —'दुर्गम-सङ्गमन,' १ ३ १।

[2] प्रेम्नस्तु प्रथमावस्था भाव इत्यभिधीयते सात्त्विका स्वल्प-मात्रा स्युर्यत्राश्रु पुलकादय।

—भक्ति-रसामृत-सिन्धु, १ ३ ३।

[3] असौ शुद्ध-सत्त्व-विशेषरूप-रति-मूल-रूपत्वेन मुख्य-वृत्त्या तच्छन्द-वाच्या सा रति श्रीकृष्णादि-सर्व प्रकाशकत्वेन हेतुना स्वय-प्रकाश-रूपाऽपि प्रपचिक-तत्-प्रिय जनन मनो वृत्तौ आविर्भूय तत्तादात्म्य व्रजन्ती तद्-वृत्त्या प्रकाश्यवद् भापमानो ब्रह्मवा-तस्या स्फुरन्ती, तथा स्वसत्कृतेन पूर्वोत्तरावस्थाभ्याम् कारण कार्य्य-रूपेण श्रीभगवदादि-माधुर्य्यानुभवेन स्वाशेन स्वाद-रूपाऽदि यानि कृष्णादिरूपा तेषामास्वा-दस्य हेतुता सविदशेन साधकतमता प्रतिपद्यते ह्लादिन्यशे तु स्वय ह्लादयन्ती तिष्ठति।

—'दुर्गम सगमन,' १ ३ ४।

आविर्भाव विरल होता है और केवल भगवान अथवा उसके भक्तो के अनुग्रह से ही उद्भूत होता है। अत 'वैधी' एव 'रागानुग' भक्ति मे भी नि सन्देह निम्न प्रकार के 'भाव' का कुछ अश होता है। भगवान के प्रति जिस उत्कृष्ट प्रकार के अनुराग का उदय 'भक्ति' के साधारण नियत मार्ग (साधन-भक्ति) से गमन किए बिना होता है, वह सामान्यत· भगवत्-कृपा के कारण होता है।

'भाव-भक्ति' की प्रथम अवस्था मे भक्त ऐसे स्वभाव की अभिव्यक्ति करता है जो विक्षोभ के कारणो के होते हुए भी पूर्णत क्षोभ-रहित रहता है, वह नित्य अथवा समय प्रबल भावावेश सहित भगवन्नाम के सकीर्तन मे व्यतीत करता है, वह इन्द्रिय-विषयो के प्रति अनासक्त होता है, और महान् होने पर भी वह सदा अतिशय विनम्र रहता है तथा भगवान के चरम साक्षात्कार की प्राप्ति का सदा दृढ निश्चय रखता है। वह सदा अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अत्यत चिंतित रहता है तथा सदा भगवन्नाम मे सुख का अनुभव करता है।[1] 'रति' के रूप मे 'भाव' का अतरग लक्षण हृदय की अतिशय कोमलता व द्रवणशीलता होती है, किन्तु जब भी ऐसी अवस्था अन्य कामनाओ से सबधित होती है, चाहे वह मुक्ति की अवस्था ही क्यो न हो, तब उसे यथार्थ अवस्था का सूचक नहीं मानना चाहिए, और ऐसी अवस्था को 'रत्याभास' मानना चाहिए, क्योकि वह पूर्ण 'आत्म-सतोष की अवस्था होती है और वह किसी भी प्रकार की अन्य कामना से सबधित नही हो सकती।

जब 'भाव' प्रगाढ हो जाता है, तब उसे 'प्रेम' कहते हैं, वह भगवान मे स्वामित्व भाव एव अन्य सभी वस्तुओ से पूर्ण अनासक्ति से सबधित होता है। वह 'भाव' के प्रत्यक्ष विकास द्वारा अथवा भगवान के अपरोक्ष अनुग्रह के द्वारा उद्भूत हो सकता है, वह भगवान की महानता को सकल्पना से सबधित हो सकता है, अथवा केवल भगवान के माधुर्यानुभव के रूप मे प्रकट हो सकता है। 'भक्ति' का विकास पूर्व शुभ कर्मों के फलस्वरूप वर्तमान जीवन मे व्युत्पन्न एक विशेष स्वभाव पर तथा वर्तमान जीवन के प्रयत्नो पर भी निर्भर करता है। भगवान के प्रति विभिन्न प्रकार के आनदमय सवेगो के विभिन्न लक्षणो और उन विभिन्न प्रकार के सबधो का विशद वर्णन किया गया है जिनको अगीकार करने पर उक्त सवेग विकसित हो सकते हैं, परन्तु उनका यहाँ निरूपण करना सम्भव नही है।

रूप गोस्वामी ने 'सक्षेप-भागवतामृत' नामक एक अन्य रचना भी लिखी जो वैष्णव मण्डल मे एक सुपरिचित ग्रथ है। उस पर कम से कम दो टीकाए हैं, एक जीव गोस्वामी के द्वारा और अन्य, उत्तरकालीन वृन्दावन चन्द्र तर्कालिकार द्वारा, जो

---

[1] भक्ति-रसामृत-सिन्धु, १ ३ ११–१६।

राधाचरण कवीन्द्र के शिष्य थे। इस ग्रथ में रूप ने 'पुराणों' के प्रमाणानुसार भगवान के विविध प्रकार के अवतारो का वर्णन किया है जिनमे कृष्ण को परमेश्वर माना गया है। उनके ज्येष्ठ बधु सनातन ने भी 'दिग्दर्शन' नामक टीका सहित 'वृहद्-भागवतामृत' नाम से एक ग्रन्थ लिखा जिममे उन्होने भगवान की खोज मे सलग्न कुछ भक्तो की जीवन-घटनाओ एव उनके अनुभवो का विवरण दिया है।

वलदेव विद्याभूषण का दर्शन

वलदेव जाति से वैश्य थे और उडीसा के वलेस्वर परगने मे रेमुन के निकट एक गाँव मे उत्पन्न हुए थे। वह वैरागी पीताम्वर दास के छात्र थे तथा सामान्यत गोविंददास नाम से विदित थे। वह 'वेदात-स्यमतक' के लेखक दामोदर दास नयनानद के शिष्य थे जो राधानद के पुत्र अपने दादा रसिकानद मुरारी के छात्र थे, जो जीव गोस्वामी के एक अवर समकालीन श्यामानद के शिष्य थे। श्यामानद हृदय चैतन्य के शिष्य थे, जो नित्यानद के शिष्य गौरीदास पण्डित के शिष्य थे। स्वय वलदेव के नद मिश्र और उद्धवदास नामक दो सुप्रसिद्ध शिष्य थे, उन्होने शक सवत् १६८६ (अथवा ई० सन् १७६४) मे रूप गोस्वामी की 'स्तव-माला' पर टीका लिखी। यह विदित है कि उन्होने कम से कम निम्नलिखित चौदह रचनाए लिखी है—'साहित्य-कौमुदी' एव उसकी टीका, 'कृष्णानद,' 'गोविन्द-भाष्य,' 'सिद्धात-रत्न,' 'काव्य-कौस्तुभ,' 'गीता' पर एक टीका, 'गीता भूषण' राधा दामोदर के 'छन्द-कौस्तुभ' पर एक टीका, 'प्रमेय-रत्नावली' और उसकी टीका, 'काति-माला' रूप के 'लघु-भागवतामृत' पर एक टीका, 'नामार्थ-शुद्धिका' नामक 'सहस्रनाम' पर एक टीका, जयदेव के 'चन्द्रालोक' पर एक टीका, 'सिद्धात-दर्पण,' 'तत्व-सदर्भ' पर एक टीका, रूप की 'नाटक-चद्रिका' पर एक टीका। उन्होने कुछ महत्त्वपूर्ण उपनिषदो पर भी टीकाए लिखी।[1]

वलदेव की सबसे महत्त्वपूर्ण रचना 'ब्रह्म-सूत्र' पर उनकी टीका है, जो अन्यथा 'गोविन्द-भाष्य' कहलाती है। इस पर 'सूक्ष्म' नामक एक उप टीका है, इस टीका के लेखक का नाम ज्ञात नही है, यद्यपि कुछ विद्वान् उसे स्वय वलदेव ही की रचना मानते हैं। वलदेव ने अपने 'गोविद-भाष्य' के अन्तर्विषय का 'सिद्धात-रत्न' मे सक्षिप्तीकरण भी किया है, जिसकी एक टीका है। महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज का कथन

---

[1] महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज की 'सिद्धान्त-रत्न' भाग २, की प्रस्तावना। 'प्रमेय-रत्नावली' की प्रस्तावना मे ए० के० शास्त्री इस मत की कड़ी आलोचना करते हैं कि वलदेव वैश्य थे। दोनो पक्षो के समर्थन मे कोई सतोष-जनक प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं।

है कि 'सिद्धात-रत्न' स्वय बलदेव द्वारा लिखा गया था। इस कथन की पुष्टि मे कुछ भी नही दिया गया है, जबकि उसके विरोध मे स्वाभाविक आपत्ति यह है कि बलदेव के समान एक वैष्णव स्वय अपनी रचना की भूरि-भूरि स्तुति नहीं कर सकता।[1] बलदेव 'सिद्धान-रत्न' को 'गोविद-भाष्य' का साराश नही मानते, अपितु अगन एक पूरक रचना एव अशत एक टीका मानते हैं।[2] यह सम्भव है कि 'गोविद-भाष्य' पर 'सूक्ष्म' नामक टीका का लेखक भी 'सिद्धात-रत्न' पर लिखी गई टीका का लेखक है, क्योकि एक प्रस्तावना श्लोक दोनो मे सामान्य है।[3] 'सिद्धान-रत्न' मे बहुत कुछ सामग्री ऐसी है जो 'गोविद-भाष्य' मे नही मिलती।

आनद का नित्य स्वामित्व एव दुख का नित्य निरोध मानव का चरम लक्ष्य है। यह लक्ष्य आत्म-स्वरूप को जानने वाले व्यक्ति (स्व-ज्ञान पूर्वकम्) द्वारा भगवान के स्वरूप (स्वरूपत) एव गुणो से सवलित रूप के यथार्थ ज्ञान के माध्यम से प्राप्त किया जा सकता है। भगवान का स्वरूप शुद्ध चित्त व आनद है। इन दोनो को भगवान का शरीर माना जा सकता है (न तु स्वरूपाद्विग्रहस्यातिरेक)। उसका आत्मन् ज्ञान, ऐश्वर्य व शक्ति से निर्मित होता है।[4] यद्यपि वह अपने स्वरूप मे एक है, तथापि वह अनेक स्थानो मे व अपने विविध भक्तो के रूपो मे आविर्भूत होता है। इसलिए ये आत्म-लीला मे उसकी अभिव्यक्ति के प्रकार मात्र हैं, तथा यह उसकी उन अचिन्त्य शक्तियो के कारण सम्भव होता है जिनका उसके स्वरूप से तादात्म्य है।[5] किन्तु, इस कारण से हमे 'भेदाभेद' सिद्धान्त की, एक और अनेक अथवा भेद और अभेद के युगपत

[1] सान्द्रानन्द स्यन्दि गोविन्द भाष्य
जीयादेततसिन्धु गाम्भीर्य्य-सम्भृत्
यस्मिन् सद्य सश्रुते मानवानाम्
मोहोच्छेदी जायते तत्व-बोध। —'सिद्धान्त-रत्न,' पृ० १ पर टीका।

[2] वही।

[3] आलस्याद प्रवृत्ति स्यात्
पुसा यद् ग्रन्थ-विस्तरे
गोविन्द-भाष्ये सक्षिप्ते
टिप्पणी क्रियतेऽत्र तत्।
'सूक्ष्म' टीका, पृ० ५ तथा 'सिद्धान्त-रत्न पृ० १ पर टीका।

[4] 'सिद्धान्त-रत्न,' पृ० १–१३।

[5] एकमेव स्व-रूपमचिन्त्य शक्त्या युगपत्सर्वत्रावभ्यात्य एकोऽपि सन्, स्थानानि भगवदाविर्भावस्पदानि तद्-विविध-लीला-श्रय-भूतानि विविध भववन्तो भक्ताश्च।
—'गोविन्द-भाष्य,' ३ २ २।

सत्य की शुद्धता को नही मान लेना चाहिए।[1] जिस प्रकार एक अभिनेता स्वरूपत एक रहकर भी स्वय को विविध रूप मे अभिव्यक्त करता है, उसी प्रकार हरि भी कार्य-भेद के अनुसार और विविध भक्त जिन मन -स्थिति एव रूपो मे उसकी सकल्पना करते हैं उनके अनुसार स्वय को अभिव्यक्त करता है।[2] उसकी अचिन्त्य शक्तियो के कारण विरोध के नियम उस पर लागू नही होते, उसके प्रति हमारी सकल्पना मे विरोधी धर्मो व प्रत्ययो का साहचर्य हो सकता है। इसी प्रकार उसकी देह उससे भिन्न नही है, अत वह अपनी देह से एकरूप है। उससे भिन्न उसकी देह का प्रत्यय चिन्तन की प्रक्रिया के सहायक के रूप मे केवल भक्तो के मन मे ही होता है, किन्तु यद्यपि यह उनकी कल्पना है, तथापि ऐसा रूप मिथ्या नही है, अपितु स्वय भगवान ही है ('देह एव देही' अथवा 'विग्रह एवात्मा आत्मैव विग्रह')। भगवान के अलौकिक स्वरूप के कारण, उसका यथार्थ रूप शुद्ध चित् व आनद होते हुए भी वह कृष्ण के रूप मे अपना यथार्थ स्वरूप देह-रूप मे धारण कर सकता है। यह मूर्ति वस्तुत उसी प्रकार भक्त के मन के साहचर्य मे उत्पन्न होती है, जिस प्रकार एक गधर्व के प्रशिक्षित श्रवणो के साहचर्य मे राग-मूर्तियाँ आविर्भूत होती है।[3] इस प्रसग मे यह कहा जा सकता है कि बलदेव के अनुसार स्वप्न-सृष्टियाँ भी मिथ्या नही होती, वरन् सत्य होती है, तथा भगवान की इच्छा से उत्पन्न होती हैं और जाग्रतावस्था मे भगवान की इच्छा से तिरोहित होती हैं।[4] इसलिए भक्तो के मन मे आविर्भूत होने वाली ये मूर्तियाँ यथार्थ मूर्तियाँ होती है जो भगवान के द्वारा भगवान की इच्छा से अभिव्यक्त होकर भक्तो के मन के साहचर्य से क्रियान्वित होती है। इस सबध मे यह भी निर्देश किया जा सकता है कि 'जीव' भगवान से भिन्न होते है। 'जीव' की ब्रह्मन् के प्रतिबिम्ब के रूप मे एव उससे बाह्य कोई यथार्थ अस्तित्व न रखने के रूप मे व्याख्या करने के लिए उग्र अद्वैतवादियो द्वारा कल्पित किया गया 'अविद्या' मे ब्रह्मन् का प्रतिबिम्ब भी दोष-पूर्ण है, क्योकि समानता अथवा प्रतिबिम्ब की सकल्पना मे भेद का समावेश होता है। 'जीव' चरमाण्वीय स्वरूप के, 'प्रकृति' के गुणो से सबधित व भगवान पर पूर्णत आश्रित होते हैं। यद्यपि ब्रह्मन् सर्वव्यापी है, तथापि वह ज्ञान व भक्ति के द्वारा ज्ञात

[1] ३ २ १२ पर 'सूक्ष्म' टीका यह कहती है कि भगवान की 'माया-शक्ति' के तीन व्यापार होते हैं 'ह्लादिनी,' 'सन्धिनी' और 'सवित्' 'माया-शक्ति' अर्थात् 'माया' के रूप मे शक्ति के द्वारा वह स्वय को विविध रूपो में अभिव्यक्त कर सकता है।

[2] ध्यातृ-भेदात् कार्य्य-भेदाच्च अनेकतया प्रतीतोऽपि हरि स्वरूपैक्य स्वस्मिन्न मुचति।
—'गोविन्द-भाष्य,' ३ २ १३।

[3] तन-मूर्तत्व खलु भक्ति-विभावितेन हृदा ग्राह्य गान्धर्वानुशिलितेन श्रोत्रेण राग-मूर्तत्वमिव।
—वही, ३ २ १७।

[4] वही, ३. २ १–५।

किया जा सकता है। उसके स्वरूप की यथार्थ अपरोक्षानुभूति तथा उसका इन्द्रिय-प्रत्यक्ष भी केवल 'साध्य-भक्ति' के द्वारा सम्भव होता है साधन भक्ति द्वारा नही। भगवान के चित व आनद को या तो भगवान के द्रव्य के रूप मे अथवा उनके गुणों के रूप मे माना जा सकता है। भगवान के प्रति यह द्विविध उल्लेख 'विशेष' नामक पदार्थ को स्वीकार करने के कारण किया गया है, जिसके द्वारा द्रव्य और गुण मे भेद के अभाव मे भी पश्चादुक्त का पूर्वोक्त के प्रति इस प्रकार विधान किया जा सकता है मानो उनमे भेद विद्यमान हो। 'विशेष' को भेद का प्रतिनिधि (भेद-प्रतिनिधि) कहा जाता है, अर्थात् जहाँ कोई भेद नही होता, वहाँ विशेष हमे भेद का विधान करने मे समर्थ बनाता है, फिर भी, यह 'विशेष' कोई 'विकल्प' मात्र अथवा मिथ्या शाब्दिक कथन मात्र नही है। 'विशेष' के इस प्रत्यय की सहायता मे समुद्र को जल अथवा तरग कहा जा सकता है। 'विशेष' के प्रत्यय का अर्थ यह है कि, यद्यपि भगवान और उसके गुणो, अथवा उसके स्वरूप और उसकी देह में कोई भेद नही होता, तथापि कुछ ऐसी विशेषता होती है जो पूर्वोक्त के प्रति पश्चादुक्त के विधान को सम्भव बनाती है, तथा इस विशेषता के कारण भेदात्मक विधान को सत्य माना जा सकता है, यद्यपि दोनो मे वस्तुत कोई भेद नही होता। इसी प्रत्यय के बल पर 'सत्' का अस्तित्व है, 'काल' नित्य है, 'दिक् सर्वत्र' है आदि तर्क-वाक्यो को सत्य माना जा सकता है, वे न मिथ्या है और न शाब्दिक मान्यता मात्र हैं। यदि वे मिथ्या होते तो ऐसी मानसिक वृत्तियो को न्यायोचित नही कहा जाता। स्पष्टत 'सत् का अस्तित्व है' और 'सत् का अस्तित्व नही है' तर्क-वाक्यो मे भेद है, पूर्वोक्त को वैध तथा पश्चादुक्त को असत्य माना जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि यद्यपि 'सत्' और 'अस्तित्व' मे कोई भेद नही है तथापि उसमे एक ऐसी विशेषता है कि अस्तित्व के 'सत्' के प्रति विधान वैध है, उसका निषेध असत्य है। यदि यह केवल एक शाब्दिक मान्यता होती तो, पश्चादुक्त निषेध भी समान रूप से सम्भव व न्यायोचित होता। यह विशेषता विषय से एकरूप होती है और उसमे किसी विशेष सबध मे स्थित नही रहती। इस कारण से सबधो की एक अन्य शृंखला की अपेक्षा नही होती, तथा अनवस्था दोष की आपत्ति स्वीकृत नही की जा सकती। यदि 'विशेष' के प्रत्यय को स्वीकार न किया जाय तो 'विशेष' और 'विशेषण" की सकल्पना अव्याख्येय रह जाती है।[1] इस अर्थ मे 'विशेष' का प्रत्यय सबसे प्रथम मध्व द्वारा प्रस्तावित किया गया, बलदेव ने भगवान और उसकी शक्तियो व गुणो के सबध की व्याख्या के लिए उक्त प्रत्यय को मध्व से प्राप्त किया। यह व्याख्या बलदेव के पूर्ववर्ती जीव व अन्य विद्वानो के मत से सर्वथा भिन्न है, हम देख ही चुके हैं कि कैसे जीव ने केवल भगवान की शक्तियो के अचिन्त्य स्वरूप के सिद्धात एव शक्ति व शक्ति के स्वामी अथवा गुण व द्रव्य के भेद व अभेद के अचिन्त्य स्वरूप के

---

[1] वही, ३ २ ३१।

द्वारा ही परिस्थिति की व्याख्या की थी। 'सूक्ष्म' टीका मे यह निश्चित रूप मे बता दिया गया है कि 'विशेष' के प्रत्यय की प्रस्तावना के द्वारा बलदेव ने इसे उदाहरण मे अधिक स्पष्टतः 'अचिन्त्यत्व' के स्वरूप की व्याख्या करने का प्रयत्न किया है।[1]

स्वरूप और मात्रा दोनो मे भगवान का आनद 'जीवो' के आनद से भिन्न होता है, तथा उनके ज्ञान का स्वरूप भिन्न होता है। इस प्रकार ब्रह्मन् जगत् व 'जीव' दोनो से स्वरूप मे भिन्न है। उपनिषदो के सकल एकत्व पाठो की व्याख्या केवल इस कथन के रूप मे की जानी चाहिए कि जगत् व 'जीव' भगवान मे स्थित हैं (सर्वत्र तदीयत्व-ज्ञानार्थ)। जगत् का ऐसा दृष्टि-कोण 'भक्ति भाव' को उत्पन्न करेगा। 'रुचि-भक्ति' पथ का अनुसरण करने वालो मे 'वैधी-भक्ति' पथ का अनुसरण करने वालो मे भगवान के स्वरूप की अभिव्यक्ति भिन्न रूप मे होती है, वैधी-भक्ति के उदाहरण मे वह अपने पूर्ण ऐश्वर्य से आविर्भूत होता है, और रुचि भक्ति में वह अपने पूर्ण माधुर्य से आविर्भूत होता है। जब भगवान की कृष्ण के सीमित रूप में उपासना की जाती है तब वह भक्त के सम्मुख सीमित रूप मे ही अपनी अभिव्यक्ति करता है, तथा भगवान का अचिन्त्य स्वरूप ऐसा होता है कि उक्त रूप मे भी वह सर्व-व्यापी बना रहता है। अत स्पष्ट है कि यहाँ 'विशेष' की स्वीकृति बलदेव की सहायक नही होती तथा उन्हे अपने धार्मिक विश्वासो के अन्य भागो की व्याख्या के लिए भगवान के अचिन्त्य स्वरूप को मानना पडता है।

भगवान जगत् का उपादान कारण तथा चरम कर्ता दोनो ही माना जाता है। उसकी चरम-शक्ति' 'विष्णु-शक्ति' 'क्षेत्रज्ञ-शक्ति' 'अविद्या-शक्ति' के रूप में तीन मतभूत शक्तियाँ हैं। अपनी प्रथम शक्ति मे ब्रह्मन् स्वय मे विकार-रहित बना रहता है, तथा अन्य दो शक्तियाँ 'जीव' तथा 'जगत्' मे रूपान्तरित होती हैं। माध्यवादी तर्क करते हैं कि चूंकि जगत् ब्रह्मन् से भिन्न स्वरूप है इसलिए ब्रह्मन् को उसका उपादान कारण नही माना जा सकता। यदि यह आग्रह किया जाय कि जगत् एव 'जीवों' का उपादान कारण मानी जा सकने वाली दो सूक्ष्म शक्तियाँ होती हैं तो भी उनकी आपत्ति बनी ही रहती है, क्योंकि सूक्ष्म से भिन्न होने वाले स्थूल के विकास की व्याख्या नही की जा सकती। इसका उत्तर यह है कि यह आवश्यक नही कि कार्य अनिवार्यत. उपादान कारण के समान अथवा सदृश हो। ब्रह्मन् स्वय को उससे सर्वथा भिन्न जगत् मे रूपातरित करता है। यदि उपादान कारण और कार्य मे पूर्ण एकरूपता होती तो एक को कारण व दूसरे को कार्य नही कहा जा सकता था, यथा घट में कार्य रूप से होने वाला मृत्तिका का ढेर के समान स्वरूप नहीं देखा जाता, अत जिन

उदाहरणों की हम समीक्षा कर सकते हैं उन सब में कार्य उपादान कारण में अनिवार्यतः भिन्न होना चाहिए। उक्त रूपान्तरण किसी भी रूप मे ब्रह्मन् के स्वरूप को परिवर्तित नही करता। परिवर्तन तो उसकी शक्तियो मे होते हैं, तथा वह अपनी शक्तियो के रूपातरण मे अपरिवर्तित रहता है। यदि हम एक साधारण उदाहरण लें तो यह सकेत किया जा सकता है कि 'लाठी वाला मनुष्य' किसी और का नही वरन् स्वय उसी मनुष्य का द्योतक है। यद्यपि उस मनुष्य एव लाठी में भेद है। इस प्रकार यद्यपि ब्रह्मन् की शक्ति का शक्तियो सहित ब्रह्मन् से तादात्म्य होता है, तथापि ब्रह्मन् और उसकी शक्तियो मे भेद के अस्तित्व का निषेध नही किया जाता है।[1] इसके अतिरिक्त, उपादान कारण और उसके कार्य मे सदा भेद होता है। घट मृत्तिका के ढेले से तथा स्वर्ण से बने अलकार स्वर्ण से भिन्न होते हैं, तथा वे विभिन्न उद्देश्यो की पूर्ति करते हैं और भिन्न-भिन्न कालो मे अस्तित्व रखते हैं। यदि कारण की प्रक्रिया से पूर्व ही कार्य का अस्तित्व होता तो कारण की प्रक्रिया का अनुप्रयोग अनावश्यक होता, और कार्य नित्य होता। यदि यह माना जाय कि कार्य एक पूर्व-स्थित सत्ता की अभिव्यक्ति है, तो आगे यह प्रश्न उठता है कि क्या उक्त अभिव्यक्ति, जो स्वय एक कार्य है, आगे अन्य अभिव्यक्ति की अपेक्षा रखती रहेगी जिसके फलस्वरूप अनत तक यह प्रक्रिया चलती रहेगी, इस प्रकार अभिव्यक्तियो की एक श्रृखला की आवश्यकता होगी और अनवस्था-दोष हो जायगा। फिर भी बलदेव 'परिणाम' अथवा 'अभिव्यक्ति' के सिद्धात को नही करते, वे इस साख्य-मत को अस्वीकार करते रणता की प्रक्रिया से पूर्व भी कार्य का अस्तित्व ह , अथवा एक 'अभिव्यक्ति' के लिए अभिव्यक्तियो की श्रृखला की आवश्यकता होगी। वे कार्य की एक स्वतत्र अभिव्यक्ति के रूप मे परिभाषा देते हैं (स्वतन्त्राभिव्यक्तिमत्त्व किल कार्यत्वम्) और ऐसे कार्य के कारण का अस्तित्व प्रक्रिया से पूर्व नही हो सकता। जगत् की अभिव्यक्ति भगवान की अभिव्यक्ति के माध्यम से होती है, जिस पर वह आश्रित होता है। ऐसी अभिव्यक्ति केवल भगवान मे अन्तर्निहित कारण की प्रक्रिया के द्वारा और उसकी इच्छा द्वारा प्रेरित हो सकती है। इस प्रकार जगत् भगवान की शक्ति से अभिव्यक्त होता है तथा एक सीमित अर्थ मे जगत् का भगवान से तादात्म्य होता है, किन्तु एक बार कार्य रूप मे पृथक् हो जाने पर वह उससे भिन्न हो जाता है। अपने वर्तमान रूप मे अभिव्यक्त होने से पूर्व जगत् का किसी भी काल मे अस्तित्व नही था, यह मान लेना त्रुटिपूर्ण है कि जगत् का किसी भी अवस्था मे भगवान से तादात्म्य था, इसलिए यद्यपि भगवान को सदा जगत् का उपादान कारण माना जा सकता है।[2] इन समस्त विवेचनो के पश्चात् यह स्पष्ट हो जाता है कि बलदेव के मत एव साख्य मत मे कोई महत्त्वपूर्ण भेद नही है।

[1] वही, २ १ १३।

[2] गोविन्द-भाष्य, २ १ १४।

बलदेव भी यह मानते है कि अपनी शक्तियो से सम्पन्न भगवान मे जगत् एक सूक्ष्म रूप मे अस्तित्व रखता है। वह केवल 'कारिका' के इस शाब्दिक प्रकाशन पर आपत्ति उठाते हैं कि कारणता के कारको की प्रक्रिया से पूर्व कार्य का कारण मे अस्तित्व होता है, क्योकि कार्य कारण मे 'कार्य के रूप' मे अस्तित्व नही रखता वरन् एक सूक्ष्म अवस्था मे अस्तित्व रखता है। यह सूक्ष्म अवस्था कारणता के कारको की प्रक्रिया से कार्य रूप मे अभिव्यक्त होने से पूर्व अभिवृद्ध एव दिक्-कालीन गुणो से सम्पन्न हो जाती है। किन्तु कारण मे कार्य के अस्तित्व पर अत्यधिक बल देने मे, और कारणता के कारको द्वारा व्यापार केवल अव्यक्त रूप मे पूर्व अस्तित्ववान सत्ता को अभिव्यक्त करने मे साख्य का मतभेद है। किन्तु, बलदेव के अनुसार कारणता के कारक एक यथार्थ परिवर्तन एव अभिवृद्धि उत्पन्न करते हैं। यह नवीन गुणो एव व्यापारो की अभिवृद्धि भगवान की कारणता-विषयक इच्छा की प्रक्रिया से उत्पन्न होती है, वह इस अर्थ मे एक अचिन्त्य स्वरूप की होती है क्योकि सूक्ष्म कारणावस्था मे अस्तित्व नही होने पर भी वे भगवान की इच्छा की प्रक्रिया से उत्पन्न हुए । परन्तु, भगवान के साहचर्य द्वारा जहाँ तक सूक्ष्म कारण भगवान मे अस्तित्व रखता है, जगत् अपने वर्तमान रूप मे भी भगवान से भिन्न एव स्वतत्र नही है।[1] 'जीव' भी स्वय कोई स्वातत्र्य नही रखते, उनकी भगवान ने अपनी इच्छा-मात्र से सृष्टि की है, तथा जगत् व 'जीवो' की सृष्टि करने के पश्चात् वह उनमे प्रविष्ट होकर उनके अन्तर्यामिन के रूप मे स्थित रहता है। इसलिए 'जीव' जड जगत् के विषयो के समान ही प्राकृतिक अनिवार्यता के अधीन है, और उनमे कर्तृत्व अथवा इच्छा की कोई स्वतन्त्रता नही होती।[2] जगत् की प्राकृतिक अनिवार्यता केवल उसके माध्यम से अभिव्यक्त होने वाली हरि-इच्छा मात्र है। मनुष्य में पाए जाने वाले सकल्प और स्वत स्फूर्त इच्छा भी मनुष्य के माध्यम से क्रियाशील हरि-इच्छा की अभिव्यक्ति है। इस प्रकार मानव और जगत् दोनो ही नियति के अधीन हैं तथा मानव को कोई स्वतत्रता नही है। जैसे गाय की प्राण-शक्ति से उत्पन्न दूध हमे गाय द्वारा दिया हुआ प्रतीत होता है उसी प्रकार जब एक व्यक्ति एक विशेष कार्य को करता हुआ अथवा एक विशेष ढग से आचरण करता हुआ अथवा किसी वस्तु का सकल्प करता हुआ दिखाई देता है, तब वह स्वय कर्ता नही होता वरन् माध्यम होता है जिसके द्वारा परमेश्वर कार्य करता है।[3] यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है

[1] तस्मादेकमेव जीव-प्रकृति-शक्तिमद् ब्रह्म जगदुपादान तदात्मक च इति सिद्धमेव कार्या-वस्थेत्वेऽप्यविचिन्त्यत्व-धर्म-योगादप्रच्युत-पूर्वावस्थ चावतिष्ठते।

—वही, २ १ २०।

[2] येननन्यापिजीवस्याश्म-काष्ठ लोष्ट्रवदस्वातन्त्र्यात स्वत कर्तृत्व-रूपानापत्ति।

—वही, २ १ २३।

[3] वही, २ १ २४।

कि, यदि भगवान सकल मानवी इच्छा एव क्रिया का एकमात्र कारण है, तो जो भगवान निष्पक्ष है वह हमे इतनी भिन्न इच्छाओं मे प्रवृत्त क्यों करता है ? इसका उत्तर यही है कि भगवान हमारे अनादि पूर्व कर्मों के अनुसार हमारी क्रिया एव इच्छा को निर्धारित करता है। इस पर यह आपत्ति भी की जा सकती है कि, यदि भगवान हमारे पूर्व कर्मों के अनुसार हमारी इच्छा को निर्धारित करता है तो भगवान अपनी निर्धारक क्रिया मे हमारे 'कर्मों' पर आश्रित रहता है, परन्तु यह उसकी निर्बाध स्वतन्त्रता को एक गम्भीर चुनौती होगी। इसके अतिरिक्त, चूंकि विभिन्न प्रकार की क्रियाए विभिन्न प्रकार के सुखपूर्ण व दुःखपूर्ण प्रभावों को उत्पन्न करती हैं, इसलिए भगवान को पक्षपातपूर्ण कहा जा सकता है किन्तु इन आपत्तियो का उत्तर यह है कि भगवान 'जीवो' का निर्धारण स्वय उनके व्यक्तिगत स्वभाव के अनुसार करता है, 'जीव' अपने मौलिक रूप मे विभिन्न स्वभाव के होते हैं तथा उनकी मौलिक भिन्नता के अनुसार भगवान उनकी इच्छा व क्रियाओ का भिन्न-भिन्न रूप मे निर्धारण करता है। यद्यपि भगवान उनके स्वभाव को परिवर्तित करने की क्षमता रखता है, तथापि वह ऐसा नही करता, किन्तु भगवदिच्छा स्वरूपत ही ऐसी है कि भगवान अपने भक्त के लिए एक अधिमान्य व्यवहार आरक्षित रखता है, अपनी विशेष कृपा प्रदान करता है।[1] स्वय भगवान की क्रियाए किसी वस्तुगत उद्देश्य अथवा प्रयोजन से निर्धारित नही होती, अपितु स्वय उसके आनद-स्वरूप के आनदानुभव द्वारा स्वेच्छा से प्रवाहित होती हैं। अपने भक्तो के प्रति उसकी विशेष कृपा उसके स्वरूप से ही प्रवाहित होती है तथा भक्तो के प्रति उसका यह विशेष व्यवहार ही उसको उनका प्रिय बनाता है और अन्य व्यक्तियो को उसकी ओर उन्मुख होने के लिए उत्साहित करता है।[2]

'भक्ति' को एक ज्ञान-विशेष भी माना जाता है (भक्तिरपि ज्ञान-विशेषो भवति)।[3] 'भक्ति' के द्वारा एक व्यक्ति किसी वस्तुगत हेतु के बिना ईश्वरोन्मुखी होता है। 'भक्ति' एक ऐसी शक्ति भी मानी जाती है जो भगवान को हमारे वशीभूत कर सकती है,[4] यह शक्ति सवित् से सबधित भगवान की 'ह्लादिनी-शक्ति' का सार मानी जाती है। उक्त सवित् का 'ह्लाद' से तादात्म्य होता है, तथा उसका सार

[1] न च कर्म-सापेक्षत्वेन ईश्यस्यं अस्वातन्त्र्यम् ··· अनादि जीव-स्वभावानुसारेण हि कर्म कारयति स्वभावमन्यथा-कर्तुं समर्थोऽपि कस्यापि न करोति।

—वही, २. १ ३५।

[2] वही, २ १ ३६।

[3] 'सिद्धान्त-रत्न' पर टीका, पृ० २९।

[4] भगवद्-वशीकार हेतु-भूता शक्ति।

—वही, पृ० ३५।

सहज प्रवृत्ति के अनुकूल प्रवाह मे निहित होता है।[1] इस प्रकार इसका चित् व आनद के रूप मे भगवान के स्वरूप से तादात्म्य होता है, फिर भी उसे भगवान से एकरूप न मानकर उसकी एक शक्ति माना जाता है।[2] यद्यपि 'भक्ति' का भगवान में उसकी शक्ति के रूप मे अस्तित्व होता है, तथापि वह भक्त का विशेषण भी होता है। वह दोनो को आनन्ददायी होता है तथा वे दोनो उसके सघटक तत्त्व होते हैं।[3] स्मरण होगा कि तीन शक्तियो मे से 'सवित्' 'सधिनी' से श्रेष्ठ होती है, और 'ह्लादिनी' 'सवित्' से श्रेष्ठ होती है। भगवान न केवल है वरन् वह अपनी सत्ता जन्य सभी वस्तुओ को प्रदान करता रहता है, अतः 'सधिनी' वह शक्ति है जिसके द्वारा भगवान सबको सत् प्रदान करता है। वह स्वय चित् स्वरूप है। 'सवित्' वह शक्ति है जिसके द्वारा उसकी ज्ञानात्मक क्रिया सम्पन्न होती है और जिसके द्वारा वह अन्य व्यक्तियो के लिए ज्ञान-प्राप्ति सम्भव बनाता है। यद्यपि यह आनद-स्वरूप है, वह आह्लाद का अनुभव करता है तथा अन्य व्यक्तियो के लिए आह्लादमय अनुभवो की प्राप्ति सम्भव बनाता है, जिस शक्ति के द्वारा वह ऐसा करता है उसे 'ह्लादिनी' कहते हैं।[4] सच्ची 'भक्ति' का स्वय से बाह्य कोई हेतु इस कारण नही हो सकता कि वह स्वय परमानद के रूप मे भगवान की अनुभूति होती हैं। अपने स्वरूप की अनुभूति से सुषुप्ति प्राप्त आनद द्वारा यह सिद्ध होता है कि इन्द्रिय-सुख से भिन्न एक प्रकार का आनद होता है। किन्तु, चूंकि हम भगवान की शक्ति के अणु-मात्र हैं, इसलिए यह अनिवार्यत सिद्ध होता है कि भगवान का स्वरूप परम व अनत आनद है, एक बार उस आनद की अनुभूति होने पर लोग सदा के लिए सासारिक इन्द्रिय-सुख से विमुख होकर सहज ही भगवान की ओर उन्मुख हो जाएगे।

सत्य ज्ञान सकल पुण्य एव पाप को नष्ट कर देता है, अतएव 'जीवन्मुक्ति' मे मनुष्य केवल भगवान की इच्छा से अपनी देह को धारण करता है। अनिवार्य कर्मों का प्रभाव नष्ट नही होता—स्वर्ग मे प्रवेश आदि पुण्य फलो की उत्पत्ति इसके अपवाद हैं—तथा वह सत्य ज्ञान की उत्पत्ति मे सहायक होता है, जब सत्य ज्ञान का उदय होता

[1] ह्लाद-भिन्ना सविद्, यस्तदानुकूल्यश स तस्या सार। —वही, पृ० ३७।

[2] स्वरूपानतिरेकिण्यपि तद्विशेषतया च भासतेऽन्यथा तस्य शक्तिरिति व्यपदेश-सिद्धे। —'सिद्धान्त-रत्न,' पृ० ३८।

[3] भगवत्-स्वरूप-विशेष-भूत-ह्लादिन्यादिसारात्मा भक्तिर्भगवद् विशेषणतया भक्ते च पृथग्—विशेषणतया सिद्धा तयोरानन्दातिशययो भवति। —वही, पृ० ३९।

[4] तत्र सदात्माऽपि यया सत्त धत्ते ददाति च सा सर्व-देश-काल-द्रव्य-व्याप्ति-हेतु, सन्धिनी, सविदात्माऽपि यया सवेत्ति सवेदयति च सा सवित्, ह्लादात्माऽपि यया ह्लादते ह्लादयति च सा ह्लादिनी। —वही, पृ० ३९-४०।

कि, यदि भगवान सकल मानवी इच्छा एव क्रिया का एकमात्र कारण है, तो जो भगवान निष्पक्ष है वह हमे इतनी भिन्न इच्छाओ मे प्रवृत्त क्यो करता है ? इसका उत्तर यही है कि भगवान हमारे अनादि पूर्व कर्मों के अनुसार हमारी क्रिया एव इच्छा को निर्धारित करता है। इस पर यह आपत्ति भी की जा सकती है कि, यदि भगवान हमारे पूर्व कर्मों के अनुसार हमारी इच्छा को निर्धारित करता है तो भगवान अपनी निर्धारक क्रिया मे हमारे 'कर्मों' पर आश्रित रहता है, परन्तु यह उसकी निर्बाध स्वतत्रता को एक गम्भीर चुनौती होगी। इसके अतिरिक्त, चूंकि विभिन्न प्रकार की क्रियाए विभिन्न प्रकार के सुखपूर्ण व दु खपूर्ण प्रभावो को उत्पन्न करती हैं, इसलिए भगवान को पक्षपातपूर्ण कहा जा सकता है किन्तु इन आपत्तियो का उत्तर यह है कि भगवान 'जीवो' का निर्धारण स्वय उनके व्यक्तिगत स्वभाव के अनुसार करता है, 'जीव' अपने मौलिक रूप मे विभिन्न स्वभाव के होते हैं तथा उनकी मौलिक भिन्नता के अनुसार भगवान उनकी इच्छा व क्रियाओ का भिन्न-भिन्न रूप मे निर्धारण करता है। यद्यपि भगवान उनके स्वभाव को परिवर्तित करने की क्षमता रखता है, तथापि वह ऐसा नहीं करता, किन्तु भगवदिच्छा स्वरूपत ही ऐसी है कि भगवान अपने भक्त के लिए एक अधिमान्य व्यवहार आरक्षित रखता है, अपनी विशेष कृपा प्रदान करता है।[1] स्वय भगवान की क्रियाए किसी वस्तुगत उद्देश्य अथवा प्रयोजन से निर्धारित नही होती, अपितु स्वय उसके आनद-स्वरूप के आनदानुभव द्वारा स्वेच्छा से प्रवाहित होती हैं। अपने भक्तो के प्रति उसकी विशेष कृपा उसके स्वरूप से ही प्रवाहित होती है तथा भक्तो के प्रति उसका यह विशेष व्यवहार ही उसको उनका प्रिय बनाता है और अन्य व्यक्तियो को उसकी ओर उन्मुख होने के लिए उत्साहित करता है।[2]

'भक्ति' को एक ज्ञान-विशेष भी माना जाता है (भक्तिरपि ज्ञान-विशेषो भवति)।[3] 'भक्ति' के द्वारा एक व्यक्ति किसी वस्तुगत हेतु के बिना ईश्वरोन्मुखी होता है। 'भक्ति' एक ऐसी शक्ति भी मानी जाती है जो भगवान को हमारे वशीभूत कर सकती है,[4] यह शक्ति सवित् से सबधित भगवान की 'ह्लादिनी-शक्ति' का सार मानी जाती है। उक्त सवित् का 'ह्लाद' से तादात्म्य होता है, तथा उसका सार

[1] न च कर्म-सापेक्षत्वेन ईश्वरस्य अस्वातन्त्र्यम् · · · अनादि जीव-स्वभावानुसारेण हि कर्म कारयति स्वभावमन्यथा-कर्तुं समर्थोऽपि कस्यापि न करोति।

—वही, २. १ ३५।

[2] वही, २ १ ३६।

[3] 'सिद्धान्त-रत्न' पर टीका, पृ० २९।

[4] भगवद्-वशीकार हेतु-भूता शक्ति।

—वही, पृ० ३५।

सहज प्रवृत्ति के अनुकूल प्रवाह मे निहित होता है।[1] इस प्रकार इसका चित् व आनद के रूप मे भगवान के स्वरूप से तादात्म्य होता है, फिर भी उसे भगवान से एकरूप न मानकर उसकी एक शक्ति माना जाता है।[2] यद्यपि 'भक्ति' का भगवान मे उसकी शक्ति के रूप मे अस्तित्व होता है, तथापि वह भक्त का विशेषण भी होता है। वह दोनो को आनन्ददायी होता है तथा वे दोनो उसके सघटक तत्त्व होते हैं।[3] स्मरण होगा कि तीन शक्तियो मे से 'सवित्' 'सघिनी' से श्रेष्ठ होती है, और 'ह्लादिनी' 'सवित्' से श्रेष्ठ होती है। भगवान न केवल है वरन् वह अपनी सत्ता जन्य सभी वस्तुओ को प्रदान करता रहता है, अत. 'सघिनी' वह शक्ति है जिसके द्वारा भगवान सबको सत् प्रदान करता है। वह स्वय चित् स्वरूप है। 'सवित्' वह शक्ति है जिसके द्वारा उसकी ज्ञानात्मक क्रिया सम्पन्न होती है और जिसके द्वारा वह अन्य व्यक्तियो के लिए ज्ञान-प्राप्ति सम्भव बनाता है। यद्यपि यह आनद-स्वरूप है, वह आह्लाद का अनुभव करता है तथा अन्य व्यक्तियो के लिए आह्लादमय अनुभवो की प्राप्ति सम्भव बनाता है, जिस शक्ति के द्वारा वह ऐसा करता है उसे 'ह्लादिनी' कहते हैं।[4] सच्ची 'भक्ति' का स्वय से बाह्य कोई हेतु इस कारण नही हो सकता कि वह स्वय परमानद के रूप मे भगवान की अनुभूति होती है। अपने स्वरूप की अनुभूति से सुपुप्ति प्राप्त आनद द्वारा यह सिद्ध होता है कि इन्द्रिय-सुख से भिन्न एक प्रकार का आनद होता है। किन्तु, चूंकि हम भगवान की शक्ति के अणु-मात्र हैं, इसलिए यह अनिवार्यत. सिद्ध होता है कि भगवान का स्वरूप परम व अनत आनद है, एक बार उस आनद की अनुभूति होने पर लोग सदा के लिए सासारिक इन्द्रिय-सुख से विमुख होकर सहज ही भगवान की ओर उन्मुख हो जाएगे।

सत्य ज्ञान सकल पुण्य एव पाप को नष्ट कर देता है, अतएव 'जीवन्मुक्ति' मे मनुष्य केवल भगवान की इच्छा से अपनी देह को धारण करता है। अनिवार्य कर्मो का प्रभाव नष्ट नही होता—स्वर्ग मे प्रवेश आदि पुण्य फलो की उत्पत्ति इसके अपवाद हैं—तथा वह सत्य ज्ञान की उत्पत्ति मे सहायक होता है, जब सत्य ज्ञान का उदय होता

---

[1] ह्लाद-भिन्ना सविद्, यस्तदानुकूल्यश स तस्या सार। —वही, पृ० ३७।

[2] स्वरूपानतिरेकिण्यपि तद्विशेषतया च भासतेऽन्यया तस्य शक्तिरिति व्यपदेश-सिद्धे। —'सिद्धान्त-रत्न,' पृ० ३८।

[3] भगवत्-स्वरूप-विशेष-भूत-ह्लादिन्यादिसारात्मा भक्तिर्भगवद् विशेषणतया भक्ते च पृथग्—विशेषणतया सिद्धा तयोरानन्दातिशयश्च भवति। —वही, पृ० ३९।

[4] तत्र सदात्मापि यया सत्तां धत्ते ददाति च सा सर्व-देश-काल-द्रव्य-प्राप्ति-हेतुः सन्धिनी, संविदात्मापि यया संवेत्ति संवेदयति च सा संवित्, ह्लादात्मापि यया ह्लादते ह्लादयति च सा ह्लादिनी। —वही, पृ० ३९-४०।

है तब वह आगे स्वय को प्रकट नही करता। कौशीतकी उपनिषद् मे भी कहा गया है कि एक ज्ञानी मनुष्य के पुण्य उसके मित्रो मे चले जाते हैं और उसके पाप उसके शत्रुओ मे, इसलिए जो भक्त भगवान के समागम मे प्रविष्ट होने को व्याकुल होते हैं उनके उदाहरण मे उनके कर्मों के पुण्य-फल भगवान के प्रिय व्यक्तियो मे वितरित हो जाते हैं, तथा उनके पाप-कर्मों के फल उसके शत्रुओ मे वितरित हो जाते हैं।[1] इस प्रकार प्रारब्ध 'कर्म' के फल अन्य व्यक्तियो मे वितरित हो जाते हैं, अत इस नियम की पूर्ति हो जाती है कि सर्व प्रारब्ध 'कर्म' अनिवार्यत फलीभूत होने ही चाहिए, तथा भगवान का भक्त उनसे मुक्त हो जाता है। सत्य-विकास का सर्वोत्तम साधन केवल भक्तो का साहचर्य ही हो सकता है। हमारा बधन यथार्थ है और बधन का विनाश यथार्थ व नित्य है। चरम मुक्ति की अवस्था मे भी 'जीव' भगवान से अपने पृथक् अस्तित्व को बनाए रखते हैं।

'सिद्धात-रत्न' के छठे और सातवें अध्यायो मे बलदेव शकर के उग्र अद्वैतवादी सिद्धात को खण्डित करने का प्रयास करते है, परन्तु, इन युक्तियो मे किसी नवीनता का कठिनता से समावेश होता है, प्रत्युत मे रामानुज और मध्व सम्प्रदाय के विचारको की युक्तियो की पुनरावृत्ति मात्र हैं, इसलिए उनका यहाँ छोड देना श्रेयस्कर है। अपनी 'प्रमेय-रत्नावली' मे बलदेव गौढीय सम्प्रदाय के वैष्णव-तत्र के मुख्य विषयो का व्यापक साराश देते है। यदि हम 'भागवत-सदर्भ' मे दिए गए वैष्णव दर्शन के विवरण की बलदेव के 'गोविन्द-भाष्य' एव 'सिद्धात-रत्न' मे दिए नए विवरण से तुलना करें तो हमे पता चलता है कि, यद्यपि आधारभूत सिद्धात एक ही है, तथापि मध्व के प्रभाव के कारण तथा अपने व्यक्तिगत पक्षपातो के फलस्वरूप बलदेव द्वारा गौढीय सम्प्रदाय की विचारधारा मे अनेक नवीन तत्त्व प्रस्तावित किए गए हैं। ईश्वर, जीव और जगत् मे भेद पर दिया गया बल तथा 'विशेष' का प्रत्यय निश्चय ही मध्व के प्रभाव चिह्न हैं। पुन, यद्यपि बलदेव 'रुचि-भक्ति' की सर्वोत्तम 'भक्ति' के रूप मे सराहना करते हैं, तथापि वे उस पर वही बल नही देते जो रूप, सनातन और जीव की रचनाओ मे पाया जाता है। उनका 'भक्ति' का प्रत्यय भी जीव के प्रत्यय से तनिक भिन्न है, वे पुरातन शब्दावलियो ('अतरग' और 'बहिरग शक्ति') का प्रयोग नही करते तथा उस प्रत्यय आधार पर अपने मत की व्याख्या नही करते। उनकी 'प्रमेय-रत्न माला' पर एक कृष्णदेव वेदात वागीश द्वारा रचित 'काति-माला' नामक पुरानी टीका है। 'प्रमेय-रत्न-माला' मे वह आनद तीर्थ अपना मध्व को अपना प्रणाम अर्पित करते हुए ऐसी नौका बतलाते हैं जो उन्हे ससार-सागर से पार उतारने वाली है। वह उस गुरु-परम्परा की एक सूची भी देते हैं जिनसे उन्होने अपने विचारो

[1] 'गोविन्द-भाष्य,' ४ १ १७।

को प्राप्त किया। वे यह मत भी प्रकट करते हैं कि गुरु-परम्परा पर चिंतन करने से भी व्यक्ति हरि को सतुष्ट करने मे सफल हो सकता है। वह आगे कहते हैं कि कलियुग मे 'श्री', 'ब्रह्म', 'रुद्र' व 'सनक' नामक चार वैष्णव 'सम्प्रदाय' उडीसा (उत्कल) मे उत्पन्न होगे जिनका रामानुज, मध्व, विष्णुस्वामिन् व निम्बादित्य से समीकरण किया जा सकता है। वे अपने गुरुओ की परम्परा मे श्रीकृष्ण, ब्रह्मा, देवर्षि वादरायण, मध्व, पद्मनाभ, नृहरि, माधव, अक्षोभ्य, जयतीर्थ, ज्ञानसिन्धु, विद्यानिधि, राजेन्द्र, जयधर्म, पुरुषोत्तम, ब्राह्मण्य, व्यासतीर्थ, लक्ष्मीपति, माधवेन्द्र, ईश्वर, अद्वैत, नित्यानन्द तथा श्री चैतन्य[1] की भी गणना करते है। वलदेव द्वारा जिस विचारतत्र का प्रतिनिधित्व किया जाता है उसे मध्व-गौढीय मत की सज्ञा दी जा सकती है, बगाल मे हाल ही मे वैष्णवो का एक सम्प्रदाय हो चुका है जो स्वय को मध्व-गौढीय सम्प्रदाय कहता है।